वक्तव्य—चुमचुमायमान-सरसों का लेप करने पर या धूप में गरमी में बैठने पर जैसे किड़ियाँ सी लड़ती हों। चरक में—स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः॥ तृष्णामोहज्वरस्वेददाहदुष्ट्यवदारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धस्रावैश्च पूतिकैः॥ बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदः चिरकारी कफव्रणः॥ चरक० चि० अ० ॥२५-११॥

वि० मन्तव्य—दोष भेद से व्रणों के ये १५ प्रकार हैं और शुद्ध व्रण भी व्रण तो है ही, भले ही उसमें किसी दोष के व्यक्त लक्षण नहीं रहते, परन्तु रोपण कर्म करना ही होता है और साथ २ रक्षाविधान आदि भी। अतः उसको साथ में गिनने से व्रणों की संख्या १६ हो जाती है॥७॥

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा—अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधुसर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति॥८॥

व्रण के उपक्रम साठ हैं, यथा-अपतर्पण, आलेप, परिषेक, अभ्यंग, स्वेद, विम्लापन, उपनाह, पाचन, विस्रावण, स्नेह, वमन, विरेचन, छेदन, भेदन, दारण, लेखन, एषण, आहरण, व्यधन, 'विस्रावण, सीवन, सन्धान, पीड़न, शोणितास्थापन, निर्वापण, उत्कारिका, कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया, अवचूर्णन, व्रण धूपन, उत्सादन, अवसादन, मृदुकर्म, दारुणकर्म, क्षारकर्म, अग्निकर्म, कृष्णकर्म, पाण्डुकर्म, प्रतिसारण, रोमसञ्जनन, लोमापहरण, वस्तिकर्म, उत्तरवस्तिकर्म, बन्ध, पत्रदान, कृमिघ्न, बृंहण, विषघ्न, शिरोविरेचन, नस्य, कवलधारण, धूम, मधुसर्पि, यंत्र, आहार, और रक्षाविधान। (मधुसर्पि-एक गिनना चाहिये)।

वक्तव्य—डल्हण ने लिखा है कि इसमें प्रतिसारण को नहीं गिने, तब साठ उपक्रम पूरे होते हैं। परन्तु इस पाठ में 'सर्पि' दो बार आता है। इसे एक स्थान पर गिनकर प्रतिसारण को गिनने से साठ हो जायँगे।

चरक में छत्तीस उपक्रम कहे हैं, यथा—

शोफघ्नं षड्विधं चैव, शस्त्रकर्मावपीडनम्।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणा॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ।
द्वौ स्नेहौ तद्गुणौ पत्रच्छेदने द्वे च बन्धने॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः।
काठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे॥
वर्णाविचूर्णनं व्रण्यं रोपणं लोमरोहणम्।
इति षट् त्रिंशदुद्दिष्टाव्रणानां समुपक्रमाः॥
(पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेपनं तथा।
प्रोञ्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्)

वि० मन्तव्य—व्रण के ये ६० उपक्रम-उपचार हैं। इनका समय २ पर अथच आवश्यकताऽनुसार प्रयोग किया जाता है।

तेषु कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनमिति शोधनरोपणानि, तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः, शोणितास्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं बन्धविधानं चोक्तानि, स्नेहस्वेदनवमनविरेचनबस्त्युत्तरबस्तिशिरोविरेचनस्य धूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः। यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यते॥९॥

इनमें कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया, अवचूर्णन ये कर्म शोधन और रोपण दोनों को करते हैं। इनमें आठ शस्त्र कर्म हैं। शोणितास्थापन, क्षार, अग्नि, यंत्र, आहार, रक्षाविधान, बन्धविधान पहले कह चुके हैं। स्नेह, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति, उत्तरवस्ति शिरोविरेचन, नस्य, धूम, कवलधारण, इनको अन्यत्र कहेंगे। इनसे जो उपक्रम शेष रह गये हैं, उनको यहाँ पर कहेंगे।

वि० मन्तव्य—इनमें ८ उपक्रम-शस्त्रद्वारा किये जाते हैं, यथा—१-छेदन, २-भेदन या दारण, ३-लेखन, ४-एषण, ५-आहरण, ६-व्यधन, ७-विस्रावण तथा ८-सीवन। शोणितास्थापन—रक्तप्रवाह को रोकने का उपाय सू० स्था० अ० १५ में, क्षार कर्म सू० अ० ११ में, अग्निकर्म सू० अ० १२ में, यन्त्रण सू० अ० ७ मे, आहार सू० स्था० १९ तथा २० में, रक्षाविधान सू० स्था० १९ तथा अ० ५ में, बन्धविधान—सू० स्था० अ० १६ तथा १८ में देखिये। स्नेहन—चि० स्था० अ० ३१, स्वेदन—चि० स्था० अ० ३२, वमन अ० ३३, विरेचन अ० ३३, वस्तिकर्म अ० ३५, उत्तरवस्ति अ० ३६, शिरोविरेचन—धूम, नस्य, कवलग्रह अ० ४० में देखिये॥९॥

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः, तस्यैकादशोपक्रमाभवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः, ते च विषेशेण शोथप्रतोकारे वर्तन्ते, व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते, शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव॥१०॥

पहले कहा है कि शोफ छै प्रकार का है, इस शोफ के अपतर्पण से लेकर विरेचन तक ग्यारह उपक्रम होते हैं। ये उपक्रम मुख्यतः शोथ की चिकित्सा में बरते जाते हैं। शोथ के

व्रण में बदल जाने पर भी इनका उपयोग हो सकता है। शेष उपक्रम प्रधानतः व्रण की चिकित्सा में काम आते हैं।

वि० मन्तव्य—छ प्रकार का शोथ या शोफ सू० अ० १७ में देखिये। इनमें कुछ उपक्रम शोथ (फोड़ा) को दबाने—बैठाने के लिये किये जाते हैं और कुछ पकाने के लिये। यथा अपतर्पण-उपवास से शोथ को बढ़ने के लिये बल नहीं मिलता, वमन विरेचन से शारीरिक दोषों का मूलोच्छेद ही हो जाता है, अतः भी वह नहीं बढ़ता आलेप से विम्लापन पर्यन्त उपक्रमों से शोथ में सञ्चित दोषों का विलयन हो जाता है और विस्रावण से स्थानीय रक्त दोषों को साथ लेकर निकल जाता है। यदि इन सब उपक्रमों से शोथ नहीं बैठता तो उपनाह एवं पाचन लेपों से वह सरलता से और शीघ्र पक जाता है, यद्यपि स्वयं भी व्रणशोथ पक जाते हैं, परन्तु उनका पकना हानिकारक होता है। पकने पर जब वह फूट जाता है अथवा छेदन एवं दारण आदि अष्टविध शस्त्रकर्म द्वारा चीर दिया या फोड़ दिया जाता है, तब वह 'व्रण' कहलाता है। इस दशा में भी आवश्यकतानुसार अपतर्पण से विरेचन पर्यन्त कर्मों का प्रयोग किया जाता है। और अवशिष्ट सब उपक्रम आवश्यकतानुसार समय समय पर किये जाते हैं। उन सब उपक्रमों के उपयोग के हेतु तथा फल आगे विस्तार के साथ कहे गये हैं। उनका परिश्रम पूर्वक अध्ययन कीजिये ॥१०॥

अपतर्पणमाद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च ॥११॥

अपतर्पण ही सबसे पहला उपक्रम है। यह अपतर्पण सब प्रकार के शोथों में सामान्य—तुल्य है और सबसे मुख्य है ॥११॥

भवन्ति चात्र—

दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः।
अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम् ॥१२॥

इस विषय में श्लोक भी हैं—मनुष्य में दोष की प्रधानता देखकर-कुपित दोष की शान्ति के लिये दोष का तथा प्राण (शक्ति बल) का विचार करके, अपतर्पण-लंघन कराना चाहिये ॥१२॥

ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितैः।
न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः ॥१३॥

ऊर्ध्ववात, प्यास, भूख, मुखशोष, श्रम से पीड़ित तथा गर्भवती, बालक, वृद्ध, दुर्बल और डरपोक को उपवास लंघन न कराये। ऊर्ध्ववात का लक्षण—भुक्तेऽभुक्ते तथा सुप्ते यस्योद्गारं भृशं भवेत्। ऊर्ध्ववातं तं विद्यात्, उदानव्यानसंभवम् ॥१३॥

शोफेषूत्थितमात्रेषु व्रणेषूग्ररुजेषु च।
यथास्वैरौषधैर्लेपं प्रत्येकश्येन कारयेत् ॥१४॥

शोफ के तुरन्त उत्पन्न होते ही, तीव्र वेदनावाले व्रणों में दोषों के अनुसार प्रत्येक दोष की दृष्टि से-औषधियों का लेप करे।

वि० मन्तव्य—व्रणशोथ पर-उसे बैठाने एवं पकाने के लिये और व्रणभाव को प्राप्त हो जाने पर शोधन रोपण के लिये लेप लगाये जाते हैं। बैठाने एवं पकाने के लेप तो लेप ही कहलाते हैं और शोधन रोपण के लेप 'मलहर' या 'मलहम' कहलाते हैं॥

यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्।
क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥१५॥
प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा।
उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत् ॥१६॥

जिस प्रकार जलते हुए घर पर शीतल पानी को डालते हैं, इसी प्रकार लेप जलन और वेदना को तुरन्त शान्त कर देता है। व्रण की वेदना को हटाने के कारण सुख देने में, शोधन में, (शोफ को नाश करने में) और रोपण में लेप इन कार्यों को करता है। (अवसादन-नीचे करना भी कार्य लेप से होता है उत्सादन से ही इसे गिनना) ॥१५,१६॥

वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलधान्याम्लमांसरसवातहरौषधनिष्क्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत, पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधक्षीरवृक्षनिष्क्वाथैरनुष्णः परिषेकान् कुर्वीत, श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिष्क्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत ॥१७॥

यथाऽम्बुभिः सिच्यमानः शान्तिमग्निर्नियच्छति।
दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति ॥१८॥

वातजन्य शोफ में वेदना की शान्ति के लिये घी, तैल कांजी, मांसरस, भद्रदारु आदि वातहर औषधियों के क्वाथ को कोसा करके परिषेक करे। पित्त-रक्तविष और चोट जन्य व्रणों में-दूध, घी, मधु, शर्करा का शर्बत, इक्षुरस, मधुरौषध (काकोल्यादि), बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के शीतल क्वाथों से परिषेक करे। कफजन्य शोफ में —तैल, मूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त और कफघ्न औषधियों के उष्ण क्वाथों से परिषेक करे। जिस प्रकार पानी के छिड़काव से अग्नि शान्त हो जाती है, इसी प्रकार दोषों की अग्नि परिषेक से तुरन्त शान्त होती है।

वि० मन्तव्य—परितः सिच्यते अनेन इति परिषेचनं परिषेकः अर्थात् जिस द्रव से व्रणशोथ अथवा व्रण का सेचन किया जाता है उसका नाम परिषेचन या परिषेक है। इसे 'टकोर' कहते हैं, इससे धुल भी जाता है और वेदना एवं शोथ की शान्ति भी होती है ॥१७,१८॥

अभ्यङ्गस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो दोषोपशमं मृदुतां च करोति ॥१९॥

स्वेदविम्लापनादीनां क्रियाणां प्राक् स उच्यते।
पश्चात् कर्मसु चादिष्टः स च विस्रावणादिषु ॥२०॥

दोष को देखकर प्रयुक्त क्रिया अभ्यंग दोष की शान्ति और मृदुता करता है। यह अभ्यंग स्वेदन विम्लापन आदि क्रियाओं से पहले बरता जाता है। विस्रावण आदि कार्यों में अभ्यंग पीछे से बरता जाता है। (विस्रावण से लेकर परिषेचन तक कार्यों में पीछे बरतते हैं)।

वि० मन्तव्य—अभितः अज्यते अनेन इति अभ्यंगः-अभ्यञ्जनम् अर्थात् जिससे सब ओर आक्त किया-स्निग्ध किया जाता है। अभ्यञ्जन स्नेहों द्वारा किया जाता है—स्नेह के लेपन का नाम है अभ्यङ्ग। अर्थात् स्नेह को उस स्थान पर चुपड़ देना—लगा भर देना ॥१९,२०॥

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः ॥२१॥

वेदनावाले, कठोर, वायु से सख्त (रूक्ष) शोफों में तथा इस प्रकार के व्रणों में स्वेदन करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—स्विद्यते अनेन इति स्वेदनम्—जिसके द्वारा व्रणशोथ तथा व्रण का स्थान स्विन्न हो जाता है। स्वेदन के लिये देखिये चि० अ० ३२ ॥२१॥

स्थिराणां रुजतां मन्दं कार्यं विम्लापनं भवेत्।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या ततः शनैः ॥२२॥
विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा।

स्थिर, वेदनावाले (थोड़ी वेदनावाले—कफाधिक) शोफों में विम्लापन करना चाहिये। इसके लिये अभ्यंग करके, स्वेदन देकर, बाँस की पोरी से, या हाथ की हथेली से अथवा अंगूठे से वैद्य धीरे धीरे मर्दन करे।

वि० मन्तव्य—विम्लापन—अंगुली आदि से मर्दन करके शोथ का विलयन करना। जब व्रणशोथ उत्पन्न होने लगता है तबही यह उपक्रम किया जाय ॥२२॥

शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः ॥२३॥
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च।

आम और विदग्ध दोनों ही अवस्थाओं में शोफ पर उपनाह (पुलटिस) बाँधनी चाहिये। इस उपनाह से न पका शोफ बैठ जाता है, और आधा पका शोथ पूरा पक जाता है।

वि० मन्तव्य—उपनाह-उपनह्यते अनेन इति उपनाहः—अर्थात् व्रणशोथ को बैठाने अथवा पकाने के लिये जो लेप किया जाता है। उपनाहोपयोगी द्रव्य—सू० अ० ३७ के श्लो० १ से ८ देखिये ॥२३॥

निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः ॥२४॥
तस्य संपाचनं कुर्यात् समाहृत्यौषधानि तु।
दधितक्रसुराशुक्तधान्याम्लैर्योजितानि तु ॥२५॥
स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम्।
सैरण्डपत्रया शोफं नाहयेदुष्णया तथा ॥२६॥
हितं सम्भोजनं चापि पाकायाभिमुखो यदि।

विरेचन तक कहे हुए उपचारों के बरतने पर भी जो शोफ शान्त नहीं होता, उसके लिये औषधियाँ लाकर उसका पाचन करे। इसके लिये—मिश्रकोक्त अध्याय में कहीं शणमूल बीजक आदि औषधियों को दही, तक्र, सुरा, शुक्त, कांजी में मिलाकर, तैल आदि से स्निग्ध करके, इसमें अच्छी मात्रा में नमक मिलाकर उत्कारिका (लपसी सी) बनाये। इसको गरम करके एरण्ड पत्र के साथ शोफ पर बांध देवे। यदि शोफ पक रहा हो तो उसे भोजन भी यथेष्ट (पकानेवाला) देवे। (पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं संभोजनं मतम्। ऐसा भोजन दे अर्थात् पथ्य-अपथ्य मिलाकर भोजन देवे, ऐसा भी कई मानते हैं) ॥

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च ॥२७॥
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम्।
सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति ॥२८॥
संरब्धे विषमे चापि व्रणे विस्रावणं हितम्।
सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा ॥२९॥
वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा।

तत्काल उत्पन्न शोफ में वेदना की शान्ति के लिये और पकने से बचाने के लिये जौंक से रक्तमोक्षण करे। शोफ-युक्त कठिन, फूले, सुर्खीवाले, वेदना युक्त, विशाल मलवाले, और विषम व्रण में (नीचे ऊँचे व्रण में), विस्रावण हितकारी है। विषवाले व्रणों में तो मुख्यतः जौंकों से, अथवा पाछकर, रक्त मोक्षण करे। जिससे वेदना शान्त हो जाये और पकने से बच जाये।

वि० मन्तव्य—रक्तमोक्षण—व्रणस्थान पर जोंक लगाकर अथवा पच्छ लगाकर रक्त निकालना ॥२९॥

सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम् ॥३०॥
यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते।

उपद्रववाले, रूक्ष, कृश, व्रणजन्य शोष से पीड़ित व्यक्तियों में उनके अपने दोषों के अनुसार औषधियों से सिद्ध स्नेह का पान कराना चाहिये ॥३०॥

उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः ॥३१॥
संक्लिष्टश्या (ध्या) मरुधिरे व्रणे प्रच्छर्दनं हितम्।

शोफ में मांस उभरा होने पर, विशेषकर कफयुक्त व्रणों में, रक्त के दूषित एवं श्याम-काला होनेपर वमन हितकारी है।

चरक में कहा भी है—

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम्।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च॥
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः ॥३१॥

वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु ॥३२॥
विरेचनं प्रशंसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः।

वायु-पित्त से दूषित और पुराने-देर से चालू व्रणों में व्रण को जाननेवाले विरेचन को उत्तम बताते हैं ॥३२॥

अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च ॥३३॥
स्नायुकोथादिषु तथा च्छेदनं प्राप्तमुच्यते ।

मेद-कफ-ग्रन्थि-मांस आदि न पकनेवाले या थोड़ा पकनेवाले, दृढ़ एवं स्थिर रोगों में तथा स्नायु कोथ आदि में (सिरा आदि के सड़ने में) छेदन करना उत्तम है। (जैसे कि गैंगरीन में छेदन करना श्रेयस्कर है)।

वि० मन्तव्य—छेदन—व्रणभूमि—गली सड़ी या गलने सड़नेवाली व्रणभूमि को मूलतः शस्त्रद्वारा निकाल देना अथवा शोधन द्वारा साफ कर देना, अथवा जन्तुमारक कृमि उत्पन्न करके दूषित भाग को खिला देना ॥३३॥

अन्तःपूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि ॥३४॥
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ।

अन्दर पूयवाले परन्तु बिना मुख के, अन्दर खोखली व्रण वास्तु (कैविटी-गुहा) वाले तथा गतिवाले व्रणों में भेदन उत्तम है ॥३४॥

बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि ॥३५॥
मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम् ।
सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते ॥३६॥
पाकोद्वृत्तेषु दोषेषु तत्तु कार्यं विजानता ।
सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥३७॥

बालक, वृद्ध, न सहन करनेवाले (शस्त्र को जो न सह सके), क्षीण, डरपोक, स्त्रियों के तथा मर्म स्थानों के ऊपर उत्पन्न रोगों में, एवं भली प्रकार पके, पीण्डित (एक स्थान पर स्थित) शोफ में मिश्रकोक्त चिरबिल्वादि पीड़न द्रव्यों से पीड़न करके फाड़ना उत्तम है। दोषों के त्वचा में आने पर (उत्तान होने पर), दारण द्रव्यों को भली प्रकार पीसकर इनसे लेप करके फाड़े अथवा क्षार से दारण करे।

वि० मन्तव्य—भेदन—जब व्रणशोथ में पूय उत्पन्न हो जाता है तब किया जाता है, यदि ऊपर से न पककर भीतरी—गम्भीरपाक होता है तब शस्त्र द्वारा चीरा लगाया जाता है अथवा क्षार मिश्रित लेप लगाकर दारण किया जाता है।३५-३७।

कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्घमार्गान् पुनः पुनः ।
कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक् ॥३८॥
समं लिखेत् सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः ।
वर्त्मनां तु प्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत् ॥३९॥

कठिन, मोटे या गोल किनारों के बार-बार फट जानेवाले तथा कठिन एवं ऊपर को उठे मांसवाले व्रणों में वैद्य लेखन करे। व्रण में भली प्रकार-समान रूप में लेखन करे। सम्पूर्ण रूप में लेखन करे। व्रण के किनारों के प्रमाण में बराबर शस्त्र से लेखन करे ॥३९॥

क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम् ।
कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थं प्रदापयेत् ॥४०॥

अलसी—वस्त्र, कपड़े का टुकड़ा, रूई का फोया, जौ की क्षार, समुद्र फेन, सैन्धव और शेफालिका आदि खुरदरे पत्ते, लेखन के लिये बरते।

वि० मन्तव्य—लेखन—छील देना—जो भाग छील देने योग्य हो उसे छील देना। रगड़कर दूर कर देना ॥४०॥

नाडीव्रणाञ्छल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः ।
करीरबालाङ्गुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक् ॥४१॥
नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः ।
चुच्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेत्तु ताः ॥४२॥

नाड़ी व्रणों को, शल्यवाले, उन्मार्गी अंदर से खोखले व्रणों में वैद्य करीर बाल, अंगुलि या ऐषणी से धीमे रूप में ऐषण कार्य करे। नेत्र बर्त्म (पलक), गुदा के समीप, छोटे मुख के नाड़ी व्रण, रक्तवाले व्रणों में—चुच्चु, पोई—इनके चिकने कोमल नालों से इनको खोजे।

वि० मन्तव्य—एषण—व्रण के मार्ग को खोजना कि वह कहाँ तक है और खोजकर—वहाँ तक बत्ती—औषधलिप्त बत्ती चढ़ाना—पहुँचाना अथवा शस्त्र द्वारा या दारण लेपों द्वारा वहाँ तक भेदन करके या दारण करके शोधन रोपण उपचार के योग्य बना लेना ॥४२॥

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान् भिषक् ।
यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्तोद्धरणलक्षणम् ॥४३॥

जिन व्रणों के मुख खुले रहते हैं और बन्द रहते हैं (कभी खुल जाते हैं और कभी भर जाते हैं) ऐसे ऐसे व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य सद्यः प्राणहर, विशल्यघ्न आदि मर्मों को बचाकर शस्त्र कर्म करे ॥४३॥

रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणतः ।
शस्त्रं निदध्याद्दोषं च स्रावयेत् कीर्तितं यथा ॥४४॥

व्यधन साध्य रोगों में उद्देश्य एवं प्रमाण के विचार से शस्त्र कर्म करे, और दोष का स्राव कहे अनुसार करे। (यथा—महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलान्तरं त्र्यंगुलान्तरे वा शस्त्रनिपातनम्)। यहाँ पर दो उपक्रम व्यधन और विस्रावण कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—व्यधन—वींधना—जैसे फफोले को सूई से वींधकर और मूत्रवृद्धि तथा जलोदर रोगों में कोष तथा उदर को वींधकर तद्रव जल—द्रव निकाला जाता है। कीर्तितं तथा—जैसा उन २ रोगों की चिकित्सा में कहा गया है ॥४४॥

अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये ।
यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च ॥४५॥

जिन व्रणों में पाकजन्य उपद्रव नहीं है, जिनका

मुख खुला है और जो मांस में स्थित हैं, उनमें कही विधि से सीना चाहिये, और इनका सन्धान करना चाहिये ॥४५॥

पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान्मर्मगतानपि ।
यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥४६॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥४७॥

पूय से भरे, छोटे मुखवाले, मर्म गत व्रणों में कहे हुए पीडन द्रव्यों से चारों ओर में पीड़न करना चाहिये। पीड़न कार्य में प्रदेहलेप को सूखने देना चाहिये। व्रण के मुख पर लेप लगाने से दोष बाहर नहीं आता ॥४६,४७॥

तैस्तैर्निमित्तैर्बहुधा शोणिते प्रस्रुते भृशम् ।
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत् ॥४८॥

सिरावेध आदि भिन्न-भिन्न कारणों से रक्त के बहुत अधिक निकलने पर वैद्य यथोक्त विधि से रक्त स्थापन (रक्त को रोकना) करे। (सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दाहनं तथा)।४८।

दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः ।
रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥४९॥
यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृताप्लुतैः ।
दिह्यादबहुलान् सेकान् सुशीतांश्चावचारयेत् ॥५०॥

पित्त प्रकोप के कारण दाह, पाक, ज्वर होने पर या रक्त से आक्रान्त व्रणों में निर्वापण करना चाहिये। इसके लिये मिश्रकोक्त दूर्वादि द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर घी मिलाकर पतला लेप करे। अतिशीतल सेक (परिषेक) करे।

वक्तव्य—"श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपः चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वगतस्योष्मणो रोधात्" चरक।

वि० मन्तव्य—निर्वापण—दाह शान्ति का उपाय, शीतल उपचार ॥४९,५०॥

व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु ।
तोदकाठिन्यपारुष्यशूलवेपथुमत्सु च ॥५१॥
वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा ।
स्नैहिकेषु च बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥५२॥
तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम् ।

क्षीण मांसवाले, पतले स्राववाले, न पकनेवाले तोद-कठिनता रूक्षता शूल एवं कम्पनवाले, तथा स्थिर एवं वेदनावाले व्रणों में—भद्रदार्व्यादि वातघ्न, सौवीरक, तुषोदक आदि अम्लवर्ग और काकोल्यादिगण, तिल-अलसी-सरसों एरण्ड आदि स्नेहवाले बीजों के साथ उत्कारिका पकाकर इससे स्वेदन करे।

वि० मन्तव्य-उत्कारिका-लपसी-हलुआ या पुल्टिस बनाकर गरम-गरम बाँधे ॥५१,५२॥

दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः ॥५३॥
कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः ।
अन्तःशल्यानणुमुखान् गम्भीरान् मांससंश्रितान् ॥५४॥
शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान् यथाक्रमम् ।
पूतिमांसप्रतिच्छन्नान् महादोषांश्च शोधयेत् ॥५५॥
कल्कीकृतैर्यथालाभं वर्तिद्रव्यैः पुरोदितैः ।

दुर्गन्धवाले क्लेदयुक्त विशेषकर पिच्छिल व्रणों में पहिले कहे हुए (शंखिनी अंकोट सुमनादि) द्रव्यों के शोधन कषायों से शोधन करे। अन्दर शल्यवाले, सूक्ष्म मुखवाले, गहरे, मांस में स्थित व्रणों का क्रम से (प्रथम सूक्ष्म, फिर स्थूल, फिर स्थूलतर, फिर स्थूलतम) शोधन द्रव्य युक्त वर्त्तियों से शोधन करे। सड़े मांस से ढंपे हुये, और बहुत दोषवाले व्रणों का पूर्वोक्त वर्त्तिद्रव्यों में से जो मिल सकें उनको पीसकर शोधन करे। ('दोष' से पूय लेना चाहिये) ॥५३-५५॥

पित्तप्रदुष्टान् गम्भीरान् दाह पाकप्रपीडितान् ॥५६॥
कार्पासीफलमिश्रेण जयेच्छोधनसर्पिषा ।

पित्त से दूषित, गहरे गये, दाह-पाक से युक्त व्रणों का कासीस, अजगन्धा आदि द्रव्यों में कपास का फल मिलाकर इनसे घृत सिद्ध करके, उससे शोधन करे।

वक्तव्य—डल्हण का कहना है कि—कार्पास फल शोधन द्रव्यों के बराबर, इनके कल्क से चारगुणा घी, घी से चारगुणा जल मिलाकर घृत बनाये। दूसरे इन द्रव्यों में घी मिलाकर लगाते हैं ॥५६॥

उत्सन्नमांसानस्निग्धानल्पस्रावान् व्रणांस्तथा ॥५७॥
सर्षपस्नेहयुक्तेन धीमांस्तैलेन शोधयेत् ।

ऊपर उठे मांसवाले, अस्निग्ध (स्नेह रहित), अल्प स्राववाले व्रणों का बुद्धिमान वैद्य सरसों के तैल को तिलतैल और मिश्रकोक्त मयूरादि शोधन द्रव्यों से सिद्ध करके तैल से शोधन करे ॥५७॥

तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम् ॥५८॥
व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्याद् द्रव्यैरुदीरितैः ।
कषाये विधिवत्तेषां कृते चाधिश्रयेत् पुनः ॥५९॥
सुराष्ट्रजां सकासीसां दद्याच्चापि मनःशिलाम् ।
हरितालं च मतिमांस्ततस्तामवचारयेत् ॥६०॥
मातुलुङ्गरसोपेतां सक्षौद्रामतिमर्दिताम् ।
व्रणेषु दत्वा तां तिष्ठेत् त्रींस्त्रींश्च दिवसान् परम् ।६१।

जो व्रण तैल से शुद्ध न होते हों, एवं स्थिर मांसवाले हों, उनमें शोधनीय द्रव्यों से बनाई रसक्रिया को बरतें। इस के लिये मिश्रकोक्त शालसारादि द्रव्यों को क्वाथ विधि से क्वाथ करके इस क्वाथ को पुनः अग्नि पर पकाये। पकाते समय इसमें फिटकरी, कासीस, मैनसिल, हरताल-इनको (कषाय का चतुर्थांश), मिलाये। पकाते हुए जब यह दर्वीप्रलेप रूप में रस

की भाँति हो जाये तब इसको उतारकर इसमें बिजौरे का रस और थोड़ा सा मधु मिलाकर व्रण में लगाये। इसको तीन दिन तक लगा रहने दे। फिर चौथे दिन उतारे ॥५८-६१॥

मेदोजुष्टानगम्भीरान् दुर्गन्धांश्चूर्णशोधनैः।
उपाचरेद् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्तिजैः ।।६२।

मेद से युक्त, गहरे न गये (उत्तान), दुर्गन्ध युक्त व्रणों की कासीसादि शोधन चूर्णों से एवं अजगन्धा आदि शोधन वर्त्ति द्रव्यों से वैद्य चिकित्सा करे। ये चूर्ण चिकने बारीक बनाये।

वि० मन्तव्य—यह चूर्ण व्रण पर बुरके जाते हैं, इनसे व्रण शीघ्र सूखता है। यही "अवचूर्णन" नामक उपक्रम है, (दे० सू० =) ॥६२॥

शुद्धलक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम्।
तत्र कार्यं यथोद्दिष्टैर्द्रव्यैर्वैद्येन जानता ॥६३॥

शुद्ध व्रण के लक्षणों से युक्त व्रण में रोपण कषाय बरते। इसके लिये जाननेवाला वैद्य बटादि-पूर्वोक्त द्रव्यों से कषाय बनाये ॥६३॥

अवेदनानां शुद्धानां गम्भीराणां तथैव च।
हिता रोपणवर्त्यङ्गकृता रोपणवर्तयः ॥६४॥

वेदना रहित, शुद्ध एवं गम्भीर व्रणों में-सोम, अमृता, अश्वगन्धा, काकोली आदि रोपण वर्ति द्रव्यों से बनाई रोपण वर्त्तियाँ बरतनी चाहियें ॥६४॥

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम्।
कल्कः संरोहणः कार्यस्तिलजो मधुसंयुतः ॥६५॥
स माधुर्यात्तथौष्ण्याच्च स्नेहाच्चानिलनाशनः।
कषायभावान्माधुर्यात्तिक्तत्वाच्चापि पित्तहृत् ॥६६॥
औष्ण्यात् कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्च कफे हितः।
शोधयेद्रोपयेच्चापि युक्तः शोधनरोपणैः ॥६७॥
निम्बपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चापि युक्तश्चाप्युपरोपणः ॥६८॥
तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः।
शमयेदविदग्धं च विदग्धमपि पाचयेत् ॥६९॥
पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेत्तथा।

जिन व्रणों में से सड़ा गला मांस निकल गया, मांस में स्थित होने पर भी जो व्रण भरते नहीं हैं, उनमें तिलों को पीस कर मधु से युक्त कल्क लगाये। यह कल्क स्निग्ध, उष्ण और मधुर होने से वायु को नष्ट करता है। कषाय, मधुर और तिक्त होने से पित्तनाशक है। उष्ण, तिक्त और कषाय होने से कफ में उत्तम है। शोधन और रोपण द्रव्यों से मिला तिलकल्क व्रण का शोधन और रोपण भी करता है। नीम के पत्ते और मधु से मिला तिलकल्क संशोधक है। नीम के पत्ते, मधु और घी से मिला तिलकल्क रोपण भी है। कोई आचार्य जौ के कल्क को भी तिल कल्क की भाँति मानते हैं। अविदग्ध (न पके) व्रण को शान्त करता है, विदग्ध (अधपके) व्रण को पकाता है। पके हुये को फाड़ देता है, भेदन किये हुए का शोधन और रोपण दोनों कार्य करता हैं ॥६५-६९॥

पित्तरक्तविषागन्तून् गम्भीरानपि च व्रणान् ॥७०॥
रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा।

पित्त-रक्त-विष और आगन्तुज एवं गम्भीर व्रणों में भी पृथक्पर्ण्यादि मिश्रकोक्त रोपणीय द्रव्यों से सिद्ध घृत से रोपण करना चाहिये ॥७०॥

कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक् ॥७१॥
कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः।

कफ वात से आक्रान्त व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य कालानुसारी अगुरु आदि मिश्रकोक्त रोपण द्रव्यों से सिद्ध तैल से रोपण करे।

अबन्ध्यानां चलस्थानां शुद्धानां च प्रदुष्यताम् ॥७२॥
द्विहरिद्रायुतां कुर्याद्रोपणार्थां रसक्रियाम्।

जिनमें पट्टी नहीं बाँधी जा सकती (पित्त, रक्त विष अभिघातजन्य) चेष्टा शील, स्थानों के शुद्ध होने पर भी जो बार-बार दूषित हो जाते हैं, उन व्रणों में रोपण के लिये हल्दी दारुहल्दी युक्त रस क्रिया को करे।

वक्तव्य—न्यग्रोधादि वर्ग और त्रिफला का क्वाथ करके रसक्रिया की कल्पना करते हुये इसमें हल्दी दारुहल्दी चूर्ण मिलाकर रस क्रिया बनावे ॥७२॥

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक् ॥७३॥
चूर्णं विदध्यान्मतिमान् प्राक्स्थानोक्तो विधिर्यथा।

समान, स्थिर (कठिन) मांसवाले, त्वचा में स्थित व्रणों में वैद्य सूत्रस्थान में कही विधि से चूर्ण बरते। (किंशुकत्रिफलारोध्रं सू० अ० ३७ में कही विधि से चूर्ण बरते) ॥७३॥

शोधनो रोपणश्चैव विधिर्योऽयं प्रकीर्तितः ॥७४॥
सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषतः।

यह शोधन, रोपण की विधि निज और आगन्तुज सब व्रणों के लिये है, क्योंकि दोनों व्रण—दोषों से भिन्न नहीं हैं। (कहा भी है—'कालान्तरेण दोषोपप्लवविशेषाच्छरीरवत् प्रतिकारः' सुश्रुत। चरक में—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं, निजस्तथागन्तु रपि प्रवृद्धः) ॥७४॥

एष आगमसिद्धत्वात्तथैव फलदर्शनात् ॥७५॥
मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन।

यह शोधन रोपणविधि शास्त्र से मान्य होने से एवं प्रत्यक्ष फल देखने से मंत्र की भाँति बरतनी चाहिये, इस में तर्क वितर्क या सन्देह नहीं करना चाहिये ॥७५॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु ॥७६॥
भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया।

कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रस क्रिया और चूर्ण, इन सातों में वैद्य अपनी बुद्धि से—योग के अनुसार

(जैसा ठीक हो) पूर्व कही हुई औषधियों को बरते। इसी से कहा है—

तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्कः। मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः। (२) यच्चानुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत, तद् विदध्यात्। चरक० वि० अ० ८ ॥७६॥

आद्ये द्वे पञ्चमूल्यौ तु गणो यश्चानिलापहः ॥७७॥
स वातदुष्टैर्दातव्यः कषायादिषु सप्तसु।
न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिषु यः स्मृतः॥७८॥
तौ पित्तदुष्टे दातव्यौ कषायादिषु सप्तसु।
आरग्वधादिस्तु गणो यश्चोष्णः परिकीर्तितः ॥७९॥
तौ देयौ कफदुष्टे तु, संसृष्टे संयुता गणाः।

बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल और भद्रदार्व्यादि वात नाशक गण को वायु से दूषित व्रण में—कषाय, वर्त्ति आदि रूपों में बरते। न्यग्रोधादि और काकोल्यादि गण को पित्त से दूषित व्रण में--कषाय आदि सात रूपों में बरते। आरग्वधादि, एवं उष्ण गण (मुष्ककादि और सुरसादि गण) को कफ से दूषित व्रणों में बरते। दोषों के संसर्ग होने पर-गणों को दोषों के अनुसार मिलाकर बरते। इसी से कहा है–'वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेत्' चरक०।

वि० मन्तव्य—इसके लिये देखिये सू० स्था० अ० ३८॥

वातात्मकानुग्ररुजान् सास्रावानपि च व्रणान् ॥८०॥
सक्षौमयवसर्पिभिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत्।

वात दोषवाले, तीव्र वेदना युक्त स्राव जिन में बहता हो ऐसे व्रणों में अलसी, जौ घी और धूपन द्रव्यों (श्रीवेष्ट के सर्जरस से सू० अ० ३७ में कहे) से धूप देना चाहिये ॥८०॥

परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च ॥८१॥
कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च।
मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः ॥८२॥
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते।

जो व्रण सूख गये हों, थोड़े मांसवाले हों, गहरे हों, उनमें अपामार्ग-अश्वगन्धा आदि उत्सादन द्रव्यों से बनाया घी और आलेप बरते। मनुष्य विधिपूर्वक मांस खानेवाले प्राणियों के मांसों को विधिपूर्वक पकाकर खाये। मन की प्रसन्नता होने पर मांस-मांस खाने से बढ़ता है। इसी से कहा है—

शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते। चरक।

वि० मन्तव्य—व्रणों पर जो लेप आदि उपचार किये जाते हैं उनसे वस्तुतः व्रणों या व्रणभूमि का सड़ना-गलना रुकता है और रोपण तो भीतरी पोषण से ही होता है। अतः व्रणस्थान की पूर्ति के लिये मांस खाने का विधान किया है, मांस खाने से मांस की वृद्धि शीघ्र होती है, फलतः व्रण शीघ्र भर जाता है। जो मांस नहीं खाते उनको अन्य हलुवा आदि पुष्टि कारक आहार देना चाहिये ॥८१,८२॥

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥८३॥
कुर्याद् द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह।

जिन व्रणों में कोमल मांस ऊपर को बढ़ आया हो, उनमें अवसादन (नीचे करना) करना चाहिये इसके लिये कासीस आदि कहे हुए द्रव्यों के चूर्ण को मधु के साथ लगाये।

वि० मन्तव्य—कभी २ व्रण में मांस ऊँचा उठ आता है, तल से भी ऊँचा हो जाता है, तब उसे समतल करने के लिये "अवसादन" क्रिया जाता है, यह भी लेखन का ही एक प्रकार है, मधु से लेखन होता है ॥८३॥

कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना ॥८४॥
मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत्।
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत् ॥८५॥
मृदुत्वमाशुरोहं च गाढो बन्धं करोति हि।

कठिन और थोड़े मांसवाले, वायु से दूषित व्रणों में मधुर, स्निग्ध, कोष्ण-लवण आदि से बाह्य एवं अन्तः रूप में कोमल उपचार करना चाहिये। रक्तानुगत वायु में रक्त मोक्षण करे। कफ का योग वायु के साथ होने पर भद्रदार्व्यादि वातनाशक औषधियों से मिले स्नेह और सेक करे। कसकर बांधी हुई पट्टी भी कोमलता और शीघ्र रोहण को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—यह मृदु कर्म नामक उपक्रम है। मृदुकर्म से व्रण की अनुचित दारुणता नष्ट की जाती है ॥८५॥

व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम्।
धवप्रियङ्ग्वशोकानां रोहिण्याश्च त्वचस्तथा॥८६॥
त्रिफलाधातकीपुष्परोध्रसर्जरसान् समान्।
कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत् ॥८७॥

कोमल मांसवाले व्रणों को कठिन बनाना चाहिये। इसके लिये धव, प्रियंगु, अशोक, रोहिणी (कुटकी, डल्हण के मत से कायफल) की छाल, त्रिफला, धाय के फूल, लोध, राल, इनको समान भाग लेकर इनका सूक्ष्म चूर्ण करके इसे व्रण पर बुरके[1]।

वि० मन्तव्य—यह दारुण कर्म नामक उपक्रम है। अवचूर्णन सूखा चूर्ण बुरकने से व्रण की अनुचित मृदुता नष्ट की जाती है ॥८६,८७॥

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान्।
तथैव खलु दुःशोध्यान् शोधयेत् क्षारकर्मणा ॥८८॥

जिन व्रणों में मांस उभर आया हो, कठिन कण्डू युक्त

१ रोहिणीत्वच—से हरड़ की छाल लेना ठीक है, रोहिणी, हरड़ का एक भेद है। डल्हण ने स्वयं ९४ वें श्लोक की व्याख्या में इसे माना है।

और देर से चलते हुए, एवं कठिनाई से शोधन होनेवाले व्रणों का क्षार क्रिया से शोधन करे ॥८८॥

स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ।
निःशेषच्छिन्नसन्धांश्च साधयेदग्निकर्मणा ॥८९॥

अश्मरीजन्य जिन व्रणों से मूत्र बहता हो तथा जिन व्रणों से रक्त बहता हो, जो सन्धियां सम्पूर्ण रूप में काटी गई हों, इनमें अग्निकर्म करे।

वक्तव्य—अश्मरीजन्य मूत्रस्रावी व्रण को सात दिन के उपरान्त दाह करे, सद्योव्रण में दाह न करे।

वि० मन्तव्य—अग्निकर्म के लिये देखिये सू० अ० १२॥८९॥

दुरूढत्वात्तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत् ।
भल्लातकान् वासयेत्तु क्षीरे प्राङ्मूत्रभावितान् ।
ततो द्विधा च्छेदयित्वा लौहे कुम्भे निधापयेत् ॥९०॥
कुम्भेऽन्यस्मिन् निखाते तु तं कुम्भमथ योजयेत् ।
मुखं मुखेन सन्धाय गोमयैर्दाहयेत्ततः ॥९१॥
यः स्नेहश्च्यवते तस्माद् ग्राहयेत्तं शनैर्भिषक् ।
ग्राम्यानूपशफान् दग्ध्वा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥९२॥
तैलनानेन संसृष्टं शुक्लमालेपयेद् व्रणम् ।
भल्लातकविधानेन सारस्नेहांस्तु कारयेत् ॥९३॥
ये च केचित् फलस्नेहा विधानं तेषु पूर्ववत् ।

ठीक प्रकार रोहण होने से शुक्ल हुए व्रणों में कृष्ण कर्म (काला करना) उत्तम है। इसके लिये गोमूत्र में भावना दिये भिलावों को सात दिन गाय के दूध में रक्खे। फिर इनके दो टुकड़े करके लोहे के घड़े में रख देवे। फिर भूमि में गड़े हुए एक दूसरे लोहे के घड़े पर—मुखको मुख से मिलाकर रक्खे। दोनों क मुखों को कपड़ मिट्टी से मिला देवे। फिर ऊपर के घड़े के चारों ओर छाने लगाकर आग लगा दे। इस प्रकार करने से जो स्नेह निचले घड़े में आता है, उसको धीरे से वैद्य निकाल ले। इस तैल में—ग्राम्यपशु (गाय आदि), आनूप पशु (भैंसे आदि) के खुरों को जलाकर इनका सूक्ष्म चूर्ण मिला दे। इस तैल से शुक्लव्रण पर लेप करे। भिलावे की विधि से सारादिगण (साल आदिक) से स्नेह बनाये। बहेड़ा, आदि स्नेह फलवाले जो हैं, उनमें भी यही भिलावे की विधि बरते। तैल में ग्राम्य-आनूप पशुओं के खुरों की राख अवश्य मिलाये।

वि० मन्तव्य—कभी व्रण का रोपण पूर्णरूप से हो जाने पर—व्रणस्थान पर श्वित्र का सा श्वेत दाग हो जाता है। उसे मिटाने के लिये यह विधि बतलाई गई है, इसका नाम "कृष्ण-कर्म" या "कृष्णी-करण" है। अग्निदग्ध व्रण का श्वेत दाग असाध्य होता है देखिये सु० नि० अ०५ का सू० १७। भिलावा वाले घड़ा के मुख में लोह की पतली तारों का-जाल लगा देना चाहिये। अन्यथा भिलावे निचले घड़े में गिर जाते हैं। इस तैल निकालने की क्रिया को "पाताल यन्त्र" कहते हैं। इस क्रिया में एक प्रकार का काला द्रव निकलता है उसीको तैल कह देते हैं। सारस्नेहान् तु कारयेत् अर्थात् शाल, चन्दन एवं शीशम आदि के सारकाष्ठ का बुरादा लेकर अथवा बहेड़ा, बदाम, ठारी आदि की मज्जा (माँगी-गिरी) लेकर भी उक्त प्रकार से काला द्रव प्राप्त किया जाता है, यह द्रव चर्मदल आदि पर भी लगाया जाता है, यह द्रव एक प्रकार की दुर्गन्ध से युक्त होता है ॥९०-९३॥

दुरूढत्वात्तु कृष्णानां पाण्डुकर्म हितं भवेत् ॥९४॥
सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागलं रोहिणीफलम् ।
तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम् ॥९५॥
नवं कपालिकाचूर्णं वैदुलं सर्जनाम च ।
कासीसं मधुकं चैव क्षौद्रयुक्तं प्रलेपयेत् ॥९६॥
कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत् ।
कासीसं राचनां तुत्थं हरितालं मनःशिलाम् ॥९७॥
वेणुनिर्लेखनं चापि प्रपुन्नाडरसाञ्जनम् ।
अधस्तादर्जुनस्यैतन्मासं भूमौ निधापयेत् ॥९८॥
मासादूर्ध्वं ततस्तेन कृष्णमालेपयेद् व्रणम् ।

व्रण के ठीक प्रकार रोहण न होने से काले हुए व्रणों में पाण्डुकर्म (श्वेत करना) करना हितकारी होता है। रोहिणी फल (हरड़ की छाल) को सात दिन बकरी के दूध में रखकर—उसी दूध के साथ बारीक पीस ले। यह त्वचा के समान रंग करने में उत्तम है। नये ठीकरे का चूर्ण, बेंत का मूल, राल, कासीस, मुलैहठी, इनके चूर्ण को मधु के साथ लेप करे। कैथ के अन्दर से गूदा निकालकर उसमें बकरे का मूत्र भर देवे। इसी मूत्र में कासीस, गोरोचन, तुत्थ, हरताल, मैनसिल, बांस के छिलके की बुरकी, पनवाड़, रसौत, भी मिला दे। फिर इस कैथ को एक मास तक अर्जुन वृक्ष की जड़ में गाड़ देवे। एक मास के पीछे इससे कृष्ण भाग पर लेप करे। (नवं कपालिका चूर्णम्—से कई एक भिन्न-तुरन्त मरे मनुष्य की खोपड़ी की भस्म लेते हैं)।

वि० मन्तव्य— कभी-कभी व्रण भूमि पर काला दाग हो जाता है उसको मिटाने के लिये पाण्डुकर्म किया जाता है इसे "पाण्डुकरण" या "सवर्णकरण" कहते हैं। इससे शरीर के सदृश वर्ण हो जाता है। इन दोनों उपक्रमों का उद्देश्य है व्रण स्थान का शरीर के सदृश वर्ण बना देना। गहरे व्रणों का चिह्न तो रह ही जाता है जीवन भर के लिये ॥९४-९८॥

कुक्कुटाण्डकपालानि कतकं मधुकं समम् ॥९९॥
तथा समुद्रमण्डूकी मणिचूर्णं च दापयेत् ।
गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम् ॥१००॥

मुर्गे के अण्डे के छिलके, कतक (जल शोधनफल निर्मली-फल) मुलहठी, समुद्रमण्डूकी (जल शुक्तियाँ मुक्ताशुक्ति), और मणिचूर्ण, इनमें प्रत्येक को समान भाग लेकर गोमूत्र से पीसकर गोलियाँ बना ले। इनसे व्रणों पर प्रतिसारण करे।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारण—घर्षण का नाम है, जब कभी व्रण में मांसोन्नति अथवा मांसकन्दी हो जाती है तब उक्त प्रतिसारण किया जाता है, इस कर्म को छेदन अथवा लेखन कह सकते हैं, देखिये सू० अ० २५ के सू० ४ तथा ६। और उक्तयोग में सब द्रव्य लेखन हैं भी ॥ ९९,१०० ॥

हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम् ।
रोमाण्यतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥१०१॥
चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः ॥१०२॥
कासीसं नक्तमालस्य पल्लवांश्चैव संहरेत् ।
कपित्थरसपिष्टानि रोमसंजननं परम् ॥१०३॥

हाथी दन्त की राख करके इनमें श्रेष्ठ रसौत को मिलाकर (बकरी के दूध के साथ) लगाने से हथेली में भी बाल उग आते हैं, व्रण में तो उग ही आयेंगे। पशुओं की खाल, रोम, खुर, सींग, अस्थि, इनकी भस्म को चूर्ण करले। पहले स्थान पर तैल लगाकर इनका चूर्ण उस पर बुरक देवे। इससे पुनः बाल उग आते हैं। कासीस, करञ्ज के कोमल पत्ते इनको कैथ के रस में पीसकर लगावे। इससे बाल उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—व्रण भूमि पर रोम उगाने का यह उपाय है। इसे "लोमसञ्जनन" उपक्रम कहते हैं ॥१०१–१०३॥

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत् ॥१०४॥
शंखचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम् ।
शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम् ॥१०५॥
तैलं भल्लातकस्याथ स्नुहीक्षीरं तथैव च ।
प्रगृह्यात्र मतिमान् रोमशातनमुत्तमम् ॥१०६॥
कदलीदीर्घवृन्ताभ्यां भस्मालं लवणं शमी ।
बीजं शीतादपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत् ॥१०७॥
आगारगोधिकापुच्छं रम्भाऽऽलं बीजमैङ्गुदम् ।
दग्ध्वा तद्भस्मतैलाम्बु सूर्यपक्वं कचान्तकृत् ॥१०८॥

जो व्रण भली प्रकार रोहण नहीं होता उसमें अधिक रोम उग आते हैं उनको कैंची या मोचने से निकाल देवे। (शंख का चूर्ण दो भाग, हरताल एक भाग–इनको शुक्त (सिरका) के साथ पीस कर लगाये। इससे बाल गिर जाते हैं)। भिलावे का तेल और थोर का दूध इनको एकत्र मिलाकर लगाये, यह बालों को नष्ट करता है। केला, श्योनाक की राख, हरताल, सैंधवलवण, शमीबीज, इनको शीतल जल से पीसकर लगाये, यह बालों को नष्ट करता है। छिपकली की पूँछ, केला, हरताल, इङ्गुदी के बीज, इनको जलाकर इनकी भस्म तैल और पानी में मिलाकर, धूप में गरम करके लगाये, यह बाल नाशक है।

वि० मन्तव्य—कभी २ व्रण स्थान पर मोटे २ बाल उग आते हैं, उनको हटाने के ये सब उपाय हैं। इसे लोमापहरण नामक उपक्रम कहा गया है। उक्त योगों से अन्यत्र के रोम भी हटाए जाते हैं। शंखचूर्ण का अर्थ है, शंख का चूना अर्थात् भस्म। शंखचूर्ण एवं हरिताल का योग ही आज का "वैरियुमसलफायड" है, जो बाल उड़ाने का प्रसिद्ध पाउडर सर्वत्र मिलता है। हरिताल की भस्म नहीं की जाती, वैसे ही मिला दी जाती है। पाठक आश्चर्य से देखें कि सुश्रुत के समय में भी साबुन—बाल उड़ाने का साबुन बनाया जाता था, यथा–भस्म अर्थात् क्षार, तैल एवं जल को मिलाकर धूप में उष्ण करने पर जो पदार्थ तैयार होता है, वही आज का "साबुन" है ॥१०८॥

वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः ।
अधःकाये विशेषेण तत्र बस्तिर्विधीयते ॥१०९॥

जो व्रण वायु से दूषित हो, रूक्ष हो, अतिशय वेदना करता हो, विशेषकर नाभि से नीचे हो, उसमें वस्ति देनी चाहिये ॥

मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे ।
तथैवार्तवदोषे च बास्तरुत्तरो हितः ॥११०॥

मूत्राघात, मूत्रदोष, शुक्रदोष, अश्मरीजन्य व्रण में, आर्त्तव दोष में उत्तरवस्ति उत्तम है ॥ ११० ॥

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम् ।
रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते ॥१११॥

पट्टी बाँधने से व्रण का शोधन होता है, कोमल बनता है, बिना किसी बाधा के भरता है, इसलिए व्रणपर पट्टी बाँधते हैं॥

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ।
पत्रदानं भवेत् कार्यं यथादोषं यथर्तु च ॥११२॥
एरण्डभूर्जपूतीकहारिद्राणां तु वातजे ।
पत्रमाश्वबल यच्च काश्मरीपत्रमेव च ॥११३॥
पत्राणि क्षीरवृक्षाणामौदकानि तथैव च ।
दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः ॥११४॥
पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः ।
पत्रं च शुकनासाया योजयेत् कफजे व्रणे ॥११५॥
अकर्कशमविच्छिन्नमजीर्णं सुकुमारकम् ।
अजन्तुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते ॥११६॥
स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः ।
नादत्ते यत्ततः पत्रं लेपस्योपरि दापयेत् ॥११७॥

शैत्योष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च ।
दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता ॥११८॥

स्थिर, अल्प मांसवाले एवं रूक्षता के कारण न भरनेवाले व्रणों में दोष और ऋतु के अनुसार पत्रदान (पत्ते का रखना) करना चाहिए[1] । वातजन्य व्रणों में एरण्ड, भोजपत्र, करञ्ज, और हल्दी के पत्ते रक्खे। रक्त-पित्त से दूषित व्रणों में बुद्धिमान वैद्य अश्ववला (पोई), गम्भारी के पत्ते, बरगद आदि क्षीर-वृक्षों के पत्ते, कमल आदि जलीय पत्रों को रक्खे। कफजन्य व्रण में—पाठा, मूर्वा, गिलोय, मकोय, हल्दी, और शुकनास के पत्र बरते। जो पत्ता खरदरा न हो, फटा न हो, पुराना न हो, कीड़ों से न खाया हो, कोमल हो, वह गुणशाली होता है। पत्तों के बीच में आने से वस्त्र स्नेह और औषधसार (वीर्य) को नहीं ले लेता। इसलिये व्रणपर लेप करके, उसपर पत्र रक्खे (फिर पत्ते पर गौज-कवलिका, रूई रखकर पट्टी बाँध देवे)। शीतलता उत्पन्न करने के लिए (रक्त-पित्त व्रणों में) और स्नेह को बचाये रखने के लिए जाननेवाला वैद्य पत्र का उपयोग करे ॥ ११२-११८ ॥

मक्षिका व्रणमागत्य निःक्षिपन्ति यदा कृमीन् ।
श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥११९॥
तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते ।
सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा ॥१२०॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः ।
हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन वा ॥१२१॥
प्रच्छाद्य सर्पश्यामां वा कृमीनपहरेद् व्रणात् ।
विंशति कृमिजातीस्तु वक्ष्याम्युपरि भागशः ॥१२२॥

मक्खियाँ जब व्रण पर बैठकर कृमि (अण्डे) उत्पन्न कर देती हैं, तब उन कीड़ों के खाने से व्रण में भयानक शोथ उत्पन्न होता है। इसमें तीव्र एवं नाना प्रकार की वेदनायें और रक्तस्राव होता है। इसमें सुरसादि गण का धोने और भरने में उपयोग करना चाहिए। सतवन, करञ्ज, आक, नीम, खिरनी की छाल, इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे या क्षारोदक से परिषेक करे। अथवा मांस पेशी से ढाँपकर व्रण से कृमियों को निकाले। कृमि की बीस जातियों को उत्तर तन्त्र में कहूंगा।

वक्तव्य—व्रण पर रक्त मिश्रित मांस पेशी रखने पर कृमि मांस रक्त के लोभ से पेशी में आ जायेंगे—जब यह भर जाये, इसे हटाकर दूसरी रख देवे। इस प्रकार करे।

वि० मन्तव्य—ये कृमि "जन्तुमाता" कहे हैं—जन्तुः मक्षिका माता जननी येषां ते जन्तुमातरः, अर्थात् मक्षिका है, जननी जिनकी। बीस प्रकार के कृमियों का वर्णन उत्तर तन्त्र अ० ५४ में किया जायगा। परन्तु जन्तुमाता नामक कृमियों का वर्णन चरक विमान स्थान अ० ७ के सू० ११ में देखिये॥

दीर्घकालातुराणां तु कृशानां व्रणशोषिणाम् ।
बृंहणीयो विधिः सर्वः कायाग्निं परिरक्षता ॥१२३॥

चिरकालीन रोगी कृश एवं व्रण से शुष्क बने पुरुषों में—जाठराग्नि की रक्षा करते हुए—सम्पूर्ण रूपमें बृंहण विधि बरतनी चाहिये ॥ १२३ ॥

विषजुष्टस्य विज्ञानं विषनिश्चयमेव च ।
चिकित्सितं च वक्ष्यामि कल्पेषु प्रविभागशः ॥१२४॥

विष से आक्रान्त व्रण के लक्षण, विष की परीक्षा और विष चिकित्सा को अलग २ कल्पस्थान में कहूँगा ॥१२४॥

कण्डूमन्तः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः ।
शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात्कुशलो भिषक् ॥१२५॥

कण्डूयुक्त, शोफयुक्त, तथा गले से ऊपर के जो व्रण हों, उनमें कुशल वैद्य शिरो विरेचन दे ॥ १२५ ॥

रुजावन्तोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः ।
व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता ॥१२६॥

वेदना युक्त, वायु से आक्रान्त, रूक्ष और जत्रु से ऊपर के जो व्रण हों, उनमें जानकार वैद्य नस्य देवे ॥ १२६ ॥

दोषप्रच्यावनार्थाय रुजादाहक्षयाय च ।
जिह्वादन्तसमुत्थस्य हरणार्थं मलस्य च ॥१२७॥
शोधनो रोपणश्चैव व्रणस्य मुखजस्य वै ।
उष्णो वा यदि वा शीतः कवलग्रह इष्यते ॥१२८॥

दोषों को निकालने के लिए, रुजा और दाह नष्ट करने के लिये, जीभ एवं दाँत में उत्पन्न मलों को दूर करने के लिये, मुख के व्रण के शोधन एवं रोपण के लिये उष्ण या शीत कवल उत्तम है ॥ १२७,१२८ ॥

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् व्रणांश्च कफवातजान् ।
शोफस्रावरुजायुक्तान् धूमपानैरुपाचरेत् ॥१२९॥

जत्रु से ऊपर के रोगोंमें, कफवातजन्य व्रणों में शोफ, स्राव, पीड़ा होने पर (जत्रु से-गले के ऊपर के रोग एवं व्रणों में) धूमपान से चिकित्सा करे ॥ १२९ ॥

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च ।
सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥१३०॥

सद्यःक्षत की उष्णिमा को रोकने के लिये, इसको जोड़ने के लिए, चौड़े-व्रणों में मधु और घृत (मिला-

---

१ गुरुकुल कांगड़ी में आज से तीस साल पहले डाक्टर सुखदेव जी केले के कोमल पत्ते का उपयोग पुराने व्रणों पर करते थे। इससे जहाँ व्रण का उपकार होता है, वहाँ स्नेह या औषध पट्टी को या रुई आदि को भी नहीं बिगाड़ती। यह वहाँ बहुत चलता रहा।

कर) बरतते हैं। (मधु-घृत यह एक उपक्रम गिनने से साठ उपक्रम हो जाते हैं ॥१३०॥

अवगाढास्त्वणुमुखा ये व्रणाः शल्यपीडिताः ।
निवृत्तहस्तोद्धरणा यन्त्रं तेषु विधीयते ॥१३१॥

जो व्रण गहरे, सूक्ष्म मुख, शल्य से पीड़ित हो, जिनमें हाथ से शल्य नहीं निकाला जा सकता, उनमें यंत्र का प्रयोग किया जाता है ॥१३१॥

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्निदीपनः ।
सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता ॥१३२॥

सब व्रणरोगियों को, मात्रा में लघु, गुणों में लघु, स्निग्ध, उष्ण और अग्नि दीपक आहार सदा देना चाहिये ॥१३२॥

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।
रक्षाविधानैरुद्दिष्टैर्यमैः सनियमैस्ततथा ॥१३३॥

व्रणरोगी की सदा राक्षसों से (कृमियों से चूँकि ये भी राक्षसों की भांति रात में—अन्धेरे में रहते हैं, मांस-आदि खाते हैं) रक्षा करनी चाहिये। इसके लिये कहे हुये रक्षा उपायों से (गुग्गुल--सरसों आदि का धुँवा, मंत्र आदि) तथा यम और नियम से रक्षा करे।

वक्तव्य—निशाचर ही कृमि हैं—दोनों का जीवन एक ही सा है। यम—अहिंसा, सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। अथवा—अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहार-लाघवम्। अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥

वि० मन्तव्य—निशाचरों को कृमि मानने और सिद्ध करने का आजकल प्रचार या हठ सा हो गया है, आयुर्वेद के जाननेवाले भी यही प्रचार करते हैं। परन्तु आयुर्वेद के आठ अंगों में—"भूतविद्या नाम....शमनार्थम्" (सु० सू० अ० १·४ तथा च० सू० अ० ३०·२८) में भूतविद्या नामक विशिष्ट अङ्ग या तन्त्र माना गया है और आयुर्वेद के उक्त ग्रन्थों में यत्र-तत्र इस विद्या के उल्लेख भी पाए जाते हैं। उनको देखकर भी पाश्चात्य कीटाणु पैथी के पीछे भागना कहाँ तक उचित है पाठक स्वयं विचार करें और उक्त पैथी में कीटाणु पुरीष, रक्त एवं कफ में पाये जानेवाले कृमि है, जिनका वर्णन सुश्रुत एवं चरक में पृथक् किया गया है। पुनरपि पाठक—आयुर्वेदज्ञ विवेकशील विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें, गतानुगतिक बनना उचित नहीं है ॥

षण्मूलोऽष्टपरिग्राहो पञ्चलक्षणलक्षितः ।
षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ॥१३४॥

सारांश—व्रण के छै मूल (वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात, आगंतुज) हैं, आठ परिग्रह-स्थान हैं (त्वचा, मांस, सिरा स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ, और मर्म), पांच लक्षणों से—जाना हुआ (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तुज लक्षणों से जाना हुआ), व्रण, साठ उपक्रमों द्वारा, चार से (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) अच्छा किया जाता है ॥१३४॥

योऽल्पौषधकृतो योगो बहुग्रन्थभयान्मया ।
द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति ॥१३५॥

ग्रन्थ के बहुत बढ़ने के भय से थोड़ी औषधियों से कहा हुआ जो योग हो उसमें उसके समान द्रव्यों के मिलान में कोई दोष नहीं होता ॥१३५॥

प्रसङ्गाभिहितो यो वा बहु दुर्लभभेषजः ।
यथोपपत्ति तत्रापि कार्यमेव चिकित्सितम् ॥१३६॥

अथवा प्रसंग के कारण जो योग बहुत-सी एवं अप्राप्य औषधियोंवाला कहा गया है, उसमें भी उपपत्ति के अनुसार (जो मिले, जो ठीक समझे) चिकित्सा कार्य कर लेना चाहिये॥

गणोक्तमपि यद्द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम् ।
तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम् ॥१३७॥

गण में कहा हुआ भी जो द्रव्य रोग के लिये ठीक न लगे, उसको निकाल देवे। और योग्य द्रव्य यदि न भी कहा हो, तो भी उसको मिलाये।

वक्तव्य—'तेभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद्-द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्, यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत, तत्तद् विदध्यात्। वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा, युक्ति प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य। बीजमिव कर्षकस्य, सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति। तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः' ॥चरक० वि०अ० ८॥१३७॥

उपद्रवास्तु विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च ।
तत्र गन्धादयः पञ्च व्रणस्योपद्रवाः स्मृताः ॥१३८॥
ज्वरातिसारौ मूर्च्छा च हिक्का च्छर्दिररोचकः ।
श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य तु ॥१३९॥

व्रण एवं व्रणरोगी के उपद्रव बहुत प्रकार के हैं। इनमें गन्ध आदि पांच उपद्रव व्रण के कह दिये हैं। ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का, वमन, अरोचक, श्वास, कास, अविपाक, और तृष्णा ये व्रणरोगी के उपद्रव हैं ॥

वक्तव्य—सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः ।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्त्तिताः ॥
विसर्पपक्षघातश्च शिरस्तम्भापतानकाः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णाहनुग्रहः ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥

वि० मन्तव्य—व्रण के पञ्चज्ञानेन्द्रियग्राह्य-गन्ध, रूप, शब्द,

स्पर्श तथा रस नामक उपद्रव सू० स्था० अ० २८ में कहे गये हैं। वहीं देखिये श्लो० ८ से श्लो० १६ तक ॥१३८-१३९॥

व्रणक्रियास्वेवमासु व्यासेनोक्तास्वपि क्रियाम्।
भूयोऽप्युपरि वक्ष्यामि सद्योव्रणचिकित्सिते॥१४०॥

इस प्रकार से इन व्रण क्रियाओं में विस्तार से चिकित्सा कह देने पर भी पुनः सद्योव्रण चिकित्सा में क्रिया को कहूँगा।

वि० मन्तव्य—सद्योव्रणचिकित्सित नामक अगला ही अध्याय है ॥१४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने द्विव्रणीय-
चिकित्सितं नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः सद्योव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे सद्योव्रणचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—सद्यः—तत्काल या तत्क्षण जो व्रण होता है वह "सद्योव्रण" कहलाता है। इसी का नाम आगन्तु व्रण है, क्योंकि इसका कारण आगन्तु या बाहरी शस्त्र आदि होता है। शारीर व्रण इसके विपरीत होता है, उसमें—प्रथम शोथ उत्पन्न होता है। फिर यह पकता है और फिर जब फूटता या फटता है, या चीरा लगाया जाता है, तब "व्रण" होता है, इसका कारण भी भीतरी वात आदि दोष होता है ॥१,२॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः।
विश्वामित्रसुतं शिष्यमृषिं सुश्रुतमन्वशात्॥३॥

धर्मधारियों में श्रेष्ठ, उत्तम वक्ता धन्वन्तरि ने विश्वामित्र के पुत्र, शिष्यरूप से आये हुए सुश्रुत ऋषिको शिक्षा दी-कहा॥

नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः।
नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥४॥

नाना प्रकार की धारा एवं मुखवाले शस्त्रों के नाना स्थानों पर लगने से भिन्न भिन्न प्रकार के जो व्रण हो जाते हैं, उनके लक्षण कहूँगा ॥४॥

आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा।
अर्धचन्द्रप्रतीकाशा विशाला कुटिलास्तथा॥५॥
शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे।
एवंप्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः॥६॥
दोषजा वा स्वयंभिन्नाः न तु वैद्यनिमित्तजाः।

आयताकार, चकोर, त्रिकोण, गोलाकार, अर्धचन्द्र की भांति, (विशाल बड़े) कुटिल (टेढ़े-मेढ़े) चप्पन के समान बीच से दबे, (किनारों पर उठे), तथा जौ के समान (बीच में चौड़े-किनारों पर तङ्ग आकार के), इन आकारों के दोषजन्य या स्वयं विदीर्ण हुए तथा आगन्तुज व्रण होते हैं। वैद्य के द्वारा बनाये गये व्रग इन से पृथग् आकार के हैं। (वैद्यजन्य व्रण-आयत, विशाल सम विभक्त लक्षणों के होते हैं) ॥५,६॥

भिषग्व्रणाकृतिज्ञो हि न मोहमधिगच्छति॥७॥
भृशं दुर्दर्शरूपेषु व्रणेषु विकृतेष्वपि।

व्रण की आकृति को जाननेवाला वैद्य देखने में अतिशय कुरूप तथा विकृत व्रणों में भी नहीं घबराता ॥७॥

अनन्ताकृतिरागन्तुः स भिषग्भिः पुरातनैः॥८॥
समासतो लक्षणतः षड्विधः परिकीर्तितः।

पुरातन वैद्यों ने आगन्तुज व्रण को असंख्येय आकार का माना है। संक्षेप में लक्षणों के अनुसार आगन्तुज व्रण छै, प्रकार का है ॥८॥

यथा—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च॥९॥
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।

छिन्न, भिन्न, विद्ध, पिच्चित, क्षत और घृष्ट-छै प्रकार का है, इनके लक्षण कहता हूँ ॥९॥

तिरश्चीन ऋजुर्वाऽपि यो व्रणश्चायतो भवेत्॥१०॥
गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते।

जो व्रण-तिरछा या सीधा अथवा आयताकार हो, जिसमें शरीर से अंग अलग हो जाये (या कुछ कट जाये) उस व्रण को छिन्न कहते हैं ॥१०॥

कुन्तशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः॥११॥
हतः किञ्चित् स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते।

भाला, शक्ति, ऋष्टि (शर्वला), तलवार सींग आदि से आशय में चोट लगने पर इसमें से कोई वस्तु बहे, तो उसे भिन्न व्रण कहते हैं ॥११॥

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च॥१२॥
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।

आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फेफड़े—इनको कोष्ठ कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—कोष्ठ अर्थात् आशय कहा गया है। ये अवयव भीतर से खोखले होते हैं और इनमें कोई न कोई वस्तु भरी रहती है जो इनके फटने पर बहती है—बाहर निकल आती है—निकलने लगती है। यह भी एक शास्त्रसमय है। यद्यपि क्षत आदि व्रणों में भी रक्त तो निकलता ही है तथापि उसे "भिन्न" नहीं कहा जाता, यथा—'लकड़ी फटती है, और घड़ा फूटता है आदि वाक्यों को प्रयोग होता है। किसी कोष्ठ

अर्थात् आशय के फूटने को "भिन्न" व्रण कहना शास्त्रीय परिभाषा है ॥१२॥

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ॥१३॥
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ।
मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च ॥१४॥
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ।
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ॥१५॥
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ।

कोष्ठ के भिन्न होने पर रक्त के भर जाने पर ज्वर और दाह होता है। मूत्रमार्ग, गुदा, और मुख से तथा नासिका से रक्त जाता है। मूर्च्छा, श्वास, प्यास, आध्मान, भोजन में अनिच्छा होती है। मल-वायु-मूत्र का अवरोध रहता है, पसीना आता है। आँखों में सुर्खी होती है। मुख से रक्त की गन्ध आती है, शरीर से दुर्गन्ध होती है, हृदय में शूल और पार्श्वों में शूल होती है।

वि० मन्तव्य—यह सब भिन्न व्रण के सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षण नीचे लिखे हैं उनको सुनिये। लोहगन्धित्वं आस्यस्य—अर्थात्—लोह को तपाकर जल में बुझाने पर जैसी गन्ध आती है वैसी गन्ध रोगी के मुख से आती है ॥१३-१५॥

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत् पुनः ॥१६॥
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ।
पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च ॥१७॥
शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः ।

इनके विशेष लक्षणों को सुनो—रक्त के आमाशय में होने पर बार बार रक्त का वमन होता है। अधिक मात्रा में आध्मान रहता है, अतिभयानक शूल होता है। रक्त के पक्वाशय में होने पर पीड़ा और भारीपन रहता है, नाभि के नीचे शीतलता, और मूत्र मार्ग एवं गुदा मार्ग से रक्त आता है ॥१६,१७॥

अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् ॥१८॥
पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ।

जिस प्रकार कि घड़े का मुख बन्द होने पर घड़े के पार्श्वस्थ छेदों से घड़े में पानी भर जाता है, इसी प्रकार आमाशय के विदीर्ण हुए बिना भी आंत्रों के सूक्ष्म छेदों से आंत्र रक्त आदि से भर जाती हैं ॥१८॥

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयाद्विना ॥१९॥
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ।

सूक्ष्म मुखवाले शल्य से आशयों के बिना शरीर में वेधन होने से शल्य ऊपर को उठ आये (अन्दर रहने पर) या बाहर निकल आये, उसको विद्धव्रण कहते हैं ॥१९॥

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ॥२०॥
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ।

न तो बहुत कट के दो टुकड़े हुए हों, और न बहुत भिन्न हुआ हो, परन्तु छिन्न और भिन्न दोनों के लक्षण जिसमें हों, जो व्रण विषम (नीचा-ऊँचा) हो उसे क्षत व्रण कहते हैं ॥२०॥

प्रहारपीडनाभ्यां तु तदङ्गं पृथुतां गतम् ॥२१॥
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ।

प्रहार से या दबाव के कारण जो अंग अस्थि समेत चौड़ा हो जाये, मज्जा और रक्त से भरा हो उसको पिच्चित कहते हैं।

वि० मन्तव्य—इनमें अंग पिच्चित हो जाता है—पिचक जाता है, परन्तु बाहर से त्वचा नहीं फटती है, फलतः रक्त बाहर नहीं आता। देखिये श्लो० २६,२७। विघृष्ट व्रण त्वचा तक ही रहता है, अतः उसमें त्वचागत लसीका मात्र का स्राव होता है, दे० श्लो० २२ ॥२१॥

विगतत्वग्यदङ्गं हि संघर्षादन्यथाऽपि वा ॥२२॥
उषास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ।

रगड़ लगने से या अन्य किसी कारण से अंग की त्वचा उतर जाये, इसमें उषा (दाह) और स्राव हों, तो इसको घृष्ट व्रण कहते हैं ॥२२॥

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् ॥२३॥
रक्तक्षयाद्रुजस्तत्र करोति पवनो भृशम् ।
स्नेहपानं हितं तत्र तत्सेको विहितस्तथा ॥२४॥
वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम् ।
धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धान्यालेपनानि च ॥२५॥
वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्बस्तिर्विधीयते ।

छिन्न-भिन्न विद्ध, क्षत व्रण में रक्त बहुत निकलता है। रक्त क्षय के कारण कुपित वायु इसमें बहुत वेदना करता है। इसमें स्नेह पान कराये, कोष्ण स्नेह से सेक करे। वेसवार (कीमाया किये मांस को गुड़, घी, पिप्पली, मरिच के साथ स्विन्न करके), कृशरा (तिल, चावल, उड़द से बनी) इनको, तथा स्निग्ध पुलटिस को बांधे। माष आदि से कोष्ठ सेके, स्निग्ध आलेपन करे। एरण्ड आदि वातनाशक औषधियों से सिद्ध स्नेहों की वस्ति देवे।

वक्तव्य—कोई लोग धान्य शब्द से धान्याम्लकांजी लेते हैं। रक्तस्राव के पीछे चिकित्सा—

नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् ॥
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग्
अग्निर्विशेषेण च रक्षणीयः ॥ चरक ॥

रक्त का स्पर्श अनुष्णशीत है, वायु भी अनुष्णशीत है, इसलिये भोजन भी साधारण बताया है ॥२३-२५॥

पिच्चिते च विघृष्टे च नातिस्रवति शोणितम् ॥२६॥
अगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते ।

तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः ॥२७॥
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः।

पिच्चित और घृष्ट व्रणों में रक्त बहुत नहीं बहता। इनमें दाह और पाक विशेष रूप में होता है। इनमें उष्णिमा को, तथा दाह एवं पाक को बचाने के लिये शीतल आलेप करना और परिषेक भी शीतल करना चाहिये ॥२६,२७॥

षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः ॥२८॥
ज्ञेयं ससर्पितं सर्वं सद्योव्रणचिकित्सितम्।

छिन्न आदि छै व्रणों की संक्षेप में सम्पूर्ण रूप से सद्यो चिकित्सा कह दी हैं ॥२८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि छिन्नानां तु चिकित्सितम्॥२९॥
ये व्रणा विवृताः केचिच्छिरःपार्श्वावलम्बिनः।
तान् सीव्येद्विधिनोक्तेन बध्नीयाद् गाढमेव च ॥३०॥

इसके आगे छिन्न व्रणों की चिकित्सा कहूँगा। जो कोई व्रण, चौड़े मुखवाले शिर या पार्श्व में स्थित हों, उन व्रणों को कही हुई विधि से सी देना चाहिये, उन पर कसकर पट्टी बाँध देवे ॥२९,३०॥

कर्णं स्थानादपहृतं स्थापयित्वा यथास्थितम्।
सीव्येद्यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाभिप्रतर्पयेत् ॥३१॥
कृकाटिकान्ते छिन्ने तु गच्छत्यपि समीरणे।
सम्यङ्निवेश्य बध्नीयात् सीव्येच्चापि निरन्तरम्॥३२॥
आजेन सर्पिषा चैनं परिषेकं तु कारयेत्।
उत्तानोऽन्नं समश्नीयाच्छयीत च सुयन्त्रितः ॥३३॥

स्थान से खिसके कान को यथास्थान बिठाकर उसे यथोक्त विधि से सी देवे। कान में तैल (वातघ्न तैल) भरे। गले के पिछले भाग तक ग्रीवा के कट जाने पर और वायु के बाहर निकलने पर भी ग्रीवा को भली प्रकार बिठाकर-बाँध देवे और चारों ओर से सी देवे। बकरी के घी से परिषेक करे। पीठ के भार चित लेटकर अन्न को खाये, भली प्रकार सावधानी से (जिससे ग्रीवा स्थिर रहे) सोये।

वि० मन्तव्य—यदि बाह्यकर्ण अर्थात् कर्णशष्कुली को कोई दूसरा खींचकर उखाड़ देवे तो तत्काल उसे उसी स्थान पर स्थापित कर देवे और विधिपूर्वक विहित उपचार करे, इस प्रकार वह जुड़ जाती है। कृकाटिका—शिर एवं ग्रीवा के सन्धान स्थल पर कृकाटिका नामक दो मर्म हैं, (दे० शा० अ० ६-२७) इन मर्मों के अन्त-समीप तक ग्रीवा कट जाने पर भी, श्वासवह स्रोतस् के कट जाने पर छिन्न व्रण में से श्वास वायु के आ जाने पर भी, यदि कृकाटिका कटने से बच गई हो तो यथास्थान ग्रीवा को स्थापित करके निरन्तर-अन्तर रहित सीवन कर्म कर देवे। यदि केवल श्वास नलिका ही कटी हो, अन्य मातृका आदि मर्म कटने से बचे रहे हों तो रोगी इस दशा में भी बच जाता है। सीवन कर्म के अनन्तर विहित उपचार करता रहे। और रोगी स्वतः ग्रीवा को हिलाने डुलाने में तब तक सावधान रहे जब तक व्रण का रोपण-सन्धान भली भांति हो जाय। सीवन कर्म के लिये देखिये सू०अ० २५॥

शाखासु पतितांस्तिर्यक् प्रहारान् विवृतान् भृशम्।
सीव्येत् सम्यङ्निवेश्याशु सन्ध्यस्थीन्यनुपूर्वशः॥३४॥
बध्वा वेल्लितकेनाशु ततस्तैलेन सेचयेत्।
चर्मणा गोफणाबन्धः कार्यो यो वा हितो भवेत्॥३५॥

हाथ-पैर के कट जाने पर, तिरछे प्रहारों के कारण चौड़ा व्रण होने पर, सन्धि-अस्थियों को शीघ्र ही ठीक बिठाकर तुरन्त सी देवे। वेल्लित बन्ध (पट्टी) बांधकर इस पर तुरन्त तेल से सेचन करे। अथवा चमड़े से गोफण बन्ध या जो ठीक समझे वह बाँधे।

वि० मन्तव्य—इस प्रकार कटी अस्थि भी जुट जाती है, परन्तु यह सब उपचार आशु—अत्यन्त शीघ्र तत्क्षण ही हो जाना चाहिये तभी सफलता मिलती है। पाक का प्रारम्भ बचाने के लिये साथ साथ उचित उपचार भी होना चाहिये और उस स्थान या शाखा को हिलाने डुलाने में भी बहुत सावधान रहना चाहिये। बन्ध विशेष के लिये देखिये सू० अ० १८, तथा अ० १६। यह सब उसी दशा के लिये कहा गया है जब शाखा (टाङ्ग या बाहु) पूर्ण रूप से न कटी हो, कटकर अलग न हुई हो। पूर्ण रूप से कट जानेपर श्लो० ३७ के अनुसार कार्य करे॥

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत्तु तम्।
अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत् पुरुषं व्रणे ॥३६॥

जिसके पीठ में व्रण हो वह चित, पीठ के भार मुख ऊपर रखकर सोये (जिससे स्राव नीचे बहे)। छाती पर व्रण होने में रोगी को उल्टा-मुख नीचे करके सुलाये।

वक्तव्य—गयी ने "पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदनुत्तानः शयीत सः। अतोऽन्यथा चोरसिजे शयीत पुरुषो व्रणे।" यह पाठ दिया है। यह उस समय के लिये है जब स्राव बन्द होकर व्रण शुद्ध हो गया हो।

वि० मन्तव्य—हमारे विचार में आचार्य गयी का पाठ ही समीचीन है और व्रण का स्राव तो व्यान वायु द्वारा प्रेरित होकर निकलता है। पृष्ठ गत व्रण में उत्तान होकर लेटने से तो व्रण पर दबाव पड़कर उसमें विकृति आ सकती है और यह अवस्था सह्य भी नहीं हो सकती और फिर लेटने के दोही प्रकार नहीं हैं। पार्श्व के बल भी लेटा जाता है और इस प्रकार पीठ एवं उरस् के व्रणों का बचाव भी हो सकता है। पाठक इस विषय पर स्वतः गम्भीर विचार करें ॥३६॥

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन बुद्धिमान् ।
बध्नीयात् कोशबन्धेन प्राप्तं कार्यं च रोपणम् ॥३७॥

सम्पूर्ण रूप से कटी हुई शाखा में गरम तैल से जलाकर कोश बन्ध से बाँध दे। रोपण क्रिया करना उत्तम है ॥३७॥

चन्दनं पद्मकं रोध्रमुत्पलानि प्रियङ्गवः ।
हरिद्रा मधुकं चैव पयः स्यादत्र चाष्टमम् ॥३८॥
तैलमेभिर्विपक्वं तु प्रधानं व्रणरोपम् ।

चन्दन, पद्माख, लोध, कमल, प्रियंगु, हल्दी, मुलहठी, और आठवां दूध, इनसे तैल सिद्ध करे। यह उत्तम व्रण रोपक है ॥३८॥

चन्दनं कर्कटाख्या च सहे मास्याह्वयामृता ॥३९॥
हरेणवो मृणालं वा त्रिफला पद्मकोत्पले ।
त्रयोदशाङ्गं त्रिवृतमेतद्वा पयसाऽन्वितम् ॥४०॥
तैलं विपक्वं सेकार्थं हितं तु व्रणरोपणे ।

चन्दन, कर्कटशृंगी मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जटामांसी, गिलोय, मटर, कमलनाल, त्रिफला, पद्माख, नीलोफर इस त्रयोदशांग के कल्क से दूध में (पानी मिलाकर) सिद्ध किया त्रिवृत्त तैल (घी, वसा, मज्जा और तैल) व्रण के रोपण के लिये परिषेक करने में उत्तम है। (इसमें घी आदि से, दूध और पानी चार गुण लेना चाहिये) ॥३९,४०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥४१॥
भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लभ्यते तु यत् ।
तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः ॥४२॥
पीडयेत् पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण तु ।
ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा ॥४३॥

इसके आगे भिन्न व्रणों की चिकित्सा कहता हूँ—जिस नेत्र में भिन्न व्रण होने से नेत्र काम में अयोग्य (देखने में अयोग्य) हो, परन्तु भिन्न (फटा-विदीर्ण) न हुआ हो, और बाहर लटक गया हो, उसे धीरे से, सिराओं को बिना नुकसान किये, ठीक स्थान पर बिठा कर, उस पर कमल का पत्ता रख कर हाथ से भली प्रकार (धीमे से) दबाये। इस पर मधु और घी लगाकर इसका घी से तर्पण करे, और घी से नस्य देवे। (कोई अनेन के स्थान पर 'आजेन' पाठ पढ़ते हैं और बकरी के घी से नस्य देवे-अर्थ करते हैं)।

वि० मन्तव्य—'नस्यं चाऽनेन सर्पिषा' का अर्थ है इस (आजं—प्रशस्यते) पाठ द्वारा कहे सिद्ध घृत से तर्पण नेत्रपूरण करे और इसी की नस्य देवे। इस उपचार से नेत्रगोलक अपने स्थान में पूर्ववत् स्थित हो जाता है ॥४१-४३॥

आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुकं चोत्पलानि च ।
जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥४४॥
सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत् प्रशस्यते ।

बकरी का घी, दूध एक आढ़क, मुलैहठी, कमल, जीवक, ऋषभक, इनको पीसकर, इनसे गाय का घृत सिद्ध करे। सब प्रकार के नेत्राभिघातों में यह घृत उत्तम है ॥४४॥

वक्तव्य—बकरी का घी, मुलैहठी आदि द्रव्य समान अंश में लेकर—आठ पल मात्रा में, घी एक प्रस्थ, और दूध एक आढ़क लेकर घी सिद्ध करे। इसमें कई मुलैहठी आदि को बकरी के घी में पीसते हैं ॥

उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः ॥४५॥
कषायभस्ममृत्कीर्णां बध्वा सूत्रेण सूत्रवित् ।
अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यान्मधुसमायुतम् ॥४६॥
बध्वा व्रणं सुजीर्णेऽन्ने सर्पिषः पानमिष्यते ।
स्नेहपानादृते चापि पयःपानं विधीयते ॥४७॥
शर्करामधुयष्टिभ्यां लाक्षया वा श्वदंष्ट्रया ।
चित्रासमन्वितं चैव रुजादाहविनाशनम् ॥४८॥
आटोपो मरणं वा स्याच्छूलो वाऽच्छिद्यमानया ।
मेदोग्रन्थौ तु यत्तैलं वक्ष्यते तच्च योजयेत् ॥४९॥

जिस मनुष्य के पेट में से मेद की वर्त्ति (मेद या आंतों का आवरण) निकल आई हो, उस पुरुष में मेद वर्त्ति पर सर्जक-अर्जुन आदि कषाय रसवाले वृक्षों की भस्म (क्षार), काली मिट्टी, इनको लगाकर (बुरककर)-सूत्र को बाँधना जानने-वाला वैद्य धागे से इसे बाँध दे। फिर अग्नि में गरम किये शस्त्र से इसको काट देवे। काटकर इस पर मधु लगाकर बाँध देवे। अन्न के भली प्रकार पच जाने पर घृत का पान कराये। स्नेह पान के सिवाय दूध का पान भी कराया जाता है। दूध को शर्करा, मुलैहठी और लाक्षा, या गोखरु और ऐरण्ड तैल के साथ देना चाहिये। इससे वेदना और दाह नष्ट होते हैं। न काटने पर आटोप, मृत्यु या शूल होती है। मेद ग्रन्थि में जो तेल कहा जायेगा, उसे यहाँ बरते।

वक्तव्य—कषाय रस वृक्ष की भस्म होने से कषाय रस के कारण यह संकुचित होकर सुगमता से अन्दर प्रविष्ट हो जा सकती है। क्षार, मिट्टी का आंतों पर लेप करने से जलाने में आंतों के अन्दर गहरा जलने का भय नहीं रहता। अग्नि में गरम किये शस्त्र से पकने का भय नहीं, इसीसे डल्हण ने कहा 'अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्।'—डल्हण ने दो योग माने हैं—मुलैहठी के क्वाथ से सिद्ध दूध में शर्करा और एरण्डतैल से एक, गोखरू के क्वाथ से सिद्ध दूध में लाक्षा और एरण्ड-तैल मिलाने से दूसरा। परन्तु संग्रह में इसे एक ही योग माना है, यथा—'क्षीरं वा शर्कराचित्रलाक्षागोक्षुरकैः शृतम्। रुग्दाहजित् स यष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः" ॥४५-४९॥

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥५०॥

शल्य त्वचा को पार करके, सिरा आदि का भेदन करके, या इनको बचाकर भी—कोष्ठ में रहने पर कहे हुये उपद्रवों को (कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात्—सू० अ० र० २६) उत्पन्न करता है ॥५०॥

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुं शीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥५१॥

इसमें—कोष्ठ के अन्दर रक्त आजाने पर, रोगी का वर्ण श्वेत हो जाने पर, पैर हाथ मुख ठंडा हो जाने से, श्वास ठण्डा होने पर, आँखों में सुर्खी, दोषों के रुके होने पर असाध्य माने ॥५१॥

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते ।
पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम् ॥५२॥
आस्थापनं च निःस्नेहं कार्यमुष्णैर्विशोधनैः ।
यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च ॥५३॥
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत् सैन्धवसंयुताम् ।
अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ॥५४॥

रक्त के आमाशय में रहने पर वमन पथ्य है। पक्वाशय में रक्त होने पर बिना संशय के विरेचन देना चाहिये। उष्ण एवं विशोधक गोमूत्र आदि से आस्थापन (निरूहण वस्ति) देना चाहिये। जौ, बेर और कुलत्थी के स्नेह रहित यूष के साथ या स्नेह रहित मांस रस के साथ अन्न को खाये। सैन्धव मिश्रित यवागू को पिये। जिसका रक्त बहुत निकल गया या कोष्ठ फट गया हो, वह रक्त को पिये।

"मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं वस्तिं प्रदापयेत् ॥"
चरक० सि० अ० ६ ॥

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः ।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ॥५५॥

जिस पुरुष के मल-मूत्र और वायु अपने मार्गों से प्रवृत्त हो रहे हों, उपद्रवों से रहित हो वह व्यक्ति कोष्ठ के विदीर्ण होने पर भी जीता है। (उपद्रव—ज्वर आध्मान आदि)॥

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत् ।
पिपीलिकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ॥५६॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः ।
प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ॥५७॥
प्रवेशयेत् क्षीरसिक्तं शुष्कमन्त्रं घृताप्लुतम् ।
अङ्गुल्याऽभिमृशेत् कण्ठं जलेनोद्वेजयेदपि ॥५८॥
हस्तपादेषु संगृह्य समुत्थाप्य महाबलाः ।
भवत्यन्तःप्रवेशस्तु यथा निर्धुनुयुस्तथा ॥५९॥
तथाऽन्त्राणि विशन्त्यन्तः स्वां कलां पीडयन्ति च ।
व्रणाल्पत्वाद्बहुत्वाद्वा दुष्प्रवेशं भवेत्तु यत् ॥६०॥
तदापाट्य प्रमाणेन भिषगन्त्रं प्रवेशयेत् ।
यथास्थानं निविष्टे च व्रणं सीव्येदतन्द्रितः ॥६१॥
स्थानादपेतमादत्ते प्राणान् गुम्फितमेव वा ।
वेष्टयित्वा तु पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥६२॥
घृतं पिबेत् सुखोष्णं च चित्रातैलसमन्वितम् ।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधः प्रवृत्तये ॥६३॥
ततस्तैलमिदं कुर्याद्रोपणार्थं चिकित्सकः ।
त्वचोऽश्वकर्णधवयोर्मोचकीमेषशृङ्ग्योः ॥६४॥
शल्लक्यर्जुनयोश्चापि विदार्या क्षीरिणां तथा ।
बलामूलानि चाहृत्य तैलमेतैर्विपाचयेत् ॥६५॥
व्रणं संरोपयेत्तेन वर्षमात्रं यतेत च ।

जो आंत विदीर्ण न हुई हो, परन्तु बाहर निकल आई हो, उसे ठीक तरह पहले की भाँति प्रविष्ट करे। यदि आँत फट गई हो तो दोनों सिरों को भूरी चिऊँटी से कटवाकर उनके सिरों को उसी में लगा रहने देते हुए-आँतों को पूर्व की भाँति अन्दर बिठाये, ऐसा भी कई आचार्य कहते हैं। इसके लिये तिनके, रक्त या धूलि से लिपटी आँत को दूध से धोकर नखों को कटाये हुए वैद्य आँत को घी से स्निग्ध करके धीरे-धीरे प्रविष्ट करे। शुष्क आँत को दूध से सेचन करके, घी से तर बनाकर प्रविष्ट करे। अंगुली से गले में खर-खरायें, शीतल जल से कम्पकँपी उठाये। बलवान् व्यक्ति इस रोगी को हाथ और पैरों से पकड़कर इस प्रकार हिलायें-डुलायें, जिससे कि आंत्र अन्दर प्रविष्ट हो जाये। इस प्रकार करने से आंत अन्दर प्रविष्ट हो जाती है, और अपनी कला (मलधरा—पांचवी) को दबाती है—उसमें बैठ जाती है। व्रण के छोटे होने से या आँतों के बहुत होने से जब आँत अन्दर न जा सकें, तब उसके प्रमाण में चीरकर आँत्रों को अन्दर प्रविष्ट करे। आँतों के यथास्थान बैठ जाने पर वैद्य सावधानी से व्रण को सी देवे। क्योंकि स्थान से हटी हुई आंत्र अथवा परस्पर एक दूसरी में उलझी आँत मृत्यु का कारण बन जाती है। फिर वस्त्र से लपेट कर घी का सेक करे। एरण्ड तैल से मिला—सुहाता गरम घी पिये। इससे मल कोमल रहता है, और वायु प्रवृत्त होती रहती फिर वैद्य रोपण के लिए निम्न तैल बनाये—

तैल—अश्वकर्ण, धव, सिम्बल और मेषशृंगी, शल्लकी, अर्जुन इनकी छाल, विदारी और बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर आदि क्षीरि वृक्षों की छाल, बलामूल, इनके साथ तैल सिद्ध करे। इस तैल से व्रण का रोपण करे। एक साल तक परहेज में रहे।

वि० मन्तव्य—यह उस दशा का उपचार है, जब उदर फट जाने पर अन्त्र बाहर निकल आती है। व्रणाल्पत्वा……यत्—यदि उदर का व्रण छोटा होता है,

अन्त्र लौटाकर यथास्थान स्थापित नहीं हो सकती तो उदर का व्रण बड़ा करके अन्त्र को प्रविष्ट करना चाहिये ॥ ५६-६५ ॥

पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोक्ष्य चाक्षिणी ॥६६॥
प्रवेश्य तुन्नसेवन्या मुष्कौ सीव्येत्ततः परम् ।
कार्यो गोफणिकाबन्धः कट्यामावेष्ट्य यन्त्रकम् ॥६७॥
न कुर्यात् स्नेहसेकं च तेन क्लिद्यति हि व्रणः ।
कालानुसार्यगुर्वेलाजातीचन्दनपद्मकैः ॥६८॥
शिलादार्व्यमृतातुत्थैस्तैलं कुर्वीत रोपणम् ।

जिस पुरुष के अण्ड बाहर आ गये हों, उसके पैर और आँखों पर शीतल जल का सेचन करके अण्डों को अण्डकोष में प्रविष्ट करके—अण्डकोषों को तुन्न सेवनी सीवन से सी देवे । फिर गोफणिका बन्ध बाँध देवे । रोगी की कटि में इस प्रकार बाँध दे—कि वह चले-फिरे या हिले-जुले नहीं । यहाँ पर स्नेह का सेक न करें । क्योंकि इससे व्रण क्लिन्न होता है । इसके रोपण के लिये, कालानुसारी, अगरु, इलायची, चमेली, चन्दन, पद्माख, मैनसिल, दारुहल्दी, गिलोय, तुत्थ इनसे रोपण तैल बनाये ।

वि० मन्तव्य—यह उपचार तब किया जाता है जब अण्ड-कोश फट जाने पर अण्ड बाहर आकर लटकने लगते हैं ॥

शिरसोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं निवेशयेत् ॥६९॥
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत् ।
हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत् ॥७०॥
व्रणे रोहति चैकैकं शनैर्बालमवक्षिपेत् ।

शिर में से शल्य को निकालकर इस छेद में बालों की बनाई वर्ति प्रविष्ट कर देवे । क्योंकि बालों की वर्त्ति न लगाने से व्रण में से मस्तुलुङ्ग बहता है । इससे वायु कुपित होकर इसको मार देता है, इसलिये इस प्रकार की चिकित्सा करे । जैसे २ व्रण भरता जाता हो, वैसे २ एक एक बाल उसमें से निकलता जाये ।

वि० मन्तव्य—मस्तुलुङ्ग—शिरसो बलाधानस्त्यानघृता-कारम् । आज कल का 'सेरिब्रोस्फाईन फ्लुड' का शायद अभिप्राय हो ।

वि० मन्तव्य—यह उपचार तब किया जाता है जब शिर पर आघात होने से कपालास्थि टूट जाती है, परन्तु मस्तुलुङ्ग सुरक्षित रहता है । इस दशा में कपालास्थि के टुकड़े निकाल दिये जाते हैं और केवल त्वचा के व्रण का रोपण कर दिया जाता है । मस्तुलुङ्ग—स्नेह कफ (जो मूर्धा में रहता है) मथ शिरो मज्जा (भेजा) का नाम है । यही कपालास्थियों के भीतर भरा रहता है । इसी में अधिपति आदि शिरोगत मर्म हैं ॥

गात्रादपहृतेऽन्यस्मात् स्नेहवर्तिं प्रवेशयेत् ॥७१॥
क्षते निःशोणिते चापि विधिः सद्यक्षते हितः ।

शरीर के अन्य भाग में लगे शल्य को निकालकर कपड़े की बनाई-तैल में भिगोई वर्त्ति को प्रविष्ट करे । व्रण को रक्त रहित बनाकर सद्यः क्षत का उपचार करना चाहिये ॥ ७१ ॥

दूरावगाढाः सूक्ष्माः स्युर्ये व्रणास्तान् विशोणितान् ॥
कृत्वा सूक्ष्मेण नेत्रेण चक्रतैलेन तर्पयेत् ।

जो व्रण बहुत लम्बे या गहरे हों, सूक्ष्म हों, उनको रक्त रहित बनाकर, पतली नली द्वारा इनमें कोल्हू का ताजा तेल प्रविष्ट करे । (चक्रतैल—कोल्हू की लकड़ी से अणुतैल विधि—जो आगे कहेंगे—से बनाया तैल चक्रतैल, यह डल्हण का मन्तव्य है) ॥ ७२ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां त्रिवर्गं तुत्थमेव च ॥७३॥
विडङ्गं कटुकां पथ्यां गुडूचीं सकरञ्जिकाम् ।
संहृत्य विपचेत् काले तैलं रोपणमुत्तमम् ॥७४॥

मजीठ, हल्दी, पद्मा (भार्गी), त्रिफला, तुत्थ, विडंग, कुटकी, हरड़, गिलोय, करञ्ज, इनको लाकर इन से तैल बनाये । यह तैल व्रण के संरोहण काल में उत्तम रोपण है ॥

तालीशं पद्मकं मांसी हरेण्वगुरुचन्दनम् ।
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः ॥७५॥
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम् ।

तालीश, पद्माख, जटामांसी, हरेणु, अगरु, चन्दन, हल्दी, दारुहल्दी, कमल के बीज, खस और मुलहठी, इनमें सिद्ध किया तैल, सद्योव्रणों में उत्तम रोपण तैल है ॥ ७५ ॥

क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद्विधिः ॥७६॥

क्षत व्रण में क्षतविधि (मधु घी, तैल का सेचन) करे, पिच्चित में भग्न के समान उपचार करे ॥ ७६ ॥

घृष्टे रुजो विगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद् व्रणम् ।

घृष्ट व्रण में शीतल उपचार से वेदना को बन्द करके, व्रणों को चूर्णों से (शाल, सर्ज, अर्जुन आदि से) चिकित्सा करे ॥

विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव च ॥७७॥
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशनम् ।
अयमेव विधिः कार्यः क्षीणे मर्महते तथा ॥७८॥

जिसकी सन्धियाँ गिरने आदि से ढीली हो गई हों, गिर गई हों, बलपूर्वक दबाई गई हों (मिच गई हों), लाठी आदि से जो मारा गया हो उस मनुष्य को तैल (तिलतैल) से भरी द्रोणी (टब) में रख देवें । खाने को मांस रस देवें । यही उपचार मुसाफिरी आदि से क्षीण हुये या मर्म स्थानों पर चोट लगने पर बरतना चाहिये ॥ ७७,७८ ॥

रोपणे सपरीषेके पाने च व्रणिनां सदा ।
तैलं घृतं वा संयोज्यं शरीरर्तूनवेक्ष्य हि ॥७९॥

रोपण में, परिषेक में, पान में, व्रण रोगियों को सदा, ऋतु, शरीर को देखकर घी या तैल को देना चाहिये । वात कफ

प्रकृति–शिशिर काल होने पर तैल, रक्त-पित्त प्रकृति—शरद् आदि ऋतु होने पर घी पीने को देवें ॥ ७९ ॥

घृतानि यानि वक्ष्यामि यत्नतः पित्तविद्रधौ।
सद्योव्रणेषु देयानि तानि वैद्येन जानता ॥८०॥

पित्त विद्रधि में जो घृत, कहूँगा उनको सद्यो व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य बरतें ॥ ८० ॥

सद्यःक्षतव्रणं वैद्यः सशूलं परिषेचयेत्।
सर्पिषा नातिशीतेन बलातैलेन वा पुनः ॥८१॥

सद्यःक्षत व्रण में वेदना होने पर बहुत शीतल नहीं (साधारण शीतल) घी से या बला तैल से परिषेक करे। (वात कफ प्रकृति, शीत काल में बला तैल से, रक्त पित्त प्रकृति शरद् काल में घी से परिषेक करे) ॥ ८१ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां पथ्यां तुत्थं सुवर्चलम्।
पद्मकं रोध्रमधुकं विडङ्गानि हरेणुकाम् ॥८२॥
तालीसपत्रं नलदं चन्दनं पद्मकेशरम्।
मञ्जिष्ठोशीरलाक्षाश्च क्षीरिणां चापि पल्लवान् ॥८३॥
प्रियालबीजं तिन्दुक्यास्तरुणानि फलानि च।
यथालाभं समाहृत्य तैलमेभिर्विपाचयेत् ॥८४॥
सद्योव्रणानां सर्वेषामदुष्टानां तु रोपणम्।

मंजीठ, हल्दी, भार्गी, हरड़, तुत्थ, हुलहुल, पद्माख, लोध, मुलहठी, वायविडंग, हरेणु, तालीश पत्र, नलद (मांसी) चन्दन, कमलकेसर, मंजीठ, खस, लाख बरगद आदि क्षीर वृक्षों के कोमल पत्ते, चिरौंजी, तिन्दुक के कच्चे फल, इनमें से जो मिले, उनको लाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल दूषित सद्यः क्षत व्रणों में उत्तम रोपण है।

वक्तव्य—समङ्गा का अर्थ छुईमुई भी है। यदि मंजीठ, लें तो मंजीठ दुगुनी होती है, इसमें कोई दोष नहीं "घृते तैले च योगे च यद् द्रव्यं पुनरुच्यते। तज्ज्ञातव्यमिहाचार्यैः भागतो द्विगुणं भवेत्॥" इसके अनुसार मंजीठ दो बार होने से दुगुनी हो सकती है॥ ८२–८४॥

कषायमधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धाश्च योजयेत् ॥८५॥
सद्योव्रणानां सप्ताहं पश्चात् पूर्वोक्तमाचरेत्।

सद्यो व्रणों में सात दिन तक कषाय, मधुर, शीतल, स्निग्ध, उपचार बरते। पीछे द्विव्रणीयोक्त विधि को बरते ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रणेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ॥८६॥
विशोषणं तथाऽऽहारः शोणितस्य च मोक्षणम्।
कषायं राजवृक्षादौ सुरसादौ च धावनम् ॥८७॥
तयोरेव कषायेण तैलं शोधनमिष्यते।
क्षारकल्पेन वा तैलं क्षारद्रव्येषु साधितम् ॥८८॥

दूषित व्रणों में वमन, विरेचन देना चाहिये। सुखानेवाला (तिक्त, कटु कषाय) भोजन देना चाहिये। रक्त मोक्षण करना चाहिये। आरग्वधादि और सुरसादि का कषाय धोने के लिये बरते। इन्हीं कषायों में पकाया तैल शोधन के लिये उत्तम है। अथवा मुष्क पलाश आदि द्रव्यों में क्षार कल्पना से बनाया तैल बरते ॥ ८६–८८ ॥

द्रवन्ती चिरबिल्वश्च दन्ती चित्रकमेव च।
पृथ्वीका निम्बपत्राणि कासीसं तुत्थमेव च ॥८९॥
त्रिवृत्तेजोवती नीली हरिद्रे सैन्धवं तिलाः।
भूसीकदम्बः सुवहा शुकाख्या लाङ्गलाह्वया ॥९०॥
नैपाली जालिनी चैव मदयन्ती मृगादनी।
सुधामुर्वार्ककीटारिहरितालकरञ्जिकाः ॥९१॥
यथोपपत्ति कर्तव्यं तैलमेतैस्तु शोधनम्।
घृतं वा यदि वा प्राप्तं कल्काः संशोधनास्तथा ॥९२॥

द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) करञ्ज, जमालगोटा, चित्रक, बड़ाजीरा, नीम के पत्ते, कासीस, तुत्थ, निशोथ, तेजबल, हल्दी, दारुहल्दी, सैन्धव, तिल, भूमिकदम्ब, सुवहा (श्यामा-काली निशोथ), शुकाख्या (श्योनाक या शिरीष), कलिहारी, मैनसिल, कड़ुई तोरी, मेहदी, इन्द्रवारुणी, स्नुही, मूर्वा, आक, वायविडंग, हरताल, नाटाकरञ्ज, इनमें से जो मिल सके, उनसे तैल सिद्ध करे।

अथवा इन्हीं में से घृत सिद्ध करे। उत्सन्नमांसान् स्निग्धान् (चि० अ० १ में) कहे व्रणों में तैल पित्त से दूषित गम्भीर, दाह, पाक से पीड़ित व्रणों में घृत बरते। इन तैल या घृतों में संशोधन कल्क मिलाये ॥ ८९-९२ ॥

सैन्धवत्रिवृदेरण्डपत्रकल्कस्तु वातिके।
त्रिवृद्धरिद्रामधुककल्कः पैत्ते तिलैर्युतः ॥९३॥
कफजे तिलतेजोह्वादन्तीस्वर्जिकचित्रकाः।
दुष्टव्रणविधिः कार्यो मेहकुष्ठव्रणेष्वपि ॥९४॥

सैन्धव, निशोथ, एरण्ड के पत्ते, इनका कल्क वायुजन्य व्रणों में; निशोथ, हल्दी, और मुलहठी का तथा तिल का कल्क पित्त में; तिल, तेजबल, दन्ती, स्वर्जिकाक्षार, चित्रक इनका कल्क कफज व्रणों में बरते। मेह जन्य व्रण और कुष्ठ व्रणों में दुष्ट व्रण का उपचार करे ॥ ९३,९४ ॥

षड्विधः प्राक् प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः।
नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभिः ॥९५॥

सद्यो व्रण निश्चय जो छै प्रकार का पहले कहा है, इससे अधिक बहुत बारीक विवेचना करनेवाले भी नहीं कह सकते॥

उपसर्गैर्निपातैश्च तत्तु पण्डितमानिनः।
केचित् संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः ॥९६॥
बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेष्वेवावतिष्ठते।
विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम् ॥९७॥

अपने को पण्डित माननेवाले, अभिमान के कारण इन्हीं में उपसर्ग और निपात मिलाकर इनको अनेक प्रकार से कहते हैं। इनका बहुत प्रकार का कहना इन छै में ही समाविष्ट होजाता है।

जिस प्रकार सामान्य कर्मों में विशेष कर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिये छै ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

वक्तव्य—उपसर्ग लगाकर—सम्यग्-छिन्नम् संछिन्नम्। परितः छिन्नं, परिछिन्नम्। निपात से—अतिक्रम्य छिन्नम्-अतिछिन्नम्। अल्पं छिन्नम् ईषत् छिन्नम् ॥६६,६७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सद्योव्रणचिकित्सितं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो भग्नानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे भग्नचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—भग्न का विवरण नि० स्था० अ० १५ में देखिये ॥१,२॥

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥३॥

थोड़ा खानेवाले, अजितेन्द्रिय, वात प्रधान, या उपद्रवों से युक्त व्यक्ति में भग्न रोग कठिनाई से अच्छा होता है ॥३॥

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥४।

भग्न रोगी—लवण, कटुरस, क्षार, अम्ल, मैथुन, धूप, व्यायाम और रूक्ष भोजन का सेवन न करे ॥४॥

शालिर्मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः।
बृंहणं चान्नपानं स्याद्देयं भग्नाय जानता ॥५॥

भग्नरोगी—को जाननेवाला वैद्य, शालि, मांसरस, दूध, घी, मटर का घी से बनाया यूष, वृद्धिकारक खान पान देवे। (मटर-वातकर होने पर भी घी आदि से संस्कृत करके दिया जाता है) ॥५॥

मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः।
वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥६॥

महुआ, गूलर, पीपल, ढाक, अर्जुन, इनकी छाल, बाँस, सर्ज, बरगद की छाल, इनको कुशा के काम (स्प्लिन्ट) में बरते।

वि० मन्तव्य—कुश-भग्न नलकास्थि पर जो लकड़ी की लम्बी फट्टियाँ धरकर बन्धन किया जाता है उन फट्टियों का नाम कुश है। ये फट्टियाँ महुआदि की मोटी छाल की अथवा उनके काष्ठ की होनी चाहिये अथवा मोटे बाँस को फाड़कर बनाई गई हों। यह सब काष्ठ शीतवीर्य एवं शीतस्पर्श होते हैं, अतः पाक का प्रारम्भ नहीं होने देते। भग्न स्थान पर कपड़ा लपेट उसके ऊपर कुश धरकर बन्धन किया जाता है, (दे० अ० हृ० उ० त० अ० २७) ॥६॥

आलेपनार्थं मञ्जिष्ठांमधुकं रक्तचन्दनम्।
शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥७॥

मजीठ, मुलैहठी, लालचन्दन, इनको शतधौत घृत में मिलाकर और शाली को पीसकर इनसे लेप करे।

वि० मन्तव्य—यह लेप भी शीतल होने के कारण-पाक को रोकता है ॥७॥

सप्ताहादथ सप्ताहात् सौम्येष्वृतुषु बन्धनम्।
साधारणेषु कर्तव्यं पञ्चमे पञ्चमेऽहनि ॥८॥
आग्नेयेषु त्र्यहात् कुर्याद्भग्नदोषवशेन वा।

सौम्य ऋतुओं में (शीतकाल हेमन्त में) सात-सात दिन पीछे पट्टी बाँधे। साधारण ऋतुओं (शरद् ऋतु) में पाँचवें-पाँचवें दिन, आग्नेय ऋतु (ग्रीष्म) में तीसरे दिन पट्टी को बदले अथवा भग्न दोष में दोष के अनुसार जब ठीक समझे तब बदल दे ॥८॥

तत्रातिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते ॥९॥
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च।
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः ॥१०॥

पट्टी को बहुत ढीला बाँधने से सन्धि स्थिर नहीं होती। कसकर बाँधने से त्वचा आदि में सूजन, वेदना और पाक होता है। इसलिये भग्न से साधारण बन्धन (न ढीला न कसा) उत्तम है।

वि० मन्तव्य—सन्धि टूटी अस्थि का सन्धान स्थिर नहीं होता उचित सन्धान नहीं होता—टेढ़ा मेढ़ा सन्धान हो जाता है और वह अवयव सदा के लिये टेढ़ा हो जाता है ॥९,१०॥

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने।
पञ्चमूलीविपक्वं तु क्षीरं कुर्यात् सवेदने ॥११॥

परिषेचन कार्य में न्यग्रोधादिगण का कषाय बरते। वेदना होने पर बृहत्पंचमूल से पकाया दूध बरते ॥११॥

सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता।

अथवा जाननेवाला वैद्य सुहाता गरम चक्रतैल बरते। (चक्रतैल-कोल्हू से ताजा निकला तेल)।

विभज्य कालं दोषं च दोषघ्नौषधसंयुतम् ॥१२॥
परिषेकं प्रदेहं च विदध्याच्छीतमेव च।

दोष और काल की विवेचना करके दोषनाशक औषधियों से युक्त—मिश्रित परिषेक या प्रदेह शीतल ही करे।

वि० मन्तव्य—भग्न स्थान पर परिषेचन तथा प्रदेह (लेप) शीतल ही करना चाहिये। उष्ण से पाक का प्रारम्भ हो सकता है और पाक का प्रारम्भ हो जाने पर एक नई विपत्ति खड़ी हो जाती है। देखिये इसी अध्याय का ६९ वाँ श्लोक ॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ॥१३॥
शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः ।

काकोल्यादि मधुर औषधियों से संस्कृत प्रथम बार ब्याई गाय के दूध को घी के साथ, ठण्डा करके, लाक्षा के साथ, भग्न नर प्रातःकाल पिये ॥१३॥

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः ॥१४॥
प्रतिसार्य कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत् ।

व्रणवाले भग्नों में घी और मधु प्रधान कषायों को (क्षीरि वृक्ष आदि कषाय रसवाले द्रव्यों का कल्क) लेप करके शेष आहार-विहारादि भग्न की भाँति करे ॥१४॥

प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत् ॥१५॥
अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके ।

प्रथम वय (बचपन) में हुआ भग्न सुखसाध्य होता है । इसी प्रकार थोड़े दोषवाले प्राणीका और शिशिर काल में हुआ भग्न सुख साध्य है ॥१५॥

प्रथमे वयसि त्वेवं मासात् सन्धिः स्थिरो भवेत् ।१६।
मध्यमे द्विगुणात् कालादुत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः ।

बचपन में सन्धि को दृढ़ होने के लिये एक मास का समय चाहिये । मध्यम वय (युवावस्था) में दो मास और वृद्धावस्था में तीन महीने का समय चाहिये ॥१६॥

अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चात्रपीडयेत् ॥१७॥
आञ्छेदतिक्षिप्तमधो गतं चोपरि वर्तयेत् ।
आञ्छनैः पीडनैश्चैव सङ्क्षेपैर्बन्धनैस्तथा ॥१८॥

नीचे दबी अस्थि को ऊपर को उठाये, ऊपर उठी को नीचे दबाये । बहुत दूर की हड्डी को पास में खींचकर लाये, नीचे की दबी को ऊपर की ओर लाये ॥१७,१८॥

सन्धींश्छरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि ।
एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक् ॥१९॥

बुद्धिमान वैद्य चल और अचल शरीर की सब प्रकार की सन्धियों को आंछन (खींचना) पीड़न (दबाना), संक्षेप (सकुचित करना) और बाँधकर इनको ठीक बिठाने के साधनों से ठीक बिठाये ॥१९॥

उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत् ।
तस्य शीतान् परीषेकान् प्रदेहांश्चावचारयेत् ॥२०॥
अभिघाते हृते सन्धिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः ।
घृतदिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि ॥२१॥
पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा यथावद्बन्धमाचरेत् ।

उत्पिष्ट (चूर्णित) विश्लिष्ट (च्युत) सन्धियों को वैद्य न चलाये । इनपर शीतल परिषेक और शीतल प्रदेह बरते । चोट का प्रभाव हटने पर फिर अपने स्थान पर बिठाकर घी से लिप्त वस्त्र से लपेट कर पट्टी के ऊपर कुशाओं को रखकर ठीक प्रकार से बन्ध बाँध देवे ॥२०,२१॥

प्रत्यङ्गभग्नस्य विधिरत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥२२॥

प्रत्येक अंग के भग्न की चिकित्सा इसके आगे कहेंगे ।२२॥

नखसन्धि समुत्पिष्टं रक्तानुगतमारया ।
अवमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टेन लेपयेत् ॥२३॥

चूर्णित हुई नखसन्धि में रक्त भर जाने पर आरा शस्त्र से मथकर (बहुत से छेद करके तोदकर) रक्त निकाले, पीछे से चावलों को पीसकर लेप कर दे ॥२३॥

भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाऽङ्गुलीं समाम् ।
अणुनाऽऽवेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥२४॥

भग्न या सन्धि से अलग हुई अंगुलियों को बराबर बिठाकर, सूक्ष्म पतली पट्टी से लपेट देवें। ऊपर से घी का सेक करें ॥

अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम् ।
वस्त्रपट्टेन बध्नीयान्न च व्यायाममाचरेत् ॥२५॥

पैर के तलुए में भग्न होने पर घी से अभ्यङ्ग करके ऊपर से कुशा रखकर वस्त्र पट्टी से बाँध देवे । इसमें व्यायाम न करे ॥२५॥

अभ्यज्यायामयेज्जङ्घामूरुं च सुसमाहितः ।
दत्त्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥२६॥

अति सावधानी से जंघा और ऊरु पर अभ्यङ्ग करके इनको खींचे । फिर न्यग्रोधादि शीतल वृक्षों की त्वचा बाँधकर पट्टी से लपेट देवे ॥२६॥

मतिमांश्चक्रयोगेन ह्याञ्छेदूर्वस्थि निर्गतम् ।
स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात् पूर्ववद्भिषक् ॥२७॥

बाहर की ओर या अपने कोटर से खिसकी ऊर्वस्थि को बुद्धिमान् वैद्य चारों और गोलाई में घुमाकर बिठाये, स्फुटित या पिच्चित में भी पूर्व की भाँति वैद्य पट्टी करे ॥२७॥

आञ्छेदूर्ध्वमधो वापि कटिभग्नं तु मानवम् ।
ततः स्थानस्थिते संधौ वस्तिभिः समुपाचरेत् ॥२८॥

जिस मनुष्य की कटि टूट गई हो, उसमें ऊर्ध्वगत अस्थिको नीचे, अधोगत अस्थिको ऊपर की ओर खींचे । फिर संधि के अपने स्थान पर बैठ जाने पर वस्तियों से चिकित्सा करे ॥२८॥

पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः ।
दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निबन्धनीः ॥२९॥
ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत् सुसमाहितः ।
तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम् ॥३०॥

पर्शुकाओं के भग्न में रोगी को सीधा खड़ा करके, घी का अभ्यंग करे । दक्षिण या वाम पार्श्व की पर्शुकाओं में मांस रज्जुओं पर घी का अभ्यंग करके; ऊपर से कवलिका (बाँस के खप्पच पर रूई की गद्दी रखकर वस्त्र पट्ट से भली प्रकार बाँध देवे । रोगी को तैल से भरे कड़ाहा या टब में सुलायें ॥२९,३०॥

मुसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामंससन्धौ विसंहते ।
स्थानस्थितं च बध्नीयात् स्वस्तिकेन विचक्षणः ॥३१॥

अंस सन्धि के अलग होने पर कक्षा को मूसल से ऊँचा उठाये। स्थान पर बुद्धिमान् वैद्य स्वस्तिक बन्धन बांधे ॥३१॥

कौर्परं तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत् ।
अनुमृज्य ततः सन्धिं पीडयेत् कूर्पराच्च्युतम् ॥३२॥
प्रसार्याकुञ्चयेच्चैनं स्नेहसेकं च दापयेत् ।

कूर्पर सन्धि भंग को अंगूठे से मले। मलकर कोहनी की अलग हुई सन्धि को दबाये। खींचकर इसको कोहनी पर संकुचित (मोडे) करे, ऊपर से स्नेह का परिषेक करे ॥३२॥

एवं जानुनि गुल्फे च मणिबन्धे च कारयेत् ॥३३॥

जानु-गुल्फ और मणिबन्ध के भंग में इसी प्रकार करे ॥ ३३ ॥

उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः ।
बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारयेत् ॥३४॥
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवणं च ततः परम् ।
हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम् ॥३५॥

मनुष्य की हथेली टूटने पर दोनों हथेलियों को समान करके, बाँध देवें। ऊपर कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करे। पहले मिट्टी का ढेला पकड़े, फिर सैन्धव नमक को पकड़े। हाथ में बल आने पर धीरे-धीरे पत्थर को थमाना आरम्भ करे।

वि० मन्तव्य—जब भग्न ठीक हो जाय और पट्टी खोल दी जाय तब प्रथम मिट्टी का फिर लवण का ढेला सर्वदा हाथ में रखा रहे कुछ और बल आने पर पत्थर को धारण करे ॥ ३४,३५ ॥

सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमक्षकं मुसलेन तु ।
तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद् गाढमेव च ॥३६॥

अक्षक अस्थि नीचे दबी हो तो इसको मूसल से ऊपर उठाये, ऊपर को उठी अस्थि को मूसल से नीचे दबाये। कसकर पट्टी बाँध देवे ॥ ३६ ॥

ऊरुवच्चापि कर्तव्यं बाहुभग्नचिकित्सितम् ।

बाहुभग्न की चिकित्सा उरु की भाँति करनी चाहिये।

ग्रीवायां विवृतायां तु प्रविष्टायामधोऽपि वा ॥३७॥
अवटावथ हन्वोश्च प्रगृह्योन्नमयेन्नरम् ।
ततः कुशाः समं दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥३८॥
उत्तानं शाययेच्चैनं सप्तरात्रमतन्द्रितः ।

ग्रीवा के टेढ़ी होने या नीचे को बैठ जाने पर रोगी को ठोड़ी और गर्दन के पिछले भाग (गुद्दी) से पकड़कर ऊँचा करे। फिर बराबर कुशाओं को बिठाकर पट्टी से बांध देवे। बिना आलस्य किये वैद्य इसको सात दिन पीठ के बल (चित) सुलाये ॥३७,३८॥

हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते ॥३९॥
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद्भिषक् ।
वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम् ॥४०॥

हनुसन्धि के अलग होने पर हनु की अस्थियों को ठीक बिठाकर, स्वेदन करे। ठीक बैठ जाने पर पञ्चाङ्गी बन्ध बाँध देवे। भद्रदार्व्यादि, विदारिगन्धादि और काकोल्यादि से सिद्ध घृत नस्य में उत्तम है ॥४०॥

अभग्नांश्चलितान् दन्तान् सरक्तानवपीडयेत् ।
तरुणस्य मनुष्यस्य शीतैरालेपयेद्बहिः ॥४१॥
सिक्त्वाऽम्बुभिस्ततः शीतैः सन्धानीयैरुपाचरेत् ।
उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते ॥४२॥
जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्जयेच्चलितान् द्विजान् ।

युवा मनुष्य के न टूटे हुए, हिले एवं रक्तवाले दांतों को दबाये, बाहर शीतल लेप करे। शीतल जल से परिषेक करके, मधु घृत आदि सन्धानीय द्रव्यों से चिकित्सा करे। कमल के नाल से दूध पिलाये। वृद्ध मनुष्य के हिलते हुए दाँतों की चिकित्सा न करे।

वि० मन्तव्य—अभिघात से दन्त हिल जाने (दन्त में सन्धिमुक्त नामक भग्न हो जाने) पर यह उपाय किये जाते हैं। यदि वृद्ध के दन्त हिल जाते हैं तो वे फिर अचल नहीं होते ॥४१,४२॥

नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया ॥४३॥
पृथङ्नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत् ।
ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत् ॥४४॥

दबी हुई या टेढ़ी हुई नासा को शलाकाओं से सीधा करके, प्रत्येक नासा में दो मुखवाली नाड़ी प्रविष्ट करे। फिर वस्त्र से लपेटकर घी का सेक करे।

वि० मन्तव्य—श्वास के लिए द्विमुखी नली लगाई जाती हैं ॥४३,४४॥

भग्नं कर्णं तु बध्नीयात् समं कृत्वा घृतप्लुतम् ।
सद्यः क्षतविधानं च ततः पश्चात् समाचरेत् ॥४५॥

भग्न कर्ण को ठीक बाँधकर, प्रचुर घृत युक्त मधु से सद्यःक्षत की भाँति, अभ्यङ्ग, परिषेक आदि पीछे से बरते ॥४५॥

मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी ।
दत्त्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद्घृतम् ॥४६॥

शिर की अस्थियों के भिन्न होने पर यदि मस्तुलुंग नहीं भग्न नहीं हुआ, तो मधु और घी को लगाकर बांध देवे, और सात दिन घृत पीये ॥४६॥

पतनादभिघाताद्वा शूनमङ्गं यदक्षतम् ।
शीतान् प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत् ॥४७॥

गिरने से या चोट लगने से जिस अंग में क्षत हुए बिना सूजन आ गई हो, उस पर शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक वैद्य बरते ॥४७॥

अथजङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ।
कीलकाबन्धनार्थं च पञ्च कार्या विजानता ॥४८॥

यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा।
सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ॥४९॥

जंघा और ऊरु के टूटने पर रोगी को लकड़ी के तख्ते पर लेटाना चाहिये। रोगी हिले-डुले नहीं इसलिये तख्ते पर पांच कीलें गाड़ देनी चाहिये (एक तलुये के साथ दो जंघा में दो ऊरु की दोनों ओर) भग्न रोगी हिले-डुले नहीं, ऐसा प्रयत्न करे। इसमें जंघा भग्न में एक कील तलुए पर, दो कीलें गुल्फ सन्धि की दोनों ओर और दो जानु सन्धि की दोनों ओर गाड़े। ऊरु भग्न में—जानु सन्धि के पास दो, वंक्षण सन्धि के पास दो और तलुए पर एक कील गाड़े ॥४८,४९॥

श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा।
भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥५०॥

श्रोणी, पृष्ठवंश, वक्षःस्थल, अक्षक इनके भग्न होने पर या सन्धि मुक्त होने पर यही विधि वरते। अर्थात् रोगी को लेटाये रक्खे हिलने न दे।

वि० मन्तव्य—कपाट शयनं की व्यवस्था करें ॥५०॥

सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान् स्विन्नान् मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च सम्यक् प्रकृतिमानयेत् ॥५१॥

देह से अलग हुई सन्धियों में स्नेहन स्वेदन करके इनको नरम करे। फिर कहे हुए उपायों से और अपनी बुद्धि से वैद्य इनको भली प्रकार पूर्वावस्था में लाये ॥५१॥

काण्डभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्वणसंहिते।
आपोथ्य समयेद्भग्नं ततो भग्नवदाचरेत् ॥५२॥

काण्डभग्न-विषम उल्वण जुड़ने पर यदि भर गया हो (स्थिर हो गया हो) तो भी इसको अलग करके भग्न को समान बनाये-शेष क्रिया भग्न की भांति है ॥५२॥

कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः।
सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥५३॥

व्रण के एक भाग में सूखी और बाहर निकली अस्थि को सावधानी से काट देवे। अथवा व्रणवाले भग्न में सन्धि के समीप से काट देवे और व्रण युक्त भग्न के समान उपचार करे।

ऊर्ध्वकाये तु भग्नानां मस्तिष्क्यं कर्णपूरणम्।
घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम् ॥५४॥

शिर के भग्नों में शिर पर शिरोवस्ति, घी या तैल का पिचु, कान में तैल डालना, घृत पान, और नस्य उत्तम है। हाथ-पैर के भग्नों में अनुवासन वस्ति उत्तम है ॥५४॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलं भग्नप्रसाधकम्।
रात्रौ रात्रौ तिलान् कृष्णान् वासयेदस्थिरे जले ॥५५॥
दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत्।
तृतीयं सप्तरात्रं तु नावयेन्मधुकाम्बुना ॥५६॥
ततः क्षीरं पुनः पीतान् सुशुष्कांश्चूर्णयेद्भिषक्।
काकोल्यादि सयष्ट्याह्वं मञ्जिष्ठां सारिवां तथा ॥५७॥
कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचन्दनम्।
शतपुष्पां च संचूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत् ॥५८॥
पीडनार्थं च कर्तव्यं सर्वगन्धशृतं पयः।
चतुर्गुणेन पयसा तत्तलं विपचेद्भिषक् ॥५९॥
एलामंशुमतीं पत्रं जीवकं तगरं तथा।
रोध्रं प्रपौण्डरीकं च तथा कालानुसारि(वा)णम् ॥६०॥
सैरेयकं क्षीरशुक्लामनन्तां समधूलिकाम्।
पिष्ट्वा शृङ्गाटकं चैव पूर्वोक्तान्यौषधानि च ॥६१॥
एभिस्तद्विपचेत्तैलं शास्त्रविन्मृदुनाऽग्निना।
एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु ॥६२॥
आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथाऽर्दिते।
मन्यास्तम्भे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे ॥६३॥
बाधिर्ये तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षयं गताः।
पथ्यं पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये बस्तिषु भोजने ॥६४॥
ग्रीवास्कन्धोरसां वृद्धिरमुनैवोपजायते।
मुखं च पद्मप्रतिमं स सुगन्धिसमीरणम् ॥६५॥
गन्धतैलमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्।
राजार्हमेतत् कर्तव्यं राज्ञामेव विचक्षणैः ॥६६॥

इसके आगे भग्न को स्वस्थ करनेवाला तैल कहूँगा। काले तिलों को सात दिन तक रात्रि में नदी के बहते जल में रक्खे और दिन में धूप में सुखाये, फिर सात दिन गाय के दूध से इनको भावित करे। तीसरे हफ्ते में मुलैहठी के क्वाथ से भावना दे। फिर चौथे सप्ताह पुनः गाय के दूध से भावित करके, सुखाकर चूर्ण कर ले। इसमें काकोल्यादि गण के द्रव्य, मुलैहठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ, इनका चूर्ण (आपस में समान भाग) तिल के चूर्ण के समान भाग से मिलाये। फिर एलादि गण से सिद्ध दूध से इस चूर्ण को गीला बनाकर, इन तिलों से तैल निकाले। इस तैल को तैल से चार गुने दूध के साथ—इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, तगर, लोध, प्रपौण्डरीक, कालानुसारी, झिण्टी, क्षीरविदारी, सारिवा, मधूलिक, सिंघाड़ा, पूर्वोक्त औषधियाँ (काकोल्यादि से लेकर सौंफ तक की)—इनको कल्क के साथ मृदु अग्नि पर शास्त्र को जानने वाला तैल सिद्ध करे। यह तैल भग्न व्यक्तियों के सब कार्यों में पथ्य है। आक्षेपक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुग्रह, बधिरता, तिमिर रोगों में तथा जो पुरुष स्त्रियों में क्षीण हुए हैं, उनके पान, अभ्यङ्ग, नस्य बस्ति और भोजन में पथ्य है। इस तैल से ग्रीवा, स्कन्ध और छाती की वृद्धि होती है। मुख कमल के समान, मुख की वायु सुगन्धित होती है। इस तैल का नाम गन्धतैल है, वायु के सब विकारों को नष्ट करता है। यह तैल राजाओं के योग्य है, बुद्धिमानों को राजाओं के लिये ही बनाना चाहिये ॥५५-६६॥

त्रपुसाक्षप्रियालानां तैलानि मधुरैः सह।
वसां दत्वा यथालाभं क्षीरे दशगुणे पचेत् ॥६७॥
स्नेहोत्तममिदं चाशु कुर्याद् भग्नप्रसाधनम्।
पानाभ्यञ्जननस्येषु बस्तिकर्मणि सेचने ॥६८॥

खीरा, बहेड़ा, चिरौंजी इनके तैलों को, काकोल्यादि गण के साथ, दस गुणे दूध में सिद्ध करे। यदि बसा मिल जाये तो उसे भी मिला दे। यह उत्तम स्नेह-भग्नों को जल्द स्वस्थ करता है। पान, अभ्यङ्ग, नस्य, परिषेचन और वस्ति कर्म में उत्तम है ॥६७,६८॥

भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति ॥६९॥

वैद्य को चाहिये कि वह ऐसा प्रयत्न करे कि भग्न पकने न पाये। मांस, सिरा, स्नायु के पक जाने पर भग्न कठिनाई से अच्छा होता है ॥६९॥

भग्नं सन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्बणम्।
सुखचेष्टाप्रचारं च संहितं सम्यगादिशेत् ॥७०॥

जिस भग्न या सन्धि भंग से रोगी को बेचैनी अंग की कमी (छोटा पड़ना) या ऊपर को उठना न हो, सिकोड़ने फैलाने आदि चेष्टाओं में सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो, उसे भली प्रकार जुड़ा जाने॥

"अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः।
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः॥
स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम्।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयादचलं सुखम्॥
अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत्।
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका॥"
॥ चरक चि० अ० २५ ॥७०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भग्नचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे वातव्याधिचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्।
देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥ ३ ॥
चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकाऽतिविषाऽभया।
वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ ४ ॥

आमाशय गत वायु में विधि अनुसार वमन करा के, सात दिन तक षड्धारण योग को गरम पानी से देना चाहिये। चित्रक, इन्द्रजौ, पाठा, कटुकी, अतीस और हरड़, इसका नाम षड्धरण है, यह वातरोग को नाश करनेवाला है। (छ धरण-बराबर है, मध्यम आकार के इक्कीस निष्पाव के)।

वक्तव्य—यथाविधि—स्नेहन स्वेदन देकर, वमन के लक्षण, वेग, कायशुद्धि संसर्जन क्रम के अनुसार। षड्धरण—यह एक संज्ञा है। प्रथम दिन एक कर्ष देकर, प्रतिदिन तीन तीन निष्पाव बढ़ाने से सातवें दिन पूरे हो जाते हैं ॥ ३,४ ॥

पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्।
बस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥ ५ ॥

वायु के पक्वाशय में होने पर स्नेह विरेचन देना चाहिये, शोधनीय वस्तियाँ दे। लवण प्रधान भोजन देना चाहिये। (शोधन वस्तियाँ—शोधन द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क, स्नेह के साथ) वक्तव्य—

"विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः।
पाचनोयैर्दीपनीयैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान्॥
गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्त्तनुद् हितम्।
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथा दोषहराः क्रियाः॥"
चरक ॥ ५ ॥

कार्यो बस्तिगते चापि विधिर्बस्तिविशोधनः।

बस्तिगत वायु में वस्ति शोधक उपाय करे।

श्रोत्रादिषु प्रकुपिते कार्यश्चानिलहा क्रमः ॥ ६ ॥

श्रोत्र आदि में वायु प्रकोप होने पर वात-नाशक चिकित्सा (स्नेहन, स्वेदन) करे ॥ ६ ॥

स्नेहाभ्यङ्गोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च।
त्वङ्मांसासृक्सिराप्राप्ते कुर्याच्चासृग्विमोक्षणम् ॥

त्वक् (रस), मांस-सिरा और रक्त में वायु के पहुँचने पर स्वेदन, अभ्यङ्ग, उपनाह, मर्दन, आलेपन, और रक्तमोक्षण करना चाहिये।

स्वेदाभ्यंगा निवातानि हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते।
शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्॥
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च।
बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत्॥ च०॥

स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च।
स्नायुसन्ध्यस्थिसंप्राप्ते कुर्याद्वायावतन्द्रितः ॥ ८ ॥

वायु के स्नायु-सन्धि और अस्थि में आ जाने पर, स्नेहन, उपनाह, अग्निकर्म, बन्धन, उन्मर्दन कार्य बिना आलस्य के (चिरकाल तक) करना चाहिये ॥ ८ ॥

निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते।
नाडीं दत्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत्पवनं बली ॥ ९ ॥

अस्थि में वायु के जानेपर, अस्थि को आरा शस्त्र से चीर-कर, उसमें दो मुखवाली नाड़ी लगाकर, बलवान् वैद्य, वायु का आचूषण करे।

वक्तव्य—अस्थियों में वक्रता (रिकट) या अस्थियों का क्षय करने का कारण आयुर्वेद में वायु को माना है वायु के लिये स्नेहन—स्निग्ध उपचार हैं। इसीसे कहा है—"बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थि मज्जगतं जयेत् ॥" अन्दर बाहर दोनों में स्नेहन बरते। (२) अस्थिक्षयजान् बस्तिभिः तिक्तकोपहितैश्च ॥ संग्रह। इसमें कैलसियम जैसी रूक्षवस्तु कैसे लाभ करती है, यह विचारणीय है–आयुर्वेद की दृष्टि से हैलीवर ऑयल, कॉडलीवर ऑयल इनका देना तो स्निग्ध होने से समझ में आता है ॥ ६ ॥

शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोषचिकित्सितम्।

वायु के शुक्र में आने पर शुक्र दोष चिकित्सा बरते।

हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम्।
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद् विरेचनम् ॥ च० ॥

अवगाहकुटीकर्षूप्रस्तराभ्यङ्गवस्तिभिः ॥१०॥
जयेत् सर्वाङ्गजं वातं सिरामोक्षैश्च बुद्धिमान्।
एकाङ्गगं च मतिमाञ्छृङ्गैश्चावस्थितं जयेत् ॥११॥

सर्वांग गत वायु में–अवगाहन, कुटीस्वेद, कर्षूस्वेद, प्रस्तर स्वेद, अभ्यंग, वस्ति और सिरामोक्षणसे वैद्य वायुको शान्त करे। एकांग में क्षणिक रूप में स्थित वायु को बुद्धिमान् सींग से शान्त करे। (सदा रहनेवाली एकांग वायुमें अवगाहन आदि बरते)।

"सर्वांगकुपितेऽभ्यंगो बस्तयः सानुवासनाः ॥ च० ॥

बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिनः।

कफ, पित्त से मिली वायु को इनके अविरोधि चिकित्सा से शान्त करे।

सुप्तिवाते त्वसृङ्मोक्षं कुर्यात्तु बहुशो भिषक् ॥१२॥
दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलसमन्वितैः।

रक्त के आवृत वायु में त्वचा में स्पर्श ज्ञान न होने पर, वैद्य बार २ रक्त मोक्षण करे। रक्त मोक्षण के पश्चात् (वायु प्रकोप न हो) सैन्धव घर का धुंवासा इनको तेल में मिलाकर लगाये।

पञ्चमूलीशृतं क्षीरं फलाम्लो रस एव च ॥१३॥
सुस्निग्धो धान्ययूषो वा हितो वातविकारिणाम्।

वातरोगियों के लिये बृहत्पञ्चमूल से सिद्ध किया दूध, अनार आदि खट्टे फल, मांसरस, अति स्निग्ध उड़द आदि का यूष उत्तम है ॥ १३ ॥

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः ॥१४॥
सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः ॥१५॥
तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम्।

साल्वण—काकोल्यादिगण, वातघ्न द्रव्य (भद्रदार्व्यादि, विदारीगन्धादि), सब खट्टे द्रव्य (शुक्त, कांजी सुरा, सौवीरक, दही मस्तु आदि या अनार, बिजौरा आदि), औदक मांस (कछुए, मछली आदि के) आनूप मांस (भैंस-सूअर आदि के) सर्वस्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा,) इनके साथ प्रचुर लवण मिलाकर सुहाता हुआ गरम लेप 'साल्वण' कहा जाता है। इससे वातरोगियों में सदा उपनाह करें।

कुञ्च्यमानं रुजार्तं वा गात्रं स्तब्धमथापि वा ॥१६॥
गाढं पट्टैर्निबध्नीयात् क्षौमकार्पासिकौर्णिकैः।
बिडालनकुलोन्द्राणां चर्मगोण्यां मृगस्य वा ॥१७॥
प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं साल्वणेनोपनाहितम्।

जो अंग संकुचित हो गया हो, जिसमें पीड़ा हो, या जो अङ्ग जड़ (स्थिर) बन गया हो, उस अंग पर क्षौम (रेशमी) कपास के वस्त्र, तथा ऊन की पट्टियाँ कसकर बाँध देवे। अथवा भली प्रकार स्नेह अभ्यंग करके, साल्वण से उपनाह देकर अङ्ग को बिल्ली, नेवला, चूहा, या हरिण इनकी खाल से बनी थैली में उस अङ्ग को रख देवे ॥ १६,१७ ॥

स्कन्धवक्षस्त्रिकप्राप्तं वायुं मन्यागतं तथा ॥१८॥
वमनं हन्ति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम्।

स्कन्ध, वक्ष, त्रिक और मन्यागत वायु को कुशल वैद्य से दिया वमन और नस्य नष्ट कर देता है। (नस्य-शिरोविरेचन)॥

शिरोगतं शिरोबस्तिर्हन्ति वाऽसृग्विमोक्षणम् ॥१९॥
स्नेहं मात्रासहस्रं तु धारयेत्तत्र योगतः।

शिरोगत वायु को शिरोवस्ति या रक्त मोक्षण नष्ट करता है। इसमें स्नेह को युक्ति से एक सहस्र मात्रा तक धारण करे।

मात्रा का परिमाण—

"निमेषोन्मेषणे पुंसां स्फोटनं वा तथाङ्गुलेः।
अक्षरस्य लघोर्वाऽपि मात्रा तूच्चारणं भवेत्" ॥ १९ ॥

सर्वाङ्गशतमेकाङ्गस्थितं वाऽपि समीरणम् ॥ २० ॥
रुणद्धि केवलो वस्तिर्वायुवेगमिवाचलः।

सर्वांग गत या एकांग गत वायु को अकेली वस्ति ही रोक देती है, जिस प्रकार पहाड़ वायु के वेग को रोक देता है॥

स्नेहस्वेदस्तथाऽभ्यङ्गो बस्तिः स्नेहविरेचनम् ॥२१॥
शिरोबस्तिः शिरःस्नेहो धूमः स्नैहिक एव च।
सुखोष्णः स्नेहगण्डूषो नस्यं स्नैहिकमेव च ॥२२॥
रसाः क्षीराणि मांसानि स्नेहाः स्नेहान्वितं च यत्।
भोजनानि फलाम्लानि स्निग्धानि लवणानि च ॥२३॥
सुखोष्णाश्च परीषेकास्तथा संवाहनानि च।
कुंकुमागुरुपत्राणि कुष्ठैलातगराणि च ॥२४॥
कौशेयौर्णिकरोमाणि कार्पासानि गुरूणि च।
निवातातपयुक्तानि तथा गर्भगृहाणि च ॥२५॥
मृद्वी शय्याऽग्निसंतापो ब्रह्मचर्यं तथैव च।
समासेनेवमादीनि योज्यान्यनिलरोगिषु ॥२६॥

वातरोगियों के सेवनीय—स्नेह, स्वेद, अभ्यंग, वस्ति, स्नेह-विरेचन, शिरोवस्ति, शिर पर स्नेह लगाना, स्नैहिकधूम, सुहाता गरम स्नेह का गण्डूष, स्नैहिकनस्य, मांसरस, दूध, मांस, स्नेह (वसा, घी, तैल आदि), स्नेह से युक्त अन्य भोजन, दाडिम आदि खट्टे फल, स्निग्ध एवं लवण युक्त भोजन, सुहाता गरम परिषेक, संवाहन, केसर-अगरु-तेजपत्र-कूठ बड़ी इलायची तगर का प्रयोग, रेशम, ऊन, रोमोंवाले कपास के भारी वस्त्र, वायुरहित-धूपवाले गर्भ गृहों में रहना, कोमल शय्या, अग्नि का सेकना, ब्रह्मचर्य, आदि इसी प्रकार आहार-विहार संक्षेप में वात रोगियों को देना चाहिये ॥२१-२६॥

त्रिवृद्दन्तीसुवर्णक्षीरीसप्तलाशङ्खिनीत्रिफलाविडङ्गाना-मक्षसमाः भागाः, बिल्वमात्रः कल्कस्तिल्वकमूलकम्पिल्ल-कयोः, त्रिफलारसदधिपात्रे द्वे द्वे, घृतपात्रमेकं, तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्, तिल्वकसर्पिरेतत् स्नेहविरेचनमुपदिशन्ति वातरोगिषु। तिल्वकविधिरेवाशोकरम्यकयोर्द्रष्टव्यः ॥२७॥

तिल्वक घृत—निशोथ, जमालगोटा, स्वर्णक्षीरी (चोक), सप्तला (यवतिक्ता), शंखिनी, त्रिफला, वायविडंग, प्रत्येक एक कर्ष, तिल्वकमूल, कमीला इनका कल्क एक बिल्व (एकपल परिमाण में), त्रिफला क्वाथ दो आढ़क, दही-दो आढ़क, घी एक आढ़क, इन सबको एक साथ मिलाकर पकाये। यह तिल्वकघृत वातरोगियों के लिये विरेचन है। तिल्वक की भाँति अशोक और महानिम्ब (डेक) से भी घृत बनाना चाहिये। (रम्यक-पर्वत निम्ब-डल्हण) ॥२७॥

तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरि-पीतान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वाऽवक्षुद्य महति कटाहे पानीयेनाभिप्लाव्य क्वाथयेत्, ततः स्नेहमम्बुपृष्ठाद्यदुदेति तत् सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं स्नेह-पाककल्पेन विपचेत्, एतदणुतैलमुपदिशन्ति वातरोगिषु; अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यत इत्यणुतैलम् ॥२८॥

जिस कोल्हू ने बहुत दिनों तक तेल पिया हो, उस कोल्हू की लकड़ियों को लाकर, उनके टुकड़े-टुड़े करके, कूटकर, बड़े भारी कड़ाहे में पानी भरकर इनको भली प्रकार पकावे। इससे जो स्नेह पानी की पीठ पर आ जाये, उसको रूई के फाहें या कपड़े अथवा हाथ से निकाल ले। इस तैल में भद्र-दार्व्यादि वातघ्न औषधियों का कल्क मिलाकर स्नेह पाक विधि से पाक करे। इसको अणु तैल कहते हैं, वातरोगियों के लिये उत्तम बताते हैं। सूक्ष्म तैल द्रव्यों से बनाया जाने के कारण इसे अणु तैल कहा जाता है ॥२८॥

अथ महापञ्चमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसि-तमुषितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्मनिवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यै-करात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामा-दायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्, यत्र यत्तैलमु-त्तिष्ठेत्तत् पणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततः स्तैलं वातहरौषधक्वाथमांसरसक्षीराम्लभागसहस्रेण सह-स्रपाकं विपचेद्यावता कालेन शक्नुयात् पक्तुं, प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगाश्च गन्धा वातघ्नानि च, तस्मिन् सिध्यति शङ्खानाध्मापयेद् दुन्दुभीनावातयेच्छत्रं धारयेद् बालव्यजनैश्च वीजयेद् ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्, तत् साधु सिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृन्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, तदेतत् सहस्रपाकमप्रतिवारवीर्यं राजार्हं तैलम्, एवं भागशतविपक्वं शतपाकम् ॥२९॥

काली भूमिपर बिल्वादि महापंचमूल की बहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित करके इनको जलावे। एक रात के पीछे अग्नि के शान्त हो जाने पर, अग्नि को हटाकर, राख से खाली की भूमि पर, विदारी गन्धादि गण से सिद्ध किये तैल के एक सौ घड़ों से एवं एक सौ दूध के घड़ों से इस भूमि पर सेचन करे। फिर एक रात के पीछे जितनी भूमि स्निग्ध हो, उतनी मिट्टी को लेकर, गरम पानी में एक बड़े कड़ाहे के अन्दर घोल देवे। इससे जो तैल पानी के उपर आ जाये, उसे हाथों से लेकर सुरक्षित रख देवे। फिर इस तैल का वातहर औषधियों के क्वाथ मांसरस, दूध, कांजी इनके हजार भागों के साथ, जितने समय में एक हजार बार पाक कर सके, उतने समय कल्क रूप में हिमालय के और विन्ध्याचल (दक्षिणा पथ) के गन्ध द्रव्य और वातघ्न औषधियों को डाले। इस तैल के बनते समय शंखों को बजाये, नगाड़े बजाये, इस पर छत्र चढ़ाये, बालों की चँवर झुलाये। एक हजार ब्राह्मणों को भोजन करायें। फिर भली प्रकार सिद्ध होने पर उतारकर सुवर्ण, चाँदी, या मिट्टी के पात्र में सुरक्षित रख देवे। यह सहस्र पाक, अप्रतिहत शक्ति वाला तैल राजाओं के योग्य है, इस प्रकार एक सौ बार पकाया तैल शतपाक तैल है[1] ॥२९॥

गन्धर्वहस्तमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्र-कादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत्पत्रलवणमुपदिश-न्ति वातरोगेषु ॥३०॥

एरण्ड, मुष्क, करंज, अड्सा, नाटा करंज, अमलतास, चित्रक आदि के हरे पत्तों को लेकर नमक के साथ ऊखल में

१ गन्ध द्रव्य—कस्तूरी, शटी, कुष्ठ, मांसी, सरल देवदारु आदि उत्तरीय प्रदेश के, चन्दन, जातीफल, शीतलचीनी, लँवग, दालचीनी आदि दक्षिण प्रदेश के द्रव्य बरते। इनका कल्क तेल का चतुर्थांश।

कूटकर, घी के घड़े में रखकर, (मुख बन्द करके) मिट्टी से घड़े के मुख पर लेप करे। इस घड़े के चारों ओर उपले रखकर आग लगाये। इस पत्र लवण को वातरोगों में उपयोगी कहते हैं।

एवं स्नुहीकाण्डवार्ताकुशिग्रुलवणानि संचुद्य घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जाभिः प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु। (इति काण्डलवणम्) ॥३१॥

स्नुही (थोर) की डण्डी, बड़ी कटेरी, सुहांजना और सैन्धव-लवण, इन सब को कूटकर, घड़े में भरकर, घी, तैल, वसा, मज्जा इनको भरकर, मिट्टी से लेप करके, गाय के छानों से इसको जलाये। इसको स्नेह लवण कहते हैं, वात रोगों में इसे बरते। (इसे काण्ड लवण भी कहते हैं) ॥३१॥

गण्डीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगन्धानीपनिम्बनिर्दहन्यटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकण्टकारिकाभल्लातकेङ्गुदीवैजयन्तीकदलीबाष्पद्वयेक्षुरकेन्द्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृज्य पूर्ववद्दग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, प्रतिवापश्चात्र हिङ्ग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा। इत्येतत् कल्याणकलवणं वातरोगगुल्मप्लीहाग्निसङ्गजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभिः कृमिभिरुपद्रुतानां चोपदिशन्ति पानभोजनेष्वपीती ॥३२॥

गण्डीर, ढाक, कूड़ा, विल्व, आक, स्नुही, चिरचिटा, पाटला, फरहद, जलजम्बू, सुहांजना, कदम्ब, नीम, निर्दहनी (मोरट या चित्रक), अडूसा, करंज, नाटा करंज, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, भिलावा, जींगोट, वैजयन्ती (अरणी), केला, वाष्पद्वय, तालमखाना, इन्द्रायण, श्वेता (अपराजिता), मोक्षक, इन सबको हरा ही मूल-पत्र-शाखा में लाकर सबके बराबर नमक ले। नमक को छोड़कर शेष औषधियों को पूर्व की भाँति क्षार कल्पना से जलाकर, इसमें, नमक मिलाकर, घोलकर नितार लेवे। इस नितरे जल को पकाये, पकाते समय चौथाई रूप में हिंग्वादि गण का या पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप इस में मिलाये। यह कल्याणक लवण वातरोग, गुल्म, प्लीहा, अग्नि मांद्य, अजीर्ण, अर्श, अरोचक के रोगियों के लिये तथा कास, श्वास, हिक्का, कृमियों से पीड़ित व्यक्तियों के पान भोजन में बरतना चाहिये ॥३२॥

भवति चात्र—

विष्यन्दनादुष्णभावाद्दोषाणां च विपाचनात्।
संस्कारापाचनाच्चेदं वातरोगेषु शस्यते ॥३३॥

नमक-विष्यन्दन (स्रवण बहाने के गुण से) करने से, उष्ण होने से तथा दोषों का पाचन करने के कारण, संस्कार के कारण अधिक पाचन बन जाने से वात रोगों में प्रशस्त है ॥३३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो महावातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे महावात व्याधि चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—महावातव्याधि–बड़ी बड़ी वातव्याधियाँ, यथा–वातरक्त एवं अपतानक आदि ॥१,२॥

द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढीभवति, तस्मान्न द्विविधम् ॥३॥

वात रक्त उत्तान और गम्भीर भेद से दो प्रकार का है, ऐसा कई कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह वातरक्त कुष्ठ की भाँति उत्तान बनकर कुछ समय पीछे गम्भीर बनता है, इसलिये वात रक्त दो प्रकार का नहीं है॥ परन्तु चरक दो प्रकार का कहता है, यथा—

"उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥"

चरक में चिकित्सा के दृष्टिकोण से इसे दो प्रकार का माना है। सुश्रुत में कारण की दृष्टि से इस को एक कहा है, यथा—

"तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन,
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्" ॥३॥

तत्र बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितस्य वायोर्गुरूष्णाध्यशनशीलस्य प्रदुष्टं शोणितं मार्गमावृत्य वातेन सहैकीभूतं युगपद्वातरक्तनिमित्तां वेदनां जनयतीति वातरक्तम्। तत्तु पूर्वं हस्तपादयोरवस्थानं कृत्वा पश्चाद्देहं व्याप्नोति। तस्य पूर्वरूपाणि तोददाहकण्डूशोफस्तम्भत्वक्पारुष्यसिरास्नायुधमनीस्पन्दनसक्थिदौर्बल्यानि श्यावारुणमण्डलोत्पत्तिश्चाकस्मात् पाणिपादतलाङ्गुलिगुल्फमणिबन्धप्रभृतिषु, तत्राप्रतिकरणोऽपचारिणश्च रोगो व्यक्ततरः तस्य लक्षणमुक्तं, तत्राप्रतिकारिणो वैकल्यं भवति ॥४॥

इसमें-गुरु, उष्ण एवं भोजन पर भोजन करने की आदत वाले व्यक्ति में दूषित रक्त और बलवान् व्यक्ति के साथ कुश्ती आदि वायुकोपक कारणों से प्रकुपित वायु के मार्ग को रोककर साथ मिलाकर, एक साथ वात और रक्तजन्य वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं, इसको वातरक्त कहते हैं। यह वातरक्त पहले हाथ पैरों में स्थान बनाकर फिर सारे शरीर में फैलता है। इसके पूर्वरूप—तोद, दाह, कण्डू, शोफ, स्तम्भ, त्वचा में कठोरता सिरा-स्नायु-धमनी में स्पन्दन, टांगों में दुर्बलता, होते हैं

और श्याव या अरुण चकत्ते, बिना कारण के ही—हाथ, पैर के तलुओं में, अंगुलियों में, गुल्फ, कलई आदि में निकल आते हैं। इस दशा में चिकित्सा न करने से तथा अपथ्य सेवन करनेवाले में रोग और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके लक्षण निदानस्थान में कह दिये हैं। इस अवस्था में भी चिकित्सा न करने से विकलता होती है।

"तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः ॥१॥
कृत्वादौ हस्तपादेषु मूलं देहे विधावति ।
सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च देहं गच्छन् शिरायनैः ॥२॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते ।
स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥३॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु ।
जानुजंघोरुकट्यंसहस्तपादांगसन्धिषु ॥४॥
निस्तोदः स्फुरणं मेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ।
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिः वातासृक् पूर्वलक्षणम् ॥
चि० अ० २९ चरक ।

आज कल चलनेवाली खाज प्रायः करके हाथों की अंगुलियों के बीच में, पैरों पर, गुल्फों में होती है। इसमें छोटी फुंसी होती है, जिसका मुँह पूय से भरा होता है, यह वातरक्त से पृथक् है। चरक कहता है, अंगुली के बीच स्थान वक्र होने से दोष यहाँ रहकर रोग उत्पन्न करते हैं ॥४॥

भवति चात्र—

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
स्थूलानां सुखिनां चापि वातरक्तं प्रकुप्यति ॥५॥

प्रायः करके यह वात रक्त नाजुक प्रकृति, मिथ्याहार-विहार करनेवाले, स्थूल एवं सुखी जीवन व्यतीत करनेवाले पुरुषों में होता है ॥५॥

तत्र प्राणमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तम्भारोचकाविपाकविसरणसंकोचनैरनुपद्रुतं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत् ॥६॥

इसमें प्राणक्षय, मांसक्षय, प्यास, ज्वर, मूर्च्छा, श्वास, कास, स्तम्भ, अरोचक, अविपाक, विसरण, संकोचन—इन उपद्रवों से रहित, बलवान्, जितेन्द्रिय, साधन सम्पन्न रोगी की चिकित्सा करे। चरक चि० अ० २९।

"अस्वप्नारोचकाश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ।
मूर्च्छा च मदरुक् तृष्णा ज्वरमोहप्रलेपकाः ॥
हिक्का पांगुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ।
अंगुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मगुदार्बुदाः ॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वापि यत् ।
संप्रसाविविवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ॥
वर्जयेच्च संकोचकरमिन्द्रियतापनम् ।
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्" ॥६॥

तत्र, आदावेव बहुवातरूक्षम्लानाङ्गाहृते मार्गावरणाद् दुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिञ्चेद्वातकोपभयात् । ततो वमनादिभिरुपक्रमैरुपपाद्य प्रतिसंसृष्टभक्तं वातप्रबले पुराणघृतं पाययेत् । अजाक्षीरं वाऽर्धतैलं मधुकाक्षयुक्तं, शृगालविन्नासिद्धं वा शर्करामधुरं, शुण्ठीशृङ्गाटककशेरुकसिद्धं वा श्यामारास्नासुषवीशृगालविन्नापीलुशतावरीश्वदंष्ट्राद्विपञ्चमूलीसिद्धं वा । द्विपञ्चमूलीक्वाथाष्टगुणसिद्धेन पयसा मधुकमेषशृङ्गीश्वदंष्ट्रासरलभद्रदारुवचासुरभिकल्कप्रतीवापं तैलं पाचयित्वा पानादिषूपयुञ्जीत, शतावरीमयूरककिणिह्यजमोदामधुकक्षीरविदारीबलातिबलातृणपञ्चमूलीक्वाथसिद्धं वा काकोल्यादिप्रतीवापं, बलातैलं शतपाकं वेति । वातहरमूलसिद्धेन च पयसा परिषेचनमम्लैर्वा कुर्वीत । यवमधुकैरण्डतिलवर्षाभूभिर्वा प्रदेहः कार्यः । तत्र चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु प्रत्येकशः काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकबलातिबलाबिसमृणालशृगालविन्नामेषशृङ्गीप्रियालशर्कराकशेरुकसुरभिवचाकल्कमिश्रेषूपनाहार्थं सर्पिस्तैलवसामज्जादुग्धसिद्धाः पञ्च पायसा व्याख्याताः स्नैहिकफलसारोत्कारिका वा चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु मत्स्यपिशितवेशवारो वा, बिल्वपेशिकातगरदेवदारुसरलारास्नाहरेणुकुष्ठशतपुष्पैलासुरादधिमस्तुयुक्त उपनाहः, मातुलुङ्गाम्लसैन्धवघृतमिश्रं मधुशिग्रुमूलमालेपस्तिलकल्को वेति वातप्रबले ॥७॥

इसमें सबसे प्रथम—वायु की अधिकता, रूक्षता एवं म्लानता (शुष्कता) से रहित अंग में मार्ग के रुकने से दूषित रक्त थोड़ा थोड़ा करके बहुत बार निकाले, जिससे कि वायु का प्रकोप न होने पाये। फिर वमन—विरेचन आदि चिकित्सा को बरत कर, पेया-विलेपी आदि अन्न क्रम से भोजन देकर, वात की अधिकता होने पर पुरातन घृत पिलाये। अथवा बकरी के दूध में आधा तेल और मुलहठी का चूर्ण एक कर्ष मिलाकर दे। पृश्नपर्णी से सिद्ध किये दूध को शर्करा और मधु से मीठा करके दे। सोंठ सिंघाड़ा और कसेरू से सिद्ध किया दूध देवे। निशोथ, रास्ना, सुषवी (मोटा जीरा), पृश्निपर्णी, पीलु, शतावरी, गोखरू, दशमूल से सिद्ध दूध देवे। दशमूल के क्वाथ में, आठगुणे दूध को सिद्ध करे। इस दूध में मुलहठी, मेषशृङ्गी, गोखरू, चीड़, देवदारु, वचा, रास्ना, इनके कल्क का प्रक्षेप देकर तैल सिद्ध करे। इस तैल को पान आदि में बरते। शतावरी, चिरचिटा, झनझनिया, अजवायन, मुलैहठी, क्षीरविदारी, बला, अतिबला, पंच तृण मूल, के क्वाथ काकोल्यादि गण का प्रक्षेप देकर सिद्ध तैल पिलाये। शरपाक किया बला तैल बरते। एरण्ड आदि वातहर द्रव्यों के मूल से सिद्ध जल से या कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से स्नान कराये। जौ, मुलहठी, एरण्ड, तिल और पुनर्नवा का लेप करे। जौ, गेहूँ, तिल, मूँग

और उड़द इनमें एक एक के चूर्ण में काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, बला, अतिबला, विष, कमलनाल, पृश्निपर्णी, मेषशृङ्गी, पियाल, शर्करा, कसेरु, रास्ना और वचा इनका कल्क मिलाकर, घी, तैल, वसा, मज्जा और दूध में सिद्धकर उपनाह के लिये पायस (खीर) बनाये—इस प्रकार से पाँच खीर बन जाती हैं। अथवा अलसी, तिल, चिरौंजी आदि तेल-वाले फलों से उत्कारिका (लपसी) बनाये। जौ, गेहूँ, तिल, मूँग और उड़द इनके चूर्णों में मछली का मांस या किमिया किया मांस मिलाकर उत्कारिका बनाये। बिल्व का गूदा, तगर, देवदारु, निशोथ, रास्ना, हरेणु, कूठ, सौंफ, इलायची, सुरा, दही, मस्तु से मिला उपनाह बनाये। बिजौरा का रस, सैन्धव, घी इनमें मीठे सहजन की मूल का या तिल का कल्क मिलाकर वात प्रबल वात रक्त में लेप करे ॥७॥

पित्तप्रबले द्राक्षारेवतकट्फलपयस्यामधुकचन्दनकाश्मर्यकषायं शर्करामधुरं पाययेत्, शतावरीमधुकपटोलत्रिफलाकटुरोहिणीकषायं गुडूचीकषायं वा पित्तज्वरहरं वा चन्दनादिकषायं शर्करामधुमधुरं, मधुरतिक्तकषायसिद्धं वा सर्पिः, बिसमृणालभद्रश्रीयपद्मककषायेणार्धक्षीरेण परिषेकः, क्षीरेक्षुरसैर्मधुकशर्करातण्डुलोदकैर्वा द्राक्षेक्षुकषायमिश्रैर्वा मस्तुमद्यधान्याम्लैः जीवनीयसिद्धेन वा सर्पिषाऽभ्यङ्गः, शतधौतघृतेन वा काकोल्यादिकल्ककषायविपक्वेन वा सर्पिषा, शालिषष्टिकनलवञ्जुलतालीसशृङ्गाटकगलीड्यगौरीगैरिकशैवलपद्मकपद्मपत्रप्रभृतिभिर्धान्याम्लपिष्टैः प्रदेहो घृतमिश्रः, वातप्रबलेऽप्येष सुखोष्णः प्रदेहः कार्यः ॥८॥

पित्तप्रबल वात रक्त में—द्राक्षा, अमलतास, कटफल, विदारी, मुलैहठी, चन्दन, गम्भारी इनका कषाय शर्करा और मधु से मीठा करके पिलाये। शतावरी, मुलैहठी, पटोल, त्रिफला, कुटकी का कषाय या गिलोय का कषाय या पित्त ज्वर नाशक चन्दनादि कषाय को शर्करा, मधु से मीठा करके पिलाये। मधुर एवं तिक्त कषाय से सिद्ध घृत पिलाये। बिष, मृणाल, चन्दन, पद्माख इनके कषाय में आधा दूध मिलाकर परिषेक करे। दूध, ईख का रस, मुलैहठी, शर्करा, या चावलों के पानी से या द्राक्षा, इक्षु के कषाय के साथ मस्तु-मद्य और कांजी मिलाकर परिषेक करे। जीवनीय गण से सिद्ध घी से अभ्यंग करे। शतधौत घृत से अभ्यंग करे। शाली, सांठी, नड़सर, जलवेतस, तालीश, सिंघाड़ा, कमलबीज, हल्दी गेरू, सरवाल, पद्माख, कमलपत्र आदि को कांजी में पीसकर घी मिलाकर लेप करे। वायु की प्रबलता होने पर इन्ही को सुहाता गरम करके लेप करे ॥८॥

रक्तप्रबलेऽप्येवं बहुशश्च शोणितमवसेचयेत्, शीततमाश्च प्रदेहाः कार्या इति ॥९॥

रक्त की प्रधानतावाले बातरक्त में भी इसी विधि को बरते। बहुत बार रक्त मोक्षण करे। अतिशय शीत प्रदेह लगाने चाहिये ॥९॥

श्लेष्मप्रबले त्वामलकहरिद्राकषायं मधुमधुरं पाययेत्, त्रिफलाकषायं वा; मधुकशृङ्गवेरहरीतकीतिक्तरोहिणीकल्कं वा सक्षौद्रं, मूत्रतोययोरन्यतरेण गुडहरीतकीं वा भक्षयेत्, तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैश्च परिषेकः आरग्वधादिकषायैर्वोष्णैः; मस्तुमूत्रसुराशुक्तमधुकसारिवापद्मकसिद्धं वा घृतमभ्यङ्गः, तिलसर्षपातसीयवचूर्णानि श्लेष्मातककपित्थमधुशिग्रुमिश्राणि क्षारमूत्रपिष्टानि प्रदेहः, श्वेतसर्षपकल्कः, तिलाश्वगन्धाकल्कः, प्रियालसेलुकपित्थकल्कः, मधुशिग्रुपुनर्नवाकल्कः त्र्योषतिक्ताघृथक्पर्णीबृहतीकल्क इत्येतेषां पञ्च प्रदेहाः सुखोष्णाः क्षारोदकपिष्टाः शालिपर्णी पृश्निपर्णीबृहत्यौ वा क्षीरपिष्टास्तर्पणमिश्राः ॥१०॥

कफ प्रबल वात रक्त में—आँवले हल्दी के कषाय को मधु से मीठा करके पिलाये। या त्रिफला का कषाय पिलाये। मुलैहठी, सोंठ, हरड़, कुटकी-इनके कल्क को मधु के साथ खिलाये। गोमूत्र या जल के साथ गुड़ हरीतकी (गुड़ और हरड़) को खिलाये। तैल, गोमूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त, कफघ्न औषधियों के (आरग्वधादि गण) के सुहाते गरम कषाय से परिषेक करे। आरग्वधादि गण के गरम कषाय से परिषेक दे। मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलैहठी, सारिवा और पद्माख से सिद्ध घी से अभ्यंग करे। तिल, सरसों, अलसी, जौ, इनके चूर्णों को, लसूड़ा, कैथ, मीठा सहजन इनमें मिलाकर क्षार (यवक्षार) और गोमूत्र में पीसकर प्रदेह करे। श्वेत सरसों के कल्क से लेप करे। तिल-अश्वगन्धा के कल्क से लेप करे। प्रियाल, लसूड़ा और कैथ के कल्क का लेप करे। मीठा सहजन, पुनर्नवा का लेप करे। त्रिकटु, कुटकी, शालपर्णी, बड़ी कटेरी, इनको क्षारोदक से पीसकर सुहाता हुआ गरम लेप एक-एक से अलग-अलग, या सबको मिलाकर करे, इस प्रकार से ये पाँच प्रदेह कहे हैं। शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, और बड़ी कटेरी, इनको दूध में पीसके-जौ के सत्तू के साथ मिलाकर लेप करे ॥

संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथमुक्तं मिश्रं कुर्यात् ॥११॥

दोषों के संसर्ग या सन्निपात में कही चिकित्सा को मिलाकर बरते ॥११॥

सर्वेषु च गुडहरीतकीमासेवेत, पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत्, क्षीरौदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च दश वेति, तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति, जीवनीयप्रतीवापं सर्पिःपयसा पाचयित्वाऽभ्यञ्ज्यात् स ह्यसहृदेवा-

चन्दनमूर्वामुस्ताप्रियालशतावरीकशेरुपद्मकमधुकशतपुष्पाविदारीकुष्ठानि क्षीरपिष्टः प्रदेहो घृतमण्डयुक्तः सैरेयकारूषकबलातिबलाजीवन्तीसुषवीकल्को वा छागक्षीरपिष्टः, क्षीरपिष्टः काश्मर्यमधुकतर्पणकल्को वा मधूच्छिष्टमञ्जिष्ठासर्जरससारिवाक्षीरसिद्धं पिण्डतैलमभ्यङ्गः, सर्वेषु च पुराणघृतमामलकरसविपक्वं वा पानार्थं, जीवनीयसिद्धं परिषेकार्थे, काकोल्यादिक्काथकल्कसिद्धं वा सुषवीक्काथकल्कसिद्धं वा, कारवेल्लकक्काथमात्रसिद्धं वा, बलातैलं वा परिषेकावगाहबस्तिभोजनेषु, शालिषष्टिकयवगोधूमान्नमनवं भुञ्जीत पयसा जाङ्गलरसेन वा मुद्गयूषेण वाऽनम्लेन, शोणितमोक्षं चाभीक्ष्णं कुर्वीत; उच्छ्रितदोषे च वमनविरेचनास्थापनानुवासनकर्म कर्तव्यम् ॥१२॥

सब प्रकार के वातरक्त में गुड़ और हरड़ का सेवन करे। पिप्पली को दूध से या पानी से पीसकर पाँच-पाँच बढ़ाते हुए अथवा दस दस बढ़ाते हुए दस दिन तक खाये। भोजन में दूध और भात लेवे। फिर पाँच-पाँच या दस दस क्रमशः कम करता जाये। इस प्रकार पाँच जब तक या दस पर न आ जाये तब तक घटाये। इस विधि को पिप्पली-वर्धमान कहते हैं। यह प्रयोग वातरक्त, विषमज्वर, अरोचक, पाण्डु रोग, प्लीहा, उदर, अर्श, कास, श्वास, शोफ, शोष, अग्निसाद, हृद्रोग और उदर रोग को नष्ट करता है। जीवनीय गण के कल्क से साधित घी से सिद्ध किये दूध से अभ्यंग करे। माषपर्णी, सहदेवा, चन्दन, मूर्वा, मुस्ता, चिरौंजी, शतावरी, कसेरू, पद्माख, मुलैहठी, सौंफ, विदारी, कुष्ठ इनको दूध के साथ पीसकर घृतमण्ड के साथ मिलाकर प्रदेह करे। झिण्टी, अडूसा, बला, अतिबला, जीवन्ती, सुषवी, इनके कल्क का बकरी के दूध में पीसकर लेप करे। गाम्भारी, मुलहठी, जौ का सत्तू, इनको गाय के दूध में पीस कर लेप करे। मोम, मजीठ, राल, सारिवा, दूध इनसे सिद्ध किया तेल अभ्यंग में बरते, इसको पिण्ड तैल कहते हैं (अपरिस्रुत-न छना किट्ट युक्त तेल, पिण्डतेल है)। सब वातरक्त में आँवले के रस से पकाया पुरातन घृत (दस सालका) पीने के लिये देवे। जीवनीय गण से सिद्ध पुरातनघृत परिषेक में बरते। काकोल्यादि क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत परिषेक में बरते। सुषवी के क्वाथ कल्क में सिद्ध किया घृत परिषेक में या करेले के अकेले क्वाथ में सिद्ध घृत परिषेक में बरते। बलातेल को परिषेक, अवगाहन, वस्ति और भोजन में बरते। पुरातन शाली, साठी, जौ और गेहूँ को दूध से मांस रस से या खटाई रहित मूंग के यूष के साथ खाये। बार-बार रक्तमोक्षण करे। दोष के उत्कट होनेपर वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन कर्म करे। (सुषवी—कलौंजी-इत्येके) ॥१२॥

पटोलत्रिफलाभीरुगुडूचीकटुकाकृतम्।
क्वाथं पीत्वा जयत्याशु वातशोणितजां रुजम् ॥१३॥

परवल, त्रिफला, शतावरी, गिलोय और कुटकी, इनका क्वाथ पीने से वातरक्त की तीव्र वेदना शीघ्र शान्त होती है ॥

भवन्ति चात्र—

एवमाद्यैः क्रियायोगैरचिरोत्पतितं सुखम्।
वातासृक् साध्यते वैद्यैर्याप्यते तु चिरोत्थितम् ॥१४॥

इसमें श्लोक भी हैं—इस चिकित्सा से थोड़े काल का उत्पन्न वातरक्त वैद्य अच्छा कर लेते हैं, और देर का उत्पन्न वात रक्त याप्य होता है ॥१४॥

उपनाहपरीषेकप्रदेहाभ्यञ्जनानि च।
शरणान्यप्रवातानि मनोज्ञानि महान्ति च ॥१५॥
मृदुगण्डोपधानानि शयनानि सुखानि च।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते मृदुसंवाहनानि च ॥१६॥

उपनाह, परिषेक, प्रदेह, अभ्यंग, खुली वायु रहित सुन्दर और बड़े विशाल घर, कोमल गोदूम तकिया (मसनद), सुखदायक शय्या और कोमल संवाहन वात रक्त में उत्तम हैं ॥

व्यायामं मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणाशनम्।
दिवास्वप्नमभिष्यन्दि गुरु चान्नं विवर्जयेत् ॥१७॥

व्यायाम, मैथुन, क्रोध, उष्ण-अम्ल-लवण भोजन दिन में सोना, अभिष्यन्दि और गुरु अन्न इसमें त्याज्य-अपथ्य हैं ॥१७

अपतानकिनमस्रस्ताक्षमवक्रभ्रुवमस्तब्धमेढ्रमस्वेदनमवेपनमप्रलापिनमखट्वापातिनमबहिरायामिनं चोपक्रमेत। तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थं, अनन्तरं विदारिगन्धादिक्वाथमांसरसक्षीरदधिपक्वं सर्पिरच्छं पाययेत्, तथा हि नातिमात्रं वायुः प्रसरति, ततो भद्रदार्वादिवातघ्नगणमाहृत्य सयवकोलकुलत्थं सानूपौदकमांसं पञ्चवर्गमेकतः प्रक्वाथ्य तमादाय कषायमम्लक्षीरैः सहोन्मिश्र्य सर्पिस्तैलवसामज्जभिः सह विपचेन्मधुरकप्रतीवापं; तदेतत् त्रैवृतमपतानकिनां परिषेकावगाहाभ्यङ्गपानभोजनानुवासननस्येषु विदध्यात्, यथोक्तैश्च स्वेदविधानैः स्वेदयेत्, बलीयसि वाते सुखोष्णतुषबुसकरीषपूर्णे कूपे निदध्यादामुखात्, तप्तायां वा अङ्गारचुल्ल्यां तप्तायां वा शिलायां सुरापरिषिक्तायां पलाशदलच्छन्नायां शाययेत् कृशरावेशवारपायसैर्वा स्वेदयेत्। मूलकोरुबूकरफूर्जार्जककार्कसप्रलाशङ्खिनीस्वरससिद्धं तैलमपतानकिनां परिषेकादिषूपयोज्यम्। अभुक्तवता पीतमम्लं दधि मरिचवचायुक्तमपतानकं हन्ति, तैलसर्पिर्वसाक्षौद्राणि वा। एतच्छुद्धवातापतानकविधानमुक्तं, संसृष्टे संसृष्टं कर्तव्यम्, वेगान्तरेषु चावपीडं दद्यात्, ताम्रचूडकर्कटकृष्णमत्स्यशिशुमारवराहवसाश्चासेवेत, क्षीराणि वा वातहरसिद्धानि, यवकोलकुलत्थमूलकदधिघततैलसिद्धा वा यवागूः, स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्रा-

हृतवेगमुपक्रमेत्, वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत, रक्षाकर्म च कुर्यादिति ॥१८॥

जिसकी आँख गिरी न हों, भौंहें टेढ़ी न हुई हों, मेहन में स्तब्धता न हो, पसीना और कम्पन न हो, बकवाद न करता हो, खाटपर ही न पड़ा रहनेवाला, बहिरायाम से न पीड़ित ऐसे अपतन्त्रक रोगी की चिकित्सा करे। इसमें सब से प्रथम स्नेह का अभ्यंग करके शरीर में स्वेदन देकर शिर की शुद्धि के लिये तीक्ष्ण अवपीड़न नस्य देवें। इसके पीछे विदारीगन्धादि क्वाथ मांसरस, दूध और दही से सिद्ध घी को अकेला ही पिलाये। क्योंकि इस प्रकार करने से वायु बहुत अधिक नहीं फैलती। फिर भद्रदार्व्यादि वातघ्नगण की औषधियों के साथ जौ, बेर, कुलत्थी, आनूपमांस, पाँचों वर्ग का औदक मांस (कूलचर, प्लव, कोशस्थ, पादी, मछली) इन सबका एक साथ क्वाथ करे। यह क्वाथ, कषाय द्रव्य (बरगद आदि) अम्ल (कांजी, सुरा आदि) दूध इनको मिलाकर, इसमें काकोल्यादि गण का प्रक्षेप डालकर, घी, तैल, वसा, मज्जा, इनको सिद्ध करे। यह त्रैवृत घृत (तैल, वसा मज्जा से घी के युक्त होने के कारण) अपतानक रोगियों के पान, परिषेक, अवगाहन, अभ्यंग, भोजन, अनुवासन और नस्य में बरतना चाहिये। कही हुई स्वेदन विधियों से स्वेद देवे। वायु के बलवान् होने पर सुहाते हुए गरम तुष, भूसा, छानों से भरे गढ़े में मुख तक गाड़ देवे। अंगारों से गरम भट्टी पर या गरम शिलापर सुरा का छिड़काव करके, ढाक के पत्ते बिछाकर सुलाये। तिल-तण्डुल उड़द की खिचड़ी या खीर अथवा कीमिया किये मांस से स्वेद देवे। मूली, एरण्ड, स्फूर्ज, अर्जक, आक सप्तला, शंखिनी, इनके स्वरस से सिद्ध तैल अपतानक रोगी के परिषेक आदि में बरते। बिना भोजन किये खट्टी दही में मरिच, वच मिलाकर पीने से अपतानक रोग नष्ट होता है। तैल, घी, वसा और मधु पीये। यह चिकित्सा शुद्ध (अकेली) वायु जन्य अपतानक की है, दोषों के मिला होने पर मिलाकर चिकित्सा करे। आक्रमणों के मध्य में अवपीड़न नस्य देवे। मुर्गा, कैकड़ा, काली मछली, शिशुमार (नाका) और सुअर की वसा का सेवन करे। वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध पीये। जौ, बेर, कुलत्थी, मूली, दही, घी, तैल से सिद्ध यवागू पीये। दस दिन तक आक्रमण न होने पर स्नेह विरेचन, आस्थापन, अनुवासन से इसकी चिकित्सा करे। वात व्याधि की चिकित्सा करे और रक्षा कर्म करे ॥१८॥

पक्षाघातोपद्रुतमम्लानगात्रं सहजमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत। तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकालमाक्षेपकविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिः, अणुतैलमभ्यङ्गार्थे, साल्वणमुपनाहार्थे, बलातैलमनुवासनार्थे, एवमतन्द्रितस्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथमुपसेवेत ॥१९॥

पक्षाघातवाले जिस रोगी का शरीर या अंग सूखा न हो, वेदना होती हो, जितेन्द्रिय एवं जो साधन सम्पन्न हो, उसकी चिकित्सा करे। इसमें प्रथम ही स्नेह स्वेदन, देकर मृदु संशोधन करके अनुवासन, आस्थापन देकर, समय के अनुसार आक्षेपक चिकित्सा से उपचार करे। इसमें इतना भेद है कि इसमें मस्तिष्क के लिये हितकारी शिरोबस्ति, एवं स्नेह (पिचु) बरती जाती है, अभ्यंग के लिये अणुतैल, उपनाह के लिये बला तैल बरते। इस प्रकार बिना आलस्य के यह चिकित्सा तीन या चार मास करे। इसी से कहा है—

हनुस्तम्भार्दिताक्षेप-पक्षाघातापतानकाः।
कालेन महताऽऽव्यानां यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा ॥१६॥

मन्यास्तम्भेऽप्येतदेव विधानं विशेषतो वातश्लेष्महरैर्नस्यै रूक्षस्वेदैश्चोपचरेत् ॥२०॥

मन्यास्तम्भ में भी यही चिकित्सा है, विशेष कर वात कफ नाशक नस्य देवे, और रूक्ष स्वेद करे ॥२०॥

अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत्, वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत, वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रधमापनैर्मोक्षयेत्, तुम्बुरुपुष्कराह्वहिंग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्काथेन पातुं प्रयच्छेत्, पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धं, वातश्लेष्मापनुच्च कर्म कुर्यात् ।२१।

अपतन्त्रक रोगी को लंघन न कराये। इसे वमन आस्थापन और अनुवासन भी न देवे। वायु-कफ के कारण श्वास काठिन्य होने पर तीक्ष्ण प्रधमन नस्य देवे। तुम्बुरु, पुष्करमूल, हींग, अम्लवेतस, हरड़, सैन्धव, सौवर्चल और विड इनके चूर्ण को जौ के क्वाथ के साथ पीने को देवे। पचास हरड़, सौवचल दो पल, इनसे चार गुणे दूध में सिद्ध किया घी पीने को देवे। वात कफ नाशक चिकित्सा करे ॥२१॥

अर्दितातुरं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकैश्च मस्तिष्क्यशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः ततः सतृणं महापञ्चमूलं काकोल्यादिं विदारिगन्धादिमौदकानूपमांसं तथैवोदककन्दांश्चाहृत्य द्विगुणोदकं क्षीरद्रोणे निःक्वाथ्य क्षीरावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य तैलप्रस्थेनोन्मिश्र्य पुनरग्नावधिश्रयेत्, ततस्तैलं क्षीरानुगतमवतार्य शीतीभूतमभिमथ्नीयात् तत्र यः स्नेह उत्तिष्ठेत्तमादाय मधुरौषधसहाक्षीरयुक्तं विपचेत्, एतत् क्षीरतैलमर्दितातुराणां पानाभ्यङ्गादिषूपयोज्यं, तैलहीनं वा क्षीरसर्पिरक्षितर्पणमिति ॥१२॥

बलवान्, जितेन्द्रिय, साधन सम्पन्न अर्दित रोगी की वातव्याधि चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करे। विशे-

षतः—मस्तिष्क के लिये हितकारी शिरोवस्ति, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेहन, नाड़ी स्वेद आदि से चिकित्सा करे। पंचतृणमूल, बिल्वादि महा पंचमूल, काकोल्यादि गण, विदारीगन्धादि गण, औदकमांस, आनूपमांस, उदककन्द (सिंघाड़ा, कमलकन्द आदि) इनको लाकर सबका एक आढ़क, जल दो द्रोण, दूध एक द्रोण लेकर क्वाथ करे। जब दूध एक द्रोण रह जाये, तब इसे उतारकर छान ले। फिर इसमें एक प्रस्थ तैल मिलाकर पुनः अग्नि पर पकाये। जब तैल दूध में मिल जाये तब इसको उतारकर ठण्डा होने दे, ठण्डा होने पर इसको मथे। इससे जो तेल निकले उसको लेकर, उसे काकोल्यादि गण, मुद्गपर्णी और दूध के साथ पकाये। यह क्षीर तैल अर्दित रोगियों के पान, अभ्यंग आदि में बरतना चाहिये। तैल के बिना मिलाये दूध का घी, आँखों के तर्पण के लिये श्रेष्ठ है।२२।

गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातकण्टकपाददाहपादहर्षावबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च शिराव्यधं कुर्यात्, अन्यत्रावबाहुकात्, वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत ॥२३॥

गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुकशीर्ष, खंज, पंगुल, वातकण्टक, पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बाधिर्य, धमनी गत वात रोगों में कहे के अनुसार, उद्देश्य के विचार से सिरावेध करे। अवबाहुक में सिरावेध न करे। वातव्याधि की चिकित्सा भी बरते ॥२३॥

कर्णशूले तु शृङ्गवेररसं तैलमधुसंसृष्टं सैन्धवोपहितं सुखोष्णं कर्णे दद्यात् अजामूत्रमधुतैलानि वा, मातुलुङ्गदाडिमतिन्तिडीकस्वरसमूत्रसिद्धं तैलं, शुक्तसुरातक्रमूत्रलवणसिद्धं वा, नाडीस्वेदैश्च स्वेदयेत्, वातव्याधिचिकित्सां चावेक्षेत; भूयश्चोत्तरे वक्ष्यामः ॥२४॥

कर्णशूल में अदरक का रस, तैल, मधु, सैन्धव मिलाकर थोड़ा गरम करके डाले। बकरी का मूत्र, मधु या तैल डाले। बिजौरा, दाडिमी, तिन्तिडीक (इमली), इनके स्वरस और गोमूत्र में सिद्ध तैल कान में डाले। शुक्त, सुरा, तक्र, मूत्र और नमक में सिद्ध तैल डाले। नाड़ी स्वेद करे। वातव्याधि की चिकित्सा करे। अधिक उत्तर स्थान में कहेंगे ॥२४॥

तूनीप्रतून्योः स्नेहलवणमुष्णोदकेन पाययेत्, पिप्पल्यादिचूर्णं वा हिङ्गुयवक्षारप्रगाढं वा सर्पिः बस्तिभिश्चैनमुपक्रमेत ॥२५॥

तूनी, प्रतूनी में स्नेह लवण को गरम जल से पिलाये। पिप्पल्यादि चूर्ण को पिलाये। प्रचुर मात्रा में हींग और यवक्षार मिलाकर घी देवे। बस्तियों से चिकित्सा करे ॥२५॥

आध्माने त्वपतर्पणपाणितापं (दीपनचूर्णं) फलवर्तिक्रियापाचनीयदीपनीयबस्तिभिरुपाचरेत्, लंघनानन्तरं चान्नकाले धान्यकजीरकादिदीपनसिद्धान्यन्नानि। प्रत्याध्माने छर्दनापतर्पणदीपनानि कुर्यात् ॥२६॥

आध्मान में अपतर्पण, हाथों को गरम करके उदर पर सेकें। (दीपन चूर्ण), फलवर्त्ति प्रयोग, दीपनीय पाचनीय औषधियों से तथा बस्तियों से चिकित्सा करे। लंघन के पीछे, भोजन के समय में धनिया जीरा आदि दीपनीय औषधियों से सिद्ध अन्न देवे। प्रत्याध्मान में वमन अपतर्पण, दीपन आदि उपचार करे ॥२६॥

अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यन्तरविद्रधिवत् क्रियाविभाग इति ॥२७॥

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला में गुल्म और अभ्यन्तर विद्रधि की भाँति चिकित्सा करे ॥२७॥

हिङ्गुत्रिकटुवचाजमोदाधान्याजगन्धादाडिमतिन्तिडीकपाठाचित्रकयवक्षारसैन्धवविडसौवर्चलस्वर्जिकापिप्पलीमूलाम्लवेतसशटीपुष्करमूलहपुषाचव्याजाजीपथ्याश्चूर्णयित्वा मातुलुङ्गाम्लेन बहुशः परिभाव्याक्षमात्रा गुटिकाः कारयेत्। ततः प्रातरेकैकां वातविकारी भक्षयेत- एष योगः कासश्वासगुल्मोदरारोचकहृद्रोगाध्मानपार्श्वोदरबस्तिशूलानाहमूत्रकृच्छ्रप्लीहार्शस्तूनीप्रतूनीरपहन्ति ।।

हिंग्वादि चूर्ण—हींग, सोंठ, मरिच, पीपल, वच, अजवायन, धनियाँ, अजगन्धा, दाड़िमी, इमली, पाठा, चित्रक, यवक्षार, सैन्धव, विड, सौवर्चल, सर्जक्षार, पिप्पलामूल, अम्लवेतस, कचूर, पुष्कर मूल, हाऊबेर, चव्य, जीरा, हरड़, इनको चूर्ण करके बिजौरा के रस से बहुत बार (सातवार या इक्कीसबार) भावित करके कर्ष परिमाण की गोलियाँ बना लेवे। इनमें से एक एक गोली प्रातः वातविकार रोगी खायें। यह योग कास, श्वास, गुल्म, उदर, अरोचक, हृद्रोग, आध्मान, पार्श्वशूल, उदरशूल, वस्तिशूल, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहा, अर्श, तूनी, प्रतूनी को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इसमें क्षार, हींग, अम्लवेतस दुगुने मिलाने चाहिये, यथा—यच्चूर्णं गुटिकायाश्च कर्त्तव्या वातगुल्मिनाम्। द्विगुणक्षारहिंग्वम्लवेतसास्ता हिताः स्मृताः ॥ चरक में—

हिंगुत्रिकटुकापाठां हपुषामभयां शटीम्।
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिड़ीकाम्लवेतसौ ॥
दाडिमं पुष्करं धान्यं अजाजी चित्रकं वचाम्।
द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥
चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यं अनुपानेष्वनत्ययम्।
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ॥
भाविता मातुलुंगस्य चूर्णमेतद् रसेन वा।
बहुशो गुटिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ॥

भवति चात्र—

केवले दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिलः।

विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्चाविरोधतः ॥२९॥

इस विषय में श्लोक भी हैं—शुद्ध वायु को दोषों से युक्त वायु को, या रसादि धातुओं से आवृत वायु को, लक्षण और तर्क से जानना चाहिये, बिना दूसरे के विरोध के इसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—वायु का प्राण-अपान आदि से आवरण होने पर बीस भेद चरक में कहे हैं, यथा—

मारुतानां च पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु ।
लिंगं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघ ॥
प्राणो वृणोत्युदानाद्यान् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च ।
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ॥
विंशत्यावरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् ।
मारुतानां तु पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ॥२९॥

रुजावन्तं घनं शीतं शोफं मेदोयुतोऽनिलः ।
करोति यस्य तं वैद्यः शोथवत् समुपाचरेत् ॥३०॥

मेद से मिली वायु-वेदनाशील, मोटी शीतल शोथ को उत्पन्न करती है। इसकी चिकित्सा शोथ की भाँति करे ॥३०॥

कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते ।
तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः ॥३१॥
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ ।
गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते ॥३२॥
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ।

कफ और मेद से आवृत वायु जब ऊरु में पहुँच जाती है, तब अंगों का टूटना, स्तिमितता, रोमांच, वेदना, ज्वर, नींद का न आना, स्तब्धता, शीतलता, चेतना का अभाव, भारीपन, नरम तथा रोगी अपने ऊरु को अपना ही नहीं समझता। इस रोग को ऊरुस्तम्भ कहते हैं। दूसरे आढ्यवात कहते हैं। चरक में—

"जंघोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चलने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यनेयौ हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥
यदा दाहार्तितोदार्त्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम्" ॥३१,३२॥

स्नेहवर्जं पिबेत्तत्र चूर्णं षड्धरणं नरः ॥३३॥
हितमुष्णाम्बुना तद्वत् पिप्पल्यादिगणैः कृतम् ।
लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णं क्षौद्रेण कटुकान्वितम् ॥३४॥
मूत्रैर्वा गुग्गुलं श्रेष्ठं पिबेद्वाऽपि शिलाजतु ।
ततो हन्ति कफाक्रान्तं समेदस्कं प्रभञ्जनम् ॥३५॥

इसमें मनुष्य घी-तैल-वसा-मज्जा-सब स्नेह को छोड़कर षड्धरण योग (चित्रकेन्द्रयवपाठा आदि) को गरम पानी से या पिप्पल्यादि गण के चूर्ण से पीये। त्रिफला चूर्ण में मरिच आदि कटु द्रव्य मिलाकर मधु के साथ चाटे। मूत्र के साथ महिषाक्षगुग्गुल या शिलाजीत को पीये। इससे कफ द्वारा आक्रान्त मेद युक्त वायु नष्ट होती है। हृदयरोग, अरुचि, गुल्म, और अन्तः विद्रधि नष्ट होती है।

"वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्राद् उद्धरणं तथा ॥
तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम् ।
न चैव वमनं यस्मात् तन्निबोधत कारणम् ॥"
चरक ॥३३-३५॥

हृद्रोगमरुचिं गुल्मं तथाऽभ्यन्तरविद्रधिम् ।
सक्षारमूत्रस्वेदांश्च रूक्षाण्युत्सादनानि च ॥३६॥
कुर्याद्दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करञ्जफलसर्षपैः ।

यवक्षार के साथ मूत्र से स्वेद देवे, रूक्ष उत्सादन बरते। करंजफल और सरसों को प्रचुर मूत्र के साथ पीसकर लेप करे॥

भोज्याः पुराणश्यामाककोद्रवोद्दालशालयः ॥३७॥
शुष्कमूलकयूषेण पटोलस्य रसेन वा ।
जाङ्गलैरघृतैर्मांसैः शाकैश्चालवणैर्हितैः ॥३८॥

पुरातन सांवक, कोदो, उद्दालक, शालि, इनको सूखी मूली के यूष से या परवल के रस से खाये। जांगल मांसों अथवा रसों में घी मिलाकर तथा नमक रहित शाकों के साथ खाये॥

यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी ।
तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत् ॥३९॥

जब कफ और मेद बहुत क्षीण हो जायें, तब फिर इसमें स्नेहन आदि कर्म करे ॥३९॥

सुगन्धिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसे ।
कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः ॥४०॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वपकर्षणः ।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत् ॥४१॥
सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः ।
तं प्रातस्त्रिफलादार्वीपटोलकुशवारिभिः ॥४२॥
पिबेदावाप्य वा मूत्रैः क्षारैरुष्णोदकेन वा ।
जीर्णे यूषरसैः क्षीरैर्भुञ्जानो हन्ति मारुतः ॥४३॥
गुल्मं मेहमुदावर्तमुदरं सभगन्दरम् ।
कृमिकण्ड्वरुचिश्वित्राण्यर्बुदं ग्रन्थिमेव च ॥४४॥
नाड्याढ्यवातश्वयथून् कुष्ठदुष्टव्रणांश्च सः ।
कोष्ठसन्ध्यस्थिगं वायुं वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥४५॥

गुग्गुल सुगन्धि, अति लघु (हल्का), सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण, रस में कटु, विपाक में कटु, सर, हृद्य, स्निग्ध एवं पिच्छिल है। इसमें नया गुग्गुल बृंहण और वृष्य है, और पुराना गुग्गुल अपकर्षण करता है। तीक्ष्ण और उष्ण होने से कफ वात नाशक सर होने से मलपित्त नाशक है, सुगन्धित होने से कोष्ठ की दुर्गन्ध को नष्ट करता है, सूक्ष्म होने से अग्नि वर्धक है। इस गुग्गुल

को त्रिफला, दारु हल्दी, पटोल, कुशा इनके क्वाथ में या गोमूत्र में अथवा क्षारोदक में अथवा गरमजल में घोलकर प्रायः पीये। इसके पच जाने पर—यूष से, मांस रस से या दूध के साथ भोजन करे। इस प्रकार एक मांस सेवन करने पर गुल्म, प्रमेह, उदावर्त्त, उदर, भगन्दर, कृमि, कण्डु, अरुचि, श्वित्र, अर्बुद, ग्रन्थि, नाड़ी, आढ्यवात, श्वयथु, कुष्ठ, दुष्टव्रण, कोष्ठगत-सन्धिगत और अस्थिगत वायु नष्ट होती है, जिस प्रकार कि बिजली से वृक्ष नष्ट होते हैं ॥४०-४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महावातव्याधिचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अर्शों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा—भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति। तत्र, अचिरकालजातान्यल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि, मृदुप्रसृतावगाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण, कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना, तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण। तत्र भेषजसाध्यानामर्शसामदृश्यानां तु भेषजं भवति, क्षाराग्निशस्त्रसाध्यानां तु विधानमुच्यमानमुपधारय ॥३॥

अर्शों की चिकित्सा चार प्रकर की है। यथा—भेषज, क्षार, अग्नि और शस्त्र। इनमें नूतन उत्पन्न हुए, थोड़े लक्षण एवं थोड़े उपद्रववाले अर्श औषध साध्य हैं। कोमल, फैले हुए गहरे गये या ऊपर को उभरे अर्श क्षार साध्य हैं। कर्कश, स्थिर चपटे और कठिन अर्श अग्निसाध्य हैं। पतले मूलवाले, ऊपर को नहीं उठे और क्लेदवाले अर्श शस्त्रसाध्य हैं। इसमें भेषज से चिकित्सा करने योग्य तथा न दीखनेवाले अर्शों में औषध से उपचार किया जाता है। क्षार, अग्नि और शस्त्र की विधि को मुझसे सुनो।

"तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना॥
अस्त्येतद् भूरि तन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तस्य च दारुणः॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्" ॥३॥

तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नमनिलवेदनाभिवृद्धिप्रशमार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तमुपवेश्य संवृ (स्तृ) ते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानं किञ्चिदुन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्टं यन्त्रणाशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थि परिकर्मिभिः सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा ततोऽस्मै घृताभ्यक्तगुदाय घृताभ्यक्तं यन्त्रमृज्वनुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय, प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य, शलाकयोत्पीड्य, पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य, क्षारं पातयेत्। पातयित्वा च पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय वाक्छतमात्रमुपेक्षेत, ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं चावेक्ष्य पुनरालेपयेत्, अथार्शः पक्वजाम्बवप्रतीकाशमवसन्नमीषन्नतमभिसमीक्ष्योपावर्तयेत्, क्षारं प्रक्षालयेद्धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा, ततो यष्टीमधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यन्त्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्, अशीताभिरित्येके, ततो निर्वातमागारं प्रवेश्याचारिकमादिशेत्, सावशेषं पुनर्दहेत्, एवं सप्तरात्रादेकैकमुपक्रमेत, तत्र बहुषु पूर्वं दक्षिणं साधयेत्, दक्षिणाद्वामं वामात् पृष्ठजं, ततोऽग्रजमिति ॥४॥

अर्श रोग से पीड़ित बलवान् रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर, बढ़ी हुई वायु की वेदना को शांत करने के लिये, स्निग्ध उष्णद्रव बहुल अन्न को थोड़ी सी मात्रा में देकर, एकान्त तथा पवित्र स्थान में, न बहुत गरम, न बहुत ठण्डे बादल रहित दिन में, समतल फलक या शय्या पर बिठाये। रोगी की गुदा को सूर्य के सामने रक्खे। रोगी का नाभि से ऊपर का भाग दूसरे मनुष्य की गोदी में चित (उत्तान-मुख को ऊपर रखकर) रखवाये। कटि के नीचे वस्त्र या कम्बल की ऐंडवी (गद्दी) रखकर कटि प्रदेश को कुछ ऊंचा उठाये। फिर यंत्र शाटिका को ग्रीवा और टांगों में बँधवाकर, सहायकों से भली प्रकार पकड़वाये, जिससे कि रोगी हिल न सके। फिर गुदा में घृत का अभ्यङ्ग करके, घी से स्निग्ध यंत्र को, सीधा गुदा-मुख के साथ साथ गुदा में धीरे-धीरे, रोगी के प्रवाहण करते रहने पर प्रविष्ट करे। यंत्र के गुदा में पहुँच जाने पर अर्श को देखकर, शलाका से दबाकर, रूई के फोये या वस्त्र से साफ करके क्षार लगाए। क्षार लगाकर, हाथ से यन्त्र द्वार को बन्द करके एक सौ गिनने के समय तक प्रतीक्षा करे। फिर क्षार को साफ करके क्षार बल और रोग की शक्ति को देखकर फिर क्षार लगाये। यदि अर्श पके हुए जामुन के समान रंग के, दबे, थोड़े झुके हों तो क्षार लगाना बन्द कर दे। क्षार को कांजी, दही, मस्तु, शुक्त या बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस से धोये। फिर मुलैहठी मिले घी को लगाकर जलन शान्त करे। यंत्र निकालकर, रोगी को उठाकर गरम पानी में बिठाये और शीतल जल से स्नान कराये। कई आचार्य कहते हैं कि गरम पानी से स्नान कराये, तत्पश्चात् वायुरहित

घर में प्रवेश कराकर आहार-विहार की व्याख्या करे। जड़ समेत सम्पूर्ण रूप में इनको फिर जलाये। इस प्रकार से सात-सात दिन के अन्तर से एक एक अर्श की चिकित्सा करे। बहुत अर्श होने पर पहले दक्षिण पार्श्व के अर्श जलाये, दक्षिण के पीछे वाम पार्श्व के, वाम पार्श्व के पीछे पीठ की तरफ के, पीठ के बाद सामने के अर्श जलावे।

वक्तव्य—क्षारपरिमाण—"क्षारमात्रा नखोत्सेधप्रमाणाऽऽद्या प्रकीर्तिता। द्विगुणा मध्यमा मात्रा त्रिगुणा महती मता। पित्ते श्लेष्मणि वाते च यथासंख्यं प्रयोजयेत्॥" जलने का रंग—"पक्वजाम्बवकाशमर्यवर्णदग्धेऽनिलार्शसि। पित्तजे भृंगमायूरकण्ठवर्णे विनिर्दिशेत्॥ बृहतीपुष्पवर्णत्वं सम्यग् दग्धे कफार्शसि॥"

कफ वातानुबन्ध में गरम पानी में बिठाये तथा स्नान कराये। रक्त-पित्तार्श में शीतल जल में बिठाये और शीतल जल से स्नान कराये॥४॥

तत्र वातश्लैष्मनिमित्तान्यग्निक्षाराभ्यां साधयेत्, क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि॥५॥

इसमें वात-कफजन्य अर्शों की चिकित्सा अग्नि और क्षार से करनी चाहिये। पित्त-रक्तजन्य अर्शों की मृदु क्षार से चिकित्सा करे॥५॥

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिरग्निदीप्तिर्लाघवं बलवर्णोत्पत्तिर्मनस्तुष्टिरिति सम्यग्दग्धलिङ्गानि, अतिदग्धे तु गुदावदरणं दाहो मूर्च्छा ज्वरः पिपासा शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा भवन्ति। श्यामाल्पव्रणता कण्डूरनिलवैगुण्यमिन्द्रियाणामप्रसादो विकारस्य चाशान्तिर्हीनदग्धे॥६॥

इसमें वात की अनुलोमता, अन्न में रुचि, अग्नि की प्रदीप्ति, लघुता, बल वर्ण का बढ़ना, और मन की प्रसन्नता-ये सम्यक् दग्ध के लक्षण हैं। अतिदग्ध में गुदा का फटना, दाह, मूर्च्छा, ज्वर, प्यास, रक्त की अतिप्रवृत्ति और रक्तजन्य उपद्रव होते हैं। हीन दग्ध में कृष्ण श्याम वर्ण, थोड़ा व्रण (चिन्ह) होना, कण्डु, वायु की विपरीतता, इन्द्रियों की अशुद्धि और रोग का शान्त न होना होता है॥६॥

महान्ति च प्राणवतश्छित्त्वा दहेत्, निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद्विना स्वेदाभ्यङ्गस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणलेपक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत्, प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन, भिन्नपुरीषाणि चातीसारविधानेन, बद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेनोदावर्तविधानेन वा, एवं सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः॥७॥

शक्ति सम्पन्न रोगी के बड़े अर्शों को शस्त्र से काटकर अग्नि से जलाये। बाहर निकले हुए, अतिशय दोषों से भरे अर्शों को, यंत्र के बिना ही, स्वेदन, अभ्यंग, स्नेह के अवगाहन, उपनाह, रक्तमोक्षण, आलेप, क्षार, अग्नि या शस्त्र से चिकित्सा करे। जिनमें से रक्त बहता हो, उनकी रक्तपित्त विधि से चिकित्सा करे। जिनको अतिसार हो, उनकी अतिसार विधि से चिकित्सा करे। जिनको मलबन्ध रहता हो, उनको स्नेहपान विधि से और उदावर्त्त विधि से चिकित्सा करे। यह मेहन-कान-नाक आदि सब स्थानों के अर्शों के जलाने की विधि हैं॥७॥

आसाद्य च दर्वीकूर्चकशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत्। भ्रष्टगुदस्य तु बिना यन्त्रेण क्षारादिकर्म प्रयुञ्जीत। सर्वेषु च शालिषष्टिकयवगोधूमान्नं सर्पिःस्निग्धमुपसेवेत पयसा निम्बयूषेण पटोलयूषेण वा, यथादोषं शाकैर्वास्तूकतण्डुलीयकजीवन्त्युपोदिकाश्वबलाबालमूलकपालङ्क्यसनचिल्लीचुच्चूकलायवल्लीभिरन्यैर्वा। यच्चान्यदपि स्निग्धमग्निदीपनमर्शोघ्नं सृष्टमूत्रपुरीषं च तदुपसेवेत॥८॥

अर्श को देखकर, कड़छी, कूर्च, शलाका इनमें से किसी एक से अर्श पर क्षार लगाये। जिस रोगी की गुदा निकलती हो, उसमें यंत्र के विना ही क्षार आदि कर्म करे। सब अर्शों में शाली, सांठी, जौ, गेहूँ के अन्न को घी से स्निग्ध बनाकर, दूध से, नीम के यूष से या परवल के यूष से खाये। अथवा दोष के अनुसार बथुवा, चौलाई, चिल्ली, चुच्चु, मटर, वल्ली (कूष्माण्ड) आदि या अन्य शाकों के साथ खाये। इसके सिवाय जो भी कोई अग्नि दीपक, स्निग्ध, अर्शनाशक, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाला हो, उसका सेवन करे।

"यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधं द्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः॥
यदतो विपरीतं स्यात् निदाने यत्प्रदर्शितम्।
गुदजाभिपरीतेन तत्सेव्यं न कथंचन॥"

चरक॥८॥

दग्धेषु चार्शःस्वभ्यक्तोऽनलसन्धुक्षणार्थमनिलप्रकोपसंरक्षणार्थं च स्नेहादीनां सामान्यतः क्रियापथमुपसेवेत। विशेषतस्तु वाताशःसु सर्पींषि च वातहरदीपनीयसिद्धानि हिङ्ग्वादिभिश्चूर्णैः प्रतिसंसृज्य पिबेत्, पित्तार्शःसु पृथक्पर्ण्यादीनां कषायेण दीपनीयप्रतीवापं सर्पिः, शोणितार्शःसु मञ्जिष्ठामुरुङ्ग्यादीनां कषाये पाचयेत्, श्लेष्मार्शःसु सुरसादीनां कषाये। उपद्रवांश्च यथास्वमुपाचरेत्॥९॥

अर्शों के जलने पर भली प्रकार से अभ्यंग करके अग्नि को बढ़ाने के लिये और वायु के प्रकोप से बचने के लिये स्नेह आदि का सम्पूर्ण रूप से अर्शनाशक विधि से चिकित्सा में प्रयोग करे। विशेषकर के वाताशों में—भद्रदार्व्यादि वातनाशक, पिप्पल्यादि दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध घृतों में हिंग्वादि चूर्ण मिलाकर पीये। पित्तार्शसों में—पृश्निपर्णी आदि के कषाय से सिद्ध घृत में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप मिलाकर पीये। शोणितार्श में घी को मंजिष्ठा मुरंगी आदि गण (वरुणादि गण के

अन्तर्गत) के कषाय में सिद्ध करे। कफज अर्शों में घी को मुस्तादि गण के कषाय में सिद्ध करे। उपद्रवों की दोषों के अनुसार चिकित्सा करे ॥ ९ ॥

परं च यत्नमास्थाय गुदे क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेत्, तद्विभ्रमाद्धि षाण्ड्यशोफदाहमदमूर्च्छाटोपानाहातीसारप्रवाहणानि भवन्ति मरणं वा ॥ १० ॥

बहुत ही सावधानी के साथ गुदा में क्षार कर्म, अग्निकर्म और शस्त्र कर्म करना चाहिये। क्योंकि इनमें भूल होने से नपुंसकता, शोफ, दाह, मद, मूर्च्छा, आटोप, आनाह अतिसार, प्रवाहिका या मृत्यु हो जाती है ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वं यन्त्रप्रमाणमुपदेक्ष्यामः - तत्र यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं पुंसां षडङ्गुलपरिणाहं नारीणां तलायतं, तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थम्, एकच्छिद्रं तु कर्मणि, एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति, छिद्रप्रमाणं तु त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरपरिणाहं, यदङ्गुलमवशिष्टं तस्यार्धाङ्गुलादधस्तादर्धाङ्गुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकम्, एष यन्त्राकृतिसमासः ॥ ११ ॥

इसके आगे अर्शयंत्र का प्रमाण कहते हैं—यंत्र लोहे का, दाँतका, सींग का, या वृक्षका बनाना चाहिये। इसका आकार गाय के स्तन जैसा, चार अंगुल लम्बा और पाँच अंगुल घेरेका, पुरुषों के लिये, स्त्रियों के लिये छः अंगुल मोटाई के तले पर चपटा दर्शन के लिये दो छिद्र का, अग्नि क्षार शस्त्र कर्म के लिये एक छिद्र का होना चाहिये। क्योंकि एक रास्ता होने से शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म का अतिक्रम नहीं होता (गल्ती नहीं होती)। छिद्र का प्रमाण-तीन अंगुल, लम्बा, अंगूठे की मोटाई के बराबर (गोलाई) का होना चाहिये। इसके बाद जो एक अंगुल बचता है, उसमें आधा अंगुल नीचे, आधा अंगुल ऊँची उठी ऊपर में गोल कर्णिका होनी चाहिये। यंत्र का आकार संक्षेप में ऐसा है ॥ ११ ॥

अत ऊर्ध्वमर्शसामालेपान् वक्ष्यामः—स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः प्रथमः, कुक्कुटपुरीषगुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः, दन्तीचित्रकसुवर्चिकालाङ्गलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीयः, पिप्पलीसैन्धवकुष्ठशिरीषफलकल्कः स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थः, कासीसहरितालसैन्धवाश्वमारकविडङ्गपूतीकक्रुतवेधनजम्ब्वर्कोत्तमारणीदन्तीचित्रकालर्कस्नुहीपयःसु तैलं विपक्वमभ्यञ्जनेनार्शः शातयति ॥ १२ ॥

इसके आगे अर्शों के लिये लेपों को कहेंगे—१—हल्दी के चूर्ण को थोर के दूध में मिलाकर लगाये, यह पहला लेप है। २—मुर्गे की बीठ १ रत्ती, हल्दी, पिप्पलीचूर्ण इनको गोमूत्र में पीसकर लगाये। ३—दन्ती, चित्रक, हुलहुल, कलिहारी इनका कल्क गोमूत्र में पीसकर लगाये। ४—पिप्पली, सैन्धव, कुष्ठ, शिरीष फल, इनका कल्क थोर के दूध या आक के दूध में पीसकर लगाये। ५—कासीस, हरताल, सैन्धव, कनेर, वायविडङ्ग, करञ्ज, अमलतास, जामुन, आक का दूध, उत्तमारणी (उत्तमवारुणी-पाठान्तर में इन्द्रायण), जमालगोटा, चित्रक, श्वेत फूल का मन्दार (आक) का दूध, थोर का दूध, इनसे सिद्ध किया तैल लगाने पर अर्श नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

अत ऊर्ध्वं भेषजसाध्येष्वर्शःसु योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः—प्रातः प्रातर्गुडहरीतकीमासेवेत, ब्रह्मचारी गोमूत्रद्रोणसिद्धं वा हरीतकीशतं प्रातः प्रातर्यथाबलं क्षौद्रेण, अपामार्गमूलं वा तण्डुलोदकेन सक्षौद्रमहरहः, शतावरीमूलकल्कं वा क्षीरेण, चित्रकचूर्णयुक्तं वा सीधुं परार्ध्यं, भल्लातचूर्णयुक्तं वा सक्तुमन्थमलवणं तक्रेण, कलशे वाऽन्तश्चित्रकमूलकल्कावलिप्ते निषिक्तं तक्रमम्लमनम्लं वा पानभोजनेषूपयुञ्जीत, एष एव भार्ग्यास्फोतायवान्यामलकगुडूचीषु तक्रकल्पः, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकविडङ्गशुण्ठीहरीतकीषु च पूर्ववदेव, निरन्नो वा तक्रमहरहर्मासमुपसेवेत, शृङ्गवेरपुनर्नवाचित्रककषायसिद्धं वा पयः कुटजमूलत्वक्फाणितं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं क्षौद्रेण, महावातव्याध्युक्तं हिङ्ग्वादिचूर्णमुपसेवेत तक्राहारः क्षीराहारो वा क्षारलवणांश्चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेत्, चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धं वा पयः पलाशतरुक्षारसिद्धं वा, पलाशतरुक्षारसिद्धान् वा कुल्माषान्, पाटलापामार्गबृहतीपलाशक्षारं वा परिस्रुतमहरहर्घृतसंसृष्टं, कुटजबन्दाकमूलकल्कं वा तक्रेण, चित्रकपूतीकनागरकल्कं वा पूतीकक्षारेण क्षारोदकसिद्धं वा सर्पिः पिप्पल्यादिप्रतीवापं, कृष्णतिलप्रसृतं प्रकुञ्चं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत शीतोदकानुपानम्; एभिरभिवर्धतेऽग्निरर्शांसि चोपशाम्यन्ति ॥ १३ ॥

इसके आगे औषधसाध्य, न दीखनेवाले अर्शों के लिये योगों को यापनार्थ कहते हैं—प्रतिदिन गुड़ और हरड़ का सेवन करे। ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके एक द्रोण गोमूत्र में सिद्ध की हुई एक सौ हरड़ों में से प्रातःकाल प्रतिदिन बल के अनुसार खाये। प्रतिदिन चिरचिरे की जड़ को मधु मिश्रित चावलों के पानी से पीये। शतावरीमूल कल्क को दूध से पीये। चित्रकचूर्ण युक्त सीधु को पीये। भिलावे चूर्ण मिश्रित-जौ के सत्तू को (भिलावे के चूर्ण से जौ का सत्तू सोलह गुण) नमक रहित तक्र के साथ पीये। अथवा घड़े के अन्दर चित्रकमूल का कल्क लगाकर इसमें रखा हुआ खट्टा या खट्टाई रहित तक्र खान-पान में बरते। इसी विधि से भार्गी, अनन्तमूल, अजवायन, आंवला, गिलोय में तक्र कल्क करे। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, वायविडंग, सोंठ, हरड़, में भी पूर्व की भाँति कल्प करे। अन्न के बिना प्रतिदिन तक्र को ही १ मास पीये। सोंठ, पुनर्नवा,

चित्रक के कषाय में सिद्ध दूध पीये। कुटजमूल की रसक्रिया में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप देकर मधु से खाये। तक्र का या दूध का ही आहार करते हुए महावात व्याधि में कहा हिंग्वादि चूर्ण खाये। क्षार लवणों से या चित्रकमूल के क्षारोदक में सिद्ध कुल्माषों (अर्धस्विन्न गेहूँ या जौ को) को खाये। पाटला, चिरचिटा, बड़ी कटेरी, ढांक का क्षार, इनको घोलकर नितार कर घी में मिलाकर प्रतिदिन पीये। कुटजमूल वन्दाकमूल के कल्क को तक्र के साथ खाये। चित्रक, करञ्ज, सोंठ इनके कल्क को करञ्ज क्षार से खाये। क्षारोदक से सिद्ध घृत में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप देकर बरते। शीतल जल के अनुपान काले तिल के दो पल या एक पल प्रतिदिन प्रातः काल खाये। इनसे अग्नि बढ़ती है, और अर्श शान्त होते हैं।

अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च।
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः॥
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः।
तक्रदोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत्॥
हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु॥ १३॥
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनाम्॥
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्त्तते।
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे॥ चरक॥

वि० मन्तव्य—यापनार्थं—इन योगों का सेवन करने से रोग दबा रहता है॥ १३॥

द्विपञ्चमूलीदन्तीचित्रकपथ्यानां तुलामाहृत्य जलचतुर्द्रोणे विपाचयेत्, ततः पादावशिष्टं कषायमादाय सुशीतं गुडतुलया सहोन्मिश्रय घृतभाजने निक्षिप्य मासमुपेक्षेत यवपल्ले, ततः प्रातः प्रातर्मात्रां पाययेत्, तेनार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगोदावर्तारोचका न भवन्ति दीप्तश्चाग्निर्भवति॥

दशमूल, दन्ती, चित्रक और हरड़ इनके एक सौ पल लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। जब चौथाई शेष रह जावे तब उतारकर छानकर इसमें एक सौ पल गुड़ मिलाकर घृत से चिकने पात्र में भरकर एक मास तक जौ के ढेर में रख दे। फिर प्रतिदिन इसमें से मात्रा में पीये। इससे अर्श, ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, उदावर्त्त, अरोचक नहीं रहते हैं और अग्नि बढ़ती है॥ १४॥

पिप्पलीमरिचविडङ्गैलवालुकलोध्राणां द्वे द्वे पल, इन्द्रवारुण्याः पञ्च पलानि, कपित्थमध्यस्य दश, पथ्याफलानामर्धप्रस्थः, प्रस्थो धात्रीफलानां, एतदैकध्यं जलचतुर्द्रोणे विपाच्य, पादावशेषं परिस्राव्य, सुशीतं गुडतुलाद्वयेनोन्मिश्रय, घृतभाजने निक्षिप्य, पक्षमुपेक्षेत यवपल्ले; ततः प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत। एष खल्वरिष्टप्लीहाग्निसंगार्शोग्रहणीहृत्पाण्डुरोगशोफकुष्ठगुल्मोदरकृमिहरो बलवर्णकरश्चेति॥ १५॥

पिप्पली, मरिच, विडंग, ऐलवालुक, लोध, दो दो पल, इन्द्रायण पाँच पल, कैथ का गूदा दस पल, हरड़ के फल आधा प्रस्थ, आँवले एक प्रस्थ इन सबको लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर छानकर इसमें दो सौ पल गुड़ को घोलकर घृत के पात्र में भरकर पन्द्रह दिन जौ के ढेर में रख देवे। फिर प्रतिदिन प्रातः बल के अनुसार सेवन करे। यह अरिष्ट प्लीहा, अग्निमान्द्य, अर्श, ग्रहणी, हृदयरोग, पाण्डुरोग, शोक, कुष्ठ, गुल्म, उदर, कृमि को नष्ट करता है, बल और वर्ण को बढ़ाता है॥ १५॥

तत्र, वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषिद्धं, पित्तजेषु विरेचनम्, एवं रक्तजेषु संशमनं, कफजेषु शृंगवेरकुलत्थोपयोगः, सर्वदोषहरं यथोक्तं सवजेषु, यथास्वौषधिसिद्धं च पयः सर्वेष्विति॥

वातबहुल अर्शों में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन विरुद्ध नहीं हैं। पित्तज अर्शों में विरेचन, रक्तज अर्शों में संशमन, कफजन्यों में सोंठ और कुलथी का योग निषिद्ध नहीं है। सन्निपातजन्य अर्शों में कही हुई सर्व दोषहर चिकित्सा बरते। अपने २ दोषहर औषधियों से सिद्ध दूध सब में देना चाहिये।

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्।
शोणितं दोषमनिलं तद् रोगान् जनयेद् बहून्॥
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम्॥
हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्॥
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥
चरक चि० अ० १४॥ १६॥

अत ऊर्ध्वं भल्लातकविधानमुपदेक्ष्यामः—भल्लातकानि परिपक्वान्यनुपहतान्याहृत्य तत एकमादाय द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य तस्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृताभ्यक्तताल्लुजिह्वौष्ठः प्रातः प्रातरुपसेवेत, ततोऽपराह्णे क्षीरं सर्पिरादन इत्याहारः, एवमेकैकं वर्धयेद्यावत् पञ्चेति, ततः पञ्च पञ्चाभिवर्धयेद्यावत् सप्ततिरिति, प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेद् भूयः पञ्च पञ्च यावत् पञ्चेति, पञ्चभ्यस्त्वेकैकं यावदेकमिति। एवं भल्लातकसहस्रमुपयुज्य सर्वकुष्ठार्शोभिर्विमुक्तो बलवानरोगः शतायुर्भवति॥ १७॥

इसके आगे भल्लातक विधि का उपदेश करेंगे—भली प्रकार पके हुए और कीड़े आदि से न खाये हुये भिलावों को लाकर, उनमें से एक भिलावे को दो, तीन या चार टुकड़े बनाकर कषाय कल्पना से इनको पकाकर, इस कषाय की शुक्ति मात्रा (आधा पल) को मनुष्य के तालु-जिह्वा और ओष्ठ को घी से स्निग्ध कर पीने के लिये प्रतिदिन

प्रातःकाल देवे। फिर सायंकाल में दूध, घी, और चावल खाये। इस प्रकार से एक एक भिलावा प्रतिदिन बढ़ाये, जब तक कि यह संख्या पाँच तक न पहुँच जाये। फिर इनको पाँच पाँच करके बढ़ाये, जब तक कि इनकी संख्या सत्तर न हो जाये। सत्तर संख्या हो जाने पर पाँच पाँच संख्या में कम करना आरम्भ करे, जब तक कि पाँच पर न आ जाये। पाँच पर पहुँच कर फिर एक एक घटाना आरम्भ करे, जब तक कि एक पर न आ जाये। इस प्रकार से एक हजार भिलावों का उपयोग करने पर सब प्रकार के कुष्ठ, अर्श से मुक्त होकर, बलवान्, नीरोग, एक सौ वर्ष की आयु का होता है।

वक्तव्य—पके भिलावों को चैत्र-वैशाख में लाकर, जौ के ढेर में या उड़द के ढेर में रख देना चाहिये। मार्गशीर्ष या पौष में इनका व्यवहार करे। एक हजार भिलावों का उपयोग विधि से पैंतीस दिन में पूरा होता है। इसी प्रकार एक सौ तक बढ़ाने में उत्तम, सत्तर तक मध्यम और तीस तक बढ़ाने का अधम प्रयोग है। इसमें अनुपान नारियल का जल है।

चरक में—भल्लातकानि अनुपहतानि अनामयानि आपूर्णरसवीर्यप्रमाणानि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्। तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः। पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्। तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषान्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः। प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः प्रयोगान्तं च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः॥ चरक० चि० अ० १।१३। भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥

वि० मन्तव्य—भिलावा का रस जहाँ लग जाता है वहाँ शोथ तथा अरुषिका (छोटी २ फुन्सियाँ) हो जाती हैं, अतः मुख के अन्दर-तालु, जिह्वा तथा ओष्ठों पर घृत का अभ्यञ्जन कर लेना चाहिये और तब भिलावा का क्वाथ पीना चाहिये। इस प्रकार उक्त शोथ तथा अरुषिका उत्पन्न होने का भय नहीं रहता॥१७॥

द्विव्रणीयोक्तेन विधानेन भल्लातकनिश्च्युतितं स्नेहमादाय प्रातः प्रातः शुक्तिमात्रमुपयुञ्जीत, जीर्णे पूर्ववदाहारः फलप्रकर्षश्च। भल्लातकमज्जभ्यो वा स्नेहमादायापकृष्टदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तो निवातमागारं प्रविश्य यथाबलं प्रसृतिं प्रकुञ्चं वोपयुञ्जीत, तस्मिञ्जीर्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य मासत्रयमादिष्टाहारो रक्षेदात्मानं, ततः सर्वोपतापानपहृत्य वर्णवान् बलवान् श्रवणग्रहणधारणशक्तिसंपन्नो वर्षशतायुर्भवति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति, एवं दशमासानुपयुज्य वर्षसहस्रायुर्भवति॥१८॥

द्विव्रणीय में कही विधि से निकाला हुआ भिलावों का तेल लेकर प्रतिदिन प्रातःकाल आधापल मात्रा में पीये। जीर्ण होने पर पहले की भाँति भोजन करे, फलश्रुति भी समान है। अथवा भिलावे की मज्जा से स्नेह निकालकर, वमन विरेचनादि से शुद्ध हुआ, पेया-विलेपी क्रम का सेवन करके, वायु रहित घर में रहकर, बल के अनुसार दो पल या आधा पल सेवन करे। इसके जीर्ण होने पर दूध, घी, चावल खाये। इस प्रकार से एक मास तक सेवन करके तीन मास तक ऊपर कहा भोजन, दूध, घी, चावल ही खाये। फिर सब रोगों से मुक्त होकर वर्णशाली, बलवान्, सुनते ही ग्रहण एवं धारण करने की शक्तिवाला, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। एक एक मास के प्रयोग से एकसौ-एकसौ वर्ष को आयु बढ़ी है। इस प्रकार दस मास तक सेवन करने से एक हजार वर्ष की आयु होती है॥१८॥

भवन्ति चात्र—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हितः खदिरबीजकौ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः॥१९॥
हरिद्रायाः प्रयोगेण प्रमेहा इव षोडश।
क्षाराग्नी नातिवर्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः॥२०॥

इसमें श्लोक भी हैं—जिस प्रकार सब कुष्ठों को खैर और त्रिजयसार नष्ट करते हैं, उसी प्रकार सब अर्शों को भिलावे और कुटज नष्ट करते हैं। हल्दी के प्रयोग से जिस प्रकार सोलह प्रमेह नष्ट होते हैं, उसी प्रकार दृश्य गुदांकुर क्षार और अग्नि से नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—वात कफजन्य अर्शों में भिलावा, रक्त-पित्तजन्य अर्शों में कुटज बरतना चाहिये॥१९,२०॥

घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः।
आसवाश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम्॥२१॥

दोष की प्रधानता को देखकर पिप्पल्यादि या षट्पल घृत आदि दीपनीय घृत, कुटजादि अवलेह, नवायस आदि अयस्कृतियाँ, सुरा, आसव बरतने चाहिये॥२१॥

वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कुटुकासनम्।
यथास्वं दोषलं चान्नमर्शःसु परिवर्जयेत्॥२२॥

मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना, स्त्री पवन, घोड़े आदि की सवारी, ऊकड़ूँ बैठना, दोषों के अपने अनुसार दोष को बढ़ानेवाला अन्न, अर्श रोग में त्याज्य है॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अश्मरी चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः ।
औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥३॥
तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ।
तेनास्यापचयं यान्ति व्याधेर्मूलान्यशेषतः ॥४॥

अश्मरी रोग भयानक है, यह रोग मृत्यु के समान (मारक) है। नूतन उत्पन्न रोग औषधियों से साध्य है, परन्तु बढ़ने पर शस्त्र कर्म से काटकर निकाली जाती है। अश्मरी रोग के पूर्व-रूपों में स्नेहन आदि चिकित्सा करे। इस चिकित्सा से इस अश्मरी रोग के कारण सम्पूर्णरूप में नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—अश्मरी में प्रथम एक न्युक्कीयस (केन्द्र) शरीर के दोष से बनता है, यह न्युक्कीयस कफ रूप होता है। बस इस केन्द्र के चारों ओर दोष एकत्रित होकर इसको बढ़ाते जाते हैं। स्नेहादि क्रम से ये दोष नष्ट होने से केन्द्र भी नष्ट हो जाता है। नूतन आरम्भ हुए रोग में ही यह चिकित्सा लाभ करती है। इसी से निदान में कहा है—

"प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीं जनयति॥" सुश्रुत० नि० अ० ३।४ ॥३,४॥

पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तजो तथा।
शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका ॥५॥
कपोतवङ्काऽऽर्त्तगलः कच्चकोशीरकुब्जकाः ।
वृक्षादनी भल्लुकश्च वरुणा शाकजं फलम् ॥६॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च ।
ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथैर्घृतं घृतम् ॥७॥
भिनत्ति वातसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ।

पाषाणभेद, वृकपुष्प, अपामार्ग, सिरहटा, शतावरी, गोखरु, बड़ी कटेरी, कपोतवंका (ब्राह्मी या सुवर्चला), आर्त्तगल (सहचर या झिंटी), कच्चक, खस, कुब्जक (गुब्जा), वन्दा, श्योनाक, वरुणा, सागौन के फल, जौ, कुलथी, बेर, निर्मली, इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप देकर घृत सिद्ध करे। यह घृत वातजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है ॥५-७॥

क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥८॥
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् वातनाशने।

इस वातनाशक गण में पेय क्षारों को, यवागू को, कषाय, दूध और भोजन बनाये ॥८॥

कुशः काशः सरो गुन्द्रा इत्कटो मोरटोऽश्मभित् ॥९॥
वरी विदारी वाराही शालिमूलत्रिकण्टकम् ।
भल्लूकः पाटलाः पाठा पत्तूरोऽथ कुरुण्टिका ॥१०॥
पुनर्नवा शिरीषश्च क्वथितास्तेषु साधितम् ।
घृतं शिलाजमधुकबीजैरिन्दीवरस्य च ॥११॥
त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम् ।
भिनत्ति पित्तसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥१२॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् पित्तनाशने ॥१३॥

कुश, काश, सरकण्डा, गुन्द्रा (एरक), इत्कट, मोरट (इक्षुमूल), पाषाण भेद, शतावरी, विदारी, वाराहीकन्द, शालीमूल, गोखरू, श्योनाक, पाटला, पाठा, मछेछी, झिण्टी, पुनर्नवा, शिरीष—इनके क्वाथ में शिलाजतु, मुलैहठी, कमलगट्टा, खीरा-ककड़ी-कूष्माण्ड आदि के बीजों के कल्क से सिद्ध किया घृत पित्तजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट कर देता है। इस पित्तनाशक वर्ग में पेय क्षारों को, यवागू, यूष, कषाय, दूध और भोजनों को बनाये ॥९–१३॥

गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेलाहरेणवः ।
कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैः ससुराह्वयैः ॥१४॥
एतैः सिद्धमजासर्पिरूषकादिगणेन च ।
भिनत्ति कफसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥१५॥
क्षारान् यवागूयूषांश्च कषायाणि पयांसि च।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् कफनाशने ॥१६॥

वरुणादि गण, गुग्गुलु, इलायची, हरेणु, कूठ, भद्रदार्व्यादिगण, मरिच, चित्रक, देवदारु, इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का कल्क देकर सिद्ध किया बकरी का घृत कफजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है। इस कफ नाशक वर्ग में क्षार, यवागू, यूष, कषाय, दूध और भोजन सिद्ध करे ॥१४–१६॥

पिचुकाङ्कोल्लकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः ।
चूर्णितैः सगुडं तोयं शर्कराशमनं पिबेत् ॥१७॥

करीर, अंकोल, निर्मलीफल, सागौन, कमल के फल इनका चूर्ण करे। इस चूर्ण में चूर्ण के बराबर गुड़ मिलाकर गरम पानी से पिलाये। यह शर्करा नाशक है। गुड़ का परिमाण—

चूर्णे चूर्णसमो देयो मोदके द्विगुणो गुडः ॥१७॥
क्रौञ्चोष्ट्रासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका ।
अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च ॥१८॥
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा ।

कौंच पक्षी, ऊँट और गधे की अस्थि की भस्म, गोखरू, मूसली, अजवायन, कदम्ब का मूल, सोंठ, इनको सुरा या गरम पानी से पीने पर शर्करा नष्ट होती है ॥१८॥

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ॥१९॥
अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत् ।

गोखरु के बीजों के चूर्ण को मधु के साथ, मेड़ के दूध में घोलकर सात दिन पीने से अश्मरी नष्ट होती है ॥१९॥

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालितः ॥२०॥
ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः संयुक्तः साधितः शनैः।
तत्रोषकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः ॥२१॥
एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि।

घृतों के लिये कहे वर्गों के द्रव्यों को लेकर तिल नालों से जलाकर, इनको मेड़ के मूत्र में घोलकर छान लेवे। इसमें गाय-बकरी आदि ग्राम्य पशुओं के गोबर-लीद आदि को जलाकर बनाया क्षार, मिलाकर इनको धीरे धीरे पकाये। पकाते समय इसमें ऊषकादिगण का प्रक्षेप और त्रिकटु मिला दे। यह क्षार अश्मरी को, गुल्म को, शर्करा को नष्ट करता है ॥२०,२१॥

तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः ॥२२॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः।

तिल, चिरचिट, केला, ढाक, जौ के तुष, इनका क्षार, मेड़ के मूत्र से पीना चाहिये। यह शर्करा को नष्ट करता है। (क्षार की मात्रा दो कर्ष या तीन कर्ष लेकर-दो पल मूत्र से पीये)॥

पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत ॥२३॥

पाटला और करवीर (कनेर) के क्षार को भी इसी प्रकार मेड़ के मूत्र से बरते ॥२३॥

श्वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मीकल्कं वाऽक्षसमं पिबेत्।

गोखरू, मुलैहठी और ब्राह्मी का कल्क एक कर्ष मात्रा में मेड़ के मूत्र से पीये।

सहैडकाख्यौ पेयौ वा शोभाञ्जनकमार्कवौ ॥२४॥

पनवाड़, सुहांजना और भांगरा इनको मेंड़ के मूत्र से पीये॥

कपोतवंकामूलं वा पिबेदम्लैः सुरादिभिः।
तत्सिद्धं वा पिबेत् क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ॥२५॥

कपोतवंका (ब्राह्मी या सुवर्चला) का मूल, कांजी आदि अम्ल द्रवों से या सुरा आदि के साथ पीये। अथवा वेदना से पीड़ित मनुष्य कपोतवंका मूल से सिद्ध किया दूध पीये ॥२५॥

हरीतक्यादिसिद्धं वा वर्षाभूसिद्धमेव वा।

त्रिफला या पुनर्नवा से सिद्ध किया दूध पीये।

सर्वथैवोपयोज्यः स्याद् गणो वीरतरादिकः ॥२६॥

वीरतरादिगण का घी, दूध, कषाय, यवागू, भोजन आदि सब कार्यों में उपयोग करना चाहिये ॥२६॥

घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः।
यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥२७॥

घी, क्षार, कषाय, दूध, उत्तरबस्ति, से भी अश्मरी शान्त न हो तब, आगे कही विधि (शस्त्र कर्म) करे ॥२७॥

कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा।
उपक्रमो जघन्योऽयमतः संपरिकीर्तितः ॥२८॥

इस शस्त्र कर्म में कुशल वैद्य की भी सफलता अनिश्चित रहती है, इसलिये यह शस्त्र-कर्म जघन्य-हीन कहा गया है॥२८॥

अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्।
तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥२९॥

इसलिये अच्छा कार्य करनेवाले वैद्य को चाहिये कि राजा या स्वामी की आज्ञा लेकर, उसे यह समझाकर कि चिकित्सा न करने पर तो मृत्यु निश्चित ही है, और चिकित्सा करने पर जीने की सम्भावना भी हो सकती है, यह बताकर, तब शस्त्र कर्म करे ॥२९॥

अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषमीषत्कर्शितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवन्तं कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनमग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसम्भारमाश्वास्य, ततो बलवन्तमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपविष्टान्यपुरुषस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटीकं वस्त्राधारकोपविष्टं सङ्कुचितजानुकूर्परमितरेण सहावबद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा, ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वे विमृद्य मुष्टिनाऽवपीडयेदधोनाभेर्यावदश्मयधः प्रपन्नेति, ततः स्नेहाभ्यक्ते कॢप्तनखे वामहस्तप्रदेशिनीमध्यमे अङ्गुल्यौ पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेढ्रान्तरमानीय निर्व्यलीकमनायतमविषमं च बस्तिं सन्निवेश्य भृशमुत्पीडयेदङ्गुलिभ्यां यथा ग्रन्थिरिवोन्नतं शल्यं भवति ॥३०॥

इसके उपरान्त रोगी व्यक्ति का स्नेहन करके, वमन, विरेचन से दोषों को निकालकर, रोगी को थोड़ा कृश (लंघन) करके, स्नेहन, स्वेदन देकर, भोजन देवे। फिर बलि, मंगल पाठ, स्वस्तिवाचन आदि कर्म करके अग्रोपहरणीय अध्याय में कही विधि से सब साधन सामग्री को तैय्यार करके, रोगी को सान्त्वना देवे। फिर बलवान् एवं न घबरानेवाले रोगी को घुटनों के बराबर ऊँची चौकी पर, पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुए दूसरे पुरुष की गोदी में--नाभि से ऊपर का भाग रख देवे। रोगी के नितम्बों के नीचे कपड़े की गद्दी या ऐंडवी रखकर कटि को ऊँचा उठाकर, घुटने और कोहनियों को संकुचित करके, एक दूसरे के साथ धागे या कपड़े से बांध देवे। फिर अच्छा प्रकार स्नेह का अभ्यंग करके, नाभि प्रदेश के वाम पार्श्व में मलकर, मुट्ठी द्वारा नाभि के नीचे दबाये, जब तक पत्थरी नीचे न आ जाये। फिर स्नेह से स्निग्ध, नख कटवाये हुए, वाम हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को गुदा में प्रविष्ट करके सेवनी के साथ २ ले जाते हुए—गुदा और मेहन के बीच में लाकर कोशिश एवं बल पूर्वक, त्वचा में संकोच हुए बिना, बस्ति को आयताकार-और सीधा करके, अंगुलियों से जोर से दबाये, जिससे कि शल्य (अश्मरी) गांठ के समान ऊपर को उठ आये ॥३०॥

स चेद्गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः।
हृतवल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो मृतोपमः॥३१॥
न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत्त्रियेत सः।
विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं प्रयतेत वै॥३२॥

अश्मरी के हाथ में आने से यदि रोगी की आँखें स्तब्ध हो जाती हैं, वह मूर्च्छित हो जाता है, मरे हुए के समान गर्दन लटका देता है, चेष्टा रहित हो जाता है, मृत पुरुष की भांति दीखता है तो ऐसे मनुष्य की पत्थरी को न निकाले, क्योंकि निकालने से वह मर जाता है। जिस में उपर्युक्त लक्षण न हों, उसमें अश्मरी निकालने का प्रयत्न करे॥३१,३२॥

ततः सव्ये पार्श्वे सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वाऽवचारयेच्छस्त्रमश्मरीप्रमाणं दक्षिणतो वा क्रियासौकर्यहेतोरित्येके, यथा सा न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति, तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत; स्त्रीणां तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः, तस्मात्तासामुत्सङ्गवच्छस्त्रं पातयेत्। अतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत्, पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रक्षरणम्; अश्मरीव्रणादृते भिन्नबस्तिरेकधाऽपि न भवति, द्विधा भिन्नवस्तिराश्मरिको न सिध्यति, अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधा भिन्नबस्तिर्जीवति, क्रियाभ्यासाच्छास्त्रविहितच्छेदान्निःस्यन्दपरिवृद्धित्वाच्च शल्यस्येति। उद्धृतशल्यं तूष्णोदकद्रोण्यामवगाह्य स्वेदयेत्, तथा हि वस्तिरसृजा न पूर्यते; पूर्णे वा क्षीरवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात्॥

फिर वाम पार्श्व में सेवनी से जौ भर बचाकर, अश्मरी के प्रमाण से शस्त्र चलाये। कई आचार्यों का कहना है कि कर्म की सुगमता के लिये दक्षिण पार्श्व में शस्त्र कर्म करें। पत्थरी टूटे नहीं, चूरा न बने, ऐसा यत्न करे, क्योंकि थोड़ा सा भी चूरा फिर पत्थरी को बढ़ा देता है। इसलिये सम्पूर्ण पत्थरी को अग्रवक्त्र शस्त्र से निकाल ले। स्त्रियों में वस्ति के पार्श्व में ही गर्भाशय रहता है। इसलिये इनमें ऊपर की ओर धारवाले शस्त्र न चलाये। नहीं तो इनमें मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। अथवा पुरुष में भी मूत्रमार्ग में आघात होने पर मूत्रक्षरण होता है। अश्मरी व्रण के विना भिन्न वस्ति फिर नहीं जुड़ती। अश्मरी कर्म में भी दो स्थान से (ऊपर और नीचे दोनों ओर) विदीर्ण हुई वस्ति नहीं जुड़ती। अश्मरी व्रण के कारण एक तरफ से विदीर्ण वस्ति जुड़ जाती है, इसलिये रोगी जीता है। क्योंकि—उष्णोदक, क्षीरीवृक्ष कषाय आदि उपचार के निरन्तर सेवन करने से, शास्त्र के अनुसार छेदन करने के कारण, तथा निःस्यन्द (मूत्र) को बढ़ानेवाले यवागू गुड़ आदि के खाने से रोगी जीता है। शल्य निकालकर गरम पानी के टब में बैठाकर स्वेद देवे। इस प्रकार करने से वस्ति में रक्त नहीं भरता। यदि रक्त भर जाये तो पुष्प नेत्र से बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के कषाय से धो देवे।

वक्तव्य – पुरुषों में शस्त्र कर्म मण्डलाग्र (स्केल्पर) से करे, स्त्रियों में वृद्धिपत्र (विस्ट्री) से करे, ऐसा ग्रन्थ का अभिप्राय दीखता है। 'निःस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च' गयी ने इतना ही पाठ माना है, हमको भी इतना ही ठीक लगा है, इसलिये 'शल्यस्य' यह पाठ छोड़ दिया है॥३३॥

भवति चात्र—
क्षीरिवृक्षकषायस्तु पुष्पनेत्रेण योजितः।
निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं बस्तिगतं च यत्॥३४॥

इसमें श्लोक भी है—पुष्पनेत्र से प्रयुक्त किया बरगद आदि क्षीरिवृक्षों का कषाय शीघ्र ही वस्तिगत अश्मरी को और रक्त को निकाल देता है॥३४॥

मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुडसौहित्यं वितरेत्; उद्धृत्य चैनं मधुघृताभ्यक्तव्रणं मूत्रविशोधनद्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेतोभयकालं त्रिरात्रं, त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेद्दशरात्रं (मूत्रासृग्विशुद्ध्यर्थं व्रणक्लेदनार्थं च), दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जाङ्गलरसैरुपाचरेत्, ततो दशरात्रं चैनमप्रमत्तः स्वेदयेत् स्नेहेन द्रवस्वेदेन वा, क्षीरवृक्षकषायेण चास्य व्रणं प्रक्षालयेत्, रोध्रमधुकमञ्जिष्ठाप्रपौण्डरीककल्कैर्व्रणं प्रतिग्राहयेत्, एतेष्वेव हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यञ्जनमिति, स्त्यानशोणितं चोत्तरवस्तिभिरुपाचरेत्, सप्तरात्राच्च स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन विधिना दहेदग्निना, स्वमार्गप्रतिपन्ने चोत्तरबस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेन्मधुरकषायैरिति, यदृच्छया वा मूत्रमार्गं प्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसाऽपहरेत्, एवं चाशक्ये विदार्य नाडीं शस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत्। रूढव्रणश्चाङ्गनाश्वनगनागरथद्रुमान् नारोहेत वर्षं, नाप्सु प्लवेत, भुञ्जीत वा गुरु॥३५॥

मूत्रमार्ग के शोधन के लिये इस रोगी को पेटभर गुड़ खिलाये। गरम पानी के टब में से इस रोगी को निकालकर, व्रण पर मधु और घी का लेप करे, और पंचतृणमूल, गोखरू, कूष्माण्ड, पाषाण भेद आदि मूत्र शोधन द्रव्यों से सिद्ध की, घृत मिश्रित गरम यवागू को तीन दिन तक प्रातः और सायं दोनों समय देवे। तीन दिन के पीछे दस दिन तक, प्रचुर गुड़वाले दूध के साथ गला हुआ कोमल भात थोड़ा सा देवे (जिससे मूत्र और रक्त का शोधन हो और व्रण में आर्द्रता आये)। दस दिन पीछे दाडिम आदि खट्टे फल और जांगल मांस रस खाने को देवे, फिर दस दिन तक बिना

आलस्य किये इस रोगी को द्रव, स्वेद या स्नेह से स्वेद देवें। व्रण को बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर आदि क्षीरिवृक्षों के कषाय से धोये। लोध, मजीठ, कमल, इनके कल्क को व्रण पर लेप करे। इन्हीं में हल्दी मिलाकर इनसे तैल या घृत सिद्ध करके व्रण पर अभ्यंग करे। रक्त जम गया हो तो उत्तर वस्ति देवे। सात दिन के पीछे मूत्र जब अपने स्वाभाविक मार्ग पर न आने लगे, तब व्रण को कही हुई विधि से अग्नि जलाये। मूत्र के अपने मार्ग से आने पर, मधुर एवं कषायगण के द्रव्यों से आस्थापन, अनुवासन और उत्तर बस्ति देवे। जो शुक्राश्मरी, शर्करा-स्वयं अपने आप ही मूत्र मार्ग में आकर फंस जाये, उसे मूत्र स्रोत में से निकाल दें। यदि इस तरह से यह फंसी अश्मरी या शर्करा बाहर न आये तो नाड़ी को चीरकर शस्त्र से या बड़िश से निकाले। व्रण के भर जाने पर भी स्त्री सेवन, घोड़ा, हाथी, पहाड़, रथ, वृक्ष पर एक साल तक न चढ़े। पानी में न तैरे, भारी भोजन न करे। (डल्हण ने गुडसौहित्य का 'गुडेन वासितं भक्तम्'—यह अर्थ किया है-गुड से बने भक्ष्य देवे) ॥३५॥

मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदबस्तीनष्टौ परिहरेत्। तत्रमूत्रवहच्छेदान्मरणं मूत्रपूर्णबस्तेः, शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा, मुष्कस्रोतउपघाताद् ध्वजभङ्गः मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रप्रक्षरणं, सेवनियोनिच्छेदाद्रुजः प्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥

शस्त्र कर्म में—मूत्रवहस्रोत, शुक्रवहस्रोत, मुष्क, मूत्रप्रसेक, सेवनि, योनि, गुदा और वस्ति इन आठ अंगों को बचाये। इनमें मूत्रवह स्रोतों के कटने से मृत्यु और बस्ति मूत्र से भर जाती है। शुक्रवहस्रोतों के कटने से मृत्यु या नपुंसकता होती है। मुष्कस्रोत में हानि पहुँचने से ध्वजभंग होता है। मूत्रप्रसेक में आघात होने से मूत्र निकलता है, सेवनि और योनि के कटने से वेदना उत्पन्न होती है। वस्ति और गुदा के विद्ध होने के लक्षण पहले कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—कभी २ वृक्क में अश्मरी उत्पन्न होकर मूत्रवह स्रोतों में फंस जाती है। यथासम्भव उन स्रोतों पर शस्त्र कर्म न करे। केवल इसी अध्यांय में लिखित श्लो० ४ से २७ पर्यन्त में उपदिष्ट उपचार करे। जहाँ तक सम्भव हो शुक्रवह स्रोत आदि पर भी शस्त्र कर्म न करे—अन्य चिकित्सा विधानों से रोग शान्ति का प्रयत्न करे। यद्यपि आवश्यकतानुसार इन सब पर शस्त्र कर्म का उपदेश किया गया है तथापि बहुत सम्भल कर शस्त्रकर्म करे। बस, यही इस सूत्र का तात्पर्य है ॥३६॥

भवतश्चात्र—

मर्माण्यष्टावसंबुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम्।
व्यापादयेद्बहून्मर्त्यान् शस्त्रकर्मापटुर्भिषक् ॥३७॥

इसमें श्लोक भी हैं—शस्त्र कर्म में अनिपुण वैद्य मनुष्यों के स्रोतजन्य आठ मर्मों को न जानकर बहुत से मनुष्यों को मार देता है।

वि० मन्तव्य—इसका तात्पर्य भी यही है कि—उक्त मर्म स्थलों पर शस्त्र कर्म करनेवाला अनिपुण-अकुशल वैद्य बहुतोंको मार डालता है, परन्तु कुशल वैद्य इन सब पर शस्त्र कर्म करके बहुतों को आरोग्य एवं जीवन भी देता है ॥३७॥

सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम्।
मूत्रसेकं मूत्रवहं योनिर्वस्तिस्तथाऽष्टमः ॥३८॥

सेवनी, शुक्रवहा, मुष्क, गुदा, मूत्रप्रसेक, मूत्रवह स्रोत, योनि और वस्ति, ये आठ मर्म हैं।

वि० मन्तव्य—इन आठों अवयवों का परिचय-शारीरस्थान आदि में देखकर प्राप्त कीजिये ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽश्मरीचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे भगन्दरों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वतरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—भगन्दर का विवरण नि० स्था० अ० ४ में देखिये ॥१, २॥

पञ्च भगन्दरा व्याख्याताः, तेष्वसाध्यः शम्बूकावर्तः शल्यनिमित्तश्च; शेषाः कृच्छ्रसाध्याः ॥३॥

भगन्दर पांच प्रकार से कहे हैं। इनमें शम्बूकावर्त्त असाध्य है, तथा शल्यजन्य भगन्दर भी असाध्य है। शेष भगन्दर कष्ट साध्य हैं ॥३॥

तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडकं पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यन्त्रयित्वा, भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमर्वाचीनं वा ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण; अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्; आसाद्य वाऽग्निं क्षारं चेति; एतत् सामान्यं सर्वेषु ॥४॥

इनमें अपक्व पिडकावाले भगन्दर के रोगी की अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त कहे हुए ग्यारह उपक्रमों से चिकित्सा करे। पिड़का के पक जाने पर-स्नेहन करके, टब में बिठाकर स्वेदन देकर, शय्या पर बिठाकर, अर्श की भांति यन्त्रित करके, भगन्दर को अन्तर्मुख है या बहिर्मुख पहचान करे, एषणी को

अन्दर डालकर, इस ऐषणी को ऊँचा उठाकर, आशय समेत शस्त्र से काट देवे। इसी प्रकार अन्तर्मुख में यंत्र को भली प्रकार गुद में प्रविष्ट करके प्रवाहण करते हुए रोगी के, भगन्दर मुख को देखकर ऐषणी डालकर शस्त्र चलाये। अथवा भगन्दर को देखकर अग्नि या क्षार कर्म करे, यह चिकित्सा सब भगन्दरों में सामान्य है।

वि० मन्तव्य—प्रारम्भ में भगन्दर की पिड़का जब तक पक कर फूटती नहीं तब तक अपतर्पण से विरेचन पर्यन्त उपक्रमों (देखिये चि० अ० १ का सू० ८) से बैठ जाती है। परन्तु जब पककर फूट जाती है। तब इस विधि से चिकित्सा करे। विधि भेद से भगन्दर दो प्रकार के होते हैं—१-पराचीन अर्थात् अन्तर्मुख इनका मुख भीतर—गुद के भीतर होता है। २—अर्वाचीन अर्थात् बहिर्मुख इनका मुख गुदौष्ठ से बाहर होता है। शासय—भगन्दर का व्रण जितने स्थान में हो उतने स्थान को काटकर निकाल देना चाहिये ॥४॥

विशेषतस्तु—
नाड्यन्तरे व्रणान् कुर्याद्भिषक् तु शतपोनके।
ततस्तेषूपरूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत् ॥५॥

विशेष चिकित्सा—शतपोनक भगन्दर में—वैद्य नाड़ीव्रणों के बीच में व्रणों को करे। इन व्रणों के भर जाने पर शेष नाड़ीव्रणों की चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—शतपोनक में अनेक नाड़ीव्रण—नासूर होते हैं, अतः एक-एक नाड़ी व्रण में शस्त्र क्रिया करके रोपण कर्म करे अर्थात् एक का रोपण हो जाने पर दूसरे नाड़ी व्रण में शस्त्र कर्म करे इसी प्रकार तीसरे चौथे आदि में। सब व्रणों को एक साथ काटना उचित नहीं है। इसे समझने के लिए निम्न श्लोक ६-८ देखिये ॥५॥

गतयोऽन्योन्यसंबद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा।
नाडीरनभिसंबद्धा यश्छिनत्त्येकधतर भिषक् ॥६॥
स कुर्याद्विवृतं जन्तोर्व्रणं गुदविदारणम्।
तस्य तद्विवृतं मार्गं विण्मूत्रमनुगच्छति ॥७॥
आटोपं गुदशूलं च करोति पवनो भृशम्।
तत्राधिगततन्त्रोऽपि भिषङ्मुह्येदसंशयम् ॥८॥
तस्मान्न विवृतः कार्यो व्रणस्तु शतपोनके।

एक दूसरे से मिली हुई नाड़ियों को अनेक रूप में बाहर काटे। जो नाड़ियाँ परस्पर एक दूसरे से नहीं मिलीं उनको एक ही साथ काट देता है, वह वैद्य मनुष्य के व्रण को चौड़ा बना देता है, और गुदा को विदीर्ण कर देता है। इस चौड़े हुए मार्ग से मल-मूत्र आता है। आटोप, गुदा शूल को वायु उत्पन्न करती है। इसमें भली प्रकार शास्त्र अभ्यास किया वैद्य भी निःसन्देह चूक जाता है, इसलिये शतपोनक में व्रण को कभी चौड़ा न करे ॥६-८॥

व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा वै विजानता ॥९॥
अर्धलाङ्गलकश्छेदः कार्यो लाङ्गलकोऽपि वा।
सर्वतोभद्रको वाऽपि कार्यो गोतीर्थकोऽपि वा ॥१०॥
(द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलको मतः।
ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलाङ्गलकः स्मृतः॥
सेवनीं वर्जयित्वा च चतुर्धा दारिते गुदे।
सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः।
पार्श्वागतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको बदेत् ॥)
सर्वतः स्रावमार्गांस्तु दहेद्वैद्यस्तथाऽग्निना।
सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः ॥११॥

इसलिये, इस बहुत छिद्रवाले भगन्दर में जाननेवाला वैद्य अर्धलांगलक छेदन या लांगलक छेदन, या सर्वतोभद्रक अथवा गोतीर्थक करे। वैद्य सब मार्गों को पूर्णतः अग्नि से जलाये। नाजुक प्रकृति एवं डरपोक में शतपोनक कष्ट साध्य है।

वक्तव्य—"द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लांगलको मतः। ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलांगलकः स्मृतः ॥ सेवनीं वर्जयित्वा तु चतुर्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः॥ पार्श्वं गतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत् ॥"

लाँगल—हल, अर्धलांगलक—आधा हल, सर्वतो भद्र-आसनविशेष (गोलाई लिये), गोतीर्थ—गाय का मत्र जैसे टेढ़ा-मेढ़ा पड़ता है, अथवा गाय की योनि के समान।

वि० मन्तव्य—केवल अर्धलाङ्गलक आदि आकार प्रकार के व्रण करना चाहिये। अथवा अग्निकर्म द्वारा ही स्राव-मार्गों-नासूरों का अवरोध कर देना चाहिये ॥९-११॥

रुजास्रावापहं तत्र स्वेदमाशु प्रयोजयेत्।
स्वेदद्रव्यैर्यथोद्दिष्टैः कृशरापायसादिभिः ॥१२॥
ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैर्लावाद्यैर्वाऽपि विष्किरैः।
वृक्षादनीमथैरण्डं बिल्वादिं च गणं तथा ॥१३॥
कषायं सुकृतं कृत्वा स्नेहकुम्भे निषेचयेत्।
नाडीस्वेदेन तेनास्य तं व्रणं स्वेदयेद्भिषक् ॥१४॥
तिलैरण्डातसीमाषयवगोधूमसर्षपान्।
लवणान्यम्लवर्गं च स्थाल्यामेवोपसाधयेत् ॥१५॥
आतुरं स्वेदयेत्तेन तथा सिध्यति कुर्वतः।
स्विन्नं च पाययेदेनं कुष्ठं च लवणानि च ॥१६॥
वचाहिङ्ग्वजमोदं च समभागानि सर्पिषा।
माद्वीकेनाथवाऽम्लेन सुरासौवीरकेण वा ॥१७॥
ततो मधुकतैलेन तस्य सिञ्चेद् भिषग्व्रणम्।
परिषिञ्चेद् गुदं चास्य तैलैर्वातरुजापहैः ॥१८॥
विधिनाऽनेन विण्मूत्रं स्वमार्गमधिगच्छति।
अन्ये चोपद्रवास्तीव्राः सिध्यन्त्यत्र न संशयः ॥१९॥

रुजा-वेदना और स्राव को कम करनेवाला स्वेद

शीघ्र देवे। इसके लिये कहे हुए स्वेद द्रव्यों से, कृशरा (तिल-तण्डुल, उड़द की खिचड़ी) खीर आदि से स्वेद देवे। ग्राम्य मांस, आनूप मांस, औदक मांस, बटेर आदि विष्किरों के मांस, वन्दाक, एरण्ड और बिल्वादि गण इनका भली प्रकार कषाय बनाकर तैल के घड़े में भर देवे। इस कषाय से नाड़ी स्वेद द्वारा वैद्य व्रण में स्वेद दे। तिल, एरण्ड, अलसी, उड़द, जौ, गेहूँ, सरसों, पाँचों लवण, अम्लवर्ग इनको थाली (चौड़े पात्र) में क्वाथ करे। इससे रोगी को स्वेद देवे। इस प्रकार करने से भगन्दर अच्छा होता है। स्वेदन के उपरान्त रोगी को कूठ, पाँचों नमक, वच, हींग, अजवायन इनको समान मात्रा में लेकर घी से, द्राक्षा से, दाडिम या बिजौरे के रस से, सुरा से या कांजी से पिलाये। इसके व्रण पर मुलैहठी के तेल से परिषेक करे। वात वेदना को नष्ट करनेवाले तेलों से गुदा पर भी परिषेक करे। इस प्रकार करने से मल मूत्र अपने अपने मार्ग में आने लगते हैं। और दूसरे भी जो उपद्रव होते हैं, वे (निःसन्देह) शान्त हो जाते हैं। शतपोनक भगन्दर को कह दिया।

वि० मन्तव्य—छेदन कर्म अथवा अग्निकर्म से उत्पन्न वेदना आदि की शान्ति के लिये तत्काल इस विधि से स्वेदन की व्यवस्था कर देनी चाहिये ॥१२-१६॥

शतपोनक आख्यात उष्ट्रग्रीवे क्रियां शृणु।
अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत् ॥२०॥
पूतमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः।
अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः पिष्टैः प्रलेपयेत् ॥२१॥
बन्धं ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं तु सर्पिषा।
तृतीये दिवसे मुक्त्वा यथास्वं शोधयेद् भिषक् ॥२२॥
ततः शुद्धं विदित्वा च रोपयेत्तु यथाक्रमम्।

उष्ट्रग्रीव की चिकित्सा को सुनो। उष्ट्रग्रीव को ढूँढ़कर, काटकर, इसमें क्षार लगाये। सड़े हुए मांस को निकालने के लिये क्षार कर्म करे। इसमें अग्नि का दाह उत्तम नहीं। फिर पिसे हुए तिलों को घी में मिलाकर लेप करे। फिर पट्टी बाँध देवे, घी से परिषेक करे। तीसरे दिन खोलकर वैद्य दोषानुसार करे। शोधन हुआ जानकर विधि के अनुसार रोपण करे।

वक्तव्य—उष्ट्रग्रीव भगन्दर—टेढ़ा-मेढ़ा होता है, इसमें क्षार तो द्रव होने से सब स्थानों पर पहुँच जायेगा, परन्तु अग्नि सब स्थान पर नहीं पहुँचाई जा सकती।

वि० मन्तव्य—उष्ट्रग्रीव भगन्दर पित्तज होता है, अतः अग्निकर्म को पूजित नहीं माना है ॥२०-२२॥

उत्कृत्यास्रावमार्गांस्तु परिस्राविणि बुद्धिमान् ॥२३॥
क्षारेण वा स्रावगतिं दहेद्द्रुतवहेन वा।
सुखोष्णेनाणुतैलेन सेचयेद् गुदमण्डलम् ॥२४॥
उपनाहाः प्रदेहाश्च मूत्रक्षारसमन्विताः।
वामनीयौषधैः कार्याः परिषेकाश्च मात्रया ॥२५॥
मृदुभूतं विदित्वैनमल्पस्रावरुगन्वितम्।
गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात् खर्जूरपत्रकम् ॥२६॥
चन्द्रार्धं चन्द्रवक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम्।
छित्त्वाऽग्निना दहेत् सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः ॥२७॥
ततः संशोधनैरेव मृदुतूर्यैर्विशोधयेत्।

परिस्रावि भगन्दर में बुद्धिमान सब स्राव मार्गों को शस्त्र से काटकर स्राव के रास्ते को क्षार से या अग्नि से जलाये। सुहाते गरम अणुतेल से गुदा के चारों ओर से सेक करे। गोमूत्र और क्षार युक्त प्रलेप और उपनाह बाँधे। मदन फल आदि वामक औषधियों से थोड़ा परिषेक करे। जब यह कोमल हो जाये, स्राव और पीड़ा कम हो जाये, तब गति रास्ते को ढूँढ़कर शस्त्र से खर्जूर के पत्र के समान, अर्धचन्द्राकार, पूर्ण चन्द्रमा के समान, सूचीमुख, नीचे को मुख किये रूप में काटे। फिर क्षार से या अग्नि से भली प्रकार जलाये। फिर पहले मृदु शोधन देकर पीछे से तीक्ष्ण संशोधन (विरेचन) दे।

वि० मन्तव्य—खर्जूरपत्रक-खर्जूर के पत्र का सा, चन्द्रार्ध-अर्धचन्द्राकार, चन्द्रवक्र-द्वितीया के समान टेढ़ा, सूचीमुख-सूई के समान सूक्ष्म मुखवाला, व्रण करे। अवाङ्मुख-अर्वाचीन मुखवाले भगन्दर में क्षारकर्म अथवा अग्निकर्म करे ॥२३-२७॥

बहिरन्तर्मुखश्चापि शिशोर्यस्य भगन्दरः ॥२८॥
तस्याहितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचारणम्।
यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्यावचारयेत् ॥२९॥

जिस बच्चे में भगन्दर बहिर्मुख या अन्तर्मुख हो, उसमें विरेचन, अग्निकर्म, शस्त्रकर्म, अहितकारी है। इसमें न तो तीक्ष्ण और न बहुत मृदु उपचार करे ॥२६॥

आरग्वधनिशाकालाचूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
अग्रवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥३०॥
योगोऽयं नाशयत्याशु गतिं मेघमिवानिलः।

अमलतास, हल्दी, काला (कटुतुम्बी या झिंटी) इनके चूर्ण को प्रचुर घी और मधु में मिलाकर, सूत की बनी वर्त्ती पर लगाकर व्रण में रक्खे, यह व्रणों का शोधन करती है। जिस प्रकार वायु बादलों की गति को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह वर्त्ति व्रणों को नष्ट करती है ॥३०॥

आगन्तुजे भिषङ्नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः ॥३१॥
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया।
दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः ॥३२॥
कृमिघ्नं च विधिं कुर्याच्छल्यानयनमेव च।

आगन्तुज भगन्दर में वैद्य शस्त्र से नाड़ी को यत्नपूर्वक काटकर, अग्नि में लाल किये जम्ब्वोष्ठ शस्त्र से या गरम की

हुई शलाका से बुद्धिमान् वैद्य सावधानी के साथ जलाये। शल्य होने पर कृमिनाशक एवं शल्य निकालने का उपचार करे ॥३१,३२॥

प्रत्याख्यायैष चारभ्यो वर्ज्यश्चापि त्रिदोषजः ॥३३॥

यह आगन्तुज भगन्दर आसाध्य कहकर चिकित्सा आरम्भ करे, त्रिदोषजन्य असाध्य है ॥३३॥

एतत् कर्म समाख्यातं सर्वेषामनुपूर्वशः।
एषां तु शस्त्रपतनाद्वेदना यत्र जायते ॥३४॥
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते।
वातघ्नौषधसंपूर्णां स्थालीं छिद्रशराविकाम् ॥३५॥
स्नेहाभ्यक्तगुदस्तप्तामध्यासीत सबाष्पिकाम्।
नाड्या वाऽस्याहरेत् स्वेदं शयानस्य रुजापहम्।
उष्णोदकेऽवगाह्यो वा तथा शाम्यति वेदना ॥३६॥

सबके लिये क्रमशः यह चिकित्सा कह दी है। इनमें शस्त्र कर्म के कारण जहाँ वेदना उत्पन्न हो जायें, वहाँ, अणु तैल को गरम करके उससे परिषेक करे। भद्रदारु, एरण्ड आदि वातनाशक औषधियों के क्वाथ से पात्र को भरे। इसके ऊपर छिद्रोंवाला ढक्कन रख दे। गुदा पर स्नेह लगाकर गरम होते हुए पात्र पर बैठे, और बाष्प स्वेद लेवे। अथवा लेटकर नाड़ी से स्वेद ले। इससे वेदना नष्ट होती है। अथवा गरम पानी में अवगाहन करे, इससे वेदना शान्त होती है ॥३६॥

कदलीमृगलोपाकप्रियकाजिनसंभृतान्।
कारयेदुपनाहांश्च साल्वणादीन् विचक्षणः ॥३७॥

कदलीमृग, लोमड़ी, प्रियक, इनके चर्मों से मिलाकर उपनाह करे। साल्वण आदि उपनाह बाँधे ॥३७॥

कटुत्रिकं वचाहिङ्गुलवणान्यथ दीप्यकम्।
पाययेच्चाम्लकौलत्थसुरासौवीरकादिभिः ॥३८॥

त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), वच, हींग, लवण और अजवायन इनको कांजी, कुलत्थी की सुरा, सौवीरक (सतुष धान्यों की कांजी) के साथ पिलाये ॥३८॥

ज्योतिष्मतीलाङ्गलकीश्यामादन्तीत्रिवृत्तिलाः।
कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका ॥३९॥
कासीसकाञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते।

मालकंगनी, कलिहारी, निशोथ, काली निशोथ, तिल, कूठ, सौंफ, गोलोमी (श्वेत दूर्वा), तिल्वक, श्वेत अपराजिता, कासीस, स्वर्णक्षीरी ये द्रव्य भगन्दर में शोधन कार्य में उत्तम हैं ॥३९॥

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मंजिष्ठा पयसा सह ॥४०॥
उत्सादनं भवेदेतत् सैन्धवक्षौद्रसंयुतम्।

निशोथ, तिल, नागदन्ती, मजीठ, विदारी, इनमें सैन्धव और मधु मिलाकर उत्सादन करे।

वि० मन्तव्य—उत्सादन—उपक्रम करे (देखिये चि० स्था० अ० १ का सू० ८) उत्सादनं निम्नव्रणवास्तुनः (गहरे व्रणस्थान का) पूरणं (भरनेवाला) लेपनयोगेन (लेपन रूप में प्रयोग करने से) इति डल्हनटीका ॥४०॥

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठानिम्बपल्लवाः ॥४१॥
त्रिवृत्तेजोवतीदन्तीकल्को नाडीव्रणापहः।
कुष्ठं त्रिवृत्तिला दन्ती मागध्यः सैन्धवं मधु ॥४२॥
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद् व्रणशोधनम्।

रसौत, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, नीम के पत्ते, निशोथ, तेजबल, जमालगोटा, इनका कल्क नाड़ीव्रण नाशक है। कूठ, निशोथ, तिल, जमालगोटा, पिप्पली, सैन्धव, मधु, हल्दी, त्रिफला, नीला तुत्थ ये व्रण के शोधन करने में हितकारी हैं।

वि० मन्तव्य—यह दोनों योग-कल्क नामक उपक्रम है देखिये चि० अ० १ का सू० ८। इनका कल्क बनाकर आवश्यकतानुसार भगन्दर के व्रण पर लगाया या भरा जाता है, इससे व्रण का शोधन हो जाता है ॥४१,४२॥

मागध्यो मधुकं रोध्रं कुष्ठमेला हरेणवः ॥४३॥
समङ्गा धातकी चैव सारिवा रजनीद्वयम्।
प्रियंगवः सर्जरसः पद्मकं पद्मकेसरम् ॥४४॥
सुधा वचा लांगलकी मधूच्छिष्टं ससैन्धवम्।
एतत् संभृत्य संभारं तैलं धीरो विपाचयेत् ॥४४॥
एतद्धि गण्डमालासु मण्डलेष्वथ मेहिषु।
रोपणार्थं हितं तैलं भगन्दरविनाशनम् ॥४६॥

पिप्पली, मुलैहठी, लोध, कूठ, इलायची, हरेणु, मजीठ, धातकी फूल, सारिवा, हल्दी, दारुहल्दी, प्रियंगु, राल, पद्माख, कमलकेशर, स्नुही-बच, कलिहारी, मोम सैन्धव, इन सबको लाकर इनसे तैल सिद्ध करे। यह तैल गण्डमाला में, मेहरोगियों की पिडकाओं में, मण्डलों में, रोपण के लिये तथा भगन्दर के नाश के लिये उत्तम है ॥४३–४६॥

न्यग्रोधादिगणश्चैव हितः शोधनरोपणे।
तैलं घृतं वा तत्पक्वं भगन्दरविनाशनम् ॥४७॥

शोधन और रोपण में न्यग्रोधादि गण को बरते। अथवा इसमें सिद्ध किया तैल या घृत भगन्दर के नाश के लिये उत्तम है ॥४७॥

त्रिवृद्दन्तीहरिद्रार्कमूलं लोहाश्वमारकौ।
विडंगसारं त्रिफला स्नुह्यर्कपयसी मधु ॥४८॥
मधूच्छिष्टसमायुक्तैस्तैलमेतैर्विपाचयेत्।
भगन्दरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः ॥४९॥

निशोथ, जमालगोटा, हल्दी, आक की जड़, अगरू, कनेर, वायविडंग, त्रिफला, थोर का दूध, मधु, और मोम इनके साथ तैल पकाये। इस तैल को मुख्यतः भगन्दर के नाश के लिए बरतना चाहिये ॥४८,४९॥

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलपूं हयमारकम्।

सुधां वचां लाङ्गलकीं सप्तपर्णं सुवर्चिकाम् ॥५०॥
ज्योतिष्मतीं च सम्भृत्य तैलं धीरो विपाचयेत्।
एतद्धि स्यन्दनं तैलं भृशं दद्याद् भगन्दरे ॥५१॥
शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा।
द्विव्रणीयमवेक्षेत व्रणावस्थासु बुद्धिमान् ॥५२॥

चित्रक, आक, निशोथ, पाठा, कठगूलर, कनेर, थोर, बच, कलिहारी, सप्तपर्ण, हुलहुल, मालकंगनी, इन सब से तैल सिद्ध करे। इस तैल का नाम स्यन्दन (दोषों को बहानेवाला) तैल है, भगन्दर में इनको खास कर बरते। यह तैल शोधन, तथा सवर्ण करने में उत्तम है। व्रण की अवस्थाओं में द्विव्रणीयोक्त विधान से चिकित्सा करे ॥५०-५२॥

छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयन्त्रस्य यन्त्रवित्।
ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्धेन्दुसन्निभम् ॥५३॥

यंत्र को जाननेवाला, अर्शयंत्र के छिद्र से ऊपर ओठ को निकालकर, भगन्दर में अर्धचन्द्रमाकार के इस यंत्र को बरते।

व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च।
संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः ॥५४॥

व्यायाम, मैथुन, क्रोध, सवारी, भारी भोजन, इनको व्रण के भरने के एक साल पीछे तक सेवन न करे—इनसे बचे ॥५४॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भगन्दरचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कुष्ठ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१, २॥

विरुद्धाध्यशनासात्म्यवेगविघातैः स्नेहादीनां चायथारम्भैः पापक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति।

विरुद्ध भोजन, अध्यशन, असात्म्य भोजन, मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, स्नेहनादि कार्यों के ठीक प्रकार न करने से, पापाचरण एवं पुरातन किये कर्मों के कारण त्वग् रोग होते हैं।

वि० मन्तव्य—त्वग्दोष-त्वग्रोग-त्वचा का रोग। यह सब कुष्ठ के ही नाम हैं। कुष्ठरोग में त्वचा दूषित हो जाती है, अतः त्वग्दोष कहते हैं ॥३॥

तत्र त्वग्दोषी मांसवसादुग्धदधितैलकुलत्थमाषनिष्पावेक्षुपिष्टविकाराम्लविरुद्धाध्यशनाजीर्णविदाह्यभिष्यन्दीनि दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत् ॥४॥

त्वग् रोगवाला व्यक्ति—मांस, वसा, दूध, दही तैल, (तिलका), कुलत्थी, उड़द, सेम, ईख के बने पदार्थ, पिट्ठी से बनी वस्तुयें, खटाई, विरोधी भोजन, अध्यशन, अजीर्ण में भोजन, विदाही, अभिष्यन्दि पदार्थ, दिन में सोना और मैथुन को छोड़ देवे ॥४॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोरदूषश्यामाकोद्दालकादीननवान् भुञ्जीत मुद्गाढक्योरन्यतरस्य यूषेण सूपेन वा निम्बपत्रारुष्करव्यामिश्रेण, मण्डूकपर्ण्यवल्गुजाटरूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिःसिद्धैः सर्षपतैलसिद्धैर्वा, तिक्तवर्गेण वाऽभिहितेन, मांससात्म्याय वा जाङ्गलमांसममेदस्कं वितरेत्, तैलं वज्रकमभ्यङ्गार्थे, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, पातपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषायम्, इत्येष आहाराचारविभागः ॥५॥

पथ्य—पुरातन शाली, सांठी, जौ, गेहूँ, कोरदूष, उद्दालक, श्यामाक, आदि को, मूंग, अरहर इनके यूष, या दलों में नीम के पत्ते तथा भिलावा मिलाकर इनके साथ खाये। मण्डूकपर्णी, बावची अडूसा, आक के फूलों से घी या सरसों का तेल सिद्ध करके तिक्तवर्ग-(प्रपुन्नाड़, बावची, पटोल आदि) के साथ सिद्ध घृत मिलाकर खाये। मांस सात्म्यवाले रोगी को मेद रहित जांगल मांस खाने को देवे। अभ्यंग के लिये वज्रक तेल (आगे सप्तपर्ण आदि से कहा है), उत्सादन में आरग्वधादि कषाय, परिषेक, अवगाहन आदि कार्यों में खदिर कषाय बरते, यह आहार-आचार नियम है।

वक्तव्य—सरसों का तेल रोग महत्ता से विधेय है। अथवा वात कफ कुष्ठों में सरसों का तेल बरते ॥५॥

तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत। तत्र त्वक्संप्राप्ते शोधनालेपनानि, शोणितप्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनानि, मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनारिष्टमन्थप्राशाः, चतुर्थकर्मगुणप्राप्तं याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च; तत्र संशोधनाच्छोणितावसेचनाच्चोर्ध्वं भल्लातशिलाजतुधातुमाक्षीकगुग्गुल्वगुरुतुवरकखदिरासनायस्कृतिविधानमासेवेत; पञ्चमं नैवोपक्रमेत ॥६॥

कुष्ठ रोग के पूर्व रूपों में वमन, विरेचन बरते। त्वचा में कुष्ठ होने पर शोधन, आलेपन करे, रक्त में पहुँचने पर संशोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण करे, मांस में पहुँचने पर शोधन, लेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, अरिष्ट, मन्थ और प्राश (अवलेह) बरते। मेद में पहुँचा कुष्ठ-संशोधन आदि करने पर जितेन्द्रिय पुरुष के साधन सम्पन्न होने पर याप्य रहता है। इसमें संशोधन और रक्तमोक्षण के उपरान्त भिलावा, शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिक, गुग्गुल, अगुरु, तुवरक, खैर, असन, अयस्कृति चिकित्सा का सेवन करे। अस्थि आदि पांचवीं धातु में पहुँचा कुष्ठ असाध्य है, उसकी चिकित्सा न करे ॥६॥

तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत्। मेषशृङ्गीश्वदंष्ट्राशार्ङ्गेष्टागुडूचीद्विपञ्चमूलीसिद्धं तैलं घृतं वा वातकुष्ठिनां पानाभ्यङ्गयोर्विदध्यात्, धवाश्वकर्णककुभपलाशपिचुमर्दपर्पटकमधुरकरोध्रसमङ्गासिद्धं सर्पिः पित्तकुष्ठिनां, प्रियालशालारग्वधनिम्बसप्तपर्णचित्रकमरिचवचाकुष्ठसिद्धं श्लेष्मकुष्ठिनां भल्लातकाभयाविडङ्गसिद्धं वा सर्वेषां तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति ॥७॥

इसमें सबसे प्रथम कुष्ठ रोगी को वमन आदि संशोधन देकर स्नेहपानविधि से चिकित्सा करे। मेषश्रृंगी, गोखरू, शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता या काकजंघा), गिलोय और दशमूल से सिद्ध घृत या तैल वातकुष्ठ रोगियों में पान और अभ्यंग के लिये बरते। धव, अश्वकर्ण, अर्जुन, पलाश (ढाक), नीम, पित्तपापड़ा, मुलहठी, लोध, छुई मुई (या मजीठ) से सिद्ध घृत पित्त कुष्ठियों में पीने और अभ्यंग के लिये देवे। पियाल, शाल, अमलतास, नीम, सप्तपर्ण, चित्रक, मरिच, वच, कूठ इनसे सिद्ध किया घृत (या तैल) कफ कुष्ठियों के पीने और अभ्यंग के लिये बरते। अथवा भिलावा, हरड़ विडंग से सिद्ध किया घृत कफ कुष्ठ रोगियों में बरते। सब प्रकार के कुष्ठों में तुवरक तेल या भिलावे का तेल बरते।

वि० मन्तव्य—तुवरक तैल का वर्णन चि० अ० १३ में देखिये, कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध चालमोगरा तैल ही तुरवक तैल है। इसको ४-६ मासे खाने से वमन एवं विरेचन हो जाता है और अल्पमात्रा में खाने से रक्त शोधन होता है। अभ्यङ्ग से त्वग्दोष शान्त हो जाते हैं ॥७॥

सप्तपर्णारग्वधातिविषेक्षुरपाठाकटुरोहिण्यमृतात्रिफलापटोलपिचुमर्दपर्पटकदुरालभात्रायमाणामुस्ताचन्दनपद्म - द्रुमकहरिद्रोपकुल्याविशालामूर्वाशतावरीसारिवेन्द्रयवाटरूषकषड्ग्रन्थामधुकभूनिम्बगृष्टिका इति समभागः कल्कः स्यात्, कल्काच्चतुर्गुणं सर्पिः प्रक्षिप्य तद्द्विगुणो धात्रीफलरसस्तच्चतुर्गुणा आपस्तदेकध्यं समालोड्य विपचेत्, एतन्महातिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वररक्तपित्तहृद्रोगोन्मादापस्मारगुल्मपिडकासृग्दरगलगण्डगण्डमालाश्लीपदपाण्डुरोगविसर्पार्शः षाण्ढ्यकण्डूपामादीञ्छमयेदिति ॥८॥

महातिक्तकघृत—सप्तपर्ण, अमलतास, अतीस, तालमखाना, कटुकी, गिलोय, त्रिफला, परवल, नीम, पापड़ा, धमासा, त्रायमाण, मुस्ता, चन्दन, पद्माख, हल्दी, पिप्पली, बड़ी इन्द्रायण, मूर्वा, शतावरी, सारिवा, इन्द्र जौ, अडूसा, वच, मुलैहठी, चिरायता, वेर प्रत्येक समान भाग लेकर इनका कल्क करे। कल्क से चार गुणा घी, घी से दुगना आँवले का स्वरस, स्वरस से चार गुणा पानी, सबको एक साथ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह महातिक्तक नामक घृत कुष्ठ, विषमज्वर, रक्तपित्त, हृदय रोग, उन्माद, अपस्मार, गुल्म; पिडका, रक्तप्रदर, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, पाण्डुरोग, विसर्प, अर्श, नपुंसकता कण्डू पामा आदि को नष्ट करता है।

वक्तव्य—गृष्टि शब्द एक बार की ब्याई गाय तथा वेर के लिये है, यथा—'अथ गृष्टिः सकृत्प्रसूतगवीबदरयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। इससे बेर लेना होता है। चरक में "पाठा" पढ़ा है। वह इस पाठ में नहीं है। इसी प्रकार श्वेत और कृष्ण दोनों सारिवा उसमें हैं ॥७॥

त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूषकटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणाः पर्पटकश्चैतेषां द्विपलिकान् भागाञ्जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, एतत्तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्पषाण्ढ्यशमनमूर्ध्वजत्रुगतरोगघ्नं चेति ॥९॥

तिक्तकघृत-त्रिफला, पटोल, नीम, अडूसा, कुटकी, धमासा, त्रायमाणा और पित्तपापड़ा ये प्रत्येक दो पल लेकर एक द्रोण जल में डालकर क्वाथ विधि से चौथाई क्वाथ शेष रक्खे। इसमें त्रायमाण, मुस्ता, इन्द्रजौ, चन्दन, चिरायता, पिप्पली प्रत्येक आधा पल लेकर इनको पीसकर कल्क मिलाये। इसमें घी एक प्रस्थ डालकर पकाये। यह तिक्तकघृत कुष्ठ, विषमज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणीदोष, शोफ, पाण्डुरोग, विसर्प, नपुंसकता को नष्ट करता है, ऊर्ध्व जत्रु के रोगों को नष्ट करता है ॥९॥

अतोऽन्यतमेन घृतेन स्निग्धस्विन्नस्यैकां द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा सिरा विध्येत्, मण्डलानि चोत्सन्नान्यवलिखेदभीक्ष्णः प्रच्छयेद्वा समुद्रफेनशाकगोजाकाकोदुम्बरिकापत्रैर्वाऽवघृष्यालेपयेल्लाक्षासर्जरसरसाञ्जनप्रपुन्नाडावल्गुजतेजोवत्यश्वमारकार्ककुटजारेवतमूलकल्कैर्मूत्रपिष्टैः पित्तपिष्टैर्वा, स्वर्जिकातुत्थकासीसविडङ्गागारधूमचित्रककटुकसुधाहरिद्रासैन्धवकल्कैर्वा, एतान्येवावाप्य क्षारकल्पेन निःस्रुते पालाशे क्षारे ततो विपाच्य फाणितमिव संजातमवतार्य लेपयेत्, ज्योतिष्कफललाक्षामरिचपिप्पलीसुमनःपत्रैर्वा हरितालमनःशिलार्कक्षीरतिलशिग्रुमरिचकल्कैर्वा; स्वर्जिकाकुष्ठतुत्थकुटजचित्रकविडङ्गमरिचरोध्रमनःशिलाकल्कैर्वा, हरीतकीकरञ्जिकाविडङ्गसिद्धार्थकलवणरोचनावल्गुजहरिद्रा कल्कैर्वा ॥१०॥

सर्वे कुष्ठापहाः सिद्धा लेपः सप्त प्रकीर्तिताः।

इनमें से किसी एक घृत से स्नेहन करके, स्वेदन देकर, एक, दो, तीन, चार या पाँच सिरा का वेधन करे। ऊँचे उठे मण्डलों में बार-बार लेखन करे। अथवा पाछना करे। समुद्रफेन, सागौन, गाजवाँ कठगूलर, इनके पत्तों से रगड़कर, लाख, राल, रसौत, पनवाड़ के बीज, बावची, तेजबल, कनेर, आक, कुटज, अमलतास की मूल, इनके कल्क को गोमूत्र से या गाय के पित्त से पीसकर लेप करे। सर्जक्षार, तुत्थ, का सीस

विडंग, घर का धुंवासा, चित्रक, कुटकी, थोर, हल्दी, सैन्धव इनके कल्क से लेप करें। इन्हीं की तिलनालों से जलाकर छै गुणे पलाशक्षार में घोलकर क्षार विधि से नितारकर फिर पकाये। जब राब की भाँति हो जाये तब उतारकर लेप करे। ज्योतिष्क फल (माल कांगनी के फल या काकादनी-रत्ती के फल), लाख, मरिच, पिप्पली, चमेली के पत्ते, इनसे, अथवा हरताल, मैनसिल, आक का दूध, तिल, सुहांजना, मरिच, इनके कल्क से लेप करे। स्वर्जिका, कूठ, तुत्थ, कुटज, चित्रक, विडंग, मरिच, लोध, मैनसिल इनके कल्क से अथवा हरड़, लताकरंज, विडंग, सरसों, सैन्धव, हल्दी, बावची, रोचना (गोरोचना) इनके कल्क से लेप करे। लेपों को गोमूत्र में या गाय के पित्त में पीसकर लगायें। सब प्रकार के कुष्ठों के नाश करनेवाले ये सात सिद्ध लेप कह दिये हैं ॥१०॥

वैशेषिकानतस्तूर्ध्वं दद्रूश्वित्रेषु मे शृणु ॥ ११ ॥

लाक्षा कुष्ठं सर्षपाः श्रीनिकेतं
रात्रिर्व्योषं चक्रमर्दस्य बीजम् ॥
कृत्वकस्थं तक्रपिष्टैः प्रलेपो
दद्रूघ्नोक्तो मूलकाद्वीजयुक्तः ॥ १२ ॥

इसके आगे दद्रु और श्वित्रों के लिये विशेष योगों को सुनो—

लाख, कूठ, सरसों, नवनीत धूप (गन्धाविरोजा-सरल का गोन्द धूप) हल्दी, त्रिकटु, पनवाड़ के बीज, मूली के बीज, इनको एक साथ तक्रमें पीसकर दद्रु में लेप करे ॥१२॥

सिन्धूद्भूतं चक्रमर्दस्य बीज-
मिक्ष्वद्भूतं केशरं तार्क्ष्यशैलम् ।
पिष्टो लेपोऽयं कपित्थाद्रसेन
दद्रूस्तूर्णं नाशयत्येष योगः ॥ १३ ॥

सैन्धव, पनवाड़ के बीज, गुड़, मौलश्री, रसौत, इनको कैथ के रस में पीसकर लगाने से दद्रु शीघ्र नष्ट होती है ॥१३॥

हेमक्षीरी व्याधिघातः शिरीषो
निम्बः सर्जो वत्सकः साजकर्णः ।
शीघ्रं तीव्रा नाशयन्तीह दद्रूः
स्नानालेपोद्घर्षणेषूपयुक्ताः ॥ १४ ॥

स्वर्णक्षीरी (डल्हण के मत से कंकुष्ठ), अमलतास, शिरीष, नीम, राल, इन्द्रजौ, अजकर्ण, इनको स्नान, आलेप, उद्घर्षण में बरतने से तीव्र दाद शीघ्र नष्ट होती है ॥१४॥

भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं
दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलप्वाः ।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं
स्फोटान् श्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात् ॥१५॥

बड़ी कठगूलर, और छोटी कठगूलर (अंजीर) इन दोनों के मूल एक पल लेकर सोलह पल पानी में क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर इस क्वाथ को ग्रीष्म काल में (या दुपहर में), गरम पीकर धूप में बैठे और सरसों के तेल का अभ्यंग करे। इस प्रकार करने से श्वित्र में और पुण्डरीक कुष्ठ में छाले उत्पन्न होते हैं। (औषध के जीर्ण होने पर गाय के तक्र या दाडिम यूष से भोजन करे) ॥१५॥

द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा
भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः ।

चीते या हाथी की खाल को जलाकर इस राख को आवर्त्त की मूल से सिद्ध तैल में मिलाकर, छालों के फूटने पर लेप करे।

वक्तव्य—"आवर्त्तकीमूलसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यावचूर्णयेद् गज-द्वीपिचर्ममसीचूर्णेन, त्रिफलालोहचूर्णेन वा ॥" आवर्त्तकी का गुजराती नाम आवल है।

पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेको निहन्ति ॥ १६॥

अकेला पूतिकीट अमलतास के क्षार के साथ क्षारोदक में मिलाकर लगाने से श्वित्र को नष्ट करता है। (पूतिकीट—तेलिया कीड़ा बरसात में होता है, पर बड़े होते हैं) ॥१६॥

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा
बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम् ।
एतत् समस्तं मृदितं प्रलेपात्
श्वित्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम् ॥१७॥

काले सांप को भली प्रकार से जलाकर बनाई राख को बहेड़े के तेल में मिलाकर लेप करने से सब प्रकार के श्वित्र नष्ट होते हैं। (जलाने पर जब बहुत काला हो जाये तब मसी या राख कहते हैं, थोड़ा जलाने पर जब श्वेत रहे, तब क्षार कहते हैं) ॥१७॥

अध्यर्धतोये सुमतिस्रुतस्य क्षारस्य कल्पेन तु सप्तकृत्वः ।
तैलं शृतं तेन चतुर्गुणेन श्वित्रापहं म्रक्षणमेतदग्र्यम् ॥

काले सांप की मसी से डेढगुणा (१½) पानी लेकर इसको क्षार विधि से सात बार नितारकर, तैल से चौगुना लेकर इसमें तैल सिद्ध करे। इसका लेप श्वित्र को नष्ट करने में श्रेष्ठ है ॥१८॥

घृतेन युक्तं प्रपुनाडबवीजं कुष्ठं च यष्टीमधुकं च पिष्ट्वा ।
श्वेताय दद्याद्गृहकुक्कुटाय चतुर्थभक्ताय बुभुक्षिताय ॥
तस्योपसंगृह्य च तत् पुरीषमुत्पाचितं सर्वत एव लिम्पेत् ।
अभ्यन्तरं मासमिमं प्रयोगं प्रयोजयेत् श्वित्रमथो निहन्ति ॥

पनवाड़ के बीज, कूठ, मुलैहठी, इनको घी के साथ पीस कर घर के श्वेत मुर्गे को एक दिन पूरा भूखा रखकर-दूसरे दिन सायंकाल में (खूब भूख लगने पर) खाने के लिये देवे। फिर छाले आदि से पकाये कुष्ठ या श्वित्र पर इसकी बीट को

एकत्रा करके लेप करे। इस प्रकार एक मास प्रयोग करने पर यह श्वित्र को नष्ट कर देता है ॥१६.२०॥

क्षारे सुदग्धे गजगण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्रुते च।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजस्य ॥२१॥
एतद्यदा चिक्कणतामुपेति तदा समस्तं गुटिका विदध्यात्।
श्वित्रं प्रलिम्पेदथ संप्रघृष्य तया व्रजेदाशु सवर्णभावम् ॥

हाथी की लीद को भली प्रकार जलाकर बनाये क्षार को हाथी के मूत्र में घोलकर कई बार नितार ले। इसके एक द्रोण में दसवां भाग बावची के बीज मिलाकर पकाये। पकाते समय जब कड़छी पर लगे तब इसकी गोलियाँ बना ले। श्वित्र को घिसकर उसपर इनका लेप करे, इससे त्वचा के समान रंग आता है।

वक्तव्य—जलपिप्पली बहुत गरम है, प्लेग की गाँठ पर इसका कल्क बांधते हैं। इससे गांठ पक जाती है, या बैठ जाती है। 'जलकण्डजे' के स्थान पर 'गजलेण्डजे' पाठ होने पर हाथी की विष्ठा अर्थ है। यह भी बहुत गरम है, गर्भधृति को रोकने के लिये इसे बरतते हैं ॥२१-२२॥

कषायकल्पेन सुभावितां तु जलं त्वचा चूतहरीतकीनाम्।
तां ताम्रदीपे प्रणिधाय धीमान् वर्तिं वटक्षीरसुभावितां तु ॥
आदीप्य तज्जातमसीं गृहीत्वा
तां चापि पथ्याम्भसि भावयित्वा।
संप्रच्छितं तद्बहुशः किलासं
तैलेन सिक्तं कटुना प्रयाति ॥२४॥

आम और हरड़ की छाल को कषाय विधि से क्वाथ करके इस क्वाथ से रूई की वर्त्ति को भली प्रकार भावित करके, कटुतैल से तर करके, ताम्र के दीपक में रखकर, जलाये। इसके जलने से जो मसी (स्याही) बने, उसे हरड़ के क्वाथ और वट क्षीर से भावित करके, कड़ुए तेल (सरसों का तेल) में मिला कर, किलाश को बहुत बार पाछकर, इससे लेप करे। इससे किलाश नष्ट हो जाता है। (भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथश्चाष्टांशशेषितः ॥२३-२४॥

आवल्गुजं बीजमग्र्यं नदीजं
काकाह्वानौदुम्बरी या च लाक्षा।
लौहं चूर्णं मागधी तार्क्ष्यशैलं
तुल्याः कार्याः कृष्णवर्णास्तिलाश्च ॥२५॥
वर्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां
लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी।
लेपात् पित्तं शैखिनं श्वित्रहारि
ह्रीबेरं वा दग्धमेतेन युक्तम् ॥२६॥

बावची के बीज, उत्तमस्वर्णमाक्षिक, कठगूलर, लाख, लोहचूर्ण, पिप्पली, रसौत, इन सब के बराबर काले तिल इनको गाय के पित्त में पीसकर गोली बना ले। श्वित्रों पर इनका लेप करने से श्वित्र नष्ट होते हैं। ह्रीबेर को जलाकर मोर के पित्त में मिलाकर लेप करने से भी श्वित्र नष्ट होते हैं ॥२५,२६॥

तुत्थालकटुकाव्योषसिंहार्कहयमारकाः।
कुष्ठावल्गुजभल्लातक्षीरिणीसर्षपाः स्नुही ॥२७॥
तिल्वकारिष्टपीलूनां पत्राण्यारग्वधस्य च।
बीजं विडङ्गाश्वहन्त्रोर्हरिद्रे बृहतीद्वयम् ॥२८॥
आभ्यां श्वित्राणि योगाभ्यां लेपान्नश्यन्त्यशेषतः।

(१) तुत्थ, हरताल, कुटकी, त्रिकटु, सिंह (अड़ूसा), आक, मनेर, कूठ, बावची, भिलावा, दूधी सरसों और थोर, (२) तिल्वक, नीम, पीलु, अमलतास के पत्ते, वायविडंग और कनेर के बीज, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी, इन दो योगों के लेप से श्वित्र सम्पूर्ण रूप में नष्ट होते हैं ॥२७-२८॥

वायसीफल्गुतिक्तानां शतं दत्त्वा पृथक् पृथक् ॥२९॥
द्वे लोहरजसः प्रस्थे त्रिफलात्र्याढकं तथा।
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावद्भागौ द्वावसनादपि ॥३०॥
शिष्टौ च विपचेद् भूय एतैः श्लक्ष्णप्रपेषितैः।
कल्कैरिन्द्रयवव्योषत्वग्दारुचतुरङ्गुलैः ॥३१॥
पारावतपदीदन्तीबाकुचीकेशराह्वयैः।
कण्टकार्या च तत्पक्वं घृतं कुष्ठिषु योजयेत् ॥३२॥
दोषधात्वाश्रितं पानादभ्यङ्गात्त्वग्गतं तथा।
अप्यसाध्यं नृणां कुष्ठं नाम्ना नीलं नियच्छति ॥३३॥

वायसी (काकतिक्ता, मकोय), कठगूलर (या अंजीर) कुटकी, प्रत्येक एक सौ पल, लोह चूर दो प्रस्थ, त्रिफला तीन आढक, असन (विजय सार) दो प्रस्थ, मिलाकर तीन द्रोण जल में पकाये। जब एक भाग जल जल जाये, दो भाग बच जाये, तब उतार कर छान ले। इसमें इन्द्रजौ त्रिकटु, दालचीनी, देवदारु, अमलतास, पारावतपदी, जामालगोटा, बावची, नागकेशर, कटेरी, उनका बारीक पीसा कल्क मिलाकर आढक घृत को सिद्ध करे। यह घृत कुष्ठ रोगियों में देवे। इस घृत के पीने से दोष धातुओं में स्थित तथा अभ्यंग में त्वचा में स्थित, असाध्य कुष्ठ भी अच्छा हो जाता है। इसका नाम नीलघृत है॥

त्रिफलात्वक् त्रिकटुकं सुरसा मदयन्तिका।
वायस्यारग्वधश्चैषां तुलां कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥३४॥
काकमाच्यकेवरुणदन्तीकुटजचित्रकात्।
दार्वीनिदिग्धिकाभ्यां तु पृथग्दशपलं तथा ॥३५॥
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावत् षट्प्रस्थं परिशेषितम्।
शकृद्रसदधिक्षीरमूत्राणां पृथगाढकम् ॥३६॥
तद्वद्घृतस्य तत्साध्यं भूनिम्बव्योषचित्रकैः।
करञ्जफलनीलिकाश्यामावल्गुजपीलुभिः ॥३७॥
नीलिनीनिम्बकुसुमैः सिद्धं कुष्ठापहं कृतम्।
म्रक्षणादङ्गसावर्ण्यं श्वित्रिणां जनयेन्नृणाम्।
भगन्दरं कृमीनर्शो महानीलं नियच्छति ॥३८॥

महानीलघृत—हरड, बहेड़ा, आंवला की बकली, सोंठ, मरिच, पीपल, तुलसी, मेंहदी, मकोय, अमल तास, ये प्रत्येक

एकसौ पल, मकोय, आक, वरुण, जमालगोटा, कुटज, चित्रक, दारुहल्दी, कटेरी पृथग् दश पल, लेकर इन सबको तीन द्रोण जल में क्वाथ करे। जब छै प्रस्थ शेष रह जाये तब छानकर इसमें गोबर का स्वरस, दही, दूध, गोमूत्र और गोघृत प्रत्येक एक आढक, तथा चिरायता, त्रिकटु, चित्रक, करंज फल, नीलिनी, निशोथ, बावची, पीलु, नीलिका, नीम के फूल इनका कल्क मिलाकर घृत को सिद्ध करे। यह घृत खाने में कुष्ठ नाशक है, और मलने से श्वित्र में त्वचा के समान रंग लाता है। यह महानील घृत भगन्दर, कृमि अर्श को नष्ट करता है।

वक्तव्य—वायसी-का अर्थ काकमाची (मकोय) और काकोदुम्बरिका (कठगूलर) दोनों है। इसलिये एक स्थान पर मकोय और दूसरे स्थान में कठगूलर ले सकते हैं। या दोनों स्थान पर मकोय भी ले सकते हैं। जैसे त्रिकटु का पाठ दो स्थान पर है। नीलिका और नीलिनी-में नीलिनी से तो नील (रंगने का द्रव्य) लेते हैं। नीलिका के स्थान में चरक में—संग्रह में नलिका पाठ है, जिसका अर्थ कोष में कलम्ब (जलज शाक, कल्मी शाक) दिया है। काश्मीर में कलम्ब का शाक विशेष प्रचलित है ॥३४-३८॥

मूत्रं गव्यं चित्रकव्योषयुक्तं
सर्पिःकुम्भे क्षौद्रयुक्तं स्थितं हि।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत्
कुर्याच्चास्मिन् कुष्ठदिष्टं विधानम् ॥३९॥

गोमूत्र में चित्रक, त्रिकटु मिलाकर, मधु के साथ घी के भाण्ड में पन्द्रह दिन रहने दें। इसके पीछे श्वित्र रोगी इसको पीवें और इसमें कुष्ठ में कही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—चित्रक, त्रिकटु और मधु को मिलाकर घड़े के अन्दर इतनी मात्रा में लेप करें, जिससे मूत्र में कटुता आजाये॥

पूतीकार्कस्नुङ्नरेन्द्रद्रुमाणां
मूत्रैःपिष्टाः पल्लवाः सोमनाश्च।
लेपः श्वित्रं हन्ति दद्रुव्रणांश्च
दुष्टान्यर्शांस्येष नाडीव्रणांश्च ॥४०॥

करंज, अर्क, थोर और अमलतास तथा चमेली के पत्तों को गोमूत्र के साथ पीसकर लेप करे। इससे श्वित्र, दद्रु, व्रण, दूषित अर्श और नाड़ी व्रण नष्ट होते हैं ॥४०॥

अस्मादूर्ध्वं निःस्रुते दुष्टरक्ते
जातप्राणं सर्पिषा स्नेहयित्वा।
तीक्ष्णैर्योगैश्छर्दयित्वा प्रगाढं
पश्चाद्दोषं निर्हरेच्चाप्रमत्तः ॥४१॥

इसके आगे दूषित रक्त के निकल जाने पर शरीर में पुनः बल आ जाने से रोगी को घी से स्नेहन करके तीक्ष्ण वामक योगों से भली प्रकार वमन करके, पीछे विरेचन आदि से दोषों को बिना आलस्य के निकालता रहे ॥४१॥

दुर्वान्तो वा दुर्विरिक्तोऽपि वा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्तदेहः।
निःसन्दिग्धं यात्यसाध्यत्वमाशु
तस्मात् कृत्स्नान्निर्हरेत्तस्य दोषान् ॥४२॥

कुष्ठ रोगी को वमन या विरेचन भली प्रकार यदि न हों, तो दोषों के कुपित होकर सारे शरीर में फैल जाने पर रोगी अवश्य असाध्य हो जाता है, इस लिये इसके दोषों को सम्पूर्ण रूप में बाहर करे ॥४२॥

पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्-
मासान्मासात् स्रंसनं चापि देयम्।
स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं
नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात् त्रिरात्रात् ॥४३॥

कुष्ठ रोगी को पन्द्रह-पन्द्रह दिन पीछे वमन और एक-एक मास पीछे विरेचन देना चाहिये। वर्ष में दो बार (छै छैमास में) थोड़ा-थोड़ा रक्त निकालना चाहिये। तीन-तीन दिन पीछे रोगी को नस्य देना चाहिये ॥४३॥

पथ्या व्योषं सेक्षुजातं सतैलं
लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात्।
धात्रीपथ्याक्षोपकुल्याविडङ्गान्
क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वाऽवलिह्यात् ॥४४॥
पीत्वा मासं वा पलांशां हरिद्रां
मूत्रेणान्तं पापरोगस्य गच्छेत्।
एवं पेयश्चित्रकः श्लक्ष्णपिष्टः
पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्रयुक्ताः ॥४५॥
तद्वत्तादर्यं मासमात्रं च पेयं,
तेनाजस्रं देहमालेपयेच्च।
आरिष्टी त्वक् सप्तपर्णी च तुल्या
लाक्षा मुस्तं पञ्चमूल्यौ हरिद्रे ॥४६॥
मञ्जिष्ठाक्षौ वासकौ देवदारु
पथ्यावह्नी व्योषधात्री विडङ्गः।
सामान्यांशं योजयित्वा विडङ्ग-
श्चूर्णं कृत्वा तत्पलोन्मानमश्नन् ॥४७॥
कुष्ठाज्जन्तुर्मुच्यते त्रैफलं वा
सर्पिर्द्रोणं व्योषयुक्तं च युञ्जन्।
गोमूत्राम्बुद्रोणसिद्धेऽक्षपीडे
सिद्धं सर्पिर्नाशयेच्चापि कुष्ठम् ॥४८॥
आरग्वधे सप्तपर्णे पटोले
सवृक्षके नक्तमाले सनिम्बे।
जीर्णं पक्वं तद्धरिद्राद्वयेन
हन्यात् कुष्ठं मुष्कके चापि सर्पिः ॥४९॥

हरड़, त्रिकटु, गुड़, तैल इनको एक साथ मिलाकर चाटने से कुष्ठ रोग से मुक्त होता है। अथवा आँवला, हरड़, बहेड़ा, पिप्पली, विडंग, इनको मधु और घी के साथ चाटे। हल्दी

का रस एक पल मात्रा में गोमूत्र के साथ एक मास तक पीने से कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार चित्रक या पिप्पली को बारीक पीसकर एक पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ पीना चाहिये। इस प्रकार रसौत को गोमूत्र के साथ एक मास तक पीये और रसौत का शरीर पर निरन्तर लेप करे। रीठे की छाल, सप्तपर्ण की छाल, समान मात्रा में, लाख, मुस्ता, दशमूल, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, बहेड़ा, अडूसा, देवदारु, हरड़, चित्रक, त्रिकटु, आंवला, विडंग, इन सबको समान भाग लेकर, इन सब के बराबर इसमें विडंग का चूर्ण मिलाये। इसमें से रोगी एक पल मात्रा को प्रतिदिन (गोमूत्र से) खाये। अथवा त्रैफल घृत में त्रिकटु मिलाकर इसको एक द्रोण भी खाने से रोगी कुष्ठ से मुक्त हो जाता है। एक द्रोण गोमूत्र में अक्षपीड (यवतिक्ता) से सिद्ध किया घृत कुष्ठ को नष्ट कर देता है। अमलतास, सप्तपर्ण, पटोल, कुटज, करंज, नीम, हल्दी, दारुहल्दी और मुष्कक (मोखा) इनसे सिद्ध किया पुरातन घृत कुष्ठ को नष्ट करता है ॥४६॥

रोध्रारिष्टं पद्मकं रक्तसारः
सप्ताह्वाक्षौ वृक्षको बीजकश्च।
योज्याः स्नाने दह्यमानस्य जन्तोः
पेया वा स्यात् क्षौद्रयुक्ता त्रिमण्डी ॥५०॥

पित्त की अधिकता के कारण जिसको बहुत जलन होती हो, उसके स्नान के लिये लोध, नीम, पद्माख, रक्तसार (मजीठ), सप्तपर्ण, बहेड़ा, कुटज, असनसार इनका षडंगोदक परिभाषा से बनाया क्वाथ स्नान में देवे। अथवा निशोथ को मधु के साथ पीये।

वक्तव्य—षडंग परिभाषा—'यदप्सु शृतशीतासु षडंगादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ॥' डल्हण ने षडंगोदक से स्नान करना लिखा है, परन्तु कषाय विधि से क्वाथ बनाकर स्नान कराने में कोई हानि नहीं ॥५०॥

(खादेत् कुष्ठी मांसशा (पा) ते पुराणान्
मुद्गान् सिद्धान्निम्बतोये सतैलान् ॥)

कुष्ठ रोगी का मांस गिरता हो तो वह नीम के क्वाथ में पुराने मूंग को तैल के साथ पकाकर खाये (यहाँ पर नीम का क्वाथ भी षडंग परिभाषा से करे)।

निम्बक्वाथं जातसत्त्वः पिबेद्वा
क्वाथं वाऽर्कालर्कसप्तच्छदानाम् ॥५१॥
जग्धेष्वङ्गेष्वश्वमारस्य मूलं
लेपो युक्तः स्याद्विडङ्गैः समूत्रैः।
मूत्रैश्चैनं सेचयेद्भोजयेच्च
सर्वाहारान् संप्रयुक्तान् विडङ्गैः ॥५२॥
कारञ्जं वा सार्षपं वा क्षतेषु
क्षेप्यं तैलं शिग्रुकोशाम्रयोर्वा।
पक्वं सर्वैर्वा कटूष्णैः सतिक्तैः
शेषं च स्याद् दुष्टवत् संविधानम् ॥५३॥

कुष्ठ में कृमि उत्पन्न होने पर नीम का क्वाथ अथवा आक, श्वेत फूल का आक, सप्तपर्ण इनका क्वाथ पीये। कीड़ों से खाये अंगों पर कनेर की मूल वायविडंग इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे। इन पर गोमूत्र का परिषेक करे, और सब भोजनों में वायविडंग को बरते। अथवा व्रणों पर करंज का, सरसों का सुहांजने का या कोशाम्र बीज का तेल लगाये। अथवा मरिच आदि कटु द्रव्य, निम्बादि तिक्त द्रव्यों के कषाय में तैल पाक विधि से करंज आदि के तेल सिद्ध करके लगाये। शेष सब चिकित्सा दुष्ट व्रण की भांति करनी चाहिये ॥५१-५३॥

सप्तपर्णकरञ्जार्कमालतीकरवीरजम्।
स्नुहीशिरीषयोर्मूलं चित्रकास्फोतयोरपि ॥५४॥
विषलाङ्गलवज्राख्यकासीसालमनःशिलाः।
करञ्जबीजं त्रिकटु त्रिफलां रजनीद्वयम् ॥५५॥
सिद्धार्थकान् विडङ्गानि प्रपुन्नाडं च सहरेत्।
मूत्रपिष्टैः पचेदेतैस्तैलं कुष्ठविनाशनम् ॥५६॥
एतद्वज्रकमभ्यङ्गान्नाडीदुष्टव्रणापहम्।

वज्रक तैल—सप्तपर्ण करंज, आक, चमेली, कनेर, थोर, शिरीष-इनके मूल, चित्रक मूल, सारिसा मूल, मीठा तेलिया, कलिहारी, वज्राख्या (नागफली), कासीस, हरताल, मैनसिल, करंज बीज, त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, सरसों, वायविडंग, पनवाड, इनको गोमूत्र के साथ पीसकर इनके कल्क से गोमूत्र में तैल सिद्ध करे। यह वज्रक तैल कुष्ठ नाशक है। मलने से नाड़ी व्रण, दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है। (इसमें गयी सरसों के तैल का सिद्ध करना मानता है, जो युक्ति युक्त भी है) ॥५४-५६॥

सिद्धार्थककरञ्जौ द्वौ द्वे हरिद्रे रसाञ्जनम् ॥५७॥
कुटजश्च प्रपुन्नाडसप्तपर्णौ मृगादनी।
लाक्षा सर्जरसोऽर्कश्च सास्फोतारग्वधौ स्नुही ॥५८॥
शिरीषस्तुवराख्यस्तु कुटजारुष्करौ वचा।
कुष्ठं कृमिघ्नं मञ्जिष्ठा लाङ्गली चित्रकं तथा ॥५९॥
मालती कटुतुम्बी च गन्धाह्वा मूलकं तथा।
सैन्धवं करवीरश्च गृहधूमं विषं तथा ॥६०॥
कम्पिल्लकं ससिन्दूरं तेजोह्वातुत्थकाह्वयं।
समभागानि सर्वाणि कल्कपेष्याणि कारयेत् ॥६१॥
गोमूत्रं द्विगुणं दद्यात्तिलतैलाच्चतुर्गुणम्।
कारञ्जं वा महावीर्यं सार्षपं वा महागुणम् ॥६२॥
अभ्यङ्गात् सर्वकुष्ठानि गण्डमालाभगन्दरान्।
नाडीदुष्टव्रणान् घोरान् नाशयेन्नात्र संशयः ॥६३॥
महावज्रकमित्येतन्नाम्ना तैलं महागुणम्।

महावज्रक तैल—सरसों, नाटाकरञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी, रसौंत, कुटज, पनवाड़, सप्तपर्ण, इन्द्रायण, लाख, राल, आक, सारिवा, अमलतास, थोर, शिरीष, तुवरक, कुटज, भिलावा, वच, कूठ, वायविडङ्ग, मजीठ, कलिहारी, चित्रक, चमेली, कड़ुई तुम्बी, गन्धक, मूली, सैन्धव, कनेर, घर का धुंवासा, मीठा तेलिया, कमोला, सिन्दूर तेजबल, तुत्थ, इन सबको समान भाग लेकर पीस लेवे। इन से दुगुना गोमूत्र, गोमूत्र के बराबर तिलतैल, तिलतैल से चार गुण करञ्ज या सरसों का तेल मिलाकर इनसे तैल सिद्ध करें। यह तैल अतिशक्तिशाली महागुणवान् है। इस तैल के लगाने से सब कुष्ठ, गण्डमाला, भगन्दर, नाड़ीव्रण, सब बिना सन्देह के नष्ट हो जाते हैं। इस तैल का नाम महावज्रक है, अतिशय गुणकारी है ॥ ५७-६३ ॥

पित्तावापैर्मूत्रपिष्टैस्तैलं लाक्षादिकैः कृतम् ॥६४॥
सप्ताहं कटुकालाब्वां निदधीत चिकित्सकः।
पीतवन्तं ततो मात्रां तेनाभ्यक्तं च मानवम् ॥६५॥
शाययेदातपे तस्य दोषा गच्छन्ति सर्वशः।

लाक्षादि गण को अथवा महावज्रक में पढ़े लाक्षा सर्जरस आदि को पीसकर, गोमूत्र में (तैल से चार गुणे) गाय के पित्तका प्रक्षेप देकर सिद्ध किया तिलतैल वैद्य, सात दिन कड़ुए तुम्बे के पात्र में रख देवे। फिर इस तैल को मात्रा में पीये, और शरीर पर मालिश करे। रोगी धूप में सोये रहे, इससे दोष सम्पूर्ण रूप में निकल जाते हैं ॥ ६४,६५ ॥

स्रुतदोषं समुत्थाप्य स्नातं खदिरवारिणा ॥६६॥
यवागूं पाययेदेनं साधितां खदिराम्बुना।

दोषों के निकल जाने पर रोगी को धूप से उठाकर खैर के क्वाथ से स्नान कराये। खैर के क्वाथ में बनाई यवागू इस रोगी को पीने के लिये देवे ॥ ६६ ॥

एवं संशोधने वर्गे कुष्ठघ्नेष्वौषधेषु च ॥६७॥
कुर्यात्तैलानि सर्पींषि प्रदेहोद्घर्षणानि च।

इसी प्रकार संशोधन वर्ग तथा कुष्ठघ्न औषधियों में तैल, घृत सिद्ध करे। इन औषधियों से प्रदेह और उद्घर्षण करे।

वक्तव्य—संशोधनवर्ग-संशोधन संशमनीयाध्यायोक्त। कुष्ठघ्न-'खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडंगजातिप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति ॥' चरक ॥

प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान् वैरेचनान् शुभान्।
पंच षट् सप्त चाष्टौ वा यैरुत्थानं न गच्छति ॥६८॥

प्रतिदिन प्रातःकाल विरेचक योगों का सेवन करे, जिससे पाँच, छः, सात या आठ बार मल त्याग करे। अथवा पाँच, छः, सात, आठ दिन बाद विरेचन ले, जिससे दोष प्रकोप न हो। (डल्हण ने यहाँ पर कोई अर्थ नहीं दिया) ॥ ६८ ॥

कारभं वा पिबेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम्।
धातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षड्भिरपोहति ॥६९॥

अथवा ऊँट का मूत्र पीये, इसके पचने पर ऊँटनी के दूध का भोजन करे। इस प्रकार छः मास करने पर कीड़े पड़ा कुष्ठ भी नष्ट हो जाता है। मूत्र-ऊँट का लेना चाहिये, क्योंकि—

"गोऽजाविमहिषीणान्तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम्" ॥६९॥

दिहक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः।
सर्वथैव प्रयुंजीत स्नानपानाशनादिषु ॥७०॥
यथा हन्ति प्रवृद्धत्वात् कुष्ठमातुरमोजसा।
तथा हन्त्युपयुक्तस्तु खदिरः कुष्ठमोजसा ॥७१॥

कुष्ठ से पीडित मनुष्य कुष्ठरोग को नष्ट करने के लिए खैरका स्नान, पान-भोजन आदि सब कार्यों में सम्पूर्ण रूप से उपयोग करे। जिस प्रकार कि बढ़ा होने से कुष्ठ अपने तेज से रोगी को मार देता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में बरता खैर अपनी शक्ति से कुष्ठ, को नष्ट कर देता है ॥ ७०,७१ ॥

नीचरोमनखः श्रान्तो हिताश्यौषधतत्परः।
योषिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति ॥७२॥

कुष्ठ रोगी—बाल और नख कटवाकर, आराम करके हितकारी भोजन एवं औषध का सेवन निरन्तर करके, स्त्री-मांस-सुरा से अलग रहकर कुष्ठ मुक्त हो जाता है।

('श्रान्तः' के स्थान पर 'अश्रान्तः' पाठ ठीक है—आराम ले, अथवा श्रान्तः पाठ रखने में जितेन्द्रिय, रोगी वासना से रहित यह अर्थ करना होगा।)

वि० मन्तव्य—श्रान्त पाठ इस दृष्टि से समीचीन है कि श्रम से स्वेद की प्रवृत्ति होकर और आहार पाचन होकर शरीर निर्दोष हो जाता है। और नूतन दोष बढ़ने या सञ्चित नहीं होने पाते ॥ ७२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो महाकुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे महाकुष्ठ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

कुष्ठेषु मेहेषु कफामयेषु
सर्वांगशोफेष च दारुणेषु।

कृशत्वमिच्छत्सु च मेदुरेषु
योगानिमानग्र्यमतिर्विदध्यात् ॥ ३ ॥

कुष्ठ रोग में, प्रमेहों में, कफ रोगों में, भयानक सर्वांग-शोफों में, मोटे आदमी जो पतले होना चाहते हैं, उनमें कुशाग्रबुद्धि इन-आगे कहे जानेवाले योगों को बरते ॥ ३ ॥

क्षुण्णान् यवान्निष्पूतान् रात्रौ गोमूत्रपर्युषितान् महति किलिंजे शोषयेत्, एवं सप्तरात्रं भावयेच्छोषयेच्च, ततस्तान् कपालभृष्टान् शक्तून् कारयित्वा प्रातः प्रातरेव कुष्ठिनं प्रमेहिणं वा सालसारादिकषायेण कण्टकिवृक्षकषायेण वा पाययेद्भल्लातकप्रपुन्नाडावल्गुजार्कचित्रकविडङ्गमुस्तचूर्णचतुर्भागयुक्तान् एवमेव सालसारादिकषायपरिपीतानामारग्वधादिकषायपरिपीतानां वा गवाश्वशकृद्भूतानां वा यवानां शक्तून् कारयित्वा भल्लातकादीनां चूर्णान्यावाप्य खदिराशननिम्बराजवृक्षरोहीतकगुडूचीनामन्यमन्यतमस्य कषायेण शर्करामधुमधुरेण द्राक्षायुक्तेन दाडिमामलकवेतसाम्लेन सैन्धवलवणान्वितेन पाययेत्, एष सर्वमन्थकल्पः ॥ ४ ॥

जौ को कूटकर-पछोड़कर, साफ करके रात भर गोमूत्र में रखकर दिन में एक बड़ी चटाई फैलाकर सुखाये। इस प्रकार सात दिन गोमूत्र में भावित करे और दिन में सुखाये। फिर इसको भाड़ में (मिट्टी के ठीकरे में) भुनवाकर सत्तू बनाये। इसमें मिलावा, पनवाड़, बावची, आर्क, चित्रक, विडंग और मुस्ता इनका चूर्ण चतुर्थांश मिलाकर प्रतिदिन कुष्ठ रोगी या प्रमेह रोगी को सालसारादिगण के क्वाथ से या खैर-बेर-इरिमेद आदि कण्टकी वृक्षों के क्वाथ से पीने को देवे। इसी प्रकार सालसारादि कषाय से भावित या आरग्वधादि कषाय से भावित जौ का अथवा गाय या घोड़े को जौ खिलाकर, उसके गोबर एवं लीद में निकले जौ का (या गाय-घोड़े की लीद और गोबर के रस से भावित जौ का) सत्तू बनाकर, इसमें भिलावे आदि का चूर्ण मिलाकर खैर, असन, नीम, अमलतास, रोहेड़ा, गिलोय इनमें से किसी एक के कषाय को शर्करा, मधु से मीठा बनाकर, द्राक्षा मिलाकर, अनारदाना, आँवला, अम्लवेतस से खट्टा करके, थोड़ा सैन्धव मिलाकर पिलाये। यह सब प्रकार के मन्थ की विधि है।

'खराश्वगोधेनुकसंभृतानां तथा यवानां विविधाश्चभक्ष्याः" ॥ चरक ॥ ४ ॥

यावकांश्च भक्ष्यान् धानोलुम्बककुल्माषापूपपूर्णकोशोत्कारिकाशष्कुलिकाकुणावीप्रभृतीन् सेवेत; यवविधानेनगोधूमवेणुयवानुपयुंजीत ॥ ५ ॥

जौ के बनाये भोज्य पदार्थों को; धाना (भाड़ में भूने धान्य जैसे-मकी ज्वार आदि), उलुम्बक (हरे चने या हरे जौ आग में भूने होले), कुल्माष (अर्धस्विन्नउबाले अन्न गेहूँ आदि), आपूप (पूड़े) पूर्ण कोष (कचौरी आदि-पूरन पोळी आदि), उत्कारिका (लपसी), शष्कुली (गुजिया), कुणावी-पपड़ी आदि बनाकर खाये। जौ की विधि से गेहूँ वेणुयव (बाँस के बीज) का सेवन करे ॥

"देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः" ॥ चरक० चि० अ० ६ ॥ ५ ॥

अरिष्टानतो वक्ष्यामः—पूतीकचव्यचित्रकसुरदारुसारिवादन्तीत्रिवृत्त्रिकटुकानां प्रत्येकं षट्पलिका भागा बदरकुडवस्त्रिफलाकुडव इत्येषां चूर्णानि; ततः पिप्पलीमधुघृतैरन्तः प्रलिप्ते घृतभाजने प्राक्कृतसंस्कारे सप्तोदककुडवानयोरजोऽर्धकुडवमर्धतुलां च गुडस्याभिहितानि चूर्णान्यावाप्य स्वनुगुप्तं कृत्वा यवपल्ले सप्तरात्रं वासयेत्, ततो यथाबलमुपयुंजीत, एषोऽरिष्टः कुष्ठमेहमेदः पाण्डुरोगश्वयथूनपहन्ति। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ चारिष्टान् कुर्वीत ॥ ६ ॥

इसके आगे अरिष्टों को कहेंगे—करंज, चव्य, चित्रक, देवदारु, सारिवा, दन्ती, निशोथ, त्रिकटु, प्रत्येक छः पल, बेर एक कुड़व, त्रिफला (मिलित) एक कुड़व, इन सबका चूर्ण; पिप्पली, मधु और घृत से अन्दर में लिप्त किये, एवं धूप आदि देकर संस्कार किये घड़े में—पानी सात कुड़व, लोहभस्म आधा कुड़व, गुड़ की आधा तुला, तथा उपर्युक्त सबका चूर्ण मिलाकर सुरक्षित करके, जौ के ढेर में सात दिन तक रख देवे। फिर अग्निबल के अनुसार बरते। यह अरिष्ठ कुष्ठ, प्रमेह, मेद, पाण्डुरोग, श्वयथु को नष्ट करता है। इसी प्रकार शालसारादिगण, न्यग्रोधादिगण और आरग्वधगण से अरिष्टों को बनाये॥६॥

आसवानतो वक्ष्यामः—पलाशभस्मपरिस्रुतस्योष्णोदकस्य शीतीभूतस्य त्रयो भागा द्वौ फाणितस्यैकध्यमरिष्टकल्पेन विदध्यात्। एवं तिलादीनां क्षारेषु, शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ मूत्रेषु चासवान् विदध्यात् ॥ ७ ॥

इसके आगे आसवों को कहेंगे—ढाक की भस्म को गरम पानी में घोलकर नितार ले। शीतल होने पर इसके तीन आढक राब दो आढक, इनको अरिष्ट विधि से बनाये। इसी प्रकार अश्मरी में पढ़े तिल आदि औषधियों के क्षारों में आसव बनावे। और शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गणों के योग से मूत्रों में आसवों को बनावे। त्रिफला, बेर का चूर्ण इसमें भी मिलाये।

वि० मन्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य का वह वाक्य जो अरिष्ट एवं आसव में भेदसूचक है एकपक्षीय है, सर्वसम्मत नहीं। आपने अपनी शार्ङ्गधर संहितामें लिखा है कि–यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टःक्वाथसिद्धः स्यात् (शा०सं०अ०१०)। इस

प्रकार आपने सुरा की परिभाषा भी भिन्न प्रकार से लिखी है, यथा—परिपक्वाऽन्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः। श्री सुश्रुत ने इन परिभाषाओं का अनुकरण नहीं किया है ॥७॥

अथ सुरां वक्ष्यामः—शिंशपाखदिरयोः सारमादायोत्पाट्य चोत्तमारणीब्राह्मीकोशवतीस्तत्सर्वमेकतः कषायकल्पेन विपाच्योदकमाददीत मण्डोदकार्थं, किण्वपिष्टमभिषुणुयाच्च यथोक्तम्। एवं सुराः शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च विदध्यात् ॥८॥

इसके आगे सुरा कहते हैं—शीशम और खैर का सार भाग (मध्यभाग) लाकर, इसको फाड़कर उत्तमारणी, ब्राह्मी, देवदाली इन सबको एक साथ कषाय विधि से पकाकर क्वाथ को मण्ड कार्य के लिये (घोलने के लिये) लेकर इसमें किण्व पिष्ट (सुरा बीज) कही हुई विधि से (मूत्र स्थान में विरेचनाधिकार में कही) मिलाये। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गण से सुरा बनाये।

वक्तव्य—उत्तमारणी के स्थान में कोष में उत्तर-वारुणी-पढ़कर करम्भा या इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण) अर्थ दिया है। अथवा उत्तमा-त्रिफला अरणी, अग्निमन्थ-ये दो द्रव्य हो सकते हैं ॥८॥

अतोऽवलेहान् वक्ष्यामः—खदिरासननिम्बराजवृक्षशालसारकाथे तत्सारपिण्डान्श्लक्ष्णपिष्टान् प्रक्षिप्य विपचेत्, ततो नातिद्रवं नातिसान्द्रमवतार्य तस्य पाणितलं पूर्णमप्रातराशो मधुमिश्रं लिह्यात्। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च लेहान् कारयेत् ॥९॥

इसके आगे अब लेहों को कहेंगे—खैर, असन, नीम, अमलतास, शाल का मध्यभाग, इनके क्वाथ में इन्हीं द्रव्यों के मध्यकाष्ठ को बारीक पीसकर मिलाकर, पकाये। जब यह न तो बहुत पतला, न बहुत गाढ़ा हो, तब उतारकर, इसकी पाणितल (कर्ष मात्रा या हथेली भर मात्रा) मात्रा को मधु में मिलाकर, प्रातःकाल कुछ न खाते हुए खाये। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गण से अवलेह बनाये।

वक्तव्य—डल्हण ने अप्रातराश का अर्थ 'सायंकाल ही भोजन करता हुआ खाये। अर्थात् दिन में एक ही समय, सायंकाल को ही भोजन करे' किया है ॥९॥

अतश्चूर्णक्रियां वक्ष्यामः—शालसारादीनां सारचूर्णप्रस्थमाहृत्यारग्वधादिकषायपरिपीतमनेकशः शालसारादिकषायेणैव पाययेत्, एवं न्यग्रोधादीनां फलेषु पुष्पेष्वारग्वधादीनां चूर्णक्रियां कारयेत् ॥१०॥

इसके आगे चूर्ण क्रिया को कहेंगे—शालसारादि गण की औषधियों के सार भाग का चूर्ण एक प्रस्थ लाकर, आरग्वधादि कषाय से इसको अनेक बार भावित करके, शालसारादिगण के कषाय के साथ ही पिलाये। इसी प्रकार न्यग्रोधादि गण के फलों के चूर्ण को, आरग्वधादि गण के पुष्पों के चूर्णों की भावना देकर इनसे चूर्ण क्रिया बनाये ॥१०॥

अत ऊर्ध्वमयस्कृतीर्वक्ष्यामः—तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण निर्वापयेत् षोडशवारान् ततः खदिराङ्गारतप्तान्युपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेद् घनतान्तवपरिस्रावितानि ततो यथाबलं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्यनम्ललवणमाहारं कुर्वीत, एवं तुलामुपयुज्य कुष्ठमेहमेदःश्वयथुपाण्डुरोगोन्मादापस्मारानपहृत्य वर्षशतं जीवति, तुलायां तुलायां वर्षशतमुत्कर्षः, एतेन सर्वलोहेष्वयस्कृतयो व्याख्याताः॥

इसके आगे अयस्कृति, कहते हैं—तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रों पर सैन्धव-सौवर्चल आदि लवण वर्ग का लेप करके, गोबर के अग्नि में लाल गरम करके, त्रिफला, शालसारादि कषाय में इनको बुझाये (ठंडा करे)। इस प्रकार सोलह बार करे। फिर इनको खैर के अंगारों पर गरम करके, ठण्डा होने दे। पीछे से इनको फिर खैर के अंगारों पर गरम करे (इस प्रकार सोलह बार या जब तक चूर्ण होने लायक न हों तब तक करे। इनका सूक्ष्म चूर्ण करके बहुत महीन वस्त्र (रेशम) से इसको छान ले। फिर अग्नि बल के अनुसार इसकी मात्रा को मधु और घृत में मिलाकर खाये। इसके पचने पर रोग के अनुसार, नमक और खटाई से रहित भोजन करे। इस प्रकार इस चूर्ण की एक तुला (एक सौ पल) खाकर, कुष्ठ, मेद, मेह, शोथ, पाण्डुरोग उन्माद अपस्मार से मुक्त होकर एक सौ वर्ष जीता है। एक एक तुला के उपयोग से एक एक सौ वर्ष आयु बढ़ती है। इसी प्रकार से दूसरे सब लोहों (स्वर्ण-चाँदी आदि) की अयस्कृतियाँ बनाये।

वि० मन्तव्य—अयस्कृतिः—लोह अथवा लोहों (स्वर्ण आदि धातु भी लोह कहे जाते हैं) की कृति-कर्म या संस्कार करना अर्थात् उनको खाने योग्य बनाना। यह सब विधान लोह आदि का क्षार बनाने का विधान है। आज भी एलोपैथी इसी विधान का अनुसरण प्रायः कर रही है, यथा—स्वर्ण लवण, रजत लवण आदि २॥

त्रिवृच्छ्यामाग्निमन्थसप्तलाकेबुकशङ्खिनीतिल्वकत्रिफलापलाशशिंशपानां स्वरसमादाय पालाश्यां द्रोण्यामभ्यासिच्य खदिराङ्गारतप्तमयःपिंडं त्रिसप्तकृत्वो निर्वाप्य तमादाय पुनरासिच्य स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत् ततश्चतुर्थभागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य भूयोऽग्नितप्तान्ययःपत्राणि प्रक्षिपेत्, सिध्यति चास्मिन् पिप्पल्यादिचूर्णभागं द्वौ मधुनस्तावद्घृतस्येति दद्यात्, ततः प्रशान्तमायसे पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं शुक्तिं प्रकुञ्चं चोपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्याहारमुपसेवेत। एषौषधायस्कृतिरसाध्यं कुष्ठं प्रमेहं वा साधयति, स्थूलमपकर्षति, शोफमुपहन्ति, सन्नमग्निमुद्धरति विशेषेण चोपदिश्यते राजयक्ष्मिणां, वर्षशतायुश्चानया पुरुषो

भवति। शालसारादिक्वाथमासिच्य पालाश्यां द्रोण्यामयोघनांस्तप्तान्निर्वाप्य कृतसंस्कारे कलशेऽभ्यासिच्य पिप्पल्यादिचूर्णभागं क्षौद्रं गुडमिति च दत्त्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात, एतां महौषधायस्कृतिं मासमर्धमासं वा स्थितां यथाबलमुपयुञ्जीत। एवं न्यग्रोधादावारेवतादिषु च विदध्यात् ॥१२॥

निशोथ, काली निशोथ, अरणी, सप्तला, केंचुक, शंखिनी, तिल्वक, त्रिफला, ढाक, शीशम, इनका स्वरस (अभाव में क्वाथ या शीत कषाय) लेकर गीले ढाक की बनी द्रोणी (टब) में डाल देवे। फिर लोहे के पिण्ड को खैर के अंगारों में गरम करके इस स्वरस में बुझाये। इस प्रकार से इक्कीस बार करे। फिर इस पानी को (स्वरस को) लेकर थाली में (चौड़े पात्र में) रखकर गोबर की आग से पाक करे। जब यह स्वरस चौथाई रह जाये, तब इसको उतारकर, छान ले। फिर दुबारा लोहे के पत्रों को आग में लाल करके इसमें डाल देवे। (इन लोह पत्रों को इस कषाय से पीसकर इसीमें मिला दे।) फिर इनमें पिप्पल्यादि चूर्ण एक भाग (लोह पात्र के बराबर), मिलाकर पकाये। जब यह लेह की भाँति हो जाये, उतारकर ठण्डा करे, ठण्डा होने पर इसमें मधु दो भाग (एक सौ पल) और घी भी एक सौ पल मिलाये। जब सब बन जाये, तब इसको लोह पात्र में रख कर सुरक्षित रख देवे। फिर योग के अनुसार आधा पल या एक पल खाये। इसके पचने पर रोग के अनुसार आहार करे। यह औषध अयस्कृति असाध्य कुष्ठ या प्रमेह को भी अच्छा कर देती है। मोटापे को कम करती है, शोथ को नष्ट करती है। मन्द अग्नि को बढ़ाती है, राजयक्ष्मा रोगियों के लिये विशेष रूप में कही जाती है। इसके उपयोग से पुरुष की आयु एक सौ बरस की होती है। ढाक की द्रोणी में शालसारादि गण का क्वाथ डालकर, आग में लाल किये लोहे के पिण्डों को इसमें बुझाकर, धूप आदि से संस्कृत बनाये घड़े में इस कषाय को लोह पिण्डों समेत डालकर, इसमें पिप्पल्यादिगण का चूर्ण एक भाग मधु, और गुड़ दो-दो भाग मिलाकर सुरक्षित स्थान पर रख देवे। इस महौषधायस्कृति को एक मास या पन्द्रह दिन के पीछे अग्निबल के अनुसार बरते। इसी प्रकार न्यग्रोधादि, आरेवतादि (आरग्वधादिगण) से भी अयस्कृतियाँ बनाये।

वक्तव्य—प्रथम योग में गुड़ मिलाना मूल पाठ में नहीं है, परन्तु डल्हण ने "द्वौ मधुनः द्वौ गुडस्येतिपलाशतमित्यर्थः"—लिखा होने से इस में गुड़ भी मिलाना चाहिये ॥१२॥

अतः खदिरविधानमुपदेक्ष्यामः—प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा तस्य मध्यमं मूलं छित्त्वाऽयोमयं कुम्भं तस्मिन्नन्तरे विदध्याद्यथा रसग्रहणसमर्थो भवति, ततस्तं गोमयमृदाऽवलिप्तमवकीर्येन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेद्यथाऽस्य दह्यमानस्य रसः स्रवत्यधस्तात, तद्यथा जानीयात् पूर्णं भाजनमिति। अथैनमुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन् पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च, प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। खदिरसारतुलामुदकद्रोणे विपाच्य षोडशांशावशिष्टमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, तमामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत। एष एव सर्ववृक्षसारेषु कल्पः। खदिरसारचूर्णतुलां खदिरसारक्वाथमात्रां वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, खदिरसारक्वाथसिद्धमाविकं वा सर्पिः ॥

इसके आगे खदिर विधान को कहते हैं—प्रशस्त देश में उत्पन्न, अग्नि-धूप आदि से न मारे हुये, मध्यम वय (तरुण), खैर को चारों ओर से खोदकर, उसके मध्यममूल (मुख्य जड़) को काटकर इसके बीच में लोहे का एक घड़ा इस प्रकार से रक्खे, कि गिरा हुआ रस इस घड़े में गिरे। फिर इस खैर को चारों ओर गोबर और मिट्टी से लेप करके, लकड़ी, उपले आदि से घेरकर, इसमें आग लगा देवे। जिससे जलने पर इसका रस नीचे घड़े में गिरे। जब जाने कि घड़ा भर गया, तब इस घड़े को निकालकर, छानकर, दूसरे पात्र में रखकर सुरक्षित रख देवे। फिर योग के अनुसार इसकी मात्रा को आँवले के रस, मधु और घी में मिलाकर खाये। इसके पचने पर भिलावे की भाँति आहार एवं परहेज करे। एक प्रस्थ खाने पर एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है। खैर के सार भाग की एक तुला (एक सौ पल) को एक द्रोण जल में पकाये। जब सोलहवाँ भाग रह जाये, तब उतारकर सुरक्षित रख देवे। इसको आँवले के रस, मधु और घी में मिलाकर खाये। यही विधान सब वृक्षसारों के लिये है। खैर के सार के चूर्ण की एक तुला को, या खैर के सार के क्वाथ की मात्रा को प्रतिदिन प्रातः खाये। अथवा खैरसार के क्वाथ में सिद्ध किया भेड़ का घी बरते।

वक्तव्य—प्रशस्तदेश—"तत्र देशे जांगले साधारणे वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणे कुश्मशानचैत्यदेवयजनागारसभाश्वभ्रारामवल्मीकोषरविरहिते, कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णस्वर्णवर्णमधुरमृत्तिके मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैः बलवत्तरैः द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते।" चरक० क० अ० १।६।१३।

अमृतवल्लीस्वरसं क्वाथं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, तत्सिद्धं वा सर्पिः अपराह्णे ससर्पिष्कमोदनमामलकयूषेण भुञ्जीत, एवं मासमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुच्यत इति ॥१४॥

गिलोय का स्वरस या क्वाथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे। अथवा गिलोय के क्वाथ से सिद्ध किया घृत खाये। सायंकाल में घी मिश्रित भात को आँवले के यूष से खाये। इस प्रकार एक मास करने से सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त हो जाता है ॥१४॥

कृष्णतिलभल्लातकतैलामलकरससर्पिषां द्रोणं शालसारादिकषायस्य च, त्रिफलात्रिकटुकपरुषफलमज्जविडङ्गफलसारचित्रार्कावल्गुजहरिद्राद्वयत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीन्द्रयवयष्टीमधुकातिविषारसाञ्जनप्रियङ्गूणां पालिका भागास्तानैकध्यं स्नेहपाकविधानेन पचेत्, तत् साधुसिद्धमवतार्य परिस्राव्यानुगुप्तं निदध्यात्। तत उपसंस्कृतशरीरः प्रातः प्रातरुत्थाय पाणिशुक्तिमात्रं क्षौद्रेण प्रतिसंसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन सर्पिष्मन्तं खदिरोदकसिद्धं मृद्वोदनमश्नीयात् खदिरोदकसेवी, इत्येवं द्रोणमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुक्तः शुद्धतनुः स्मृतिमान् वर्षशतायुररोगो भवति ॥१५॥

काले तिल, भिलावे का तेल, आँवले का रस, घी, शालसारादि कषाय, प्रत्येक एक द्रोण, त्रिफला, त्रिकटु, फालसे की गुठली, वायविडंग, एरण्ड, आक, बावची, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, जमालगोटा, मोगलई एरण्ड, इन्द्रजौ, मुलैहठी, अतीस, रसौत, प्रियंगु—प्रत्येक एक पल, इन सबको मिलाकर स्नेह पाक विधि से पकाये। फिर भली प्रकार पकने पर छानकर, इसको सुरक्षित स्थान पर रख देवे। फिर वमनादि से शरीर का संस्कार करके, प्रतिदिन प्रातःकाल इसकी एक पल मात्रा को मधु के साथ मिलाकर खाये। इसके पचने पर नमक रहित मूंग और आँवले के यूष के साथ, खैर के क्वाथ में पकाया, कोमल भात घी डालकर खाये। खैर का ही क्वाथ पीने में बरते। इस प्रकार से एक द्रोण भर खाकर मनुष्य सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त हो जाता है, शरीर शुद्ध हो जाता है, स्मृतिशाली होता है, एक सौ बरस तक नीरोगी होता है ॥१५॥

भवति चात्र—

सुरामन्थासवारिष्टांल्लेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥१६॥

इसमें श्लोक भी है—बुद्धिमान् व्यक्ति इन बीज रूप योगों से हजारों (बहुत से) सुरा, मन्थ, आसव, अरिष्ट, लेह, चूर्ण, अयस्कृतियाँ बनाले ॥ चरक में—

बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमताम्।
अल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महाकुष्ठचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे प्रमेह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

द्वौ प्रमेहौ भवतः—सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥३॥

प्रमेह दो प्रकार का होता है, सहज (जन्मजात) और अपथ्य कारण जन्य। इनमें सहज प्रमेह माता-पिता के बीज दोषजन्य है। अहिताहारजन्य प्रमेह अपथ्य कारण से होता है। इनमें पूर्व प्रकार के प्रमेह से पीड़ित रोगी कृश, रूक्ष, थोड़ा खानेवाला, प्यासयुक्त और अतिशय घूमने के स्वभाववाला होता है। अपथ्य सेवन जन्य प्रमेही स्थूल, बहुत खानेवाला, स्निग्ध, लेटने बैठने सोने में सुख अनुभव करनेवाला प्रायः होता है।

वक्तव्य—"स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च॥ संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥" चरक। तन्त्रान्तर में एक श्लोक दिया है—"रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥" इसका अभिप्राय यह नहीं कि आर्त्तव धर्म होते रहने से स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता। स्त्रियों में मधुमेह या अन्य प्रकार के प्रमेह देखे जाते हैं। परन्तु जिन औरतों को ठीक प्रकार से नियमित रूप में रजोदर्शन होता रहता है, उनमें प्रमेह नहीं मिलता। प्रमेह उन्हीं औरतों में होता है, जिनको मासिक धर्म नियमित या शुद्ध रूप से नहीं होता। ठीक प्रकार से नियमित रूप में मासिक धर्म होने से शरीर के दोष शुद्ध होने से प्रमेह होने की सम्प्राप्ति का अवसर ही नहीं रहता। इसी से कहा है "कफः सपित्तः पवनश्च दोषाः, मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः। मज्जा रसोजः पिशितं च दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः॥" चरक० चि० अ० ६-८ ॥३॥

तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत्, स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः ॥४॥

इनमें कृश व्यक्ति की खान-पान की संस्कृत की क्रियाओं से (स्निग्ध क्रियाओं से) चिकित्सा करे। स्थूल पुरुष की अपतर्पणवाली क्रियाओं से (व्यायाम, तिक्तकटु आदि रसों से) चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"गुरु चातर्पणं श्रेष्ठं स्थूलानां कर्षणं प्रति। कृशानां बृंहणार्थं च लघुसन्तर्पणं च यत्॥ वातघ्नान्यन्नपानानि

श्लेष्ममेदोहराणि च। रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च" ॥ ४ ॥

सर्व एव च परिहरेयुः सौवीरकतुषोदकशुक्तमैरेयसुरासवतोयपयस्तैलघृतेक्षुविकारदधिपिष्टान्नाम्लयवागूपानकानि ग्राम्यानूपौदकमांसानि चेति ॥५॥

सब प्रकार के प्रमेही—सौवीरक (सतुषकांजी), तुषोदक (निस्तुषकांजी), शुक्त, मैरेय, सुरा, आसव, पानी, दूध, तैल, घी, इक्षु विकार (गुड़ आदि), दही, पिट्ठी से बनी वस्तु, अम्ल, यवागू, पानक (शर्बत), ग्राम्यमांस, आनूपमांस, औदकमांस इनको त्याग करे ॥५॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवोद्दालकाननवान् भुञ्जीत चणकाढकीकुलत्थमुद्गविकल्पेन, तिक्तकषायाभ्यां च शाकगणाभ्यां निकुम्भेङ्गुदीसर्षपातसीतैलसिद्धाभ्यां, बद्धमूत्रैर्वा जाङ्गलैर्मांसैरपहृतमेदोभिरनम्लैरघृतैश्चेति ॥६॥

फिर पुरातन शालि, सांठी, जौ, गेहूँ, कोद्दा, उद्दालकों को, चना, अरहर, कुलत्थी और मूंग इनके साथ बदल बदल खाये। तिक्त गण पनवाड़, पटोल आदि, कषायगण-वटशुंगादि शाकगणों को दन्ती, इंगुदी (हिंगोट), सरसों, अलसी, इनके तैल में सिद्ध करके इनके साथ खाये। हरिण आदि का मांस, मेद निकालकर जांगल पशुओं के मांस को बिना घी और बिना खटाई के खायें ॥ चरक में –

"मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः
पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही
तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ॥"
चरक० चि० अ० ६।२०।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में दन्ती अर्थात् जमालगोटा के तैल में शाक आदि को सिद्ध करके खाने का विधान किया है, परन्तु वह अत्यन्त तीव्र वामक एवं विरेचक है, रत्ती आधी रत्ती की मात्रा में भी। अतः चिकित्सक को विचारकर कार्य करना चाहिये। यदि किसी दिन वमन विरेचन कराना हो तो ½ या ¼ रत्ती का प्रयोग किया जा सकता है अन्यथा नहीं, जैसे निम्नलिखित सूत्र ७ में बतलाया गया है ॥६॥

तत्रादित एव प्रमेहिणं स्निग्धमन्यतमेन तैलेन प्रियङ्ग्वादिसिद्धेन वा घृतेन वामयेत् प्रगाढं विरेचयेच्च विरेचनादनन्तरं सुरसादिकषायेणास्थापयेन्महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैन्धवयुक्तेन दह्यमानं च न्यग्रोधादिकषायेण निःस्नेहेन ॥७॥

इनमें सबसे प्रथम स्निग्ध प्रमेह रोगी को प्रियंगु आदि गण से सिद्ध किये उपर्युक्त किसी तेल से या घी से तीक्ष्ण वमन कराये, और तीक्ष्ण विरेचन देवे। विरेचन के पीछे सुरसादि गण के कषाय में सोंठ, देवदारु, मुस्ता का प्रक्षेप एवं मधु और सैन्धव मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। यदि जलन होती हो तो तैल रहित न्यग्रोधादिकषाय से वस्ति देवे।

"स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः
कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते,
मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम् ॥" चरक चि० अ० ६

निःस्नेह का अर्थ कोई अल्प घृत करते हैं। कफ प्रमेह में वमन, पित्त प्रमेह में विरेचन दे ॥७॥

ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्ताकषायं वा, शालकम्पिल्लकमुष्ककल्कमक्षमात्रं वा मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं, कुटजकपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा, निम्बारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि, एते पञ्च योगाः सर्वमेहानामपहन्तारो व्याख्याताः ॥८॥

शरीर का शोधन हो जाने पर आँवले के रस से (चार पल), हल्दी को (एक कर्ष)—मधु (एक कर्ष) मिलाकर पिलाये। त्रिफला, देवदारु, इन्द्रवारुणी, मुस्ता इनका क्वाथ पिलाये। शाल, कमीला, मुष्कक इनका कल्क एक कर्ष, मधु से मीठे किये आँवले के रस और हल्दी के साथ देवे। कुटज, कैथ, रोहेड़ा, बहेड़ा, सप्तपर्ण इनके फूलों का कल्क या नीम, अमलतास, सप्तपर्ण, मूर्वा, कुटज, विट्खैर, ढाक, इनकी छाल, पत्ते, मूल, फल, पुष्प के कषाय का उपयोग करे। ये पाँच योग सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करते हैं। (इन सब योगों में आंवले का रस, हल्दी और मधु मिलाना चाहिये। इसीसे कहा है– "क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसेनामलकीफलानाम्।" चरक॥

**विशेषश्चात ऊर्ध्वं—तत्रोदकमेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्, इक्षुमेहिनं वैजयन्तीकषायं, सुरामेहिनं निम्बकषायं, सिकतामेहिनं चित्रककषायं शनैर्मेहिनं खदिरकषायं, लवणमेहिनं पाठाऽगुरुहरिद्राकषायं, पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं, सान्द्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं, शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरञ्जकसेरुककषायं ककुभचन्दनकषायं वा फेनमेहिनं त्रिफलारग्वधमृद्वीकाकषायं, मधुमधुरमिति, पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेत्, हरिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायम्, अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं, क्षारमेहिनं त्रिफलाकषायं, मञ्जिष्ठामेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दुकास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रम्, अत ऊर्ध्वमसाध्येष्वपि योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः, तद्यथा सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिङ्गुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्। वसामेहिनमग्निमन्थकषायं शिंशपाकषायं वा, क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं, हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुःस्पर्शाकषायं मधुमधुरं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति, दह्यमानं मौदककन्दक्वाथसिद्धां यवागूं क्षीरेक्षुरसमधुरां पाययेत् ॥

इसके आगे विशेष रूप में कहते हैं—उदकमेही को पारिजात (फरहद) का कषाय पिलाये। इक्षुमेही को वैजयन्ती (अरणी) कषाय पिलाये। सुरामेही को नीम का कषाय, सिकतामेही को चित्रक का कषाय, शनैःमेही को खैर का कषाय, लवणमेही को पाठा, अगरु और हल्दी का कषाय, पिष्टमेही को हल्दी, दारुहल्दी का कषाय, सान्द्रमेही को सप्तपर्ण का कषाय, शुक्रमेही को दूब, शैवाल, प्लव (केवटी मोथा), हठ (जलकुम्भी) करंज और कसेरु का कषाय या ककुभ (अर्जुन) और चन्दन का कषाय, फेनमेही को त्रिफला, अमलतास और द्राक्षा का कषाय दे। इन सब कषायों को मधु से मीठा करके देवे। पित्तजन्य प्रमेहों में नीलमेही को शालसारादिगण का या पीपल का कषाय पिलाये। हरिद्रामेही को अमलतास का कषाय, अम्लमेही का न्यग्रोधादि गण का क्वाथ, क्षारमेही को त्रिफला कषाय, मजिष्ठामेही को मजीठ और चन्दन का कषाय, शोणितमेही को—गिलोय, तिन्दुक की गुठली, गम्भारी, खर्जूर का कषाय देवे, इन सब में मधु मिलाये। इसके आगे असाध्य प्रमेहों में भी यापना के लिये योगों को कहेंगे—यथा-सर्पिमेही को—कुष्ठ, कुटज, पाठा, हींग, कुटकी का कल्क, गिलोय, चित्रक के कषाय से पिलाये। वसामेही को अग्निमन्थ का या शीशम का कषाय, मधुमेही को कदर (खैर—जिसमें बदबू आती है), और सुपारी का कषाय हस्तिमेही को तिन्दुक, कैथ, शिरीष,ढाक, पाठा, मूर्वा, धमासा इनका कषाय पिलाये, सब कषायों में मधु मिलाये। हाथी, घोड़ा, सुअर, गधा, ऊँट इनकी अस्थियों को जलाकर इनका क्षार पानी में घोलकर शीतल रूप में हस्तिमेही को पिलाये।

शरीर में जलन होने पर (प्रमेह में जलीय धातु—क्लेद के क्षीण होने से, इसके विरोधी पित्त के बढ़ने पर दाह होता है)—औदक कन्दों (कमल की जड़, विस, कसेरु, सिंघाड़ा आदि) के क्वाथ में सिद्ध की यवागू को दूध, गन्ने का रस इनसे मीठा करके पिलाये।

वक्तव्य—प्रमेहों में मधु का मधुर रस विधेय है, क्योंकि यह योगवाही है "नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।" चरक। दूसरी सब शर्करायें—खासकर दानेदार मशीन की शक्कर बहुत हानिकारक है। कन्दों का क्वाथ-षडंग परिभाषा से करना चाहिये। इस तरह बनाई यवागू अपवाद रूप है॥९॥

ततः प्रियङ्ग्वनन्तायूथिकापद्मात्रायन्तिकालोहितिकाम्बष्ठादाडिमत्वक्शालपर्णीपद्मतुङ्गकेशरधातकीबकुलशाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवांश्च कुर्वीत, शृंगाटकगिलोड्यविसमृणालकाशकसेरुकमधुकाम्रजम्ब्वसनतिनिशककुभकट्वंगरोध्रभल्लातकपलाशचर्मवृक्षगिरिकर्णिकाशीतशिरनिचुलदाडिमाजकर्णहरिवृक्षराजादनगोपघोण्टाविकङ्कतेषु वा, यवान्नविकारांश्च सेवेत, यथोक्तकषायसिद्धां यवागूं चास्मै प्रयच्छेत्, कषायाणि वा पातुम् ॥१०॥

प्रियंगु, अनन्ता (सारिवा), यूथिका (जूही), भार्गी, त्रायन्तिका (मेंहदी), लोहितिका (मजीठ), अम्बष्ठा (पाठा-जलजमनी), अनार की छाल, शालपर्णी, कमल, नागकेशर, धाय का फूल (धातकी), मौलसरी, सिम्बल, धूपवृक्ष, मोचरस (सिम्बल का गोंद) इनसे पूर्व की भांति अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव बनाये। सिंघाड़ा, कमलकन्द, विष, कमलनाल, कास, कसेरु, मुलैहठी, आम, जामुन, असन, सांदन, अर्जुन, श्योनाक, लोध, भिलावा, ढाक, चर्मवृक्ष (कीकर या दूसरा कोई), अपराजिता, शीतशिव (डल्हण के मत से शतपुष्पा भेद, दूसरों के मत से चन्दन), जलवेतस, अनार, अजकर्ण, हरिवृक्ष (धव), खिरनी, गोपघंटा (झाड़ी बेर), विकङ्कत (वैंकड़ा) इनसे आसव, अरिष्ट, अयस्कृति लेह बनाये। जौ से बने भक्ष्यों को खाये। प्रियंगु आदि या शृंगाटक आदि के कषाय में सिद्ध यवागू इसे पीने को देवे तथा कषाय पीने को देवे ॥१०॥

महाधनमहिताहारमौषधद्वेषिणमीश्वरं वा पाठाभयाचित्रकप्रगाढमनल्पमाक्षिकमन्यतममासवं पाययेत्, अंगारशूल्योपदंशं वा माध्वीकमभीक्ष्णं, क्षौद्रकपित्थमरिचानुविद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेत्, उष्ट्राश्वतरखरपुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु; हिङ्गुसैन्धवयुक्तैर्यूषैः सार्षपैश्च रागैर्भोजयेत्; अविरुद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेद्रसगन्धवन्ति च; प्रवृद्धमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीडागजतुरगरथपदातिचर्यापक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सेवेरन ॥११॥

बड़े भारी ऐश्वर्यवाला मनुष्य, या राजा जो कि अहिताहार हो, और औषधियों से द्वेष करता हो, उसे पाठा, हरड़, चित्रक की प्रचुर मात्रा एवं अतिशय मधु मिलाकर प्रियंगु आदि गण का कोई आसव पिलाये। अंगारों पर सेके हुए मांस के साथ माध्वीक मद्य बार-बार देवे। खान, पान में मधु, कैथ, मरिच मिलाकर देवे। भोजनों में ऊँट, खच्चर, गधा की लीद का चूर्ण मिलाकर देवे। हींग और सैन्धव मिले यूषों से तथा सरसों राई रागों (रायता आदि) के साथ भोजन देवे। जो विरोधी न हों, ऐसे खान, पान, रस एवं गन्धयुक्त (रुचि पैदा करने के लिये) इसको देवे। बढ़े हुए प्रमेहवाले रोगी व्यायाम, कुश्ती आदि खेल, घोड़े-हाथी या रथ की सवारी, पैदल मुसाफिरी-घूमना-फिरना, अस्त्र (शास्त्र विहित धनुष),

उपास्त्र—(शास्त्र नियम वर्जित धनुष) का उपयोग करे।

वक्तव्य—धर्मशास्त्रों में—आर्य संस्कृति में इसीलिये तीर्थ यात्रा-तीर्थ दर्शन का महत्त्व है। मनुष्य साल भर में एक बार बद्रीनाथ पैदल जब जायेगा, वहाँ के मुनिधान्य, तृणधान्य खायेगा, परिश्रम करेगा, वह नीरोगी रहेगा, यह इस देश की दृष्टि से सोचना है।

वि० मन्तव्य—अस्त्रोपास्त्रे-अस्त्र-धनुष का चढ़ाना खींचना, आदि अभ्यास तथा उपास्त्र-गुलेल, ढेला फेंकना आदि अभ्यास। व्यायाम आदि सब प्रमेह-पीडितों के लिये लाभदायक हैं। क्रीड़ा—कबड्डी आदि दौड़-धूपवाली क्रीड़ा। इन सबका तात्पर्य है कि प्रमेह रोगी घोर परिश्रम करता रहे यह सब हेतुविपरीत चिकित्सा है ॥११॥

अधनस्त्वबान्धवो वा पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्याशी ग्रामैकरात्रवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिकं वा गच्छेत्, महाधनो वा श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्, तन्मूत्रशकृद्भक्षः सततमनुव्रजेद्गाः, ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः खनेद्वा कूपम्, कृशं तु सततं रक्षेत् ॥१२॥

जो मनुष्य गरीब हो, कोई परिचारक, भाई—मित्र न हो, उसे चाहिये कि जूता और छाता छोड़कर, नंगे सिर और नंगे पैर ही भिक्षावृत्ति (मधुकरी) पर जीवन निर्वाह करते हुए, एक ग्राम में (एक स्थान में) एक बसेरा करके, मुनि के साथ इन्द्रियों को वश में रखकर, एक सौ योजन या इससे भी अधिक चले। अथवा जो ऐश्वर्य शाली हो, वह सांवक-नीवार पर रहकर आंवला, कैथ, तिन्दुक, अश्मन्तक (सिरहटा) के फलों का आहार करते हुए मृगों के साथ (जंगल में) रहे। मूत्र, गोबर को खाते हुए निरन्तर गायों के पीछे चले (गायों के मूत्र पीवे और गोबर को खाये)। अथवा यदि वह ब्राह्मण हो-शिला एवं उञ्छवृत्ति पर रहकर ब्रह्मरथ का उद्धार करे। ब्राह्मण से दूसरा मनुष्य हल चलाये या कुएँ को खोदे। कृश व्यक्ति की सदा रक्षा करे—उससे मेहनत न कराये।

वक्तव्य—काटते हुए गेहूँ आदि की भूमि पर गिरे रहने से बचे अन्न को उठाना शिलवृत्ति-चावल की कणियों (जो कि पछोड़ कर अलग निकाल ली जाती हैं) पर रहना उंछवृत्ति है।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैः
उद्वर्त्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलाऽगुरुचन्दनाद्यैः
विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः॥
क्लेदश्च मेदश्च कफप्रवृद्धो
प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु
मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥

चरक० चि० अ० ६।

वि० मन्तव्य—ब्रह्मरथमुद्धरेत् के स्थान में—"ब्रह्मरथमुपधारयेत् पठेत् सततम्, इतरः खनेद् वा कूपम्" पाठान्तर है। इसका अर्थ है-ब्राह्मण ब्रह्मरथ अर्थात् वेद का उपधारण-पठन-पाठन करे निरन्तर—सर्वदा। इतरः अर्थात् ब्राह्मणेतर-अन्य शूद्र कूप को खोदे, तालाब बावड़ी खोदे। इन सबका तात्पर्य है कि प्रमेह रोगी घोर परिश्रम किया करे। देखा जाता है कि घोर परिश्रम करनेवाले प्रायः प्रमेह से पीड़ित नहीं होते ॥१२॥

भवति चात्र—

अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्नतन्द्रितः।
संवत्सरादन्तराद्वा प्रमेहात् प्रतिमुच्यते ॥१३॥

इस विषय में श्लोक है—निर्धन मनुष्य वैद्य के उपदेशानुसार-बिना आलस्य के इस प्रकार से बरते। इस प्रकार करने पर एक साल में या बीच में ही प्रमेह रोग से मुक्त हो जाता है॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहपिडकाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे प्रमेह पिडका चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

शराविकाद्या नव पिडकाः प्रागुक्ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ता मृद्व्योऽल्परुजः क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः ॥३॥

शराविका आदि नौ पिड़कायें पहले कह दी हैं। इनमें-बलवान् (सत्त्ववान् धैर्यशाली) पुरुष में, छोटी होने से, त्वचा और मांस में ही स्थिर रहने पर, कोमल एवं थोड़ी पीड़ावाली, तथा जल्दी पकनेवाली एवं फूटनेवाली पिड़कायें साध्य होती हैं।

वक्तव्य—ये पिड़कायें प्रमेह के बिना भी होती हैं। यथा—"बिना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः॥ जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥"

वि० मन्तव्य—नि० स्थान अ० ६ में—१० पिड़का

कही हैं। यहाँ भी "नव" के स्थान में "दश" पाठ होना चाहिये ॥३॥

ताभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्। तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं वनस्पतिकषायं बस्तमूत्रं चोपदिशेत्, एवमकुर्वतस्तस्य मधुराहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तो भवति, तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत एवमकुर्वतस्तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणिते प्रदूष्य शोफं जनयन्त्युपद्रवान् वा कांश्चित्, तत्रोक्तः प्रतीकारः सिरामोक्षश्च, एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्रं रुजो विदाहमापद्यते, तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च, एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः, तस्मादादित एव प्रमेहिणमुपक्रमेत् ॥४॥

शराविका आदि पिड़काओं से पीड़ित प्रमेह रोगी की चिकित्सा करे। इन पिड़काओं के पूर्वरूपों में ही अपतर्पण, बरगद आदि का कषाय, बकरे का मूत्र पिलाये। इस प्रकार न करने से और मधुर भोजन करते रहने पर मूत्र, स्वेद और कफ मधुर हो जाता है और प्रमेह स्पष्ट दीखता है। इस अवस्था में वमन, विरेचन दोनों संशोधन ले। इस प्रकार न करने से मांस और रक्त दूषित होकर शोफ को तथा कई उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं। इसके लिये द्विव्रणीय में अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त कही चिकित्सा और सिरामोक्षण करे। इसमें भी चिकित्सा न करने पर इस रोगी के अतिशय बढ़े शोफ में वेदना और विदाह विशेष रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में शस्त्र कर्म और व्रणक्रिया चिकित्सा आवश्यक होती है। इस समय में भी उपचार न करने से-पूय अन्दर के मांसतन्तु-सिरा आदि को नष्ट करके, खोखला बनाकर—बहुत बड़ी केवीटी (गुहा) बनाने से रोग असाध्य हो जाता है। इसलिये प्रमेह रोगी की प्रारम्भ में ही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, प्रगतिभूयस्त्वात्। स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृतिं लभते। शरीरशैथिल्यात् स विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति। मेदसश्चैव बह्वबद्धत्वात्, मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्। स मेदसा मिश्रीभावं गच्छन्दूषयत्येनद् विकृतत्वात्। स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति। क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात् समांसे मांसप्रदोषात्, पूतिमांसपिडकाः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्, शरीरक्लेदं पुनः दूषयन् मूत्रत्वेन परिणमयति ॥" चरक० नि० अ० ॥ ४।९ ॥४॥

भल्लातकबिल्वाम्बुपिप्पलीमूलोदकीर्यावर्षाभूपुनर्नवाचित्रकशटीस्नुहीवरुणकपुष्करदन्तीपथ्या दशपलोन्मिता यवकोलकुलत्थांश्च प्रास्थिकान् सलिलद्रोणे निष्क्वाथ्य चतुर्भागावशिष्टेऽवतार्य वचात्रिवृत्कम्पिल्लकभार्गीनिचुलशुण्ठीगजपिप्पलीविडङ्गरोध्रशिरीषाणां भागैरर्धपलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेन्मेहश्वयथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्रधिपिडकानां नाशनं नाम्ना धान्वन्तरम् ॥५॥

भिलावा, बिल्व, मुस्ता, पिप्पलीमूल, करंज, श्वेतपुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, चित्रक, कचूर, थोर, वरणा, पुष्करमूल, दन्ती, हरड़, प्रत्येक दस पल, जौ, बेर, कुलत्थी, प्रत्येक एक प्रस्थ, पानी एक द्रोण लेकर क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर उतार कर, इसमें वच, निशोथ, कमीला, भार्गी, जलवेतस, सोंठ, गजपिप्पली, विडंग, लोध, शिरीष प्रत्येक आधापल, घी एक प्रस्थ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत प्रमेह, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदर, अर्श, प्लीहा, विद्रधि पिड़काओं को नष्ट करता है, इसका नाम धान्वन्तर घृत है ॥५॥

दुर्विरेच्या हि मधुमेहिनो भवन्ति मेदोऽभिव्याप्तशरीरत्वात्, तस्मात्तीक्ष्णमेतेषां शोधनं कुर्वीत। पिडकापीडिताः सोपद्रवाः सर्व एव प्रमेहा मूत्रादिमाधुर्ये मधुगन्धसामान्यात् पारिभाषिकीं मधुमेहाख्यां लभन्ते ॥६॥

मधुमेह रोगी का विरेचन बहुत ही कठिनाई से होता है, क्योंकि इसके शरीर में मेद बहुत बढ़ी होती है। इसलिये इसको तीक्ष्ण विरेचन देवे। पिड़का से पीड़ित, उपद्रव युक्त सब प्रमेह, मूत्र आदि (स्वेद-कफ आदि) में मधुरता आने से, मधु के समान गन्ध होने से मधुमेह इस परिभाषा से कहे जाने लगते हैं।

वक्तव्य—"सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या हि भवन्ति हि॥ मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः॥" वाग्भट्ट। मधुमेह दो प्रकार का होता है, यथा—"क्रुद्धे धातुक्षयाद् वायौ दोषैरावृतपथेऽथवा॥"

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं,
मधूपमं स्याद् द्विविधोपचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्
संतर्पणाद्वा कफसंभवः स्यात्॥ चरक ॥६॥

न चैतान् कथंचिदपि स्वेदयेत्, मेदोबहुत्वादेतेषां विशीर्यते देहः स्वेदेन ॥७॥

इनको कभी भी किसी प्रकार स्वेद न देवे। मेद की अधिकता के कारण स्वेद से इनके शरीर नष्ट हो जाते हैं।

"कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम्॥
भिषक्तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्॥"
च० सू० अ० १४।१६-१९ ॥७॥

रसायनीनां च दौर्बल्यान्तोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः, ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडकाः प्रादुर्भवन्ति ॥

रस, पित्त, कफ, रक्तवहा धमनियों के निर्बल होने से प्रमेहियों में दोष ऊपर को नहीं जाते (अपितु दोष नीचे भाग में ही अधिक रहते हैं, इसलिये विरेचन ही अधिक दे)। इससे मधुमेह रोगियों के शरीर के अधो भाग में पिड़कायें होती हैं ॥

अपक्वानां तु पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः पक्वानां व्रणवदिति, तैलं तु व्रणरोपणमेवादौ कुर्वीत, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, शालसारादिकषायं परिषेचने, पिप्पल्यादिकषायं पानभोजनेषु, पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टाक्षुद्राबृहतीसारिवासोमवल्कसप्तपर्णारग्वधकुटजमूलचूर्णानि मधुमिश्राणि प्राश्नीयात् ॥९॥

अपक्व पिड़काओं की चिकित्सा व्रण शोफ की भाँति और पक्व पिड़काओं की चिकित्सा व्रण की भाँति करे। व्रण रोपण में तैल को प्रारम्भ से ही बरते। उत्सादन में आरग्वधादि कषाय, परिषेचन में शालसारादि गण का कषाय, खान पान में पिप्पल्यादि कषाय देवे। पाठा, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा, कटेरी, बड़ी कटेरी, सारिवा, कट्फल, सप्तपर्ण, अमलतास, कुटजमूल इनके चूर्ण मधु में मिलाकर खाने को देवे ॥९॥

शालसारादिवर्गकषायं चतुर्भागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुनरुपनीय साधयेत्, सिध्यति चामलकरोध्रप्रियङ्गुदन्तीकृष्णायस्ताम्रचूर्णान्यावपेत, एतदनुपदग्धं लेही भूतमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगमुपयुञ्जीत, एष लेहः सर्वमेहानां हन्ता ॥१०॥

शालसारादि गण का कषाय, जब चौथाई रह जाये, तब इसको उतारकर, छानकर, फिर आगपर पकाये। पकाते समय इसमें—आँवला, लोध, प्रियंगु, दन्ती, कालालोह और ताम्र भस्म मिला देवे। इस लेह को जलने से बचाकर, लेह बन जाने पर (कड़छी पर चिपकने लगे) उतारकर सुरक्षित स्थान रख देवे। फिर योग के अनुसार खाये। यह लेह सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है।

वि० मन्तव्य—कृष्णायस्ताम्रचूर्णानि—कृष्णलोह अर्थात् लोह का और ताम्र का चूर्ण अर्थात् चूना—भस्म। भस्म बनाने की विधि सु० चि० अ० १० के सू० ११-१२ में लिखी है। अथवा रस शास्त्र के अनुसार बनाई गई भस्मों का प्रयोग करे ॥१०॥

त्रिफलाचित्रकत्रिकटुकविडङ्गमुस्तानां नव भागास्तावन्त एव कृष्णायश्चूर्णस्य; तत्सर्वमैकध्यं कृत्वा यथायोगं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, एतन्नवायसम्; एतेन जाठर्यं न भवति, सन्नोऽग्निराप्यायते, दुर्नामशोफपाण्डुकुष्ठरोगाविपाककासश्वासप्रमेहाश्च न भवन्ति ॥११॥

त्रिफला, चित्रक, त्रिकटु, वायविडंग, मुस्ता, ये नौ भाग, काले लोहे की भस्म भी इतनी ही अर्थात् नौ भाग, इन सब को मिलाकर योग के अनुसार मात्रा में मधु और घी के साथ मिलाकर खाये, इसका नाम नवायस है। इससे उदर रोग (या स्थूलता) नहीं होती, मन्द अग्नि प्रदीप्त होती है, अर्श, शोफ, पाण्डु, कुष्ठ, अविपाक, कास, श्वास, प्रमेह नहीं होते ॥

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्थांशावशेषिते।
परिस्रुते ततः शीते मधु माक्षिकमावपेत् ॥१२॥
फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च।
श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च ॥१३॥
ऐकध्यमावपेत् कुम्भे संस्कृते घृतभाविते।
पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्तेऽन्तःशुचौ दृढे ॥१४॥
श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान्।
खदिराङ्गारतप्तानि बहुशः सन्निपातयेत् ॥१५॥
सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत्।
मासांस्त्रींश्चतुरो वाऽपि यावदालोहसङ्क्षयात् ॥१६॥
ततो जातरसं तं तु प्रातः प्रातर्यथाबलम्।
निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥१७॥
कार्श्यकृद्वह्निनामेष सन्नस्याग्नेः प्रसाधकः।
शोफनुद् गुल्महृत् कुष्ठमेहपाण्ड्वामयापहः ॥१८॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः।
अभिष्यन्दापहरणो लोहारिष्टो महागुणः ॥१९॥

लोहारिष्ट—शालसारादिगण का क्वाथ चौथाई बचाकर छान ले। ठण्डा हो जाने पर इसमें (मधुमद्य) शहद मिलाये। जब यह राब जैसा हो जाये, तब इसमें साफ किया गुड़ और पिप्पल्यादिगण की औषधियों को बारीक पीसकर मिला देवे। फिर घी से चिकने किये, धूप आदि देकर संस्कृत किये घड़े में पिप्पली चूर्ण और मधु का लेप करके इस घड़े में उपर्युक्त औषध को डाल देवे। फिर तीक्ष्ण लोह के चिकने-पतले पत्रों को खैर के अंगारों पर गरम करके बहुत बार इसमें डालता जाये। इसको ढांप कर जौ के ढेर में तीन या चार महीने तक अथवा जब तक लोहा घुले, इसको रहने दे। फिर तैयार हो जाने पर प्रतिदिन इसको अग्नि बल के अनुसार पीये। मोटे पुरुषों को यह पतला करता है, मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है। शोफ, गुल्म, कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डु रोग को नष्ट करता है। प्लीहोदर को नष्ट करता है, विषमज्वर को शीघ्र नष्ट करता है। अभिष्यन्द को नष्ट करता है, यह लोहारिष्ट महा शक्तिशाली है। (अभिष्यन्द शब्द से-मूत्र निःस्यन्द लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—लोहारिष्ट की निर्माणविधि—शालसारादिगण चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ १ द्रोण, मधु आधी तुला (५० पल), गुड़ १ तुला (१०० पल), पिप्पल्यादि गण का चूर्ण १० पल डालना चाहिये। लोह पत्र १—२ सेर डाल देना चाहिये। वे उसमें जितने मान में घुल जायँ उतना ही उत्तम हैं ॥१२-१९॥

प्रमेहिणो तदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्।

विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते ॥२०॥

प्रमेह रोगी का मूत्र जब पिच्छिलता रहित, गदलेपन से रहित (साफ), विशद (रूक्ष), तिक्त एवं कटु रसवाला हो जाता है, तब आरोग्य कहा जाता है ॥२०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहपिडका-
चिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो मधुमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मधुमेह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

मधुमेहित्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम् ।
योगेनानेन मतिमान् प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥३॥
मांसे शुक्रे शुचौ चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः ।
जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥४॥
शिलाजत्विति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम् ।

जिसे कि मधुमेह हो गया है, वैद्यों ने जिसे जवाब दे दिया है, उस प्रमेह रोगी की बुद्धिमान् वैद्य इस योग से चिकित्सा करे। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में सूर्य की किरणों से गरम हुये पर्वत लाख के समान स्वरस, शिलाओं से चुआते हैं, क्योंकि यह शिलाओं से लाख के समान बहता है, इसलिये शिलाजतु कहते हैं, यह सब रोगों को नष्ट करता है ॥ चरक में—

"न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः
शिलाह्वयं यन्न जयेत्प्रसह्य ।
तत्कालयोगैः विधिभिः प्रयुक्तं,
सुस्वस्थचोर्जां विपुलां ददाति" ॥३,४॥

त्र्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम् ॥५॥
ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षड्योनिप्रथितं क्षितौ ।

शिलाजतु-त्रपु (रांगा), सीसा, तांबा, चाँदी, स्वर्ण और कृष्णलोह इन छैः में से किसी एक के साथ मिला रहता है। इसके छै कारण (उत्पत्तिस्थान) हैं। इनको इनकी अपनी गन्ध से जानना चाहिये। (चरक में स्वर्ण, चाँदी, ताम्र और लोहे के ही शिलाजतु के गुण कहे हैं। त्रपु और सीसा का अति उपयोगी न होने से छोड़ दिये हैं) ॥५॥

लोहाद् भवति यद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥६॥
तस्य लोहस्य तद्वीर्यं रसं चापि बिभर्ति तत् ।

इसमें जो शिलाजतु लौह में से उत्पन्न होता है, वह लाख के समान होता है, यह लोहे के रस, (वीर्य) और प्रभाववाला होता है। चरक में इसीको श्रेष्ठ कहा है, यथा—

"कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ।
गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु योगिकाः ॥
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते।" चरक ॥६॥

त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम् ॥७॥
यथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठे श्रेष्ठगुणाः स्मृताः ।

त्रपु, सीस, ताम्र, चाँदी, सोना और लौह के शिलाजतु में उत्तरोत्तर शिलाजतु श्रेष्ठ है। तो भी प्रयोग में श्रेष्ठ द्रव्य में श्रेष्ठ गुण होते हैं ॥७॥

तत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम् ॥८॥
कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा ।

सब प्रकार के शिलाजतु—तिक्त, कटुरस, कषाय अनुरस, सर (मृदुविरेचक) विपाक में कटु उष्णवीर्य शोषक एवं छेदन करनेवाले हैं।

वक्तव्य—चरक में केवल ताम्र का शिलाजतु उष्ण कहा है, शेष को शीतवीर्य कहा है। वास्तव में शिलाजतु 'नात्युष्ण-शीतं' न बहुत उष्ण न बहुत शीत अर्थात् योगवाही है। जैसे कि रक्त को सुश्रुत में अनुष्णाशीत कहा है। यथा—"अनुष्ण-शीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णत। शोणितम्" ॥८॥

तेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं च यत् ॥९॥
गोमूत्रगन्धि यच्चापि तत् प्रधानं प्रचक्षते ।

इनमें जो शिलाजतु कृष्णवर्ण, भारी, स्निग्ध, रेती आदि से रहित, गोमूत्र की गन्धवाला हो, वह उत्तम कहा जाता है ॥९॥

तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषो दिनोदये ॥१०॥
पिबेत् सारोदकेनैव श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम् ।
जाङ्गलेन रसेनान्नं तस्मिञ्जीर्णे तु भोजयेत् ॥११॥
उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात् ।
वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः ॥१२॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः ।
शतं शतं तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके ॥१३॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः ।
मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम् ॥१४॥
शोषं शोफार्शसी गुल्मं पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
अपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम् ॥१५॥
न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यान्न शिलाजतु।
शर्करां चिरसंभूतां भिनत्ति च तथाश्मरीम् ॥१६॥
भावनालोडने चास्य कर्तव्ये भेषजैर्हितैः ।

इस शिलाजतु को शालसारादि गण से भावना देकर, बमनादि से शरीर का शोधन करके, प्रातःकाल मेही, शाल-सारादि गण के क्वाथ से पीसकर (घोलकर) इसको बल के अनुसार पीये। इसके जीर्ण होने पर जांगल मांस रस से भोजन खाये। इस प्रकार अमृत के समान शिलाजतु के एक सौ पल खाकर, शरीर-वर्ण-बल से पुष्ट हो जाता है, मधुमेह जाता रहता है। बुढ़ापे से रहित बनकर, देवताओं के समान होकर

एक सौ वर्ष जीता है। एक सौ पल सेवन करने से एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है, दस तुला (तुला एक सौ पल खाने पर एक हजार वर्ष की आयु होती है। भिलावे के समान पर-हेज पाले। प्रमेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, गरविष, शोष, शोफ, अर्श, गुल्म, पाण्डु, विषमज्वर इनको देर तक सेवन करने पर शिलाजतु नष्ट करती है। ऐसा कोई रोग नहीं जिसे शिलाजतु अच्छा न करे। चिरकाल से उत्पन्न शर्करा और अश्मरी को यह तोड़ देती है। हितकारी औषधियों से शिलाजतु की भावना और घोलना चाहिये। चरक में—

"पयांसि तक्राणि रसाः सयूषाः
तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्ताः
ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्॥
पथ्य–शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत्॥
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वात् अश्मनो भेदनाः परम्।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते॥

वि० मन्तव्य—शिलाजतु के सेवन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसको १ तुला भर अथवा इससे भी अधिक (१०० पल, अथवा कई सौ पल) खाने का विधान है, परन्तु रोगी १—२ तो० अथवा ५-७ तोला शिलाजीत खाकर ही कोई लाभ न होने पर विरत हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि इससे कोई लाभ नहीं हुआ और इसकी प्रतिदिन की मात्रा भी भगवान् पुनर्वसु ने—पलं अर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता (च० चि० अ० १), ४ तो०, २ तो० अथवा १ तो० कही है। खानेवाले १-२ रत्ती की मात्रा खाकर पूरा लाभ चाहते हैं, और उसके पथ्य आदि पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। इन सब बातों का विचार वैद्य तथा रोगी को अवश्य करना चाहिये ॥१०-१६॥

एवं च माक्षिकं धातुं तापाजममृतोपमम्॥१७॥
मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम्।
पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान्॥१८॥
तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थांश्च विवर्जयेत्।

इसी प्रकार तापी नदी में उत्पन्न अमृततुल्य माक्षिक धातु स्वर्णमाक्षिक या रजतमाक्षिक को पीने से जरा, कुष्ठ, मेह, पाण्डुरोग, क्षय नष्ट होते हैं। स्वर्णमाक्षिक मधुररस एवं रजतमाक्षिक अम्लरस होता है। शिलाजतु और माक्षिक का सेवन करनेवाला मनुष्य कपोत (कबूतर) और कुलत्थ को सदा के लिये छोड़ देवे ॥१७,१८॥

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्॥१९॥
योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्।

पंचमधातु (मेद में स्थित) में कुष्ठ के पहुँचने पर जब संशोधन, संशमन, अभ्यंग, गुग्गुलु आदि किसी से भी लाभ न हो सके, तब (अथवा वमनादि पाँचों कार्य जहाँ व्यर्थ दीखते हों) श्रद्धालु एवं जीने की इच्छावाले, कुष्ठ रोगी की भी बुद्धिमान् वैद्य इस योग से चिकित्सा करे ॥१९॥

वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु॥२०॥
वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः।
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे॥२१॥
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च।
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत्॥२२॥
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात्।
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत्॥२३॥
स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान्।
चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे॥२४॥
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम्।
तत्र मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्र्यते॥२५॥
'मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः॥२६॥
तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषायान्त्यसकृत्ततः।
अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत्॥२७॥
पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः।
पक्षं परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः॥२८॥
पञ्चभिर्दिवसैरेवं सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते।
तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम्॥२९॥
निहितं पूर्ववत् पक्षात् पिबेन्मासमतन्द्रितः।
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम्॥३०॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्॥३१॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना।
पक्षमासरसाहारं करोति द्विशतायुषम्॥३२॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम्।
वपुष्मन्तं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम्॥३३॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥३४॥

पश्चिम समुद्र के (कोंकण एवं मलयालं के समुद्र के किनारे) किनारे तुवरक नामक वृक्ष हैं, इनके पत्ते समुद्र की लहरों के थपेड़ों से कम्पित हुई वायु से हिलते रहते हैं। वर्षा आने पर इसके भली प्रकार पके हुए फलों को एकत्रित कर ले। इन फलों में से मज्जा को निकालकर, सुखाकर चूर्ण कर ले। इसको द्रोणी (कोल्हू) में तिलों की भाँति पीडन करे, या कुसुम्भ की भाँति हाथों से दबाकर तेल निकाल ले। इस तेल को फिर पकाकर सब पानी नष्ट कर देवे। फिर इस तेल को लेकर, गोबर के ढेर में पन्द्रह दिन रख देवे। स्नेहन, स्वेदन करके दोषों को निकालकर (वमनादि से) पन्द्रह दिन के उपरान्त,

सावधानी से, शुक्ल पक्ष में, उत्तम दिन में, चौथे समय के सायंकाल के भोजन में (पन्द्रह दिन के पीछे अगले दिन प्रातः सायं स्वाभाविक भोजन करे। दूसरे दिन प्रातः स्वाभाविक भोजन करे, और सायंकाल के स्वाभाविक भोजन में) मंत्र से पवित्र किये हुए इस तैल की मात्रा को बल के अनुसार पीये। जिस मंत्र से यह तैल अभिमन्त्रित किया जाता है, उसे यहाँ पर कहता हूँ। 'हे मज्जसार! महावीर्य! सब धातुओं का शोधन कर। शंख, चक्र, गदा हाथ में लिये हुए भगवान् कृष्ण तुमको आज्ञा कर रहे हैं।' इस तैल से रोगी के दोष वमन और विरेचन के रूप में एक साथ प्रवृत्त होते हैं। सायंकाल में नमक और स्नेह रहित, शीतल यवागू इनको पीने के लिये देवे। इस विधि से मनुष्य पाँच दिन तैल पीये। फिर पन्द्रह दिन छोड़कर, मूंग यूष के साथ चावल खाये। इस प्रकार पाँच दिन में ही कुष्ठ से मुक्त हो जाता है। इसी तैल को तीन गुणे खैर के क्वाथ में भली प्रकार सिद्ध करके, पूर्व की भाँति गोबर में रखकर पन्द्रह दिन के पीछे एक मास तक बिना आलस्य के पीये। इसी तैल का शरीर पर अभ्यंग करे और कहा हुआ मूँग का यूष और चावल खाये। जिस का स्वर बैठ गया हो, आँखों में सुर्खी हो, मांस झड़ रहा हो, कीड़े पड़ गये हों, उस कुष्ठ रोगी की भी इस प्रयोग से वैद्य चिकित्सा करे। इस तैल को घी और मधु के साथ मिला कर खैर के क्वाथ के साथ पीने से एवं पक्षियों के मांस रस का आहार करने पर दो सौ वर्ष की आयु होती है। पचास दिन तक इस तेल का नस्य लेने से मनुष्य उत्तम शरीरवाला और सुनते ही धारण करनेवाला, तीन सौ वर्ष की आयु का होता है। इस तुवरक फल की मज्जा मात्रा में पीने से मनुष्य का शोधन करती है। तुवरक अतिशक्तिशाली कुष्ठ और प्रमेह के नाशन में श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—तुवरक तैल की मात्रा—कर्ष प्रमाण, अनुपान, शीतलजल, फलों का रस।

वि० मन्तव्य—तुवरक-भावप्रकाश निघण्टु में जिस तुवरी तैल का उल्लेख है वह इससे भिन्न है। वह तुवरी-सरसों के से क्षुप होते हैं जो पञ्जाब में 'तोरिया' या तोड़िया नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु निघण्टुरत्नाकर (विष्णु वासुदेव गोडबोलेकृत) में तुवरक की चर्चा इस प्रकार है–'तुवरः सागरोद्भूतः कुष्ठहाऽलसकापहः। तुवरस्तुवरश्चोष्णो रसे पाके च तिक्तकः॥ कफव्रणकृमिमेहकुष्ठज्वरविनाशनः। आनाहमर्शः शोफं च च नाशयेद् इति ते जगुः॥' इस पाठ में "ते जगुः" पाठ से प्रतीत होता है कि यह पाश्चात्य निघण्टुकारों की ओर संकेत है। गोडबोले तथा आपके सहायकों ने स्यात् सुश्रुत के तुवरक पर ध्यान नहीं दिया। जो कुछ हो, हमारे विचार में यह सुश्रुत का ही तुवरक है, क्योंकि इसके विवरण में गोडबोले महाशय ने लिखा है कि–इसके वृक्ष समुद्र एवं नदियों के तट पर होते हैं। शालिग्राम निघण्टु भूषण ॥२०-३४॥

सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः
क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च।
पैल्यं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्
नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन ॥३५॥

तुवरक फल की मज्जा अन्तर्धूम विधि से जलाकर तुवरक के तैल में डालकर इसमें सैन्धव नमक और सुरमा मिलाये। इसका अंजन करने से पिल्लरोग अर्म, नक्तान्ध्य, कांच, नीली रोग और तिमिर नष्ट होते हैं। (डल्हण ने मज्जा, सैन्धव, अंजन तीनों को अन्तर्धूम विधि से जलाना लिखा है) ॥३५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मधुमेहचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथात उदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे उदररोगों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—यद्यपि अतिसार, ग्रहणीरोग एवं शूल आदि अनेक रोग उदर में होते हैं, परन्तु वे उदर के एक देश में होते हैं और उदर रोग उदर के यकृत् एवं अन्त्र तथा हृदय आदि मध्यकायिक समस्त अवयवों की विकृति से उत्पन्न होते हैं ॥१,२॥

अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि। तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि च, अवशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि, सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत। तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः, उत्तरः शस्त्रसाध्यः, कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि वा ॥३॥

आठ उदर पहले कह दिये हैं, इनमें बद्ध गुदोदर और परिस्रावी उदर असाध्य हैं। शेष उदर कष्टसाध्य हैं। सभी उदर रोगों को असाध्य कहकर चिकित्सा आरम्भ करे। इनमें पहले चार उदर (वात, पित्त, कफ, सन्निपातोदर) औषधसाध्य हैं, शेष पिछले चार (प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर, दकोदर) शस्त्रसाध्य हैं। अथवा समय की अधिकता के कारण सब ही उदर शस्त्रसाध्य होते हैं अथवा असाध्य हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—इसका विवरण नि० अ० ७ में किया गया है ॥३॥

उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत्, शालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान् नित्यमश्नीयात् ॥४॥

उदर रोगी-गुरु, अभिष्यन्दि, रूक्ष, विदाही, स्निग्ध पदार्थ मांस, स्नान, अवगाहन को छोड़ देवे। शाली, सांठी, जौ, गेहूँ, नीवार को सदा खाये ॥४॥

तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य, चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगन्धादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, साल्वणेन चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन च, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥५॥

उनमें वातोदर रोगों को विदारिगन्धादि गण से सिद्ध घृत से स्नेहन देकर, तिल्वक से पकाये घी से विरेचन देकर, विदारिगन्धादि के कषाय में एरण्ड तैल प्रचुर मात्रा में मिलाकर आस्थापन और अनुवासन देवे। उदर पर साल्वण उपनाह बाँधे। विदारिगन्धादि से सिद्ध दूध से या जांगलमांसरस से इसको भोजन कराये। बार-बार स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—साल्वण उपनाह चि० अ० ४ श्लो० १४-१५ में देखिये ॥५॥

पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, श्यामात्रिफलात्रिवृद्विपक्वेनानुलोम्य, शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, पायसेनोपनाहयेदुदरं भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेनपयसा ॥६॥

पित्तोदर रोगी को काकोल्यादि मधुर गण से पकाये घृत से स्नेह करके, निशोथ से पकाये घी से विरेचन देकर, न्यग्रोधादि गण के कषाय में प्रचुर मात्रा में शर्करा, मधु, घृत मिलाकर आस्थापन और अनुवासन देवे। उदर पर खीर बाँधे। विदारिगन्धादि गण से सिद्ध दूध से इसको खिलाये ।६।

श्लेष्मोदरिणं तु पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य, स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य, त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलबीजकल्कैश्चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥७॥

कफोदर रोगी को पिप्पल्यादि कषाय से सिद्ध घृत से स्नेहन करके, स्नुही दूध से पकाये घी से विरेचन देकर, मुष्ककादि गण के क्वाथ में त्रिकटु, गोमूत्र, यवक्षार, तैल प्रचुर मात्रा में मिलाकर आस्थापन और अनुवासन वस्ति देवे। सन, अलसी, धाय के फूल, सुराबीज, सरसों, मूली के बीज इनके कल्क से उदर पर उपनाह करे। त्रिकटु बहुल कुलत्थी के यूष से या खीर से इसको भोजन खिलाये। बार-बार स्वेद देवे ॥

दूष्योदरिणं तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्धमासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा; शुद्धकोष्ठं तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्; इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेद्वल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत् तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ॥८॥

दूष्योदर रोगी को असाध्य कहकर सप्तला, शंखिनी, इनके स्वरस से सिद्ध घृत से एक मास तक या पन्द्रह दिन विरेचन देवे। थोर का दूध, सुरा, गोमूत्र में सिद्ध घृत से विरेचन देवे। कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर मद्य के साथ, कनेर, रत्ती, काकादनी, इनके मूल के कल्क को पिलाये। अथवा गन्ने के टुकड़े को काले सांप से कटवाकर या, ककड़ी, खीरा आदि सांप से कटवाकर खिलावे। मूलज या कन्दज विष का सेवन करे। एवं इससे या तो रोगी नीरोग हो जाता है, या मर जाता है।

"क्रियातीते त्रिदोषे च जठरे चोपशाम्यति।
ज्ञातीन्ससुहृदो दारान्ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरून् ॥
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन्।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ॥
एवमाख्याय तस्यैदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः।
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत् ॥
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्।
तद्भोजयेदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः।
तेनास्य दोषसंघातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ॥
विषेणाशुप्रमाथित्वात् आशुभिन्नः प्रवर्त्तते।
विषेण हृतदोषं तं शीताम्बु परिषेचितम् ॥" चरक।

वि० मन्तव्य—इसके नीचे लिखे चरकोक्त सन्दर्भ को पूर्णरूप से देखिये। च० चि० अ० १३ में ॥८॥

भवति चात्र—

कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च।
सर्वोदरेषु शंसन्ति बहुशस्त्वनुलोमनम् ॥९॥

इस विषय में श्लोक है—उदर रोगों में मुख्यकारण कुपित वायु तथा मलों का एकत्रित होना है। इसलिये सब उदरों में बहुत बार विरेचन देना उत्तम माना जाता है, बहुत बार विरेचन देवे।

अतिसंचितदोषाणां, पापं कर्म च कुर्वताम्।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥
मलवृद्ध्या प्रवर्त्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥
चरक० चि० अ० १३ ॥९॥

अत ऊर्ध्वं सामान्ययोगान् वक्ष्यामः। तद्यथा-एरण्डतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी, माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम्, उष्ट्रीक्षीराहारो वाऽन्नवारिवर्जी पक्षं, पिप्पलीं वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनासेवेत, सैन्धवाजमोदायुक्तं वा निकुम्भतैलम्, आर्द्रश्रृङ्गवेररसपात्रशतसिद्धं वा वातशूलेऽवचार्य, श्रृङ्गवेररसविपक्वं क्षीरमासेवेत, चव्यश्रृङ्गवेरकल्कं वा

पयसा सरलदेवदारुचित्रकं वा, (मु) सुरङ्गीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं वा, ज्योतिष्कफलतैलं वा क्षीरेण स्वर्जिकाहिङ्गुमिश्रं पिबेत्, गुडद्वितीयां वा हरीतकीं भक्षयेत्, स्नुहीक्षीरभावितानां वा पिप्पलीनां सहस्रं कालेन पथ्याकृष्णाचूर्णं वा स्नुहीक्षीरभावितामुत्कारिकां पक्कां दापयेत्; हरीतकीचूर्णं प्रस्थमाढके घृतस्यावाप्याग्नावभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वाऽर्धमासं यवपल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीक्वाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत् तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेत्, विपक्वं चावतार्य शीतीभूतं मन्थानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्, तद्यथायोगं मासं मासार्धं वा पाययेत्; चव्यचित्रकदन्त्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदाहरिद्राशङ्खिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्धकार्षिका भागा राजवृक्षफलमज्जाऽष्टौ कर्षाः महावृक्षक्षीरपले द्वे, गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि, एतत् सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; एतानि तिल्वकघृतचतुर्थानि सर्पींष्युदरगुल्मविद्रध्यष्ठीलानाहकुष्ठोन्मादापस्मारेषूपयोज्यानि विरेचनार्थं; मूत्रासवारिष्टसुराश्चाभीक्ष्णं महावृक्षक्षीरसंभृताः सेवेत; विरेचनद्रव्यकषायं वा शृङ्गवेरदेवदारुप्रगाढम् ॥१०॥

इसके आगे सामान्य योगों को कहेंगे—तद्यथा एरण्ड तैल को प्रतिदिन मूत्र के साथ या दूध के साथ एक मास या दो मास तक पीये, इस बीच में पानी न पीये। सात दिन भैंस के मूत्र को दूध के साथ निराहार रहकर पीये। अन्न और जल छोड़कर ऊँटनी का दूध ही पन्द्रह दिन पीये। पूर्वोक्त विधि (वर्धमान पिप्पली नियम) से पिप्पली का एक मास तक सेवन करे। दन्ती के तैल को सैन्धव और अजवायन के साथ पीये। वातशूल में आर्द्रक के एक आढक स्वरस में सिद्ध किया दन्ती तैल देवे। आर्द्रक रस से सिद्ध किया दूध सेवन करे। और आर्द्रक के कल्क को अथवा चीड़, देवदारु, चित्रक इनके कल्क को दूध के साथ सेवन करे। शोभांजन, शालपर्णी, निशोथ, पुनर्नवा के कल्क को दूध के साथ पीये। मालकंगनी के तेल में सर्जक्षार हींग मिलाकर दूध के साथ पीये। हरड़ को गुड़ के साथ खाये। थोर के दूध में भावित एक हजार पिप्पलियों को जितने समय में खा सके खाये। हरड़ और पिप्पली के चूर्ण को थोर के दूध में भावित करके उत्कारिका (लपसी बनाकर) देवे। हरड़ का चूर्ण एक प्रस्थ लेकर एक आढक घी में मिलाकर, अग्नि पर पिघलाकर, मन्थन दण्ड से मथकर, सुरक्षित करके पन्द्रह दिन जौ के ढेर में रख देवे। फिर निकालकर, छानकर, हरड़ का क्वाथ, खट्टी दही मिलाकर पकाये। फिर योग के अनुसार एक मास या आधा मास पीये। गाय के दूध में थोर का दूध मिलाकर पकाये, पक जाने पर उतारकर, ठण्डा होने पर मथानी से मथकर, मक्खन निकालकर, फिर इस मक्खन को थोर के दूध से ही पकाये। फिर योग के अनुसार एक मास या पन्द्रह दिन पीये। चव्य, चित्रक, दन्ती, अतीस, कूठ, सारिवा, त्रिफला, अजवायन, हल्दी, शंखिनी, निशोथ, त्रिकटु, प्रत्येक आधा कर्ष, अमलतास का गूदा आठ कर्ष, थोर का दूध दो पल, गौ का दूध, गौ का मूत्र प्रत्येक आठ पल, घी एक प्रस्थ, इन सबको एक साथ पकाये। इस घृत को एक मास या आधा मास खाये। ये तीनों घृत और चौथा तिल्वकघृत ये सब घृत उदर, गुल्म, विद्रधि, अष्ठीला, आनाह, कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार में विरेचन के लिये देने चाहिये। थोर के दूध से मिलाये, मूत्र, आसव, अरिष्टों को बहुत बार सेवन करे। त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों का क्वाथ सोंठ, देवदारु का चूर्ण मिलाकर (एक कर्ष मात्रा) पीये। (एरण्ड तैल प्रतिदिन लेने में मरोड़ा न हो, इसलिये सोंठ का चूर्ण मिला लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—चिकित्सा करते समय बीच २ में आवश्यकतानुसार जिसे उचित समझे उस योग से विरेचन देते रहना चाहिये। इन योगों में कुछ योग तीव्र एवं कुछ योग मृदु विरेचन हैं। सरल अर्थात् चीढ़ तथा देवदारु का गोन्द लेना चाहिये ॥१०॥

वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याणां पालिका भागाः पिप्पल्यादिवचादिहरिद्रादिपरिपठितानां च द्रव्याणां श्लक्ष्णपिष्टानां यथोक्तानां च लवणानां, तत्सर्वं मूत्रगणे प्रक्षिप्य महावृक्षक्षीरप्रस्थं च मृद्वग्निना अवघट्टयन् विपचेदप्रदग्धकल्कं, तत्साधुसिद्धमवतार्य शीतीभूतमक्षमात्रा गुटिका वर्तयेत्, तासामेकां द्वे तिस्रो वा गुटिका बलापेक्षया मासांस्त्रींश्चतुरो वा सेवेत, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया विशेषेण महाव्याधिषूपयुज्यते (विशेषेण) कोष्ठजांश्च कृमीनपहन्ति कासश्वासकृमिकुष्ठप्रतिश्यायारोचकाविपाकोदावर्तांश्च नाशयति ॥११॥

संशोधन संशमनीय अध्याय में कहे वमन द्रव्य (मदनफलादि), विरेचन द्रव्य (त्रिवृदादि), शिरोविरेचनद्रव्य (विडंगादि) प्रत्येक एक एक पल, द्रव्य संग्रहणीयाध्याय में पठित, पिप्पल्यादि, वचादि, हरिद्रादि गण के द्रव्य जो मिल सकें उनको, सब नमक, इनको बारीक पीसकर, सब (आठों) मूत्रों में घोल दे। इसमें थोर का दूध भी एक प्रस्थ मिलाये। फिर इस सबको मृदु अग्नि से पकाये, पकाते समय निरन्तर कड़छी से चलाता जाये। कल्क जलने न पाये। जब भली प्रकार सिद्ध हो जाये, तब उतारकर, ठण्डा होने पर कर्ष के बराबर गोली बनाये। इनमें से दो, या तीन गोलियों को बल की अपेक्षा से तीन या चार महीने खाये। यह आनाहवर्ति प्रायः करके महारोगों में विशेष रूप से (मूत्र के अनुपान से) बरती

जाती है। कोष्ठ के कृमियों को नष्ट करती है। कास, श्वास, कृमि, कुष्ठ, प्रतिश्याय, अरोचक, अविपाक, उदावर्त्त को नष्ट करती है।

वक्तव्य—आठ महारोग-प्रमेह, अर्श, कुष्ठ आदि हैं ॥११॥

मदनफलमज्जकुटजजीमूतकेद्वाकुधामार्गवत्रिवृत्त्रिकटुकसर्षपलवणानि महावृक्षक्षीरमूत्रयोरन्यतरेण पिष्ट्वाऽङ्गुष्ठमात्रां वर्तिं कृत्वोदरिण आनाहे तैललवणाभ्यक्तगुदस्यैकां द्वे तिस्रो वा पायौ निदध्यात्, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया वातमूत्रपुरीषोदावर्ताध्मानानाहेषु विधेया ॥१२॥

मैनफल की मज्जा, कुटज, देवदाली, कटुतुम्बी, कडुई तुरई, त्रिकटु, सरसों, नमक, इनको थोर के दूध या गोमूत्र में पीसकर अंगूठे के बराबर (यव के आकार की, बीच से मोटी, किनारों से पतली) वर्ति बनाकर उदर रोगी को आनाह होने पर, गुदा में तेल और नमक लगाकर एक या दो वर्त्ति या तीन वर्त्ति गुदा में रक्खे। यह आनाहवर्त्ति क्रिया वायु-मूत्रमल के उदावर्त्त एवं आध्मान, आनाह में बरतनी चाहिये।

"फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः।
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्॥
करांगुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्।
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे॥" च०

वि० मन्तव्य—इस वर्ति को गुदा में प्रविष्ट करने से गुदवलियों में गति होकर वायु अनुलोम हो जाता है और पुरीष एवं मूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है, अपान वायु खुलता है। इसके अभाव में साबुन की, ग्लेसरीन की अथवा अन्य प्रकार की वत्ती दे दी जाती है ॥१२॥

प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः सिरां विध्येत्, विमर्दयेच्च पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थं; ततः संशुद्धदेहं समुद्रशुक्तिकाक्षारं पयसा पाययेत, हिङ्गुसौवर्चिके वा क्षीरेण, स्रुतेन पलाशक्षारेण वा यवक्षारकिंशुकक्षारोदकेन वा बहुशः स्रुतेन यवक्षारं, पारिजातकेक्षुरकापामार्गक्षारं वा, तैलसंसृष्टं शोभाञ्जनकयूषं पिप्पलीसैन्धवचित्रकयुक्तं, पूतिकरञ्जक्षारं वाऽम्लस्रुतं विड्लवणपिप्पलीप्रगाढम् ॥१३॥

प्लीहोदर रोगी का स्नेहन, स्वेदन देकर दही से भोजन खिलाकर वामबाहु में कोहनी के अन्दर की ओर सिरा का वेधन करे। रक्त का बहाव करने के लिये हाथ से प्लीहा को मले। फिर वमन, विरेचन से शरीर का शोधन करके समुद्र की सिप्पी का क्षार दूध से पिलाये। या दूध से हींग और सौवर्चल को, नितारे पलाशक्षार यवक्षार या बहुत बार नितारे ढाक के क्षारोदक से यवक्षार को पिलाये। अथवा पारिजात (हारसिंगार) तालमखाना, चिरचिटा का क्षार पिलाये। सुहांजन के यूष में तैल मिलाकर, पिप्पली, सैन्धव, चित्रक डालकर पिलाये। लताकरंज के क्षार को शतावर खट्टी कांजी में घोलकर, छान ले, इसमें विड्लवण और पिप्पली प्रचुर मात्रा में मिलाकर पिलाये (पलाशक्षार से ढाक की छाल का, किंशुकक्षार से—ढाक के फूलों का क्षार लेना) ॥१३॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः, घृतप्रस्थं तत्तुल्यं च क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत्, एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसङ्गगुल्मोदरोदावर्तश्वयथुपाण्डुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति। मन्दाग्निर्वा हिङ्ग्वादिकं चूर्णमुपयुञ्जीत ॥१४॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार, सैन्धव प्रत्येक एक पल, घी एक प्रस्थ, दूध भी एक प्रस्थ, इन सबको एक साथ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह षट् पलक नामक घृत, प्लीहा, अग्निमांद्य, गुल्म, उदर, उदावर्त्त, श्वयथु, पाण्डुरोग, कास, श्वास, प्रतिश्याय, ऊर्ध्ववात, विषमज्वर को नष्ट करता है। मन्दाग्निवालों के लिये हिंग्वादि चूर्ण बरते।

चरक में—सैन्धव का पाठ नहीं है, यथा—
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
पलिकैः सयवक्षारैः घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४॥

यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः। विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ सिराव्यधः ॥१५॥

मणिबन्धं सकून्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम्।
दहेत् सिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशान्तये ॥१६॥

यकृद्दाल्य रोग में भी यही चिकित्सा है, केवल सिरावेध दक्षिण बाहु में करे।

वैद्य प्लीहा की शान्ति के लिये—कलई को थोड़ा सा झुका कर (मोड़कर) वाम अंगुष्ठ की ओर जाती हुई सिरा को, अग्नि में लाल किये शर (बाण) से जलाये ॥१५, १६॥

बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत् संधानं च यथोक्तं कारयेत्, यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत्, ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेत्, वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति ॥१७॥

बद्धगुद उदर में तथा परिस्रावि उदर में रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर, नाभि के नीचे अभ्यंग करके नाभि के वाम पार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, चार अंगुल उदर को चीरकर, आँतों को

निकालकर, बद्धगुद में आंत को रोकनेवाले पत्थर, बाल या मल को देखकर, उसको दूर करके, घी और मधु से आंतों पर अभ्यंग करके, आंतों को ठीक स्थान पर बिठाकर, उदर के बाह्य व्रण को सी देवे। परिस्रावी उदर में भी यही विधि बरते, इसमें शल्य को निकालकर, आंत्र के स्रावों का संशोधन करके. छेदवाली आंत्र को ठीक मिलाकर काली चिऊँटियों से कटवाये। काट लेने पर इनके शिरों को वहाँ लगा रहने देवे, और शेष भाग को निकाल देवे। फिर पूर्व की भांति सी देवे। कही विधि से संधान करे। मुलैहठी मिली काली मिट्टी का लेप करके पट्टी बाँध दे। फिर वायु रहित घर में रखकर कर्त्तव्य विधि समझा दे अथवा तैल या घी की द्रोणी (टब में) लेटाये रक्खे, खाने में केवल दूध ही देवे।

वक्तव्य—भूरी चिऊँटी—आम आदि के वृक्षों पर पत्तों को जोड़कर ऐसा घोंसला सा बनाती है, कि उसमें से एक बूँद पानी भी बाहर नहीं आता। चारों ओर, ऊपर, नीचे पत्ते इस तरह जोड़ती है कि बरसात में कितना ही पानी पड़े, उनको, उसके अन्दर पानी नुकसान नहीं करता ॥१७॥

दकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्याकक्षात् परिवेष्टितस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्। तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत् न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत्, सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातीसारश्वासकासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसञ्जातप्राणस्य, तस्मात्तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत्; निःसृते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं, तथा नाध्मापयति वायुः, षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा, ततस्त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा, अवशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत, एवं संवत्सरेणागदो भवति ॥१८॥

दकोदर रोगी को वातहर तैल का अभ्यंग कराके गरमजल से स्वेदन देकर बिठाये। विश्वस्त मनुष्यों से इसको पकड़वाकर कक्षा से लेकर नाभितक लपेटकर, नाभि के नीचे वामपार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, व्रीहीमुख शस्त्र से अंगूठे की मोटाई के बराबर गहरा वेधन करे। इसमें कलई आदि की दो मुखवाली नाड़ी या पंख की नाड़ी को लगाकर दोष युक्त पानी को निकाल ले। फिर नाड़ी को निकालकर व्रण पर तैल और नमक का लेप करके पट्टी बाँध देवे। एक ही दिन में सम्पूर्ण दोषोदक को न निकाले। एकदम से सब पानी निकाल लेने पर प्यास, ज्वर, अंगों का टूटना, अतिसार, श्वास, कास, पाददाह उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा, बल आने के पूर्व ही उदर में और भी अधिक पानी भर जाता है। इसलिये तीन, चार, पांच, छै, आठ, दस, बारह, सोलह, दिनों का अन्तर रखकर दोषोदक को थोड़ा २ बाहर करे। दोष के निकल जाने पर पेट को भेड़ के चमड़े, रेशम या अन्य चमड़े से (मजबूत पट्टी से) कसकर बाँध देवे। इससे वायु आध्मान नहीं करती। छैः मास दूध से या जांगलमांसरस से भोजन करे, फिर तीन मास तक आधापानी मिले दूध से, बिजौरा आदि फलों (खट्टे फलों)के रससे जांगल मांस रस से भोजन करे। शेष तीन मास तक हितकारी, लघु अन्न खाये। इस प्रकार करने से एक साल में नीरोगी होता है।

वक्तव्य—चरक में भोजन के लिये—

निःसृते लंघितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्।
अतः परं च षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः॥
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापि भोजयेत्।
श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेण लघुभोजनः॥
नरः संवत्सरेणैव जयेत्प्राप्तं जलोदरम्॥

चरक० चि० अ० १३-१६।

वि० मन्तव्य–सब प्रकार के उदररोगों में तथा शोथरोगों में शृत दूध का प्रयोग बहुत ही लाभप्रद प्रमाणित होता है ॥१८॥

भवति चात्र—

आस्थापने चैव विरेचने च
पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं
क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा ॥१९॥

इसमें श्लोक है—आस्थापन में, विरेचन में, पीने में, आहारविधि विधान में, सबमें कुशल वैद्य को उदर रोगियों के लिये गरम किया दूध या जांगल-मांसरस बरतना चाहिये।

वक्तव्य—"प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत्। दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥ प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः। सर्वधातुक्षयार्त्तानां देवानाममृतं यथा" ॥ चरक चि० अ० १३ ॥१९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातः मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूढ गर्भ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—मूढगर्भ का विवरण नि० अ० ८ में देखिये ॥१,२।

नातोऽन्यत् कष्टतमसस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम्, अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन. उत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जूकरणदारणानि चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता, तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत ॥३॥

मूढगर्भ को निकालने जैसा कठिन कार्य दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि इसमें योनि, यकृत्, प्लीहा, आंत्रविवर, गर्भाशय के बीच में स्पर्श से ही काम करना होता है। गर्भ और गर्भिणी को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना एक ही हाथ से उत्कर्षण (ऊपर को खींचना), नीचे खींचना, स्थान परिवर्त्तन, काटना, टुकड़े करना, छेदन करना, दबाना, सीधा करना आदि कार्य करने पड़ते हैं। इसलिये स्वामी की आज्ञा लेकर, अतिशय सावधानी के साथ कर्म आरम्भ करे ।।३।।

तत्र समासेनाष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा; स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति-शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा ।।४।।

संक्षेप में मूढ गति आठ प्रकार की कही है—स्वभाव (प्रकृति से) आने पर तीन तरह की रुकावटें होती हैं, यथा—शिर की विपरीतता से, अंसों (कन्धों) के कारण और नितम्ब के कारण ।।४।।

जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत। निर्हर्तुमशक्ये च्यावनान् मन्त्रानुप श्रृणुयात्; तान् वक्ष्यामः ॥

'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ।।६।।
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्
मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्ताः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः' ।।८।।

गर्भ के जीवित रहने पर सूतिका में गर्भ निकालने का यत्न करे। यदि न निकल सके, तो च्यावन मंत्रों को सुनाये, उन मंत्रों को कहते हैं – हे स्त्री ! तेरे मन्दिर में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा रहे। हे स्त्री ! यह अमृत रूपी जल लाया हूँ, तेरा लघु गर्भ छूट जाये। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र और समुद्र तुझे शान्ति प्रदान करें। पशु, विपाश (मुक्त) हो गये, सूर्य ने किरणें छोड़ दीं, गर्भ सब भय से मुक्त हो गया, जल्दी आ, आ, देरी न कर।

वक्तव्य—इन च्यावन मंत्रों से पानी को अभिमन्त्रित करके पिलाते हैं ।।५-८।।

औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि। मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वनगवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमपहरेत् तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाञ्छेत्, एकसक्थ्ना प्रतिपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्यापहरेत्, स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्यापहरेत् तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य पश्चादर्धमूर्ध्वमुत्क्षिप्य पूर्वार्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्; पार्श्वापवृत्तशिरसमंसं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत्, बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोऽनुलोममानीयापहरेत्, द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत् ।।९।।

सचेतनं च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्।
दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत् ।।१०।।
अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्।
न गर्भिण्या विपर्यासस्तस्मात्प्राप्तं न हापयेत् ।।११।।

शरीर स्थान अध्याय दस में कही अपरापातन की औषधियों का इसमें प्रयोग करे। गर्भ के अन्दर मर जाने पर स्त्री को पीठ के भार चित लेटाकर, टांगों को घुटना पर मोड़कर, नितम्ब के नीचे ऐंडवी (कपड़ों की गद्दी) रखकर, कटि को ऊँचा उठाकर, योनि में सेमल के फूलों की पिच्छ एवं घृत से लिप्त हाथ प्रविष्ट करके गर्भ को निकाल ले। इनमें जो गर्भ दोनों टांगों से आ रहा हो, उसको सीधा अनुलोम रूप में खींचे। जिस गर्भ की एक टांग बाहर आई हो, उसकी दूसरी टांग को फैलाकर, फिर खींचे। जिस बच्चे के नितम्ब योनि में आये हुये हों, उसके नितम्बों को दबाकर ऊपर धकेले और टांगों को फैलाकर बाहर लाये। जो बच्चा तिरछा अर्गल की भाँति आड़ा आ रहा हो, उसमें पिछले आधे भाग को (नितम्ब-टांग आदि को) ऊपर की ओर धकेलकर, पूर्वार्ध (शिर के भाग को) को योनि में सीधा लाकर निकाले। जिसका सिर पार्श्व की ओर मुड़ा हो, उस गर्भ में कन्धों को दबाकर ऊपर की ओर धकेल कर, शिर को योनिमार्ग में लाकर निकाले। जिस गर्भ के दोनों बाहु योनि मार्ग में आ गये हों, उसमें कन्धों को ऊपर की ओर दबाकर, शिर को सीधा लाकर बच्चे को बाहर करे। अन्त के दो मूढगर्भ असाध्य हैं। इस प्रकार यदि करना सम्भव न हो, तो शस्त्र कर्म करे।

चेतन गर्भ पर शस्त्र कर्म न करे। यदि ऐसा किया जाता है, तो गर्भ माता और अपने को मार बैठता है। जब रोग-अवस्था असह्य हो, तब गर्भ का पातन करना ठीक है। गर्भिणी को मारना उत्तम नहीं, इसलिये जो ठीक हो, वह उस समय कर ले।

वक्तव्य—अपनी हानि, यश का नाश और अप्रतिष्ठा होना। गर्भ की रक्षा या माता की रक्षा ये प्रश्न अवस्थानुसार

ही चिकित्सक निर्णय करता है, इसलिये जो समय पर ठीक हो वह करे।

वि० मन्तव्य—उक्त दो मूढगर्भों में शस्त्रकर्म करना इसलिये विहित है, कि किसी प्रकार गर्भिणी के प्राण बचाए जायँ, परन्तु जीवित गर्भ पर शस्त्र द्वारा कर्म करना भी उचित नहीं है अन्यथा वह तड़पकर अपने को और गर्भिणी को मार डालता है, इस दशा में आज कल तो उदर तथा गर्भाशय चीरकर जीवित गर्भ निकाल लिया जाता है। इस विषय पर वर्त्तमान सुश्रुत में जो आपके हाथों में है, कोई विधान नहीं मिलता है, परन्तु हमारा विश्वास है कि वह विधान अवश्य रहा होगा। भगवान् धन्वन्तरि ने अवश्य कहा होगा। कारण ? कारण सुनिये – उक्त पाठ में कहा है, कि दो प्रकार के मूढ़ गर्भ असाध्य अर्थात् हाथ से निकालने योग्य नहीं होते और सचेतन-जीवित गर्भ पर शस्त्र कर्म करके निकालने का भी निषेध किया है, इस दशा में यदि उक्त प्रकार के दोनों मूढ़गर्भ जीवित हों तो क्या किया जाय ? यह एक विचारणीय विषय है, अतः हमारा दृढ़ विश्वास है, कि उदर एवं गर्भाशय चीरकर गर्भ निकालने का विधान भगवान् धन्वन्तरि ने अवश्य किया होगा। भले ही वह विधानात्मक पाठ आज के सुश्रुत में नहीं है। अश्मरी तथा गर्भ एक ही प्रकार से निकाले जाते हैं। मृते च–मृत ही नहीं जीवित मूढ गर्भ भी इसी विधि से निकाले जाते हैं, परन्तु शस्त्र कर्म मृत पर ही किया जाता है। यदि कोई ऐसा रोग हो जाय जो गर्भपात होने पर शान्त हो सकता हो अन्यथा गर्भिणी की मृत्यु निश्चित हो तब गर्भपातन ही कर देना चाहिये, जिससे नारी के प्राण बच जायँ ॥९-११॥

ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य, शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत्; अभिन्नशिरसमक्षिकूटे गण्डे वा, अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्, जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति ॥१२॥

फिर स्त्री को आश्वासन देकर, मण्डलाग्र या अंगुली शस्त्र से शिर का विदारण करके, शिर की अस्थियों को निकालकर, शंकु से छाती, या कक्षा में फँसाकर बच्चे को खींच ले। शिर के न टूटने पर अक्षिकूट या गण्ड में शंकु को फँसाकर खींचे। अंसों से फँसे गर्भ में कन्धे पर से बाहु को काटकर निकाले। मशक की तरह वायु से भरने के कारण फूले हुए उदर को चीरकर, आंतों को निकालकर, ढीला हो जाने पर निकाले। नितम्ब से फँसे गर्भ में जघन कपालों को काटकर बाहर निकाले।

वि० मन्तव्य—यह उन अन्त के दो असाध्यमूढ गर्भों को काटकर निकालने का विधान है ॥१२॥

किंबहुना—

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः ॥१३॥
गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः।
तत्रानल्पमतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम् ॥१४॥
नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा ॥१५॥
मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेद्यमन्तर्विजानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन ॥१६॥
अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्।
हस्तेनापहरेद्वाऽपि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा ॥१७॥
धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद्वांऽसपिण्डिकाम्।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ॥१८॥
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ॥१९॥
एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।

गर्भ का जो-जो अंग रुकता हो, वह उस अंग को काटकर निकाले। गर्भिणी की रक्षा सब उपायों से करे। वायु के प्रकोप से गर्भ की गतियाँ नाना प्रकार की होती हैं। इनमें प्रचुरबुद्धिवाला वैद्य विधिपूर्वक बरते। मरे हुये गर्भ की एक क्षण भी उपेक्षा न करे। यह मृत गर्भ माता को मार देता है, जिस प्रकार कि गला घोटने पर पशु तुरन्त मर जाता है। जाननेवाला वैद्य अन्दर शस्त्रकर्म मण्डलाग्र से करे, क्योंकि शायद कभी वृद्धि पत्र से माता को हानि होना सम्भव है। इसके पीछे न निकली अपरा को वैद्य निकाले। यदि हाथों से बाहर न निकाली जा सके, तो पार्श्वों को दबाकर निकाले। नारी को बार-बार झकोरे, अथवा अंसपिण्डिका को दबाये। तैल से योनि को स्निग्ध करे, इस प्रकार से वैद्य अपरा को निकाले। यदि इस प्रकार अपरा के बाहर आ जाने पर गरम पानी से स्नान कराये। फिर शरीर पर तैलाभ्यंग करके योनि में तैल रक्खे। इस प्रकार करने से योनि को मल होती है, और शूल शान्त हो जाती है ॥१३-१९॥

कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिंगुभार्गीः सदीप्यकाः ॥२०॥
वचामतिविषां रास्नां चव्यं संचूर्ण्य पाययेत्।
स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥२१॥
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम्।
शाकत्वग्हिङ्ग्वतिविषापाठाकटुकरोहिणीः ॥२२॥
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत् पूर्ववद् भिषक्।
त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत् ॥२३॥
पाययेतासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्।
शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम् ॥२४॥
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत्।
सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना ॥२५॥

स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता ।
पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ॥२६॥
रसं दशाहं शेते तु यथायोगमुपाचरेत् ।
व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च वरवर्णिनीम् ॥२७॥
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत परिहारतः ।

पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, इलायची, हींग, भार्गी, अजवायन, वच, अतीस, रास्ना, राल, चव्य, इनका चूर्ण करके घृत के साथ पिलाये, जिससे दोषों का बहाव हो और वेदना की शान्ति हो। अथवा स्नेह रहित इनका क्वाथ या कल्क देवे। सागौन की छाल, हींग, अतीस, पाठा, कुटकी, तेजबल, इनको वैद्य घी के साथ, या बिना घी के क्वाथ, या कल्क के रूप में तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन पिलाये। पीछे से स्नेह फिर पिलाये। निर्मल आसव या सुसंस्कृत अरिष्ट पिलाये। शिरीष और अर्जुन का सिद्ध जल पीने में उत्तम है। जो दूसरे उपद्रव हों, उनकी दोषों के अनुसार अपनी अग्नी चिकित्सा करे। सम्पूर्ण रूप से शुद्ध होने पर स्निग्ध एवं थोड़ा भोजन करे, नित्य स्वेद एवं स्नेह की मालिश करे, क्रोध न करे, सौंफ आदि वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध दस दिन तक भोजन में दे। दस दिन तक मांसरस दे, शेष दस दिन में जैसा ठीक हो, वैसा भोजन दे। उपद्रव रहित, विशुद्ध होने पर एवं रंग निखर आने से, चार मास के पीछे परहेज पालना छोड़े ॥२०-२७॥

योनिसन्तर्पणेऽङ्गे पाने बस्तिषु भोजने ॥२८॥
बलातैलमिदं चास्यै दद्यादनिलवारणम् ।
बलामूलकषायस्य दशमूलीशृतस्य च ॥२९॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथस्य पयसस्तथा ।
अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदेकतः ॥३०॥
पचेदावाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम् ।
तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च ॥३१॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम् ।
मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम् ॥३२॥
शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम् ।
तत् साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृन्मयेऽपि वा ॥३३॥
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।
बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत् ॥३४॥
यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत् ।
या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान् ॥३५॥
वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा ।
भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते ॥३६॥
एतदाक्षेपकादीन् वै वातव्याधीनपोहति ।
हिक्कां कासमधीमन्थं गुल्मं श्वासं च दुस्तरम् ॥३७॥
षण्मासानुपयुज्यैतदन्त्रवृद्धिमपोहति ।
प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः ॥३८॥
राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः ।
सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः ॥३९॥

योनि के सन्तर्पण में, अभ्यंगमें, पीने में, बस्ति में, भोजन में, निम्नलिखित बला तैल बरतना चाहिए। यह वायु को नष्ट करता है। तैल एक भाग, बलामूल का क्वाथ, दशमूल का क्वाथ, जौ वेर, कुलत्थी का क्वाथ, और दूध, प्रत्येक आठ भाग, इन सबको मिलाकर पकाये। इसमें कल्कद्रव्य—काकोल्यादि मधुरगण, सैन्धव, अगरु, राल, देवदारु, मजीठ, चन्दन, कूठ, इलायची, कालानुसारी, जटामांसी, शैलेयक (छड़ीला), तेजपत्र, तगर, सारिवा, वच, शतावरी, असगन्ध, सौंफ, पुनर्नवा, इनका कल्क (स्नेह से चतुर्थांश) मिलाकर पकाये। भली प्रकार सिद्ध हो जाने पर इसको छानकर सोने, चाँदी या मिट्टी के घड़े में भरकर, सुरक्षित रख देवे। यह बला तैल सब प्रकार के वात रोगों को नष्ट करता है। इसकी मात्रा को बल के अनुसार सूतिका को देवे। अथवा जो स्त्री गर्भ की चाह रखती हो, जिस मनुष्य का शुक्र क्षीण हो गया हो, उसे दे। वायु से क्षीण, मर्म पर चोट लगे, मथित चोट लगे, टूटे, थकान से पीड़ित, व्यक्तियों में सब प्रकार से बरते। यह तैल आक्षेप आदि वात रोगों को नष्ट करता है। हिचकी, कास, अधिमन्थ, गुल्म, भयानक श्वास को नष्ट करता है। छै मास के उपयोग से अंत्रवृद्धि नष्ट हो जाती है। इस तैल से पुरुष नूतन रसादि धातुओंवाला, स्थिर यौवन होता है। यह तैल राजाओं के लिये या जो राजाओं के समान वैभवशाली हों, उनके लिये बनाना चाहिये। जो सुखी, कोमल प्रकृति एवं धनी हों, उनके लिये भी बनाये ॥२८-३९॥

बलाकषायपीतेभ्यस्तिलेभ्यो वाऽप्यनेकशः ।
तैलमुत्पाद्य तत्क्वाथशृतपाकं कृतं शुभम् ॥४०॥
निवाते निभृतागारे प्रयुञ्जीत यथाबलम् ।
जीर्णेऽस्मिन् पयसा स्निग्धमश्नीयात् षष्टिकौदनम्॥
अनेन विधिना द्रोणमुपयुज्यान्नमीरितम् ।
भुञ्जीत द्विगुणं कालं बलवर्णान्वितस्ततः ॥४२॥
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः शतायुः पुरुषो भवेत् ।
शतं शतं तथोत्कर्षो द्रोणे द्रोणे प्रकीर्तितः ॥४३॥

अथवा तिलों को बला क्वाथ से बहुत बार (इक्कीस बार) भावित करके, इन तिलों से तैल निकाल लें। इस तैल को बला क्वाथ से एक सौ बार सिद्ध करे (प्रत्येक बार नया ही बला क्वाथ ले)। इस शतपाकी बला तैल को वायु रहित, एकान्त घर में बल के अनुसार बरते। इसके जीर्ण होने पर साठी के चावलों को दूध के साथ खाये। इस विधि से इस तैल की एक द्रोण मात्रा का उपयोग करके, कहे हुए अन्न को दुगने समय तक खाये। इस प्रकार करने से बल-वर्ण से युक्त होकर, सब पापों से (रोगों से) मुक्त होकर एक सौ वर्ष की

आयु भोगता है। एक एक द्रोण तैल सेवन से, एक सौ, वर्ष की आयु बढ़ती है ॥४०-४३॥

बलाकल्पेनातिबलागुडूच्यादित्यपर्णिषु।
सैरेयके वीरतरौ शतावर्यां त्रिकण्टके ॥४४॥
तैलानि मधुके कुर्यात् प्रसारिण्यां च बुद्धिमान्।

बला तैल की विधि से बुद्धिमान् वैद्य अतिबला, गिलोय, सूर्यपर्णी, झिण्टी, वीरतरु, शतावरी, गोखरू, मुलैहठी, और प्रसारणी से भी शतपाकी तैल सिद्ध करे ॥ ४४ ॥

नीलोत्पलं वरीमूलं गव्ये क्षीरे विपाचयेत् ॥४५॥
शतपाकं ततस्तेन तिलतैलं पचेद् भिषक्।
बलातैलस्य कल्कांस्तु सुपिष्टांस्तत्र दापयेत् ॥४६॥
सर्वेषामेव जानीयादुपयोगं चिकित्सकः।
बलातैलवदेतेषां गुणांश्चैव विशेषतः ॥४७॥

नीलोफर, शतावरी का मूल इनको गाय के दूध में पकाये। इससे वैद्य तिल तैल को एक सौ बार सिद्ध करे। सिद्ध करते समय बला तैल में कहे कल्कों को भी इसमें मिलाये। इन सब की उपयोग विधि, और इन सब गुणों को वैद्य बला तैल के समान ही जाने।

"शतेन यष्टिमधुकात्साध्यं दशगुणं पयः।
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु ॥
सिद्धं मधुकाश्मर्यरसैः वातरक्तनुत्।
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणम् ॥
क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेव मधुकाच्छतैः ॥"

इस बला तैल में बला क्वाथ के साथ बला का कल्क भी तैल पाक में मिलाना कई आचार्य कहते हैं। 'शत' शब्द-बहु अर्थ का द्योतक है। अधिक से अधिक संख्या में तैल सिद्ध करे। दूध पाक में पानी को मिलाना चाहिए। बिना पानी के दूध में औषधियों का पूरा गुण नहीं आता ॥ ४५-४७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मूढगर्भचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे विद्रधियों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

उक्ता विद्रधयः षड्ये तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः।
शेषेष्वामेषु कर्तव्या त्वरितं शोफवत् क्रिया ॥३॥

निदान स्थान में जो छै प्रकार की विद्रधियाँ कही हैं, उनमें सन्निपातजन्य विद्रधि असाध्य है। शेष जो पाँच विद्रधियाँ हैं, उनकी आमावस्था में शोफ की चिकित्सा जल्दी से करनी चाहिये। (शोफ की चिकित्सा-अपतर्पण से लेकर विरेचन तक कहे ग्यारह उपक्रम बरतने चाहियें। छै: विद्रधि कहने से द्वन्द्वज विद्रधि का निषेध किया है) ॥ ३ ॥

वातघ्नमूलकल्कैस्तु घृततैलवसायुतैः।
सुखोष्णो बहलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ॥४॥
सानूपौदकमांसस्तु काकोल्यादिः सतर्पणः।
स्नेहाम्लसिद्धो लवणः प्रयोज्यश्चोपनाहने ॥५॥
वेशवारैः सकृशरैः पयोभिः पायसैस्तथा।
स्वेदयेत् सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम् ॥६॥
स चेदेवमुपक्रान्तः पाकायाभिमुखो यदि।
तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याद् भिन्नं च शोधयेत् ॥
पञ्चमूलकषायेण प्रक्षाल्य लवणोत्तरैः।
तैलैर्भद्रादिमधुकसंयुक्तैः प्रतिपूरयेत् ॥८॥
वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धेन त्रैवृतेन च रोपयेत् ॥९॥

वातजन्य विद्रधि में—वातघ्न (एरण्ड आदि अथवा भद्रदार्व्यादि गण) द्रव्यों के मूल कल्कों को घी, तैल और वसा के साथ मिलाकर सुहाता हुआ, गरम एवं मोटा लेप करना चाहिये। उपनाहन (पुलटिस) के लिये आनूप मांस (भैंस, सूअर आदि का), औदकमांस (कछुआ, मछली आदि का), काकोल्यादि गण इनको जौ के आटे के साथ मिलाकर, इसमें थोड़ा सा नमक मिलाकर तैल आदि स्नेह एवं कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से सिद्ध करके उपनाह बाँधना चाहिये। वेशवार (अस्थि रहित मांस को पीसकर-स्विन्न करके, पिप्पली, मरिच आदि मिलाकर बनाया), कृशरा (तिल, तण्डुल, माष से बनाई यवागू), दूध एवं पायस (खीर) इनसे निरन्तर स्वेदन करे। और रक्त को भी निकाले। इतनी सब चिकित्सा करने पर भी यदि विद्रधि पकने की ओर हो तो, उसे पकाकर शस्त्र से चीर देवे। चीरकर इसका शोधन करे। विद्रधि को बृहत्पञ्चमूल के कषाय से धोकर, लवण प्रधान एवं भद्रदार्व्यादिगण तथा मुलैहठी से मिले तैलों से इसको भर देवे। तथा त्रिवृत् आदि विरेचन द्रव्यों के चूर्णों को घी, तैल, वसा में मिलाकर शोधन करे। अथवा मिश्रकोक्त अध्याय में कहे रोपण घृतोक्त पृथक्पर्णी आदि से सिद्ध किये घी तैल और वसा इनसे रोपण करे ॥ ४-९ ॥

पैत्तिकं शर्करालाजामधुकैः सारिवायुतैः।
प्रदिह्यात् क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचन्दनैः ॥१०॥
पाक्यैः शीतकषायैर्वा क्षीरैरिक्षुरसैस्तथा।
जीवनीयघृतैर्वाऽपि सेचयेच्छर्करायुतैः ॥११॥
त्रिवृद्धरीतकीनां च चूर्णं लिह्यान्मधुद्रवम्।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् पक्वं चापाट्य बुद्धिमान् ॥
क्षीरवृक्षकषायेण प्रक्षाल्यौदकजेन वा।
तिलैः सयष्टीमधुकैः सक्षौद्रैः सर्पिषा युतैः ॥१३॥

उपदिह्य प्रतनुना वाससा वेष्टयेद् व्रणम् ।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः ॥१४॥
सहरिद्रैः कृतं सर्पिः सक्षीरं व्रणरोपणम् ।
क्षीरशुक्लापृथकपर्णीसमङ्गारोध्रचन्दनैः ॥१५॥
न्यग्रोधादिप्रवालेषु तेषां त्वक्ष्वथवा कृतम् ।

पित्तज विद्रधि में-शर्करा, लाजा, मुलैहठी, सारिवा इनको दूध में पीसकर लेप करे। अथवा क्षीरविदारी, खस और चन्दन इनके क्वाथ से या शीत कषाय से, या दूध से, गन्ने के रस से, अथवा शर्करा मिश्रित जीवनीय घृत से इस पर परिषेचन करे। निशोथ और हरड़ के चूर्ण को मधु से पतला बनाकर उससे लेप करे। जौंक से रक्त को निकाले। इतना सब करने पर भी यदि पकने लगे तो उपनाह लगावे। पकने पर इसको चीरकर बुद्धिमान् वैद्य बरगद आदि क्षीरवृक्षों के कषाय से या कमल आदि के कषाय से धोकर तिल, मुलैहठी, इनको मधु और घी में मिलाकर लेप करे। ऊपर से पतले वस्त्र द्वारा व्रण को ढाँप दे। पौण्डरीक, मजीठ, मुलैहठी, खस, पद्माख और हल्दी इनके द्वारा दूध में सिद्ध किया घृत व्रण रोपक है। अथवा विदारी, पृश्निपर्णी, मजीठ, लोध, चन्दन, बरगद आदि क्षीर-वृक्षों के पत्ते या इनकी छालों में सिद्ध किया घृत उत्तम व्रण रोपक है।

वक्तव्य—"द्रव्यमापोथितं सम्यगत्युष्णोदकसंस्थितम्। रात्रिपर्युषितं शीतकषायं····विदुः॥" डल्हणः "द्रव्यमापोथितं तोये प्रतप्ते निशि संस्थितम्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः॥ क्षितोष्णतोयेमृदितं तत्फाण्टं परिकीर्त्तितम्॥" चरक॥ १०-१५॥

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च ॥१६॥
सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा ।
द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी ॥१७॥
प्रियङ्गुः कुशमूलं च निचुलस्य त्वगेव च ।
मञ्जिष्ठाचन्दनोशीरमुत्पलं सारिवे त्रिवृत् ॥१८॥
एतेषां कर्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
दुष्टव्रणप्रशमनं नाडीव्रणविशोधनम् ॥१९॥
सद्यश्छिन्नव्रणानां च करञ्जाद्यमिदं शुभम् ।
दुष्टव्रणाश्च ये केचिद्ये चोत्सृष्टक्रिया व्रणाः ॥२०॥
नाड्यो गम्भीरिका याश्च सद्यश्छिन्नास्तथैव च ।
अग्निक्षारकृताश्चैव ये व्रणा दारुणा अपि ॥२१॥
करञ्जाद्येन हविषा प्रशाम्यन्ति न संशयः ।

करञ्ज के नूतन उत्पन्न कोमल पत्ते, और फल, चमेली के पत्ते, पटोल (परवल), तथा नीम के पत्ते, हल्दी, दारुहल्दी, मोम, मुलहठी, कुटकी, प्रियङ्गु, कुशा की जड़ और जलवेतस की छाल, मंजीठ, चन्दन, खस, कमल, सारिवा, कृष्णसारिवा, निशोथ, प्रत्येक एक कर्ष लेकर इससे एक प्रस्थ घृत पाक करे। यह घृत दूषित व्रण की शान्ति करनेवाला, नाड़ी व्रण का शोधक, तुरन्त छिन्न हुए व्रणों के लिये करञ्जादि घृत मंगलकारी है और जो दुष्ट व्रण हैं, और जो व्रण असाध्य समझ लिये गये, गहरी नाड़ियाँ और तुरन्त कटे हुए व्रण, अग्नि एवं क्षार से उत्पन्न भयङ्कर व्रण, इस करञ्जादि घृत से बिना संशय के अच्छे हो जाते हैं॥ १६-२१॥

इष्टकासिकतालोष्टगोशकृत्तुषपांशुभिः ॥२२॥
मूत्रैरुष्णैश्च सततं स्वेदयेच्छ्लेष्मविद्रधिम् ।
कषायपानैर्वमनैरालेपैरुपनाहनैः ॥२३॥
हरेद्दोषानभीक्ष्णं चाप्यलाब्वाऽसृक् तथैव च ।
आरग्वधकषायेण पक्वं चापाट्य धावयेत् ॥२४॥
हरिद्रात्रिवृताशक्तुतिलैर्मधुसमायुतैः ।
पूरयित्वा व्रणं सम्यग्बध्नीयात् कीर्तितं यथा ॥२५॥
ततः कुलत्थिकादन्तीत्रिवृच्छ्यामार्कतिल्वकैः ।
कुर्यात्तैलं सगोमूत्रं हितं तत्र ससैन्धवम् ॥२६॥

कफ जन्य विद्रधि में ईंट, रेती, ढेला, गाय का छीना (जंगल में सूखा गोबर), तुष और पांशु (धूली), तथा मूत्र इनको गरम करके, इनसे निरन्तर स्वेद देवे। कषायों को पिलाकर, वमन से, आलेपन से, उपनाहनों से दोषों को बार बार निकाले। अलाबु (तुम्बी से) रक्त को निकाले। पक जाने पर चीरकर आरग्वधादि गण के कषाय से इसको धोये। हल्दी, निशोथ, सत्तू, तिल और मधु मिलाकर इनसे व्रण को भर देवे। सूत्रस्थान अध्याय अठारह में कही विधि से इस व्रण को भली प्रकार बाँध देवे। फिर कुलत्थी, दन्ती, निशोथ, काली निशोथ, आक, तिल्वक, सैन्धव इनसे गोमूत्र के साथ तैल सिद्ध करके लगाये॥ २२-२६॥

पित्तविद्रधिवत् सर्वाः क्रिया निरवशेषतः ।
विद्रध्योः कुशलः कुर्याद्रक्तागन्तुनिमित्तयोः ॥२७॥
वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते ।
ऊषकादिप्रतीवापं पिबेत् सुखकरं नरः ॥२८॥
अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्विरेचनेन च ।
अचिराद्विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितम् ॥२९॥
एभिरेव गणैश्चापि संसिद्धं स्नेहसंयुतम् ।
कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथैवाप्यनुवासनम् ॥३०॥
पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा ।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥३१॥
तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वाऽपि सुरादिभिः ।
यथादोषगणक्वाथैः पिबेद्वाऽपि शिलाजतु ॥३२॥
प्रधानं गुग्गुलुं चापि शुण्ठीं च सुरदारु च ।
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम् ॥३३॥

रक्तजन्य और आगन्तुज विद्रधियों की भाँति सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये। अन्तः विद्रधि के

अपक्व होने पर वरुणादि गण के क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप देकर पीना मनुष्य को सुखकर होता है। वरुणादि गण के क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप मिलाकर सिद्ध किया घृत अथवा त्रिवृता आदि विरेचन द्रव्यों से सिद्ध किया घृत प्रातःकाल नित्य प्रति सेवन करने पर विद्रधि को शीघ्र नष्ट करता है। इन्हीं वरुणादि गण ऊषकादिगण के कल्क और तैल मिलाकर या त्रिवृता आदि विरेचन द्रव्यों के क्वाथ में तैल मिलाकर आस्थापन एवं अनुवासन शीघ्र देना चाहिये। पीने में, आलेपन में, भोजन में मीठे सहजन का उपयोग दोष के अनुसार प्रक्षेप मिलाकर पीने पर अपक्व विद्रधि को शीघ्र नष्ट करता है। अथवा मीठे सहजन को पानी के साथ (पित्त विद्रधि में), कांजी के साथ (वात विद्रधि में), गोमूत्र के साथ (कफ विद्रधि में), सुरा आदि के साथ (अविदग्ध रक्त विद्रधि में) पीना चाहिये। दोष गणों के क्वाथों से दोषों के अनुसार शिलाजतु को पीये। उत्तम गुग्गुल, को सोंठ को, (कफज विद्रधि में), देवदारु को (वातिक विद्रधि में) पीये। स्नेहन और उपनाहन सदा करे। अनुलोमन सदा बरतना चाहिये ॥

वक्तव्य—"घनेन वाससा श्लैष्मिकं गाढस्थाने गाढतरम्" इस विधि से बाँधे। वरुणादिगण का क्वाथ अन्तः देना चाहिये। और पकने पर पाटन शोधन आदि बाह्योपचार करने चाहिये ॥२७-३३॥

यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक्।
रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्बाहौ वदन्ति तु ॥३४॥

कफजन्य अन्तः विद्रधि में वैद्य पूर्वोक्त कही सिरा का ("वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरे दन्तः विद्रधौ पार्श्वशूले च" शा० अ० ८) वेधन करे। रक्तजन्य, पित्तजन्य, वातजन्य विद्रधि में बाहु के अन्दर सिरा वेध करने को भी कई वैद्य कहते हैं ॥३४॥

पक्वं वा बहिरुन्नद्धं भित्वा व्रणवदाचरेत्।
स्रुतेषूर्ध्वमधो वाऽपि मैरेयाम्लसुरासवैः ॥३५॥
पेयो वरुणकादिस्तु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा।
शिग्रुमूलजले सिद्धं ससिद्धार्थकमोदनम् ॥३६॥
यवकोलकुलत्थानां यूषैर्भुञ्जीत मानवः।
प्रातः प्रातश्च सेवेत मात्रया तैल्वकं घृतम् ॥३७॥
त्रिवृतादिगणक्वाथसिद्धं वाऽप्युपशान्तये।

जो विद्रधि पक गई हो, या बाहर को उठी हो, उसे चीरकर व्रण की भाँति चिकित्सा करे। अथवा अपने आप ऊपर (मुख आदि से) से या नीचे से (गुदा आदि से) बह जाने पर वरुणादिगण को या मीठे सहजन को मैरेय, कांजी, सुरा या आसव के साथ पीना चाहिये। सहजन मूल के क्वाथ में चावलों को पकाकर और इसमें राई का बघार (संस्कार) देकर, जौ-बेर और कुलत्थी के यूष के साथ मनुष्य खाये। प्रति दिन प्रातः-काल तैल्वक घृत को मात्रा में सेवन करे। अथवा त्रिवृदादि-गण क्वाथ में सिद्ध घृत को विद्रधि की शान्ति के लिये खाये॥

नोपगच्छेद्यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥३८॥
पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता।

विद्रधि पकने न पाये, इस प्रकार का वैद्य को प्रयत्न करना चाहिये। विद्रधि का परिपाक हो जाने पर सफलता अनिश्चित रहती है ॥३८॥

प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजाते तु विद्रधौ ॥३९॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम्।
विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्के वाऽस्थि तु भेदयेत् ॥४०॥
निःशल्यमथ विज्ञाय कर्तव्यं व्रणशोधनम्।
धावेत्तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तथा हितम् ॥४१॥
यदि मज्जपरिस्रावो न निवर्तेत देहिनः।
कुर्यात् संशोधनीयानि कषायादीनि बुद्धिमान् ॥४२॥
प्रियङ्गुधातकीरोध्रकट्फलं तिनिशैन्धवम्।
एतैस्तैलं विपक्तव्यं विद्रधिव्रणरोपणम् ॥४३॥

मज्जाजन्य विद्रधि को असाध्य कहकर चिकित्सा करे। इस विद्रधि में स्नेहन और स्वेदन करके रक्त मोक्षण ही करे। विद्रधि में कही सम्पूर्ण चिकित्सा बरते। पक जाने पर अस्थि को काट देवे। जब शल्य रहित (बाह्य वस्तु पूय आदि) हो जाये तब व्रण की भाँति शोधन करे। तिक्त कषाय से इसको धोये, तथा तिक्त सर्पि खाने को दे। यदि रोगी में मज्जा का स्राव बन्द नहीं होता (थोड़ा बना ही रहता है), तब बुद्धिमान् संशोधनीय को बरते। प्रियंगु, धातकी, लोध, कट्फल, तिनिश (सांदन), सैन्धव, इनसे तैल पकाना चाहिये, यह तैल विद्रधि व्रण को भरनेवाला होता है।

वि० मन्तव्य—अंगुली पर जो "फिटमुहा" (पञ्जाब में इसी नाम से प्रसिद्ध फोड़ा) या गलका निकल आता है। उसमें अंगुली की एक अथवा दो अस्थियाँ गल जाती हैं वे निकाल दी जाती हैं और व्रण का रोपण कर दिया जाता है। अंगुली टेढी हो जाती है अथवा नष्ट। इसी प्रकार अन्यत्र के मज्जापाक में अस्थि सड़ जाती है, इसी सड़ी अस्थि को श्लो० ४१ में "निःशल्यं" कहकर सूचित किया है। इसमें अस्थि-खण्ड का निकल जाना अथवा निकाल देना ही उत्तम एवं आवश्यक है। इसके व्रण के लिये निम्नलिखित प्रियंगु आदि से सिद्ध तैल का रोपण के लिये प्रयोग करना चाहिये ॥३९-४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विद्रधिचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे विसर्प-नाडी-स्तनरोग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१.२॥

साध्या विसर्पास्त्रय आदितो ये
न सन्निपातक्षतजौ हि साध्यौ ।

प्रथम तीन वीसर्प (वातज, पित्तज, कफजन्य) साध्य हैं । सन्निपातजन्य और क्षतजन्य ये दो वीसर्प असाध्य हैं (द्वन्द्वज वीसर्प कष्टसाध्य हैं) ॥

साध्येषु तत्पथ्यगणैर्विदध्याद्-
घृतानि सेकांश्च तथोपदेहान् ॥३॥

साध्य वीसर्पों में वातादि दोषों के अपने अपने गणों (वातादि दोषहर गणों) से घृत सिद्ध करके, या इन गणों से परिषेक, उपदेह (लेप) आदि करे ॥३॥

मुस्ताशताह्वासुरदारुकुष्ठ-
वाराहिकुस्तुम्बुरुकृष्णगन्धाः ।
वातात्मके चोष्णगणाः प्रयोज्याः
सेकेषु लेपेषु तथा घृतेषु ॥४॥
यत् पञ्चमूलं खलु कण्टकाख्य-
मल्पं महच्चाप्यथ वल्लिजं च ।
तच्चोपयोज्यं भिषजा प्रदेहे
सेके घृते चापि तथैव तैले ॥५॥

मोथा, सौंफ, देवदारु, कुष्ठ, वाराही, धनिया, शोभांजन, उष्णगण (भद्रदार्व्यादि और पिप्पल्यादि) इनको वातजन्य वीसर्प में परिषेक, लेप और घृत में बरतना चाहिये । इसके सिवाय, कण्टकपंचमूल, वृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल और वल्लिज पंचमूल इनको वैद्य लेप में, परिषेक में, घृत में और तैल में बरते ॥४,५॥

कसेरुशृङ्गाटकपद्मगुन्द्राः
सशैवलाः सोत्पलकर्दमाश्च ।
वस्त्रान्तराः पित्तकृते विसर्पे
लेपा विधेयाः सघृताः सुशीताः ॥६॥
ह्रीवेरलामज्जकचन्दनानि
स्रोतोजमुक्तामणिगैरिकाश्च ।
क्षीरेण पिष्टाः सघृताः सुशीता
लेपाः प्रयोज्यास्तनवः सुखाय ॥७॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पयस्या
मञ्जिष्ठिका पद्मकचन्दनं च ।
सुगन्धिका चेति सुखाय लेपः
पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्यः ॥८॥
न्यग्रोधवर्गः परिषेचनं च
घृतं च कुर्यात् स्वरसेन तस्य ।
शीतैः पयोभिश्च मधूदकैश्च
सशर्करैरिक्षुरसैश्च सेकान् ॥९॥

कसेरु, सिंघाड़ा, कमल, इत्कट, शैवाल, कमल, और कीचड़, इनको घी में मिलाकर अतिशय शीतल करके वस्त्र के व्यवधान से पित्तजन्य वीसर्प में लेप करना चाहिये । ह्रीवेर, खस, चन्दन, स्रोतांजन, मुक्ता, मणि, गेरू, इनको दूध में पीसकर घी के साथ अतिशय शीतल लेप-पतले करने पर सुखदायक होते हैं । पौण्डरीक, मुलैहठी, विदारी, मंजीठ, पद्माख, चन्दन, सुगन्धिमूल, इनका लेप पित्तज वीसर्प में सुख के लिये बरतना चाहिये । बरगद आदि क्षीरी वृक्षों से परिषेचन करे । बरगद आदि के स्वरस से घृत सिद्ध करके लेप करे । शीतल दूध से और ईख के रस से परिषेक करना चाहिये ।

वक्तव्य—वस्त्रान्तराः-वस्त्र के ऊपर लगाकर व्रण पर लगावे अथवा व्रण पर पतला वस्त्र रखकर लेप करे जिससे उतारने में सुगमता रहे । तनुलेप—"श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् । त्वग्गतस्योष्मणो रोधात् शीतकृच्चान्यथाऽगुरोः ॥" चरक । इसलिये पतला लेप करे ॥६-९॥

घृतस्य गौरीमधुकारविन्दरोध्राम्बुराजादनगैरिकेषु ।
तथार्षभे पद्मकसारिवासु काकोलिमेदाकुमुदोत्पलेषु ॥
सचन्दनायां मधुशर्करायां
द्राक्षास्थिरापृश्निशताह्वयासु ।
कल्कीकृतासूदकमत्र दत्त्वा
न्यग्रोधवर्गस्य तथा स्थिरादेः ॥११॥
गणस्य बिल्वादिकपञ्चमूल्या-
श्चतुर्गणं क्षीरमथापि तद्वत् ।
प्रस्थं विपक्वं परिषेचनेन
पैत्तीर्निहन्यात्तु विसर्पनाडीः ॥१२॥
विस्फोटदुष्टव्रणशीर्षरोगान्
पाकं तथाऽऽस्यस्य निहन्ति पानात् ।
ग्रहार्दिते शोषिणि चापि बाले
घृतं हि गौर्यादिकमेतदिष्टम् ॥१३॥

गौर्यादिघृत—घृत एक प्रस्थ, कल्क द्रव्य हल्दी, मुलैहठी, कमल, लोध, वालक, खिरनी, गेरू, ऋषभक, पद्माख, सारिवा, काकोली, मेदा, कुमुद, नीला कमल, चन्दन, मधु शर्करा, द्राक्षा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, सौंफ, क्वाथ द्रव्य न्यग्रोधादिगण का क्वाथ, वृहत्पंचमूल का क्वाथ और गाय का दूध, इनसे घृत पाक करे । इस घृत के परिषेक से पित्तज विसर्प नाड़ी शान्त होती है । विस्फोट दुष्ट व्रण, शीर्षरोग (शिरोरोग) मुखपाक इसके पान से नष्ट होता है । गुद से पीड़ित, शोष रोगी बालक में भी यह गौर्यादिघृत कहा है ॥१०–१३॥

अजाऽश्वगन्धा सरला सकाला
सैकैषिका चाप्यथवाऽजशृङ्गी ।
गोमूत्रपिष्टो विहितः प्रदेहो
हन्याद्विसर्पं कफजं सुशीघ्रम् ॥१४॥

कालानुसार्यागुरुचोचगुञ्जा-
रास्नावचाशीतशिवेन्द्रपर्ण्यः ।
पालिन्दिमुञ्जातमहीकदम्बा
हिता विसर्पेषु कफात्मकेषु ॥१५॥

अजगन्धा (द्रुक्), अश्वगन्धा, सरला (त्रिवृत्त या सरल-काष्ठ), काला (कालानुसारिवा या कासमर्द—डल्हण), एकैषिका (शतावरी), अजशृङ्गी (कर्कटशृंगी या मेंढ़ासिंगी), इनका गोमूत्र में किया प्रलेप कफजन्य वीसर्प को शीघ्र नष्ट कर देता है। कालानुसारिवा, अगरु, दालचीनी, रत्ती वेल की जड़, रास्ना, वच, शीतशिव (शतपुष्पा भेद-डल्हण, कपूर या चन्दन) इन्द्रवारुणी, पालिन्दी, (निशोथ), मुञ्जात, भूकदम्ब, ये कफजन्य वीसर्प में हितकारी हैं ॥१५॥

गणस्तु योज्यो वरुणप्रवृत्तः
क्रियासु सर्वासु विचक्षणेन ।
संशोधनं शोणितमोक्षणं च
श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि ॥१६॥
सर्वांश्च पक्वान परिशोध्य धीमान्
व्रणक्रमेणापचरेद्यथोक्तम् ।

वरुणादिगण का प्रयोग कुशल वैद्य सब क्रियाओं में करे। संशोधन, रक्तमोक्षण, ये सब वीसर्पों में उत्तम चिकित्सा है। सब विसर्पों में पाक होने पर इनका शोधन करके बुद्धिमान् वैद्य यथोक्त विधि से व्रण चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विसर्प में रक्तमोक्षण का महत्त्व—"यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षण-मेकतः। विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते॥" चरक० चि० अ० २१।१४१। विसर्प में जौंक से रक्षमोक्षण करवाना उत्तम है। अलाबु और सींगी का उपयोग ठीक तरह से नहीं हो सकता ॥१६॥

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्ये-
च्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥१७॥
तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्व-
मशेषतः पूयगतिं विदार्य ।
तिलैरपामार्गफलैश्च पिष्ट्वा
ससैन्धवैर्बन्धनमत्र कुर्यात् ॥१८॥
प्रक्षालने चापि सदा व्रणस्य
योज्यं महद्यत् खलुपञ्चमूलम् ।
हिंस्रां हरिद्रां कटुकां बलां च
गोजिह्विकां चापि सबिल्वमूलाम् ॥१९॥
संहृत्य तैलं विपचेद् व्रणस्य
संशोधनं पूरणरोपणं च ।

सन्निपात जन्य नाड़ी अच्छी नहीं होती शेष चार चार नाड़ियाँ यत्नपूर्वक साध्य हैं, इनमें वातजन्य नाड़ी में सबसे प्रथम उपनाह करके, सम्पूर्ण रूप में पूय के मार्ग को चीरकर इसमें तिल, चिरचिटे के बीज, सैन्धव इन को पीसकर बाँध देवे। व्रण को धोने के लिये सदा ही बृहत्पंचमूल के क्वाथ का उपयोग करना चाहिये। झिण्टी, हल्दी, कुटकी, बला, गाजवाँ और बिल्व मूल इनको लाकर इनसे तैल सिद्ध करे। यह तैल व्रण का शोधन करनेवाला और व्रण को भरनेवाला एवं रोहण करनेवाला है। (यहाँ पर तैल पाक में जल तैल से चार गुणा मिलाना चाहिये-अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं स्मृतम्)॥

पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमानु-
त्कारिकाभिः सपयोघृताभिः ॥२०॥
निपात्य शस्त्रं तिलनागदन्ती-
यष्ट्याह्वकल्कैः परिपूरयेत्ताम् ।
प्रक्षालने चापि ससोमनिम्बा
निशा प्रयोज्या कुशलेन नित्यम् ॥२१॥

पित्तजन्य नाड़ी में बुद्धिमान् मनुष्य उत्कारिका (लपसी) एवं दूध और घी से प्रथम उपनाह करके—इसमें शस्त्र से चीरा देवे। पीछे से तिल, नागदन्ती (दन्ती), और मुलैहठी के कल्क से इसको भर देवे। इस नाड़ी के धोने के लिये सोम (विट्ट खैर) नीम और हल्दी, इनका क्वाथ कुशल वैद्य नित्य बरते। (सोम का अर्थ कटफल जैज्जट ने किया है)॥२०,२१॥

श्यामात्रिभण्डीत्रिफलासु सिद्धं
हरिद्रयो रोध्रकवृक्षयोश्च ।
घृतं सदुग्धं व्रणतर्पणेन
हन्याद् गतिं कोष्ठगताऽपि या स्यात् ॥२२॥

काली निशोथ, निशोथ, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, लोध, कुटज, इनके साथ दूध में सिद्ध किया घृत व्रण मे भरने से कोष्ठ में स्थित नाड़ी को भी नष्ट करता है ॥२२॥

नाडीं कफोत्थामुपनाह्य सम्यक्
कुलत्थसिद्धार्थकशक्तुकिण्वैः ।
मृदूकृतामेष्य गतिं विदित्वा
निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी ॥२३॥
दद्याद् व्रणे निम्बतिलान् सदन्तीन्
सुराष्ट्रजासैन्धवसंप्रयुक्तान् ।
प्रक्षालने चापि करञ्जनिम्ब-
जात्यक्षपीलुस्वरसाः प्रयोज्याः ॥२४॥
सुवर्चिकासैन्धवचित्रकेषु
निकुम्भतालीनलरूपिकासु ।
फलेष्वपामार्गभवेषु चैव
कुर्यात् समूत्रेषु हिताय तैलम् ॥२५॥

कफजन्य नाड़ी में कुलत्थी, सरसों, सत्तु, और किण्व इनसे भली प्रकार उपनाह करके, इसे कोमल बना ले। फिर एषणी से इसके मार्ग को जानकर—सम्पूर्णरूप में शस्त्र से इसको चीर देवे। व्रण में नीम के पत्ते, तिल, दन्ती (जमालगोटा की जड़),

सुराष्ट्रजा (फिटकरी या गेरु), और सैन्धव इनको मिलाकर भर देवे। इसको धोने के लिये करंज, नीम, चमेली, बहेड़ा, पीलु, इनका स्वरस बरतना चाहिये। सुवर्चिका (हुलहुल), सैन्धव, चित्रक, दन्ती, तालीनल (मूसली मूल), आक, चिरचिटे का बीज, इनसे गोमूत्र में तैल सिद्ध व्रग में लगावे ॥२३-२५॥

नाडीं तु शल्यप्रभवां विदार्य
निर्हृत्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम्।
संशोधयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढै-
स्तिलैस्ततो रोपणमाशु कुर्यात् ॥२६॥
कुम्भीकखर्जूरकपित्थबिल्व-
वनस्पतीनां च शलाटुवर्गैः।
कृत्वा कषायं विपचेत्तु तैल-
मावाप्य मुस्तासरलाप्रियङ्गूः ॥२७॥
सुगन्धिका मोचरसाहिपुष्पं
रोध्रं विदध्यादपि धातकीं च।
एतेन शल्यप्रभवा तु नाडी
रोहेद् व्रणो वा सुखमाशु चैव ॥२८॥

शल्यजन्य नाड़ी को चीर कर उसमें से शल्य को निकालकर मार्ग का शोधन करके (साफ करके), तिलों को मधु और घृत की प्रचुर मात्रा में मिलाकर इसका शोधन करे। शोधन होने के उपरान्त इसका रोपण करना चाहिये। कुम्भीक (स्थलकुम्भी), खर्जूर, कैथ, बिल्व, और बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर, पारसपीपल इनके कच्चे छोटे फल, इनका क्वाथ बनाकर इसमें मुस्ता, सरलकाष्ठ, प्रियंगु, उत्पल, सारिवा, सिम्बल का गोंद, नाग केसर, लोध, धाय के फूल इनके कल्क से तैल सिद्ध करे। यह तैल शल्यजन्य नाड़ी को और व्रण को जल्दी ही सुखपूर्वक भर देता है ॥२६-२८॥

कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥२९॥
एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ॥३०॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत् प्रवेशयेत् ॥३१॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः।
भगन्दरेऽप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥३२॥
अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्।
सूचीभिर्यवक्त्राभिराचितान् वा समन्ततः॥
मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम् ॥३३॥

कृश, दुर्बल और डरपोक पुरुषों की नाड़ी को या जो नाड़ी मर्म में आश्रित हो, उसको शस्त्र से बुद्धिमान् वैद्य न काटे, अपितु क्षार सूत्र से काटे। इसके लिये एषणी से गति (मार्ग) को ढूंढकर—क्षारसूत्र के साथ साथ सुई को ले जाकर, गति (मार्ग) के दूसरे सिरे पर ऊंचा उठाकर इसको बाहर निकाल ले। वहाँ पर क्षार सूत्र के सिरे को लाकर कसकर बाँध देवे। फिर क्षार बल को देखकर (यदि क्षार बल कम हो गया हो तो) दूसरा क्षार सूत्र बदल देवे। इस प्रकार बुद्धिमान् वैद्य तक क्षार सूत्र बदले, जब तक कि गति कट न जाये। जाननेवाले वैद्य को चाहिये कि भगन्दर आदि में भी यही विधि बरते। अर्बुद आदि में इनको ऊँचा उठाकर (संदंश से खींचकर) जड में क्षारसूत्र बाँधे। अथवा जौ के समान टेढ़े मुखवाली सूइयों से चारों ओर से इन अर्बुदादि को घेरकर-जड़ में क्षार सूत्र से बाँध देवे। इनके कट जाने पर व्रण की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—क्षारसूत्र—क्षार में भिगोया सूत्र। अथवा—हल्दी, आक का दूध और थोर के दूध में भली प्रकार भिगोया सूत्र। आजकल घोड़े का बाल भी मस्सों को बाँधने में बरतते हैं। सूइयों को जड़ में डालने का विधान विशाल मूलवाले अर्बुद आदि में हैं। इसमें अर्बुद के कई टुकड़े कर लेते हैं।२९-३३।

या द्विव्रणीयेऽभिहितास्तु वर्त्य-
स्ताः सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।
घोण्टाफलत्वग्लवणानि लाक्षा-
पूगीफलं चालवणं च पत्रम् ॥३४॥
स्नुह्यर्कदुग्धेन तु कल्क एष
वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीः।
बिभीतकाम्रास्थिवटप्रवाला
हरेणुकाशङ्खिनिबीजमस्य ॥३५॥
वाराहिकन्दश्च तथा प्रदेयो
नाडीषु तैलेन च मिश्रयित्वा ॥३६॥
धत्तूरजं मदनकोद्रवजं च बीजं
कोशातकी शकुनसा मृगभोजिनी च।
अङ्कोटबीजकुसुमं गतिषु प्रयोज्यं
लाक्षोदकाहृतमलासु विकृत्य चूर्णम् ।३७।
तथा च गोमांसमसीं हिताय
कोष्ठाश्रितस्यादरतो दिशन्ति।
वर्तीकृतं माक्षिकसंप्रयुक्तं
नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा ॥३८॥
दुष्टव्रणे यद्विहितं च तैलं
तत् सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।
चूर्णीकृतैरथ विमिश्रितमेभिरेव
तैलं प्रयुक्तमचिरेण गतिं निहन्ति ॥३९॥
एष्वेव मूत्रसहितेषु विधाय तैलं
तत् साधितं गतिमपोहति सप्तरात्रात्।
पिण्डीतकस्य तु वराहविभावितस्य
मूलेषु कन्दशकलेषु च सौवहेषु ॥४०॥
तैलं कृतं गतिमपोहति शीघ्रमेतत्
कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु।
भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन
सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च ॥४१॥

स्यान्मार्कवस्य च रसेन निन्हन्ति तैलं
नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ॥

द्विव्रणीय अध्याय में जो वर्त्तियाँ कही हैं, उन सबको सब नाड़ियों में बरतना चाहिये। घोण्टा फल (बेर), बेरी की छाल, सैन्धवादि पाँचों नमक, लाख, सुपारी, काकमर्दनिका के पत्ते, इनको थोर और आक के दूध से पीसकर कल्क बना ले। इसकी बनाई वर्ति नाड़ी को शीघ्र नष्ट करती है। बहेड़ा, आम की गुठली, बरगद के कोमल पत्ते, हरेणुका, यवतिक्ता के बीज इनको जलाकर बनाई राख (क्षार) और वाराहीकन्द इनको तैल में मिलाकर नाड़ियों में लगाना चाहिये। धतूरा, मैनफल, कोदा के बीज, देवदाली (बन्दाल), शुकनासा (चर्मकार वट), इन्द्रायण, अंकोठ के बीज और फूल, इनका चूर्ण नाड़ियों में प्रयुक्त करना चाहिये। प्रयोग करने से पूर्व लाक्षादि गण के क्वाथ से इनका शोधन कर लेना चाहिये। (कोई कोई इस चूर्ण को लाक्षादि गण के क्वाथ में घोलकर बरतते हैं)। इसी प्रकार गाय के मांस की भस्म को कोष्ठाश्रित नाड़ी के लिये उत्तम कहते हैं। अथवा सैन्धव और मधु को मिलाकर बनाई गई वर्ति नाड़ी नाशक है। दुष्ट व्रण में जो तैल कहा है (द्रवन्ती चिरबिल्व इत्यादि से चि० अ० २ में) उसको सब नाड़ियों में वैद्य बरते। धत्तूर आदि द्रव्यों का चूर्ण करके इसको तैल में मिलाकर प्रयोग करने से गति व्रण शीघ्र नष्ट होता है। धतूरे आदि द्रव्यों में—गोमूत्र के साथ सिद्ध किया तैल गति व्रण को सात रात में नष्ट कर देता है। वराह विभावित पिण्डीतक के मूल में, सुवहा केन्द्र के टुकड़ों में तथा वज्रकन्द से संस्कृत तैल गति को शीघ्र नष्ट करता है। भिलावा, आक, मरिच, सैन्धव, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, सैन्धव, और भांगरे का रस इनसे सिद्ध किया तैल-कफ वात जन्य नाड़ी को, अपची को और व्रण को नष्ट करता है।

वक्तव्य—द्विव्रणीय में कहे 'अन्तः शल्यानणुमुखान्' (चि० अ०१) में कहे। वराह पिण्डीतक-पिण्डीतक तीन प्रकार का है—कृष्ण पुष्प, श्वेत पुष्प और पीत पुष्प, इनमें वराह वर्ण (सुअर का वर्ण) के पुष्पों से उपलक्षित कृष्ण पुष्प पिण्डीतक (मैनफल), सुवहा-गन्ध-नाकुली, इसके कन्दखण्डों में। अमरवरायुध-वज्र-उसके नामवाला वज्रकन्द (डल्हण) ॥३४-४१॥

स्तन्ये गते विकृतिमाशु भिषक् तु धात्रीं
पीतां घृतं परिणतेऽहनि वामयेत्तु ॥४२॥
निम्बोदकेन मधुमागधिकायुतेन
वान्तागतेऽहनि च मुद्गरसाशना स्यात्।
एवं त्र्यहं चतुरहं षडहं वमेद्वा
सर्पिः पिबेत्त्रिफलया सह संयुतं वा ॥४३॥

भार्गीं वसामतिविषां सुरदारु पाठां
मुस्तादिकं मधुरसां कटुरोहिणीं च।
धात्रीं पिबेत्तु पयसः परिशोधनार्थं-
मारग्वधादिषु वरं मधुना कषायम् ॥४४॥
सामान्यमेतदुपदिष्टमतो विशेषा-
द्दोषान् पयोनिपतितान् शमयेद्यथास्वम्।

दूध के विकृत हो जाने पर वैद्य तुरन्त ही धात्री को घृत पिलाये। इसके पच जाने पर अर्थात् स्निग्ध हो जाने पर उसी दिन इसको वमन देवे। वमन के लिये मधु और पिप्पली युक्त नीम का क्वाथ पिलाये। वमन हो जाने पर दूसरे दिन मूँग के यूष का भोजन करे। इस प्रकार तीन दिन, चार दिन या छः दिन में, कफ, पित्त, वायु का अनुबन्ध देखकर, जब तक शरीर का पूर्ण शोधन न हो, तब तक वमन करे। अथवा त्रिफला के साथ संस्कृत घी-शोधन के लिये पीये। संशमन चिकित्सा-मार्गी, वच, अतीस, देवदारु, सोंठ, मुस्तादि गण, मूर्वा, कुटकी, आरग्वधादिगण इनके कषाय को मधु के साथ-दूध के शोधन के लिये धात्री को पीना प्रशस्त है। यह चिकित्सा सामान्यरूप में कह दी है, इसके आगे दूध में मिश्रित वातादि दोषों की अपनी-अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥४२-४४॥

रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्या-
द्यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् ॥४५॥
संपच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः
संभोजनेन खलु पाचयितुं यतेत।
शीघ्रं स्तनो हि मृदुमांसतयोपनद्धः
सर्वं प्रकोथमुपयात्यवदीर्यते च ॥४६॥
पक्वे तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः
कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्।
आमे विदाहिनि तथैव गते च पाके-
धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत ॥४७

स्तन में उत्पन्न रोग (विद्रधि) को देखकर वैद्य विद्रधि में कही चिकित्सा का बार-बार उपयोग करे। स्तनविद्रधि पक रही हो तो इस पर उपनाह न बँधाकर केवल भोजनों द्वारा ही इसको पकाने का यत्न करे। क्योंकि स्तन कोमल मांस से बना होने के कारण जल्दी ही सड़ जाता है और विदीर्ण हो जाता है। जब विद्रधि पक जाये, तब स्तन्य (दूध)वाहिनी नाड़ियों को तथा कृष्ण चूचुक युगलों को बचाते हुए शस्त्र से चीरा देवे। आमावस्था में (विदग्धता से बचाने के लिये), विदाहिनि (विपाक से बचाने के लिये), पक जाने पर (नाड़ी व्रण से बचाने के लिये) धात्री के स्तनों का बार-बार दूध निकालना चाहिये॥

वक्तव्य—"यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः क्लिद्यते एवं माषतिलदुग्ध-

प्रभृतिभिः व्रणः प्रक्लिद्यते ॥" उ० त० अ० ६५।११॥ दूध, उरद आदि के खिलाने से व्रण पकता है, इसलिये व्रणरोगी को दूध नहीं देवे ॥४५-४७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विसर्पनाडीस्तन-रोगचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथवा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे ग्रन्थि-अपची-अर्बुद गलगण्ड चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥

ग्रन्थिष्वथामेषु भिषग्विदध्या-
च्छोफक्रियां विस्तरशो विधिज्ञः ।
रक्षेद्बलं चापि नरस्य नित्यं
तद्रक्षितं व्याधिबलं निहन्ति ॥३॥

अपक्व ग्रन्थियों में विधि को जाननेवाला वैद्य शोफ चिकित्सा (अपतर्पण से लेकर विरेचन पयन्त) को प्रधानतया करे। रोगी के बल की सदा रक्षा करता रहे, रक्षा किया हुआ रोगी का बल रोग के बल को (रोग की तीव्रता को) कम करता है ॥३॥

तैलं पिबेत् सर्पिरथो द्वयं वा
दत्त्वा वसां वा त्रिवृतं विदध्यात् ।
अपेहिवातादशमूलसिद्धं
वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा ॥४॥

रोगी, तैल को पीये, या घी को पीये, या इन दोनों को मिलाकर पीये। अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर पीये। अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर त्रैवृत्त के रूप में इन स्नेहों को पीये। प्रसारिणी और दशमूल से सिद्ध किया तैल, घी या दोनों या चारों स्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा) को पीये।

वक्तव्य—गयी की मान्यता है कि वातजन्य ग्रन्थि में—वातहर क्वाथ सिद्ध तैल पीये। पित्त में-पित्तहर क्वाथ सिद्ध घृत पीये। कफ में कफहर क्वाथ सिद्ध तैल पीये। संसर्ग-सन्निपात में दो-तीन या चार स्नेहादि से सिद्ध स्नेह पीये ॥४॥

हिंस्राऽथ रोहिण्यमृताऽथ भार्गी
श्योनाकबिल्वागुरुकृष्णगन्धाः ।
गोजी च पिष्टा सह तालपत्र्या
ग्रन्थौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः ॥५॥
स्वेदोपनाहान् विविधांश्च कुर्या-
त्तथा प्रसिद्धानपरांश्च लेपान् ।
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
प्रक्षाल्य बिल्वार्कनरेन्द्रतोयैः ॥६॥
तिलैः सपञ्चाङ्गुलपत्रमिश्रैः
संशोधयेत् सैन्धवसंप्रयुक्तैः ।
शुद्धं व्रणं वाऽप्युपरोपयेत्तु
तलेन रास्नासरलान्वितेन ॥७॥
विडङ्गयष्टीमधुकामृताभिः
सिद्धेन वा क्षीरसमन्वितेन ।

वातजन्य ग्रन्थि में—झण्टी, कुटकी, गिलोय, भार्गी, श्योनाक, बिल्व, अगरु, शोभांजन, गाजवां और मूसली इनको पीसकर लेप करे। इन पर स्वेदन और उपनाह करे। नाना प्रकार के प्रसिद्ध दूसरे लेपों को (मिश्रकोक्त मातुलुंगादि) लगाये। पकने पर ग्रन्थि को चीरकर पूय को निकालकर बिल्व, अमलतास इनके क्वाथ से धोकर तिल, एरण्ड के पत्ते और सैन्धव इनका लेप करके व्रण का शोधन करे। व्रण का शोधन हो जाने पर रास्ना-सरल गोन्द से मिश्रित तैल से व्रण को भरे। अथवा—वायविडंग, मुलैहठी, गिलोय और दूध से सिद्ध तैल से व्रण का रोषण करे ॥५-७॥

जलौकसः पित्तकृते हितास्तु
क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च ॥८॥
काकोलिवर्गस्य च शीतलानि
पिबेत् कषायाणि सशर्कराणि ।
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि
चूर्णं पिबेच्चापि हरीतकीनाम् ॥९॥
मधूकजम्ब्वर्जुनवेतसानां
त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेत ।
सशर्करैर्वा तृणशून्यकन्दै-
र्दिह्यादभीक्ष्णं मुचुकुन्दजैर्वा ॥१०॥
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
धावेत् कषायेण वनस्पतीनाम् ।
तिलैः सयष्टीमधुकैर्विशोध्य
सर्पिः प्रयोज्यं मधुरैर्विपक्वम् ॥११॥

पित्तजन्य ग्रन्थियों में जौंक का लगाना और दूध और जल से परिषेचन करना उत्तम है। काकोल्यादिगण के शीतल कषायों में शर्करा मिलाकर पीये। हरड़ के चूर्ण को द्राक्षारस से या गन्ने के रस के साथ पीये। महुआ, जामुन, अर्जुन और अम्लवेतस इनकी छालों से लेप करे। केवड़े को शर्करा में मिलाकर उससे या मुचुकुन्द (मुचुलुन्द) से लेप बार-बार करे। पक जाने पर ग्रन्थि को चीरकर, सब पूय निकालकर बरगद, पीपल, गूलर इनके कषायों से इसे धोये। तिल, मुलैहठी के लेप से व्रण का शोधन करके, काकोल्यादि वर्ग में सिद्ध घृत का उपयोग करे ॥८-११॥

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या
ग्रन्थौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु ।
स्विन्नस्य विम्लापनमेव कुर्या-
दङ्गुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः ॥१२॥

विकङ्कतारग्वधकाकणन्ती-
काकादनीतापसवृक्षमूलैः ।
आलेपयेत् पिण्डफलार्कभार्गी
कारञ्जकालामदनैश्च विद्वान् ॥१३॥

कफजन्य ग्रन्थि में वैद्य स्नेहन-स्वेदन के क्रम से वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन, रक्तमोक्षण से कफ, पित्त, वात दोषों को निकाल देने पर रक्तमोक्षण के उपरान्त स्वेदन करके अंगूठे, लोह, पत्थर, बांस के दण्डे से विम्लापन करे। विकङ्कत (बैंकड़ा), अमलतास, रत्ती, काकादनी(कौआठूंटी-त्रायस तिन्दुका), इंगुदी इनकी जड़ से, पिण्डफल (तिक्तालाबु डल्हण), आक, भार्गी, करंज, काला (कचुहिसा या कालानुसारी), मैनफल इनसे कुशल पुरुष लेप करे ॥१२,१३॥

अमर्मजातं शममप्रयान्त-
मपक्वमेवापहरेद्विदार्य ।
दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा
सद्यः क्षतोक्तं च विधिं विदध्यात् ॥१४॥

जो ग्रन्थि मर्म में उत्पन्न न हुई हो, और उपर्युक्त चिकित्सा से शान्त न होती हो, उसे अपक्वावस्था में चीरकर निकाल देवे। कुशल वैद्य इसको जलाये और रक्त के बन्द होने पर सद्यः क्षत में कही विधि को करे।

वक्तव्य—"संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः सांगुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्। विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोषं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्। अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च, प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्। तस्मादशेषः कुशलैः समन्तात् छेद्यो भवेद् वीक्ष्य शरीरदेशान् ॥" चरक चि० अ० ॥१२-१४॥

या मांसकन्द्यः कठिना बृहत्य-
स्तास्वेष योज्यश्च विधिर्विधिज्ञैः ।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य सुपक्वमाशु
प्रक्षालयेत् पथ्यतमैः कषायैः ॥१५॥
संशोधनैस्तं च विशोधयेत्तु
क्षारोत्तरैः क्षौद्रगुडप्रगाढैः ।
शुद्धे च तैलं त्ववचारणीयं
विडङ्गपाठारजनीविपक्वम् ॥१६॥

शरीर में जो मांसकन्दी कठिन और बड़ी हों, उनमें भी विधि को जाननेवाला वैद्य यही विधि बरते। भली प्रकार मांसकन्दी को शस्त्र से शीघ्र ही चीरकर, कफोत्थव्रणहर कषायों से धोये। यवक्षार प्रधान मधु, और गुड़ का लेप करके इन संशोधनों से इसका शोधन करे। शोधन हो जाने पर विडंग, पाठा, हल्दी से पकाये तैल को लगाना चाहिये।

वक्तव्य—अमर्मजन्य मांसकन्दी में ही शस्त्र से पाटन है। मर्मजन्य ग्रन्थि में औषधियों से दारण करे ॥१५,१६॥

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं
दत्त्वोपरिष्टाद् द्विगुणं पटान्तम् ।
हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्या
ल्लोहेन धीमानदहन् हिताय ॥१७॥
प्रलिप्य दार्वीमथ लाक्षया वा
प्रतप्तया स्वेदनमस्य कार्यम् ।
निपात्य वा शस्त्रमपोह्य मेदो
दहेत् सुपक्वं त्वथवा विदार्य ॥१८॥
प्रक्षाल्य मूत्रेण तिलैः सुपिष्टैः
सुवर्चिकाद्यैर्हरितालमिश्रैः ।
ससैन्धवैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः
क्षारोत्तरैरेनमभि प्रशोध्य ॥१९॥
तैलं विदध्याद् द्विकरञ्जगुञ्जा-
वंशावलेखेङ्गुदमूत्रसिद्धम् ।

मेदोजन्य ग्रन्थि में तिलकल्क का लेप करके, इसके ऊपर दुहरा कपड़ा रख देवे। फिर अग्नि में गरम किये लोहे से इसको बार-बार स्पर्श करे, परन्तु त्वचा को जलने न देवे (मेद ही पिघले)। अथवा कड़छी पर लाख लगाकर इसको गरम करके इससे स्वेदन करे। अथवा शस्त्र से चीरकर मेद को निकालकर जलाये। अच्छी प्रकार पकी हुई को चीरकर गोमूत्र से धोकर, अच्छी प्रकार पिसे तिल, सुवर्चिका, यवक्षार, हरताल, सैन्धव, मधु और घृत एवं क्षार प्रधान द्रव्यों से इसका शोधन करके, करंज, नाटाकरंज, रत्ती, बांस की छाल, हिंगोट और गोमूत्र में सिद्ध तैल बरते ॥१७-१९॥

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव ॥२०॥
सर्पिः कृतं हन्त्यपचीं प्रवृद्धां
द्विधा प्रवृत्तं तदुदारवीर्यम् ।
निर्गुण्डिजातीबरिहिष्टयुक्तं
जीमूतकं माक्षिकसैन्धवाढ्यम् ॥२१॥
अभिप्रतप्तं वमनं प्रगाढं
दुष्टापचीषूत्तममादिशन्ति ।
कैटर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं
तैलं हितं मूर्धविरेचनं च ॥२२॥
शाखोटकस्य स्वरसेन सिद्धं
तैलं हितं नस्यविरेचनेषु ।
मधूकसारश्च हितोऽवपीडे
फलानि शिग्रोः खरमञ्जरेर्वा ॥२३॥

जीमूतक (देवदाली), कोशातकीफल (कड़ुवी तुम्बी), दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) और निशोथ (इनकी जड़) इनसे सिद्ध किया घी बढ़ी हुई अपची को दोनों मार्गों से (वमन विरेचनसे) दोषों का हरण करके नष्ट करता है। यह घृत उत्कृष्ट शक्ति का है। निर्गुण्डी (सम्भालु), चमेली, बरिहिष्ठ (बालक), जीमूतक (देवदाली), मधु और सैन्धव प्रचुर मात्रा में मिलाकर गरम करके दिया हुआ यह वमन, (बड़ी मात्रा में) दुष्ट अपचियों में

उत्तम कहा जाता है। बकायन, कन्दूरी, कनेर इनके कल्क से सिद्ध किया तैल (द्रव स्थान में जल) शिरो विरेचन में उत्तम है। शाखोटक के स्वरस में सिद्ध किया तैल नस्य विरेचन में उत्तम है। महुआ का सार, शोभांजन के फल या चिरचिटे के फलों को गरम पानी से पीसकर अवपीड़न नस्य देना चाहिये॥

ग्रन्थीनमर्मप्रभवानपक्वा-
नुद्धृत्य चाग्निं विदधीत पश्चात्।
क्षारेण वाऽपि प्रतिसारयेत्तु
संलिख्य शस्त्रेण यथोपदेशम् ॥२४॥

मर्मस्थान से अतिरिक्त स्थानों में उत्पन्न अपक्व ग्रन्थियों को निकाल देना चाहिये। अथवा क्षार से इनका प्रतिसारण करे-घिसे। कहे अनुसार शस्त्र से लेखन करके क्षार से घिसे॥

पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि
भित्त्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान्।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो
निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात् ॥२५॥
आ गुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तो-
स्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य।
घोणर्जुवेधः सुरराजबस्ते-
र्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति ॥२६॥

पार्ष्णि (एड़ी) से लेकर पिण्डली में बारह अंगुल मापकर वहाँ पर इन्द्रवस्ति मर्म को बचाकर वैद्य चीरा देवे। इस स्थान पर मछली के अण्डे के समान (आपस में जुड़े), जो जाल (शिराओं का गुच्छा) हो उसे निकालकर जला देवे। दूसरे आचार्य कहते हैं कि-गुल्फ के कर्णभाग से लेकर घुटने तक माप करके, उस माप का आठवाँ भाग खुड़ (पैर और जंघा की संधि) स्थान से छोड़कर इन्द्रवस्ति मर्म को नेत्र के बराबर (दो अंगुल) बचाते हुए नासिका के समान सीधा वेधन करना चाहिये।

वक्तव्य—इन्द्रवस्ति मर्म-जंघा के मध्य में हैं, यथा-त्रयोदशांगुले पार्ष्णिं प्रति कालान्तरासुहृत्। इन्द्रबस्तिरसृक्स्रावी मांसगोऽर्धाङ्गुलो भवेत्॥ इन्द्रवस्ति यद्यपि आधा अंगुल है, तथापि यहाँ दो अंगुल बचाने को कहा है। भोजन—

"वातपित्तकफास्त्वद्यामेदश्चापि समाचितम्।
जंघयोः कण्डरां प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्॥
कुर्वन्ति ग्रन्थीन् यस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः।
दोषैस्तैरूर्ध्वगो वक्षःकक्षामन्यागलाश्रितः॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता।
व्यामिश्रदोषोत्पन्नां तु कृच्छ्रसाध्यां विनिर्दिशेत्" ॥२५, २६॥

मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक्।
अङ्गुल्यन्तरितं सम्यगपचीनां निवृत्तये ॥२७॥

अथवा मणिबन्ध (कलई) के ऊपर वैद्य तीन रेखायें एक एक अंगुली के अन्तर से, अपचियों की निवृत्ति के लिये करे। (कक्षा, कूर्पर, सन्धिगत अपचियों में बाहु में कर्म करे) ॥२७॥

चूर्णस्य काले प्रचलाककाकगोधाहिकूर्मप्रभवां मसीं तु।
दद्याच्च तैलेन सहेङ्गुदीनां यद्वद्दयते श्लीपदिनां च तैलम्॥
विरेचनं धूममुपाददीत भवेच्च नित्यं यवमुद्गभोजी।

रोपण काल में—मोर, कौवा, गोह, साँप, कछुआ इनकी मसी (राख क्षार) को हिंगोट के तैल के साथ देवे। वैरेचनिक धूम का प्रयोग करे। नित्य प्रति जौ और मूंग का भोजन करे।

कर्कारुकैर्वारुकनारिकेलप्रियालपञ्चाङ्गुलबीजचूर्णैः॥२९॥
वातार्बुदं क्षीरघृताम्बुसिद्धैरुष्णैः सतैलैरुपनाहयेत्तु।
कुर्याच्च मुख्यान्युपनाहनानि सिद्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः॥
स्वेदं विदध्यात् कुशलस्तु नाड्या
शृङ्गेण रक्तं बहुशो हरेच्च।
वातघ्ननिर्यूहपयोम्लभागैः
सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा ॥३१॥

कर्कारु (कूष्माण्ड), एर्वारुक (ककड़ी), नारियल, चिरौंजा, एरण्ड इनके बीजों के चूर्ण से दूध और घृत के साथ सिद्ध करके रक्तपित्त का अनुबन्ध होने पर वातार्बुद पर उपनाह करे। शुद्ध वातार्बुद में तैल युक्त गरम गरम उपनाह करे। मांस एवं वेसवार से सिद्ध किये मुख्य उपनाह (साल्वण आदि) बरते। कुशल वैद्य नाड़ी से स्वेद करे, और शृङ्ग से बार-बार रक्त मोक्षण करे। देवदारु आदि वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ दूध और कांजी में तैल का शतपाक करके पीये। अथवा घृत, तैल, वसा इस त्रिवृत स्नेह को पूर्वोक्त वातहर द्रव्यों के क्वाथ, दूध, कांजी में सिद्ध करके पीये।

वक्तव्य—शतधा पाक—तैल का एक बार पाक करके फिर इसी तरह एक सौ बार करे। डल्हण की मान्यता है कि शतधाऽपतानक विधि से (चि० अ० ५। १८) करे ॥२९–३१॥

स्वेदोपनाहा मृदवस्तु कार्याः
पित्तार्बुदे कायविरेचनं च।
विघृष्य चोदुम्बरशाकगोजी-
पत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिम्पेत् ॥३२॥
श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियङ्गु-
पत्तङ्गरोध्राञ्जनयष्टिकाह्वैः।
विस्राव्य चारग्वधगोजिसोमाः
श्यामा च योज्याः कुशलेन लेपे ॥३३॥
श्यामागिरिह्वाञ्जनकीरसेषु
द्राक्षारसे सप्तलिकारसे च।
घृतं पिबेत् क्लीतकसंप्रसिद्धं
पित्तार्बुदी तज्जठरी च जन्तुः ॥३४॥

पित्तार्बुद में—स्वेदन, उपनाह, ये कोमल रूप में करे, अर्थात् द्रवस्वेद देवे, काकोल्यादि मृदु द्रव्यों से बन्धन करे, इनको दूध और अम्ल में पीसकर बहुत गरम न बाँधे विरेचन भी मृदु ही देवे। गूलर, सागौन, गाजवाँ इनके पत्तों से अर्बुद को रगड़कर इस पर राल, प्रियंगु, लाल चन्दन, लोध, अंजन (सुरमा) और मुलैहठी इनको चूर्ण करके मधु में मिलाकर बहुत बार लेप करे। रक्त निकालकर अमलतास, गाजवाँ, कट्फल और काली निशोथ इनका लेप लगाये। काली निशोथ, गिरिह्वा (श्वेतस्यन्द), अंजन की (नीलाञ्जनिका का शरद् ऋतु का फल) इनके क्वाथ में और द्राक्षारस में तथा सप्तलिका (यवतिक्ता) के रस में मुलैहठी के कल्क से सिद्ध किया घृत पित्तार्बुद रोगी और पित्तोदरी पीये ॥३२-३४॥

शुद्धस्य जन्तोः कफजेऽर्बुदे तु
रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत्।
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च दोषान्
हरन्ति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात् ॥३५॥
कपोतपारावतविड्विमिश्रैः
सकांस्यनीलैः शुकलाङ्गलाख्यैः।
मूत्रैस्तु काकादनिमूलमिश्रैः
क्षारप्रदिग्धैरथ वा प्रदिह्यात् ॥३६॥

वमन से शुद्ध हुए कफार्बुद रोगी का रक्त (अलाबु से) निकालकर अर्बुद पर अपची में कहे ऊर्ध्व और अधः मार्ग (वमन-विरेचन) से दोषों को निकालनेवाले द्रव्यों के कल्क से (जीमूतक, घोषवती, दन्ती, द्रवन्ती, त्रिवृत आदि) लेप करे। कबूतर की बीट, पारावत की बीट, काँसी की स्याही, शुक (ग्रन्थिपर्ण), कलिहारी, काकादनी का मूल इनको मूत्र में पीसकर लेप करे। अथवा क्षार में मिलाकर लेप करे। (अथवा कबूतर की बीट आदि को क्षारोदक में मिलाकर लेप करे)।

वि० मन्तव्य—कांस्यनील—काँसा के पात्र में मण्ठा (गौ का तक्र) डालकर धूप में धर दिया जाता है २-३-५ ७ दिन में वह नीलवर्ण का होकर सूख जाता है। इसको "जंगाल" कहते हैं। यह "तूतिया" का ही एक प्रकार है और उसीके समान लेखन होता है, परन्तु उससे कुछ मृदु होता है। काँसा, ताम्र एवं यशद का मिश्रण है ॥३५,३६॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कै-
र्मांसप्रगाढैर्दधिमस्तुयुक्तैः।
लेपं विदध्यात् क्रिमयो यथाऽत्र
मूर्च्छन्ति मुञ्चन्त्यथ मक्षिकाश्च ॥३७॥
अल्पावशिष्टे कृमिभक्षिते च
लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात्।
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीस-
पट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा ॥३८॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात्
प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः।
आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः
कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम् ॥३९॥
शुद्धे च तैलं विदधीत भार्गीविडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम्।
यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥४०॥

सेम, खली (या तिलकल्क), कुलत्थी इनका कल्क, मांस, दही, मस्तु इनको अच्छी तरह मिलाकर अर्बुद पर लेप करे। इस लेप से खींचकर मक्खियाँ इस अर्बुद पर गिरेंगी और वहाँ अण्डे और कृमि उत्पन्न हो जायँगे। कीड़े जब इस अर्बुद को खा जायें, थोड़ा बचे, तब इसका लेखन करके अग्नि से इसको जलाये। जिस अर्बुद का मूल छोटा हो, उसे राँगा, ताम्र, सीसा, या लोहा इनके पतरे से चारों ओर से घेरकर इस अर्बुद पर क्षार, अग्नि या शस्त्र कर्म बार-बार वैद्य सावधानी से करे, परन्तु प्राणों को नुकसान न होने देवे। साखि, चमेली, कनेर इनके पत्तों का क्वाथ व्रण के धोने के लिये उत्तम है। व्रण के शुद्ध हो जाने पर भार्गी, विडंग, पाठा, त्रिफला से पकाया तैल बरते। जो अर्बुद अचानक चोट आदि के कारण पक जायें उनमें विधि को जाननेवाला वैद्य पाक की चिकित्सा बरते।

वि० मन्तव्य—यद्यपि कफज अर्बुद पकता नहीं है, परन्तु "न रोगोऽप्येकदोषजः" के अनुसार, अथवा यों ही पक जाय तो अर्बुद पर पच्छ लगाकर लेप करके उस पर मक्षिका बैठने दो और प्रतीक्षा करो कि कोई किरौनी मक्षिका (पञ्जाब में इस मक्षिका को "हाई" कहते हैं) आकर बैठे। यह हरे वर्ण की होती है, इसे बैठने दो, यह श्वेत-श्वेत बहुत ही सूक्ष्म अण्डे देती है, २४ या २६ घण्टा में कृमि प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इन कृमियों को चरकसंहिता वि० स्था० अ० ७ में—जन्तुमातरश्चेति। ११। अर्थात् जन्तुमाता कहा है—जन्तु है माता जिनकी। कृमि भक्षित व्रण का रोपण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। इनके विनाश का उपाय है—तूतिया के द्रव से अथवा तुलसीपत्र के द्रव से प्रक्षालन ॥३७-४०॥

मेदोऽर्बुदं स्विन्नमथो विदार्य विशोध्य सीव्येद्गतरक्तमाशु।
ततो हरिद्रागृहधूमरोध्रपत्तङ्गचूर्णैः समनःशिलालैः ॥४१॥
व्रणं प्रतिमाद्य मधुप्रगाढैः करञ्जतैलं विदधीत शुद्धे।
सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति ॥
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्युः सशेषाणि यथा हि वह्निः।

मेदोर्बुद में स्वेदन करके इसको चीरकर इसका शोधन करे। रक्त बन्द हो जाने पर इसको सी देवे। इसके पीछे हल्दी, घी का धुँवासा, लोध, चन्दनकाष्ठ, मैनसिल, हरताल, इसके चूर्ण को मधु में भली प्रकार मिलाकर व्रण पर रगड़े। शोधन हो जाने पर विद्रधि में कहा करंज तैल बरते। क्योंकि दोष के रह जाने पर अर्बुद फिर से उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये अर्बुदों को सम्पूर्ण रूप में बाहर निकाले। जैसे कि आग सम्पूर्ण नष्ट करती है, उसी प्रकार इनको जड़ समेत नष्ट करे।

वक्तव्य—"ग्रन्थिर्महान् मांसभवस्त्वनर्त्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च। विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्।" चरक० चि० अ० १२-२८।

वि० मन्तव्य—अर्बुद का थोड़ा भी मूल अवशिष्ट रह जाने पर वह पुनः बढ़ जाता है और वह कभी अच्छा नहीं होता, कुछ दिन में उसीसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है ॥४१,४२॥

संस्वेद्य गण्डं पवनोत्थमादौ नाड्याऽनिलघ्नौषधपत्रभङ्गैः ॥

अम्लैः समूत्रैर्विविधैः पयोभि-
रुष्णैः सतैलैः पिशितैश्च विद्वान्।
विस्रावयेत् स्विन्नमतन्द्रितश्च
शुद्धं व्रणं चाप्युपनाहयेत्तु ॥४४॥

शणातसीमूलकशिग्रुकिण्वप्रियालमज्जातुयुतैस्तिलैस्तु।
कालामृताशिग्रुपुनर्नवार्कगजादिनामाकरहाटकुष्ठैः ॥४५॥
एकैषिका वृक्षकतिल्वकैश्च सुराम्लपिष्टैरसकृत् प्रदिह्यात्।

तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब-
हंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्डरोगे ॥४७॥

वातजन्य गण्ड में वैद्य वातनाशक (एरण्ड आदि) द्रव्यों के पत्तों से नाड़ी द्वारा स्वेद देवे। पित्तावृत वायु में कांजी से, कफावृत में मूत्र क्वाथ से, रक्तावृत वायु में मांस के साथ, तैल मिलाकर गरम स्वेदन हो जाने पर बिना आलस्य के विद्वान् जौंक आदि से रक्तमोक्षण करे। रक्त हरण से शुद्ध हो जाने पर सन, अलसी, मूली, सुहांजना, किण्व, (सुराबीज), गिलोय, सहजन, पुनर्नवा, आक, गजपिप्पली, मैनफल, कुष्ठ, एकैषिका (पाठा), कुटज, तिल्वक, इनको सुरा और कांजी में पीसकर बार-बार लेप करे। गिलोय, नीम, हंसराज, कुटज, पिप्पली, बला, देवदारु इनसे सिद्ध किया तैल गलगण्ड रोग में नित्य हितकारी है ॥४३-४७॥

स्वेदोपनाहैः कफसंभवं तु
संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात्।
ततोऽजगन्धातिविषाविशल्या-
विषाणिकाकुष्ठशुकाह्वयाभिः ॥४८॥

पलाशभस्मोदकपेषिताभि-
र्दिह्यात् सुगुञ्जाभिरशीतलाभिः।
दशार्धसङ्ख्यैर्लवणैश्च युक्तं
तैलं पिबेन्मागधिकादिसिद्धम् ॥४९॥
प्रच्छर्दनं मूर्धविरेचनं च
धूमश्च वैरेचनिको हितस्तु।
पाकक्रमो वाऽपि सदा विधेयो
वैद्येन पाकङ्गतयोः कथञ्चित् ॥५०॥

कफजन्य गलगण्ड में स्वेदन और उपनाह करके इसको स्वेद देकर रक्तमोक्षण ही करना चाहिये। फिर अजगन्धा, अतीस, कलिहारी, मेढ़ासिंगी, कुष्ठ, शुकनास, रत्तियाँ इनको पलाश क्षारोदक में पीसकर, गरम करके लेप करे। पाँचों नमक के साथ, पिप्पली आदि गण के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया तैल पीये। वमन, शिरोविरेचन, वैरेचनिक धूम, बरतने चाहिये। वात और कफजन्य गलगण्ड के किसी प्रकार पक जाने पर वैद्य को पाक विधि बरतनी चाहिये ॥४८-५०॥

कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा
भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः।
सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा
हिताय देया गलगण्डरोगे ॥५१॥

भक्ष्यों (धान्य, कुल्माष आदि) का गोमूत्र में भिगोकर, सुखाकर, जौ के बने भक्ष्य, मूँग का रस, इनको तथा त्रिकटु को मधु के साथ खाये। शृङ्गवेर परवल, नीम को गलगण्ड रोग में देना उत्तम है ॥५१॥

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां विध्येत् सिरां स्निग्धतनोर्नरस्य।
श्यामासुधालोहपुरीषदन्तीरसाञ्जनैश्चापि हितः प्रदेहः ॥५२॥

मूत्रेण वाऽऽलोड्य हिताय सारं
प्रातः पिबेत् सालमहीरुहाणाम्।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य विदार्य चैनं
मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत् ॥५३॥

मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेद्वा दग्धे च सर्पिर्मधु चावचार्यम्।
कासीसतुत्थे च ततोऽत्र देये चूर्णीकृते रोचनया समेते ॥५४॥

तैलेन चाभ्यज्य हिताय दद्यात्
सारोद्भवं गोमयजं च भस्म।
हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो
गाढश्च बन्धो यवभोजनं च ॥५५॥

मेदजन्य गलगण्ड में स्नेहन देकर कही हुई सिरा (ऊरुसन्धिमें कही) का वेधन करे। निशोथ, चूना, (या सेहुण्ड) लोहे का मैल (किट्ट) दन्ती, और रसौत इनका लेप करे। सालसारादिगण के वृक्षों के सारकल्क को (कर्षमात्रा में) गोमूत्र में घोलकर

प्रातःकाल पीये। अथवा इसको शस्त्र से चीरकर, मेद को निकालकर, इसको पुनः सी देवे। अथवा मज्जा घी, मेद और मधु से इसे जलाये। जल जाने पर घी और मधु को लगाये। पीछे से कासीस, तुत्थ, गोरोचना (या हल्दी) इनका चूर्ण व्रण में रगड़े। फिर तैल लगाकर सालसारादिगण की और गोबर (छानों) की भस्म लगाये। त्रिफला कषाय नित्य उत्तम है। कसकर पट्टी बाँधनी चाहिये और नित्य जौ का भोजन करना चाहिये ॥ ५२-५५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगल-
गण्डाचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वृद्धि-उपदंश-श्लीपद चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अन्त्रवृद्ध्या विना षड्या वृद्धयस्तासु वर्जयेत्।
अश्वादियानं व्यायामं मैथुनं वेगनिग्रहम् ॥३॥
अत्यासनं चङ्क्रमणमुपवासं गुरूणि च।

अन्त्रवृद्धि को छोड़कर जो छः वृद्धि रोग हैं, उनमें घोड़े आदि पर चढ़ना, व्यायाम, मैथुन, उपस्थित वेगों को रोकना, बहुत बैठना, घूमना (मुसाफरी), उपवास और भारी भोजन नहीं करने चाहिये। इनसे बचना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्रादितो वातवृद्धौ त्रैवृतस्निग्धमातुरम् ॥४॥
स्विन्नं चैनं यथान्यायं पाययेत विरेचनम्।
कोशाम्रतिल्वकैरण्डफलतैलानि वा नरम् ॥५॥
सक्षीरं वा पिबेन्मासं तैलमेरण्डसंभवम्।
ततः कालेऽनिलघ्नानां क्वाथैः कल्कैश्च बुद्धिमान् ॥६॥
निरूहयेन्निरूढं च भुक्तवन्तं रसौदनम्।
यष्टीमधुकसिद्धेन ततस्तैलेन योजयेत् ॥७॥
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च प्रदेहांश्चानिलापहान्।
विदग्धां पाचयित्वा वा सेवनीं परिवर्जयेत् ॥८॥
भिन्द्यात्ततः प्रभिन्नायां यथोक्तं क्रममाचरेत्।

इनमें वातवृद्धि में सबसे प्रथम रोगी को त्रैवृत स्नेह से (वातव्याधि में कहे), स्निग्ध करके, स्वेदन देवे। फिर जो योग्य हो, वह विरेचन पिलाये। कोशाम्र (अम्बाड़ा), तिल्वक, एरण्डफल इनके तेलों को रोगी पीये। अथवा एक मास तक दूध के साथ एरण्ड तैल को पीये। फिर आवस्थिक काल में वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से बुद्धिमान् निरूह देवे। निरूह हो जाने पर मांस रस (या मुद्गरस) के साथ चावल खिलाकर, मुलैहठी से सिद्ध किये तैल से अनुवासन देवे। स्नेहन और उपनाह करे, वातनाशक प्रदेहों को लगाये। और जो वृद्धि विदग्ध (पाकाभिमुख) हो, उसको पकाकर, सेवनी को बचाकर चीरे। फिर भेदन हो जाने पर द्विव्रणीयोक्त विधि को करे ॥ ४-८ ॥

पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रंथिक्रमो हितः ॥९॥
पक्वां वा भेदयेद् भिन्नां शोधयेत् क्षौद्रसर्पिषा।
शुद्धायां च भिषग्दद्यात्तैलं कल्कं च रोपणम् ॥१०॥
रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेद् भिषक्।
पिबेद्विरेचनं वाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ॥११॥
पित्तग्रन्थिक्रमं कुर्यादामे पक्वे च सर्वदा।

पित्तजन्य अपक्व पित्त विद्रधि में पित्त ग्रन्थि की चिकित्सा करे। पकने पर चीरे। चीरने के उपरान्त मधु और घी से शोधन करे। शुद्ध हो जाने पर वैद्य रोपण करनेवाला तैल और कल्क (द्विव्रणीयोक्त या मिश्रकाध्यायोक्त) वरतें। रक्तजन्य वृद्धि में वैद्य जौंक से रक्त को निकाले। अथवा शर्करा और मधु से मिला विरेचन पीये। आम एवं पक्व वृद्धि में सदा पित्तग्रन्थि की चिकित्सा करे ॥ ९-११ ॥

वृद्धिं कफात्मिकामुष्णैर्मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥१२॥
पीतदारुकषायं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम्।
विम्लापनादृते वाऽपि श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः ॥१३॥
पक्वायां च विभिन्नायां तैलं शोधनमिष्यते।
सुमनारुष्कराङ्कोठसप्तपर्णेषु साधितम् ॥१४॥

कफजन्य वृद्धि में उष्णवीर्यवाले द्रव्यों को (वचादि पिप्पल्यादि गुण या मिश्रकोक्त अजगन्धादि को) मूत्र में पीसकर लेप करे। दारुहल्दी के कषाय को गोमूत्र के साथ पीये। विम्लापन को छोड़कर शेष सम्पूर्ण चिकित्सा कफजन्य ग्रन्थि की बरते। पकने पर फट जाने पर (या चीर कर) चमेली, भिलावा, अंकोट, सप्तपर्ण के कल्क, कषाय से सिद्ध किया तैल शोधन के लिये व्यवहार में लाये।

(पीतदारु से हल्दी लिया जाये तो उत्तम है। डल्हण ने दारुहरिद्रा अर्थ किया है) ॥ १२-१४ ॥

मेदःसमुत्थां संस्वेद्य लेपयेत् सुरसादिना।
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः ॥१५॥
स्विन्नां चावेष्ट्य पट्टेन समाश्वास्य तु मानवम्।
रक्षन् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत् ॥१६॥
मेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात् कासीससैन्धवे।
बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत् ॥१७॥
मनःशिलालवणैः सिद्धमारुष्करेषु च।

मेदजन्य वृद्धि में स्वेदन करके सुरसादि गण को या पिप्पली, वायविडंग, अपामार्ग, आदि संशोधन, संशमन में कहे शिरोविरेचन द्रव्यों को मूत्र में पीसकर सुहाता गरम लेप करे। स्वेदन देकर, रोगी को आश्वासन देकर वस्त्र से बाँध कर, फल (वृषण) और सेवनी को बचाते हुए वृद्धिपत्र से

चीरे। फिर इसमें से मेद निकालकर कासीस और सैन्धव लगाकर गोफणिका या स्थगिका बन्ध बाँध देवे। व्रण का शोधन हो जाने पर मैनसिल, हड़ताल, सैन्धानमक और भिलावे से सिद्ध किया तैल बरते। कोई 'आवेष्ट्य पट्टेन' का अर्थ—'वृद्धि को वस्त्र से घेरकर' करते हैं।

वक्तव्य—कासीस, सैन्धव, सुहागा—आज भी कार्बंकल आदि बड़े फोड़ों को साफ करने के लिये देहात में नाई लोग चीर कर भरते हैं। यह प्रायः एक ही दिन करना होता है। इससे गला, सड़ा मांस साफ हो जाता है। यह प्रत्यक्ष की हुई वस्तु है ॥ १५-१७ ॥

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥१८॥
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद्भिषक् ॥१९॥
मूत्रं, नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्।
शुद्धायां रोपणं दद्याद्वर्जयेदन्त्रहैतुकीम् ॥२०॥
अप्राप्तफलकोषायां वातवृद्धिक्रमो हितः।
तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया ॥२१॥
सम्यङ्मार्गावरोधार्थं कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्।
त्वचं भित्त्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेच्चाङ्गविपर्ययात् ॥२२॥
अनेनैव विधानेन वृद्धौ वातकफात्मिके।
प्रदहेत् प्रयतः किंतु स्नायुच्छेदोऽधिकस्तयोः ॥२३॥
शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा सिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये ॥२४॥

मूत्रजन्य वृद्धि में स्वेदन देकर वृद्धि को पट्टी से लपेटकर, सेवनी के पार्श्व में नीचे की ओर व्रीहिमुख से वेधन करे। फिर इसमें दो मुखवाली नाड़ी लगाकर वैद्य सब मूत्र निकाल लेवे। फिर नाड़ी को निकालकर स्थगिका बन्ध बाँधे। शोधन हो जाने पर रोपण करे। अन्त्र हेतुकीम् (कोश में पहुँची) वृद्धि की चिकित्सा न करे। जो अन्त्र वृद्धि कोष (फलकोष) में न पहुँची हो, उसे वात वृद्धि की चिकित्सा करे। जो अन्त्र वृद्धि वंक्षण में ही स्थित हो (अभी आगे—ईङ्गुनल्यरिंग से बाहर न आई हो) उसे अर्द्धेन्दुवक्त्रा (हँसली के आकार की हँसिया) शलाका से जला दे, जिससे कि मार्ग भली प्रकार रुक जाये। जो अन्त्र वृद्धि फल कोष में उतर आई हो (फिर वापिस न जाती हो) उसकी चिकित्सा न करे। अन्त्र की विपरीत दशा में (दक्षिण पार्श्व में होने पर वाम में, वाम में होनेपर दक्षिण पार्श्व में) अंगूठे में (पैर के) त्वचा को चीरकर दाह कर्म करे। वातकफजन्य वृद्धि में भी इसी विधि से सावधानी के साथ जलाये। किन्तु वातकफजन्य वृद्धि में स्नायु को अधिक छेदन करें, थोड़ा गहरा जलाये। अन्त्र वृद्धि की शान्ति के लिये—शङ्ख प्रदेश के ऊपर, कान के पार्श्व पर सेवनी को यत्नपूर्वक छोड़ते हुए विरुद्ध पार्श्व में सिरा का वेधन करे।

वक्तव्य—मूत्र को निकाले—वास्तव में जो पानी निकलता है, उसका रङ्ग और रसायनिक विश्लेषण लगभग मूत्र से निकलता है। इसलिये इसे 'मूत्र' नाम से कहा है, यथा—"सामान्यात् गन्धवर्णयोः रक्तस्य पित्तमाख्यातं मनीषिभिः।।" वही हेतु यहाँ है। कान का वेधन—पाली के ऊपर के भाग में आज भी गाँवों में ब्रध्न या वृद्धि को रोकने के लिये करते हैं। एक दो रोगियों को आराम भी देखा है। परन्तु सब में नहीं ॥१८-२४॥

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः।
सिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः ॥२५॥
हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्।
सद्योऽपहृतदोषस्य रुक्शोफावुपशाम्यतः ॥२६॥
यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तं विरेचनम्।
निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान् ॥२७॥

साध्य उपदंशों में रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर मेहन के मध्य में शिरा का वेधन करे। अथवा जौंके लगाये। (बहुत दोष या गम्भीर रूप में दोष होने पर वेधन करे, अल्प दोष या दोष के ऊपर होने पर जौंक लगाये)। अत्यन्त बढ़े हुए दोषों को वमन और विरेचन से निकाल देवे। दोष के निकल जाने से वेदना और शोफ तुरन्त शान्त हो जाते हैं। यदि दुर्बल होने के कारण रोगी विरेचन के अयोग्य हो तो, उसे निरूह देकर अतिशय बढ़े हुए दोषों को निकाले॥

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्ववर्षाभूकुष्ठदारुभिः।
सरलागुरुरास्नाभिर्वातजं संप्रलेपयेत् ॥२८॥
निचुलैरण्डबीजानि यवगोधूमसक्तवः।
एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः संप्रलेपयेत् ॥२९॥
प्रपौण्डरीकपूर्वैश्च द्रव्यैः सेकः प्रशस्यते।

वातजन्य उपदंश में—प्रपौण्डरीक, मुलैहठी, पुनर्नवा, कूठ, देवदारु, चीड़ का गोन्द, अगरु, रास्ना इनसे लेप करे। वेतूल, एरण्ड के बीज, जौ, गेहूँ के सत्तू, इनको वातजन्य उपदंश में तैल मिलाकर सुहाता हुआ गरम लेप करे। प्रपौण्डरीक आदि द्रव्यों से परिषेक करना उत्तम है ॥ २८,२९ ॥

गैरिकाञ्जनयष्ट्याह्वसारिवोशीरपद्मकैः ॥३०॥
सचन्दनोत्पलैः स्निग्धैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः ॥३१॥
सर्पिःस्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः ॥३२॥
अथवाऽपि सुशीतेन कषायेण वटादिना।

पैत्तिक उपदंश में—गेरु, अञ्जन (रसौत), मुलैहठी, सारिवा, खस, पद्माख, चन्दन, कमल, इनको घी से स्निग्ध करके लेप करे। कमल, नीला कमल, मृणाल, सर्जरस, अर्जुन, अम्ल वेतस, और मुलैहठी इनको घी

से स्निग्ध करके पैत्तिक उपदंश में लेप करे। घी, दूध, शर्करा का शर्बत, गन्ने का रस, शहद का जल इनसे परिषेक करे। अथवा बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के अति शीतल कषाय से परिषेक करें ॥३०-३२॥

सालाश्वकर्णाजकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम् ॥३३॥
सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत्।
रजन्यतिविषामुस्तासुरसासुरदारुभिः ॥३४॥
सपत्रपाठापत्तूरैरथ वा संप्रलेपयेत्।
सुरसारग्वधाद्योश्च काथाभ्यां परिषेचयेत् ॥३५॥

कफजन्य उपदंश में—साल, अश्वकर्ण, अजकर्ण, धव इनकी छाल को सुरा से पीसकर तैल मिलाकर गरम करके लेप करे। अथवा हल्दी, अतीस, मुस्ता, तुलसी, देवदारू, तमालपत्र, पाठा, पत्तूर (मछेछी) इनसे लेप करे। सारसादिगण अथवा आरग्वधादिगण के क्वाथ से परिषेक करे ॥३३-३५॥

एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः।
प्रतिकुर्यात् क्रियायोगैः प्राक्स्थानोक्तैर्हितैरपि ॥३६॥
न याति च यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
विदग्धैस्तु सिरास्नायुत्वङ्मांसैः क्षीयते ध्वजः ॥३७॥
शस्त्रेणोपचरेच्चापि पाकमागतमाशु वै।
तदाऽपोह्य तिलैः सर्पिःक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत् ॥३८॥
करवीरस्य पत्राणि जात्यारग्वधयोस्तथा।
प्रक्षालने प्रयोज्यानि वैजयन्त्यर्कयोरपि ॥३९॥

इस प्रकार संशोधन, लेप, परिषेक रक्तमोक्षण, आदि चिकित्सा तथा सूत्रस्थान में कहे एवं मिश्रकोक्त विधि से आम उपदंश की चिकित्सा करे। जिस प्रकार पके नहीं वैद्य ऐसा यत्न करे। क्योंकि पक जाने पर सिरा-स्नायु त्वचा और मांस के सड़ने से मेहन क्षीण हो जाता है। पक जाने पर तुरन्त शस्त्र चिकित्सा करे। फिर पूय को हटाकर घी और मधु में मिलाये तिलों से लेप करे। कनेर चमेली, अमलतास के पत्ते, वैजयन्ती (अरणी वृक्ष) और आक इनके पत्तों का कषाय धोने के लिये बरते ॥३६-३९॥

सौराष्ट्रीं गैरिकं तुत्थं पुष्पकासीससैन्धवम्।
रोध्रं रसाञ्जनं दार्वीं हरितालं मनः शिलाम् ॥४०॥
हरेणुकैले च तथा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तच्चूर्णं क्षौद्रसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम् ॥४१॥

सौराष्ट्री (फिटकरी), गेरू, तुत्थ, पुष्पांजन (जस्त का फूला) कासीस, सैन्धव, लोध, रसौंत, दारुहल्दी, हरताल, मैनसिल, हरेणुका, इलायची, इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर इस चूर्ण को मधु में मिलाकर उपदंशों में बरते ॥४०,४१॥

जम्ब्वाम्रसुमनानिम्बश्वेतकाम्बोजिपल्लवाः।
शल्लकीबदरीबिल्वपलाशतिनिशत्वचः ॥४२॥
क्षीरिणां च त्वचो योज्याः क्वाथे त्रिफलया सह।
तेन क्वाथेन नियतं व्रणं प्रक्षालयेद् भिषक् ॥४३॥
अस्मिन्नेव कषाये तु तैलं धीरो विपाचयेत्।
गोजीविडङ्गयष्टीभिः सर्वगन्धैश्च संयुतम् ॥४४॥
एतत् सर्वोपदंशेषु श्रेष्ठं रोपणमिष्यते।

जामुन, आम, चमेली, नीम, श्वेत (श्वेतस्यन्द, या कोयल), काम्बोजिका (कूविका या माषपर्णी), इनके पत्ते, शल्लकी (सलई), बेर, बिल्व, ढाक, तिनिश (सांदन), इनकी छाल, बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की छाल, इनका क्वाथ करके जिसमें त्रिफला क्वाथ मिलाकर इस क्वाथ से वैद्य प्रतिदिन व्रण को धोये। इसी क्वाथ में धीर वैद्य तैल सिद्ध करे। इस तैल में गाजवाँ, बायविडंग, मुलैहठी, और एलादिगण—सर्वगन्ध द्रव्यों को मिलायें। यह तैल सब उपदंशों में रोपण के लिये श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—यहाँ पर गाजवाँ आदि का कल्क तैल सिद्ध होने पर मिलाना है। दूसरे आचार्य तैल सिद्ध करने में कषाय के साथ डालते हैं ॥४२-४४॥

स्वर्जिका तुत्थकासीसं शैलेयं च रसाञ्जनम् ॥४५॥
मनःशिलासमैश्चूर्णं व्रणवीसर्पनाशनम्।
गुन्द्रां दग्ध्वा कृतं भस्म हरितालं मनःशिला ॥४६॥
उपदंशविसर्पाणामेतच्छान्तिकरं परम्।
मार्कवस्त्रिफला दन्ती ताम्रचूर्णमयोरजः ॥४७॥
उपदंशं निहन्त्येष वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा।

सर्जक्षार, तुत्थ, कासीस, शैलेय (शिला-पुष्प) रसौंत और मैनसिल इनको समान भाग में लेकर चूर्ण करे। यह चूर्ण उपदंश व्रण जन्य वीसर्प को नष्ट करता है। गुन्द्रा (लसूड़ा) को जलाकर भस्म करे। इस भस्म में मैनसिल और हरताल मिलाये। उपदंश जन्य वीसर्पों को शान्त करने में यह श्रेष्ठ है। भांगरा, त्रिफला, दन्ती (जमाल गोटा), ताम्र की भस्म, यह चूर्ण उपदंश को ऐसे नष्ट कर देता है जैसे कि बिजली वृक्ष को नष्ट करती है ॥४५-४७॥

उपदंशद्वयेऽप्येतौ प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥४८॥
तयोरेव च या योग्या वीक्ष्य दोषबलाबलम्।
उपदंशे विशेषेण शृणु भूयस्त्रिदोषजे ॥४९॥

रक्तजन्य और सन्निपातजन्य उपदंशों में कारण की समानता होने पर-इन दोनों को असाध्य कहकर चिकित्सा करे। इनमें दोष के बल और अबल का विचार करके, जो योग्य चिकित्सा हो, उसे वातादि दोष के अनुसार करे ॥४८,४९॥

दुष्टव्रणविधिं कुर्यात् कुथितं मेहनं त्यजेत्।
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन पश्चाच्छेषं दहेद् भिषक् ॥५०॥
सम्यग्दग्धं च विज्ञाय मधुसर्पिः प्रयोजयेत्।
शुद्धे च रोपणं दद्यात् कल्कं तैलं हितं च यत् ॥५१॥

सन्निपातजन्य उपदंश में विशेष चिकित्सा को सुनो इसमें दुष्ट व्रण की चिकित्सा करे और सड़े हुए मेहन की चिकित्सा

न करे। जितना मेहन सड़ गया हो, उसे काटकर पीछे से अग्नि में लाल किये जम्ब्वोष्ठ शस्त्र से बचे हुए मेहन के अग्र भाग पर अग्नि कर्म करे। भली प्रकार दाह हुआ जानकर मधु और घृत लगाये। शोधन होने पर उससे रोपण करे, इसके लिये जो कल्क तैल हितकारी हो ॥५०,५१॥

स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक्।
कृत्वा गुल्फोपरि सिरां विध्येत्तु चतुरङ्गुले ॥५२॥
समाप्यायितदेहं च बस्तिभिः समुपाचरेत्।
मासमेरण्डजं तैलं पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ॥५३॥
पयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च।
त्रैवृतं चोपयुञ्जीत शस्तो दाहस्तथाऽग्निना ॥५४॥

वातजन्य श्लीपद में वैद्य स्नेहन और स्वेदन करके गुल्फ से चार अंगुल ऊपर में सिरा का वेधन करे। रक्त निकालने के उपरान्त शरीर के स्वस्थ-प्रकृतरूप में आ जाने पर रोगी को निरूहबस्ति देवे। मास तक एरण्ड तैल को गोमूत्र के साथ पीये। सोंठ (एक कर्ष) के कषाय से सिद्ध किये दूध के साथ चावल खाये। व्यातव्याधि में कहे त्रैवृत्त स्नेह को बरते। अग्नि आदि से दाह उत्तम है।

वक्तव्य—बनारस के गायघाट पर मैंने एक रोगी देखा था। आयु २२ वर्ष की थी, उसके बायें पैर में श्लीपद था। उसने वहाँ एक मनुष्य से दाह करवाया था। दाह के निशान उसके पैर में थे। दाह करवाये तीन साल हो चुके, जब मैंने देखा था। उसने कहा कि दाह करवाने से अब श्लीपद नहीं बढ़ता। वह रोगी साधारण मजदूर था ॥५२–५४॥

गुल्फस्याधः सिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसंभवे।
पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्यात् पित्तार्बुदविसर्पवत् ॥५५॥

पित्तजन्य श्लीपद में गुल्फ से नीचे सिरा का वेधन करे। पित्तार्बुद और पित्तविसर्प की भांति पित्तनाशक चिकित्सा करे ॥५५॥

सिरां सुविदितां विध्येदङ्गुष्ठे श्लैष्मिके भिषक्।
मधुयुक्तानि चाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः ॥५६॥
पिबेद्वाऽप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन च।
कटुकाममृतां शुण्ठीं विडङ्गं दारु चित्रकम् ॥५७॥
हितं वा लेपने नित्यं भद्रदारु सचित्रकम्।
विडङ्गमरिचार्केषु नागरे चित्रकेऽथवा ॥५८॥
भद्रदार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च।
तैलं पक्वं पिबेद्वाऽपि यवान्नं च हितं सदा ॥५९॥
पिबेत् सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये।
पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वाऽपि यथाबलम् ॥६०॥
अनेनैव विधानेन पुत्रञ्जीवकजं रसम्।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित् ॥६१॥
केबुकाकन्दनिर्यासं लवणं त्वथ पाकिमम्।
रसं दत्त्वाऽथ पूर्वोक्तं पेयमेतद् भिषग्जितम् ॥६२॥

कफजन्य श्लीपद में वैद्य अंगुष्ठ में—भली प्रकार जानी सिरा का क्षिप्र मर्म के चार अंगुल ऊपर में वेधन करे। मनुष्य मधु मिश्रित कफ नाशक कषायों को बार-बार पीये। आठों मूत्रों में से किसी एक मूत्र से हरड़ के कल्क को पीये। कुटकी, गिलोय, सोंठ वायविडंग, देवदारु, चित्रक, इनका नित्यप्रति लेप करे। वायविडंग, मरिच, आक, सोंठ चित्रक, अथवा देवदारु, एलवालुक और पांचों नमक इनमें सिद्ध किया तैल पीये और जौ का भोजन करना उत्तम है। श्लीपद रोगों की शान्ति के लिये सरसों का तेल पीये। अग्नि-बल की अपेक्षा से नाटाकरंज पत्तों का स्वरस पीये। करंज की विधि से ही काल, सात्म्य को समझनेवाला बुद्धिमान् वैद्य जिया-पोते के पत्तों का स्वरस पिलाये। केबुक कन्द का निर्यास (स्वरस), विडलवण, इनमें जियापोते का स्वरस या करंज का स्वरस मिलाकर यह औषध रोगी पीये ॥६२॥

काकादनीं काकजङ्घां बृहतीं कण्टकारिकाम्।
कदम्बपुष्पीं मन्दारीं लम्बां शुकनसां तथा ॥६३॥
दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत् क्षारकल्पवत्।
तत्र दद्यात् प्रतीवापं काकोदुम्बरिकारसम् ॥६४॥
मदनाच्च फलात् क्वाथं शुकाख्यस्वरसं तथा।
एष क्षारस्तु पानीयः श्लीपदं हन्ति सेवितः ॥६५॥
अपचीं गलगण्डं च ग्रहणीदोषमेव च।
भक्तस्यानशनं चैव हन्यात् सर्वविषाणि च ॥६६॥

काकादनी (कालाहिंसा-डल्हण, वायसतिन्दु), काकजंघा, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, कदम्बपुष्पी, मन्दारी, लम्बा (कड़ुई तुम्बी), शुकनासा इनको जलाकर गोमूत्र में घोलकर क्षारकल्पना विधि से नितार लेवे। इसमें कठगूलर का रस, मैनफल का क्वाथ, शुकनासा का स्वरस प्रतिवाप रूप में मिलायें। यह पानीय क्षार पीने पर श्लीपद, अपची, गलगण्ड, ग्रहणीरोग, भोजन के अजीर्ण को और सब विषों को नष्ट करता है ॥६३-६६॥

एष्वेव तैलं संसिद्धं नस्याभ्यङ्गेषु पूजितम्।
एतानेवामयान् हन्ति ये च दुष्टव्रणा नृणाम् ॥६७॥

काकादनी आदि के क्वाथ में और कठगूलर के स्वरस, मैनफल के क्वाथ और शुकनासा स्वरस (ये क्वाथ के समान) में सिद्ध किया तेल नस्य और अभ्यंग में श्रेष्ठ है। यह तैल भी उपर्युक्त रोगों को एवं दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है ॥६७॥

द्रवन्तीं त्रिवृतां दन्तीं नीलीं श्यामां तथैव च।
सप्तलां शङ्खिनीं चैव दग्ध्वा मूत्रेण गालयेत् ॥६८॥
दद्याच्च त्रिफलाक्वाथमेष क्षारस्तु साधितः।
अधो गच्छति पीतस्तु पूर्वैश्चाप्याशिषः समाः ॥६९॥

द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), निशोथ, जमालगोटा की जड़, नीलिनी, काली निशोथ, ससला (शिकाकाई), यवतिक्ता, इनको जलाकर गोमूत्र में घोलकर नितार लेवे। इसमें त्रिफला क्वाथ मिलाकर बनाया हुआ क्षार विरेचन करता है। इसमें पूर्वोक्त फलश्रुति समान है, पूर्वोक्त रोगों का नाश इससे होता है॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥१६॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे क्षुद्र रोग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे— जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—क्षुद्ररोग का विवरण नि० स्था० अ० १३ में देखिये॥१,२॥

तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत्।
शुक्तिश्रुग्नीयवक्षारकल्कैश्च लेपयेद् भिषक्॥३॥
श्यामालाङ्गल्कीपाठाकल्कैर्वाऽपि विचक्षणः।
पक्कां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयेत्॥४॥

अपक्व अजगल्लिका में वैद्य-जोंक लगाकर रक्त निकाले। सीप, सर्जक्षार और यवक्षार इनसे लेप करे। काली निशोथ, कलिहारी, पाठा इनके कल्कों से चतुर वैद्य लेप करे। पक जाने पर कही हुई व्रण विधि से चिकित्सा करे॥३,४॥

अन्धालजीं यवप्रख्यां पनसीं कच्छपीं तथा।
पाषाणगर्दभं चैव पूर्वं स्वेदेन योजयेत्॥५॥
मनः शिलातालकुष्ठदारुकल्कैः प्रलेपयेत्।
परिपाकगतान् भित्त्वा व्रणवत् समुपाचरेत्॥६॥

अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसी, कच्छपी और पाषाण गर्दभ इनमें प्रथम स्वेद देवे। मैनसिल, हरताल, कुष्ठ, देवदारु इनके कल्क से लेप करे। पक जाने पर चीरकर व्रण की भाँति चिकित्सा करे॥५,६॥

विवृतामिन्द्रवृद्धां च गर्दभीं जालगर्दभम्।
इरिवेल्लीं गन्धनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा॥७॥
पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद् भिषक्।
रोपयेत् सर्पिषा पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः॥८॥

विवृता, इन्द्रवृद्धा, गर्दभी, जालगर्दभ, इरिवेल्ली, गन्धनामक, कक्षा, विस्फोटक, इनमें वैद्य पित्तजन्य विसर्प की चिकित्सा करे। पक जाने पर काकोल्यादिगण से सिद्ध किये घी से इनका रोपण करे॥७,८॥

चिप्प(८५) मुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद् भिषक्
चक्रतलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत्॥९॥
बन्धेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत्
मधुरौषधसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत्॥१०॥
कुनखे विधिरप्येष कार्यो हि भिषजा भवेत्।
उपाचरेदनुशयीं श्लेष्मविद्रधिवद् भिषक्॥११॥

चिप्प रोग में गरम पानी से सेक करके शस्त्र से दूषित एवं पके मांस को काटकर वैद्य रक्त को बहाये। फिर कोल्हू के निकले ताजे तैल से सेचन करके राल का चूर्ण इस पर बुरक देवे। ऊपर से पट्टी बाँध देवे। यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो, अग्नि से जलाये। फिर काकोल्यादिगण से सिद्ध किये तैल से रोपण करे। कुनख में भी वैद्य यही विधि बरते। कफजन्य विद्रधि की भाँति वैद्य अनुशयी रोग की चिकित्सा करे॥९-११॥

विदारिकां समभ्यज्य स्विन्नां विम्लाप्य लेपयेत्।
नगवृत्तिकवर्षाभूबिल्वमूलैः सुपेषितैः॥१२॥
व्रणभावगतायां वा कृत्वा संशोधनक्रियाम्।
रोपणार्थं हितं तैलं कषायमधुरैः शृतम्॥१३॥
प्रच्छानैर्वा जलौकोभिः स्राव्याऽपक्वा विदारिका।
अजकर्णैः सपालाशमूलकल्कैः प्रलेपयेत्॥१४॥
पक्कां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयोः।
कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत्॥१५॥
बद्ध्वा च क्षारवृक्षस्य कषायैः खदिरस्य च।
व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धां ततस्तां रोपयेत् पुनः॥१६॥

विदारिका को भली प्रकार अभ्यंग करके स्वेदन देकर अंगूठे आदि से मले। फिर नगवृत्तिक (जिगण), पुनर्नवा, बिल्वमूल इनको पीसकर लेप करे। व्रणरूप में हो जाने पर संशोधन चिकित्सा करके, कषाय एवं काकोल्यादि मधुर गणों से सिद्ध किया तैल रोपण के लिये बरते। अपक्व बिदारिका में पाछने से या जलौका से रक्त निकालना चाहिये। अजकर्ण, ढाक की मूल इनके कल्कों से लेप करे। पकी हुई विदारिका को शस्त्र से चीरकर, पटोल, नीम, तिल इनके कल्क को घी और मधु में मिलाकर लेप करे। बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के तथा खैर के कषाय से व्रण को धोये। शोधन हो जाने पर पुनः रोपण करे॥

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्करार्बुदम्।
कच्छं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत् समुपाचरेत्॥१७॥
लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपैः।
वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम्॥१८॥
सारतैलमथाभ्यङ्गे कुर्वीत कटुकैः शृतम्।

शर्करार्बुद की चिकित्सा मेदोऽर्बुद की भाँति करे। कच्छू, विचर्चिका, पामा की चिकित्सा कुष्ठ की भाँति करे। मोम, सौंफ और सरसों से लेप उत्तम है। बच, दारुहल्दी, पीली सरसों इनका तैल अथवा करंज का तैल, अथवा सार तैल Tar-Oil—शीशम, अगरु, सरल, देवदार-कैल आदि का पाताल से निकाला तैल), एवं पिप्पल्यादि कटुक औषधियों से सिद्ध किया तैल उत्तम है॥१७-१८॥

पाददार्यां सिरां विद्ध्वा स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत् ।१६।
मधूच्छिष्टवसामज्जसर्जचूर्णघृतैः कृतः ।
यवाह्वगैरिकोन्मिश्रः पादलेपः प्रशस्यते ॥२०॥

पाददारी में स्नेहन और स्वेदन करके सिरा का वेधन करे। मोम, वसा, मज्जा, राल, जौखार और गेरू इनके चूर्ण को घी में मिलाकर बनाये लेप पैर पर लगाये ॥१६,२०॥

पदौ सिक्त्वाऽऽरनालेन लेपनं ह्यलसे हितम् ।
कल्कीकृतैर्निम्बतिलकाशीसालैः ससैन्धवैः ॥२१॥
लाक्षारसोऽभया वाऽपि कार्यं स्याद्रक्तमोक्षणम् ।
सिद्धं रसे कण्टकार्यास्तैलं वा सार्षपं हितम् ॥२२॥
कासीसरोचनशिलाचूर्णैर्वा प्रतिसारणम् ।

अलस रोग में पैरों पर कांजी से परिषेक करके नीम, तिल, कासीस, हड़ताल, सैन्धव इनको पीसकर लेप करना उत्तम है। अथवा लाक्षारस (महावर) और हरड़ का लेप करे। रक्त मोक्षण करे। कण्टकारी के स्वरस में सिद्ध किया-सरसों का तेल उत्तम है। कासीस, हल्दी, मैनसिल इनके चूर्ण से मलना श्रेष्ठ है ॥

उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत् कदरसंज्ञकम् ॥२३॥

कदर (आटन) को शस्त्र से काटकर अग्नि से गरम किये तैल से जलाना चाहिये। (तैल सूक्ष्म मार्गानुसारि है। यथा—"अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वाद् त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति" सुश्रुत सूत्र अ० ११।१५) ॥२३॥

इन्द्रलुप्ते सिरां मूर्ध्नि स्निग्धविन्नस्य मोक्षयेत् ।
कल्कैः समरिचैर्दिह्याच्छिलाकासीसतुत्थकैः ॥२४॥
कुटन्नटादारुकल्कैर्लेपनं वा प्रशस्यते ।
प्रच्छयित्वाऽवगाढं वा गुञ्जाकल्कैर्मुहुर्मुहुः ॥२५॥
लेपयेदुपशान्त्यर्थं कुर्याद्वाऽपि रसायनम् ।
मालतीकरवीराग्निनक्तमालविपाचितम् ॥२६॥
तैलमभ्यञ्जने शस्तमिन्द्रलुप्तापहं परम् ।

इन्द्रलुप्त में रोगी का स्नेह और स्वेदन करके शिर में शिरा का मोक्षण करे। मरिच, मैनसिल, कासीस और तुत्थ का लेप करे। कुटन्नट (तगर), देवदारु इनके कल्क से लेप करना उत्तम है। अथवा गहरे रूप में पाछने लगाकर रत्ती के कल्कों से बार-बार लेप करे। अथवा रोग की शान्ति के लिये रसायन विधि का पालन करे। चमेली, कनेर, चित्रक, करंज से सिद्ध किया तैल अभ्यंग में उत्तम है, सर्वथा इन्द्रलुप्त नाशक है ॥२४-२६॥

अरूंषिकां हृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा ॥२७॥
दिह्यात् सैन्धवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु ।
हरितालनिशानिम्बकल्कैर्वा सपटोलजैः ॥२८॥
यष्टीनीलोत्पलैरण्डमार्कवैर्वा प्रलेपयेत् ।
इन्द्रलुप्तापहं तैलमभ्यङ्गे च प्रशस्यते ।

अरुंषिका में रक्त निकालकर नीम के पानी से परिषेक करे। घोड़े की लीद के रस में सैन्धव मिलाकर उससे लेप करे। हरिताल, हल्दी, नीम और पटोल इनके कल्क से लेप करे। अथवा मुलैहठी, नीला कमल, एरण्ड और भांगरे से लेप करे। इन्द्रलुप्त नाशक तैल का अभ्यंग उत्तम है ॥२७,२८॥

सिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धस्विन्नस्य मूर्धनि ॥२६॥
अवपीडं शिरोबस्तिमभ्यङ्गं च प्रयोजयेत् ।
क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोयं प्रशस्यते ॥३०॥

दारुण रोग में रोगी को स्नेहन स्वेदन देकर शिर पर सिरा का वेधन करे। अवपीड, नस्य, शिरोबस्ति और अभ्यंग करे। धोने के लिये कोदा के तिनकों का क्षार जल उत्तम है ।२६,३०।

उपरिष्टात् प्रवक्ष्यामि विधिं पलितनाशनम् ।

पलित रोग की चिकित्सा आगे मिश्रकोक्त चिकित्सा (२५ वें अध्याय) में कहूँगा।

मसूरिकायां कुष्ठघ्नलेपनादिक्रिया हिता ॥३१॥
पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया वा संप्रशस्यते ।

मसूरिका में कुष्ठ नाशक लेपन आदि क्रिया हितकारी है। अथवा विसर्प में कही पित्त, कफ नाशक चिकित्सा उत्तम है ॥

जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम् ॥३२॥
क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः ।

जतुमणि, तिककालक और मषक को भली प्रकार काटकर युक्तिपूर्वक क्षार से या अग्नि से धीरे धीरे जलाये ॥३२॥

न्यच्छे व्यङ्गे सिरामोक्षो नीलिकायां च शस्यते ॥३३॥
यथान्यायं यथाभ्यासं ललाट्यादिसिराव्यधः ।
घृष्ट्वा दिह्यात्त्वचं पिष्ट्वा क्षीरिणां क्षीरसंयुताम् ॥३४॥
बलातिबलयष्ट्याह्वरजनीर्वा प्रलेपनम् ।
पयस्यागुरुकालीयलेपनं वा सगैरिकम् ॥३५॥
क्षौद्राज्ययुक्तया लिम्पेद्दंष्ट्रया शूकरस्य च ।
कपित्थराजादनयोः कल्कं वा हितमुच्यते ॥३६॥

न्यच्छ, व्यंग और नीलिका में सिरा मोक्षण उत्तम है। यह सिरा वेध, जैसा योग्य हो, एवं जैसा अभ्यास में आया हो, उस प्रकार से ललाट आदि की सिरा का वेध करे। फिर समुद्र फेन आदि से घिसकर, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की छाल को दूध के साथ पीसकर लेप करे। अथवा बला अतिबला, मुलैहठी, हल्दी इनका लेप करे। या विदारी, अगरु, कालीयक और गेरू इनका लेप करे। शूकर की दंष्ट्रा को घिसकर मधु और घी में मिलाकर लेप करे। अथवा कैथ और खिरनी का कल्क उत्तम कहा जाता है ॥३३-३६॥

यौवने पिडकास्वेष विशेषाच्छर्दनं हितम् ।
लेपनं च वचारोध्रसैन्धवैः सर्षपान्वितैः ॥३७॥
कुस्तुम्बुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम् ।

युवावस्था में पिड़काओं में विशेषकर वमन करना उत्तम है। वच, लोध, सैन्धव और सरसों से लेप करना उत्तम है। अथवा धनियाँ, वच, लोध, और कुष्ठ का लेप उत्तम है ॥३७॥

पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा ॥३८॥
तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिःपानं प्रदापयेत्।
निम्बारग्वधयोः कल्को हितमुत्सादने भवेत् ॥३९॥

पद्मिनी कण्टक रोग में रोगी को नीम के पानी से वमन कराये। नीम के क्वाथ से सिद्ध किये घी को मधु के साथ पिलाना उत्तम है। उबटन में नीम और अमलतास के पत्तों का कल्क उत्तम है ॥३८,३९॥

परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत्।
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत् पीडयेन्मणिम् ॥४०॥
प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा वातघ्नैः साल्वणादिभिः ॥४१॥
दद्याद्वातहरान् बस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत्।
वपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सकः ॥४२॥

परिवर्त्तिका में स्वेदन भली प्रकार करके घी से स्निग्ध करके बाँध देवे। तब घी से अभ्यङ्ग करके मणि को दबाते हुये चर्म को आगे लाये। मणि के अन्दर घुस जाने पर चर्म पर उपनाहनों से (अलसी आदि से) मृदु स्वेद करे। यह स्वेद वातनाशक साल्वण आदि द्रव्यों से तीन या पाँच दिन दोष की विकल्पना से करना चाहिए। वातनाशक वस्तियाँ देवे। स्निग्ध अन्नों को खिलाये। चिकित्सक दोषानुसार इसी विधि से अवपाटिका की चिकित्सा करे ॥४०-४२॥

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥४३॥
परिषेके वसामज्जाशिशुमारवराहयोः।
चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम् ॥४४॥
त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाडीं प्रवेशयेत्।
स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत् ॥४५॥
भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत्।
सन्निरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम् ॥४६॥
प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत्।
विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम् ॥४७॥
सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया।

निरुद्ध प्रकश रोग में—दोनों ओर मुखवाली लोहे की नाड़ी को या लकड़ी अथवा लाख से बनाई नाड़ी को घी से स्निग्ध करके अन्दर प्रविष्ट करे। परिषेक में शिशुमार या सुअर की वसा और मज्जा बरते। अथवा वातनाशक द्रव्यों से मिला कोल्हू का ताजा तेल बरते। तीन तीन दिन के उपरान्त मोटी मोटी नाडी प्रविष्ट करता जाये। इस प्रकार से स्रोत को चौड़ा करे, और रोगी को स्निग्ध अन्न दे। अथवा सेवनी को बचाकर शस्त्र से चीरकर सद्यः क्षत विधि से चिकित्सा करे।

सन्निरुद्ध गुद, वल्मीक और अग्नि रोहिणी को असाध्य कहकर यथायोग्य चिकित्सा करे। अग्नि रोहिणी की चिकित्सा विसर्पोक्त विधि से करे। सन्निरुद्ध गुद रोग में निरुद्ध प्रकश की चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत्। अर्थात्—मणि पर आनेवाली रहनेवाली त्वचा को काट देवे जैसे मुसलमान 'सुन्नत' करते हैं। सुन्नत भी सेवनी को बचाकर ही की जाती है ॥४३-४७॥

शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत् ॥४८॥
विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत्।
वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम् ॥४९॥
तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद् भिषक्।
कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च ॥५०॥
आरेवतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैस्तथैव च।
श्यामामूलैः सपललैः शक्तुमिश्रैः प्रलेपयेत् ॥५१॥
सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक् तमुपनाहयेत्।
पक्वं वा तद्विजानीयाद् गतीः सर्वा यथाक्रमम् ॥५२॥
अभिज्ञाय ततश्छित्त्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक्।
संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥५३॥
व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान् भिषक्।
सुमना ग्रन्थयश्चैव भल्लातकमनःशिले ॥५४॥
कालानुसारी सूक्ष्मैला चन्दनागुरुणी तथा।
एतैः सिद्धं निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम् ॥५५॥
पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम्।
वल्मीकं यत् सशोफं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता ॥५६॥

वल्मीक को शस्त्र से काटकर क्षार और अग्नि से जलाये। अर्बुदोक्त विधि से शोधन करके रोपण करे। जिस रोगी में वल्मीक बहुत बड़ा न हो तथा मर्म स्थान पर न उत्पन्न हो, उसमें संशोधन करके वैद्य रक्त मोक्षण करे। फिर कुलत्थी की जड़, गिलोय, नमक, आरेवत का मूल, जमाल गोटे की जड़, निशोथ का मूल, तिल कल्क इनको सत्तू में मिलाकर लेप करे। वल्मीक पर अतिशय स्निग्ध एवं सुहाते हुये गरम द्रव्यों से वैद्य उपनाह करे। वल्मीक को पका हुआ जानकर वैद्य नाड़ी व्रण की सम्पूर्ण विधि बरते। इसमें इसको काटकर बुद्धिमान् वैद्य जला देवे। दूषित मांसों का शोधन करके क्षार से रगड़े, व्रण को शुद्ध हुआ जानकर वैद्य रोपण करे। रोपण के लिये-चमेली के डोडे, भिलावा, मैनसिल, कालानुसारी, छोटी इलायची, चन्दन, अगरु, इनसे सिद्ध किया नीम का तैल वल्मीक में उत्तम रोपण है। हाथ-पैरों पर बहुत छिद्रोंवाला वल्मीक हो, तथा जिसमें सूजन भी हो, उसे जाननेवाला वैद्य छोड़ दे उसकी चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—ये रोग असाध्य हैं, फिर भी—यावद् उच्छ्व-

सिति प्राणो तावत् कार्या प्रतिक्रिया। कदाऽपि दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति ॥ इस न्याय से चिकित्सा कही है ॥४८-५६॥

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना।
पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम् ॥५७॥
पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम्।
त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम् ॥५८॥
कासीसरोचनातुत्थहरितालरसाञ्जनैः।
लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैन्धवसंयुता ॥५९॥
कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत्।
चिकित्सेन्मुष्ककच्छूं चाप्यहिपूतनपामवत् ॥६०॥

बालक के अहिपूतना रोग में धात्री के दूध का शोधन करके चिकित्सा करे। परवल के पत्ते, त्रिफला, रसौंत (धात्रीके) दुःसाध्य अहि पूतना को भी अच्छा कर देता है। त्रिफला बेर, खैर इनका कषाय व्रण का रोपण करता है। कासीस, हल्दी, तुत्थ, हरताल, रसौंत इनको कांजी में पीसकर अथवा बेर की छाल सैंधवनमक इनको कांजी में पीसकर लेप करे। रोपण काल में मिट्टी के ठीकरे का चूर्ण और तुत्थ का चूर्ण छिड़के। मुष्क कच्छु की चिकित्सा अहि पूतना और पामा की भांति करे ॥६०॥

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥६१॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः।
क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जिताम् ॥६२॥
पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम्।
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥६३॥

गुदभ्रंश में गुदा पर स्वेदन करके स्नेह से गुदा को स्निग्ध करके अन्दर प्रविष्ट करे। फिर बीच में छेद रखकर चमड़े की पट्टी बाँध दे। वायु निकलती है, इसलिये उदर पर बार-बार स्वेद देवे। अन्त्र रहित चुहिया को, महत्पञ्चमूल को दूध में पकाये। इस दूध में वातनाशक औषधियों के साथ तैल सिद्ध करे। इस तैल के पीने और अभ्यङ्ग से कष्ट साध्य गुदभ्रंश भी अच्छा होता है ॥६१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षुद्ररोगचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शूकदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शूकदोष चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—शूक दोषों का वर्णन नि० स्था० अ० १४ में देखिये ॥१,२॥

संलिख्य सर्षपीं सम्यक् कषायैरवचूर्णयेत्।
कषायेष्वेव तैलं च कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥३॥

सर्षपी में भली प्रकार लेखन करके कषाय वृक्षों के चूर्ण से अवचूर्णन करे (मिश्रकोक्त शोधन कषाय द्रव्यों के चूर्ण को छिड़के)। रोपणसाध्य कषाय द्रव्यों के कल्क से जल में तैल सिद्ध करे, यह व्रण रोपक है ॥३॥

अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेच्च पुनः पुनः।
तथा चानुपशाम्यन्तीं कफग्रन्थिवदुद्धरेत् ॥४॥

अष्ठीलिका में बार-बार जौंक लगाये। इससे भी रोग शान्त न हो तो कफ ग्रन्थि के समान शस्त्र से इसको काटकर निकाल देवे ॥४॥

स्वेदयेद् ग्रथितं शश्वन्नाडीस्वेदेन बुद्धिमान्।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत् ॥५॥
कुम्भीकां पाकमापन्नां भिन्द्याच्छुद्धां तु रोपयेत्।
तैलेन त्रिफलालोध्रतिन्दुकाम्रातकेन तु ॥६॥

ग्रथित को बुद्धिमान् वैद्य निरन्तर नाड़ी स्वेदसे स्वेद देवे। अतिशय स्निग्ध एवं सुहाते हुए गरम उपनाहों से इसको बाँधे। पकी हुई कुम्भिका को चीरे। शोधन करके इसका रोपण करे। रोपण के लिये त्रिफला, लोध, तिन्दुक और अम्बाड़ा इनसे चौगुने जल में तैल सिद्ध करे ॥५,६॥

ग्राहयित्वा जलौकोभिरलजीं सेचयेत्ततः।
कषायैस्तेषु सिद्धं च तैलं रोपणमिष्यते ॥७॥

अलजी को जौंक लगाकर पिलखन आदि कषाय वृक्षों के कषाय से परिषेक करे। इन कषाय वृक्षों के कषाय में सिद्ध तैल रोपण के लिये उत्तम है ॥७॥

बलातैलेन कोष्णेन मृदितं परिषेचयेत्।
मधुरैः सर्पिषा स्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहयेत् ॥८॥

मृदित को गुनगुने बला तेल से परिषेक करे। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों को घी से स्निग्ध करके सुहाता हुआ गरम उपनाह बांधे ॥८॥

संमूढपिडिकां क्षिप्रं जलौकोभिरुपाचरेत्।
भित्त्वा पर्यागतां चापि लेपयेत् क्षौद्रसर्पिषा ॥९॥

संमूढ पिड़का में तुरन्त जौंक लगाये। पक जाने पर चीरकर, मधु और घी से लेप करे ॥९॥

अवमन्थे गते पाकं भिन्ने तैलं विधीयते।
धवाश्वकर्णपत्तङ्गसल्लकीतिन्दुकीकृतम् ॥१०॥
क्रियां पुष्करिकायां तु शीतां सर्वां प्रयोजयेत्।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् सर्पिषा चावसेचयेत् ॥११॥
स्पर्शहान्यां हरेद्रक्तं प्रदिह्यान्मधुरैरपि।
क्षीरेक्षुरससर्पिर्भिः सेचयेच्च सुशीतलैः ॥१२॥

अवमन्थ के पक जाने पर, फूटने पर, तैल बरता जाता है। यह तैल धव, अश्वकर्ण, लाल चन्दन, सल्लकी और तिन्दुक से बनाना चाहिए। पुष्करिका में सब शीतल क्रियायें करनी चाहिये। जौंक से रक्त को निकाले और घी से परिषेक करे। स्पर्शहानि में रक्तमोक्षण करे और काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से लेप करे। दूध ईख का रस, घी एवं अतिशीतल द्रव्यों से परिषेक करे ॥१०-१२॥

पिडकामुत्तमाख्यां च वडिशेनोद्धरेद्भिषक्।
उद्धृत्य मधुसंयुक्तैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥१३॥

उत्तमा नामक पिडका को वैद्य वडिशसे निकाले। निकालकर मधुमिश्रित कषाय द्रव्यों के चूर्ण से, अवचूर्णन करे ॥१३॥

रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च देयं तैलमनन्तरम् ॥१४॥
क्रियां कुर्याद्भिषक् प्राज्ञस्त्वक्पाकस्य विसर्पवत्।

शतपोनक में लेखन करके शोधन काल में शोधन द्रव्य कषायों से और रोपण काल में रोपण द्रव्य कषायों से रस क्रिया बनाकर बरतनी चाहिये। पीछे से पृथक्पर्ण्यादि से (मिश्रकोक्त रोपण घृत में कहे) सिद्ध किया तैल बरते। त्वक् पाक में वैद्य विसर्प की भाँति चिकित्सा करे ॥१४॥

रक्तविद्रधिवच्चापि क्रियाशोणितजेऽर्बुदे ॥१५॥
कषायकल्कसर्पींषि तैलं चूर्णं रसक्रियाम्।
शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥१६॥
हितं च सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम्।
हितः शोणितमोक्षश्च यच्चापि लघु भोजनम् ॥१७॥
अर्बुदं मांसपाकं च विद्रधिं तिलकालकम्।
प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक् सम्यक् प्रतिक्रियाम् ॥१८॥

रक्तजन्य अर्बुद में रक्त विद्रधि की भाँति उपचार करे। द्विव्रणीय अध्याय में कही हुई अवस्थाओं को समय समय पर देखकर कषाय, कल्क, घी, तैल, चूर्ण, रसक्रिया, शोधन और रोपण बरते। घी का पीना हितकारी है। विरेचन भी पथ्य है। रक्तमोक्षण और लघु भोजन भी हितकारी है। अर्बुद, मांसपाक, विद्रधि तिलकालक, इनको असाध्य कहकर वैद्य योग्य चिकित्सा करे ॥१५-१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शूकरोगचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मुखरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मुखरोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च।
वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान् ॥३॥
विदध्यादोष्ठकोपे तु साल्वणं चोपनाहने।
मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम् ॥४॥
श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु।
यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात् प्रतिसारणम् ॥५॥
पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत्।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः ॥६॥
शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च।
हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके ॥७॥
त्र्यूषणं स्वर्जिकाक्षारो यवक्षारो विडं तथा।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥८॥
मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः।
प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ॥९॥
एतदोष्ठप्रकोपानां साध्यानां कर्म कीर्तितम्।

बुद्धिमान् मनुष्य वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में मोम मिश्रित घी, तैल, वसा और मज्जा इन चार प्रकार के स्नेह से अभ्यंग करे और नाड़ी से स्वेद देवे। (स्नेह को वात हर द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध करके मोम मिलाकर बरतना चाहिये)। उपनाह में साल्वण स्वेद के द्रव्य बरते। शिरोबस्ति में और नस्य में वातहर तैल हितकारी है। राल, श्रीवेष्टक (धूप), देवदारु, गुग्गुल, और मुलैहठी इनका चूर्ण मलना चाहिये। पित्तजन्य, रक्तजन्य और अभिघातजन्य में जौंक लगानी चाहिये। पित्त-विद्रधि की भाँति सम्पूर्ण चिकित्सा करे। कफजन्य ओष्ठ प्रकोप में रक्त को निकालकर शिरोविरेचन धूम, स्वेद और कवल बरतने चाहिये। सोंठ, मरिच, पिप्पल, स्वर्जिक्षार, यवक्षार और विड़नमक इनको मधु में मिला कर प्रतिसारण करना चाहिये। मेदजन्य ओष्ठ प्रकोप में स्वेद देकर फट जानेपर मेद के निकल जाने पर शुद्ध होने पर अग्नि से जलाना पथ्य है। प्रियंगु, त्रिफला, लोध, इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे, साध्य ओष्ठ प्रकोपों की यह चिकित्सा कह दी है।

वि० मन्तव्य—घृत आदि सब अथवा कोई एक स्नेह ८ तो० में १ तोला मोम पिघलाकर रखलो और ओठ पर बार-बार लगाते रहो ॥३-९॥

दन्तमूलगतानां तु रोगाणां कर्म वक्ष्यते ॥१०॥
शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान्।
निष्क्वाथ्य त्रिफलां मुस्तं गण्डूषः सारसाञ्जनः ॥११॥
प्रियङ्गवश्च मुस्तं च त्रिफला च प्रलेपनम्।
नस्यं च त्रिफलासिद्धं मधुकोत्पलपद्मकैः ॥१२॥
दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम्।
सपञ्चलवणः क्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम् ॥१३॥
हितः शिरोविरेकश्च नस्यं स्निग्धं च भोजनम्।

दन्तमूल में होनेवाले रोगों की चिकित्सा कहेंगे। शीतादि रोग में रक्त को निकालकर सोंठ और सरसों को जल में क्वाथ

करके इसमें त्रिफला मुस्ता और रसौत को मिलाकर गण्डूष करे। प्रियंगु, मुस्ता और त्रिफला से प्रलेप करे। मुलैहठी, कमल, पद्माख, त्रिफला से सिद्ध किया तैल नस्य में बरते। नूतन दन्त पुप्पुटक में रक्तमोक्षण करना चाहिये। पाँचों नमक यवक्षार और मधु इनसे प्रतिसारण करे। शिरोविरेचन, नस्य और स्निग्ध भोजन उत्तम है ॥१०-१३॥

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणांस्तु प्रतिसारयेत् ॥१४॥
रोध्रपत्तङ्गयष्ट्याह्वलाक्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः।
गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः ॥१५॥
काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिश्च नस्यतः।
शौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसाञ्जनैः ॥१६॥
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः।
सारिवोत्पलयष्ट्याह्वसावरागुरुचन्दनैः ॥१७॥
क्षीरे दशगुणे सिद्धं सर्पिर्नस्ये च पूजितम्।
क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः ॥१८॥

दन्तवेष्ट में रक्त निकालकर व्रणों पर लोध्र, लालचन्दन, मुलैहठी, लाख, इनके चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। बरगद आदि क्षीरि वृक्षों का कषाय, मधु, घी और शर्करा मिलाकर गण्डूष में बरतना चाहिये। काकोल्यादिगण के कल्क और दसगुने गायके दूध में घी सिद्ध करके नस्य ले। शौषिर में रक्त निकालकर लोध, मुस्ता, रसौत इनको मधु में मिलाकर लेप करे। गण्डूष में बरगद आदि क्षीरि वृक्षों को बरते। सारिवा, उत्पल (कमल), मुलैहठी, सावरलोध, अगरु, चन्दन इनके कल्क से और दसगुने गाय के दूध में सिद्ध किया घृत नस्य में प्रशस्त है। परिदर रोग में बुद्धिमान् वैद्य शीताद में कही चिकित्सा को कर ॥१४-१८॥

संशोध्योभयतः काये शिरश्चोपकुशे तथा।
काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥१९॥
क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत्।
पिप्पलीः सर्षपाञ् श्वेतान्नागरं नैकुलं फलम् ॥२०॥
सुखोदकेन संसृज्य कवलं चापि धारयेत्।
घृतं मधुरकैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥२१॥
शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्।
ततः क्षारं प्रयुञ्जीत क्रिया सर्वाश्चशीतलाः ॥२२॥
उद्धृत्यादिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्।
कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता ॥२३॥

उपकुश रोग में वमन, विरेचन से काय संशोधन करके पीछे से शिरोविरेचन से शिर का शोधन करना चाहिये। कठगूलर, गोजी (गाजवाँ) इनके पत्तों से रगड़कर रक्त को निकाले। पाँचों नमक, सोंठ, मरिच, पीपल मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। पिप्पली, पीली सरसों, सोंठ, वेतस फल इनको गरम पानी में मिलाकर मुख में कवल धारण करे। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत कवल और नस्य में उत्तम है। दन्तवैदर्भ में शस्त्र से दन्त मूलों का शोधन करे। अधिक दन्त को जड़ से निकालकर अग्नि से जला देवे। जाननेवाला वैद्य कृमिदन्त का भी उपचार इसमें करे ॥२३॥

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत्।
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायावशूकजैः ॥२४॥
क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः।
पटोलत्रिफलानिम्बकषायश्चात्र धावने॥
हितः शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः ॥२५॥

अधिमांस को काटकर वच, तेजबल, पाठा, सर्ज क्षार और यवक्षार उनका चूर्ण मधु में मिलाकर रगड़े। गरम पानी में मधु और पिप्पली मिलाकर कवल करे। धोने के लिये परवल त्रिफला और नीम का कषाय बरते। शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम प्रशस्त है ॥२५॥

सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु।
नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत् ॥२६॥
यं दन्तमधिजायेत नाडी तं दन्तमुद्धरेत्।
छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नापरिजो भवेत् ॥२७॥
शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा।
भिनत्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थि गतिर्ध्रुवम् ॥२८॥
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्भग्नमस्थिरम्।
उदधृते तूत्तरे दन्ते समूलं स्थिरबन्धने ॥२९॥
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि।
कणः संजायते जन्तूरर्दितं चास्य जायते ॥३०॥
चलमप्युत्तरं दन्तमतो नापहरेद्भिषक्।
धावने जातिमदनस्वादुकण्टकखादिरम् ॥३१॥
कषायं जातिमदनकटुकस्वादुकण्टकैः।
यष्ट्याह्वरोध्रमञ्जिष्ठाखदिरैश्चापि यत् कृतम् ॥३२॥
तैलं संशोधनं तद्धि हन्याद्दन्तगतां गतिम्।
कीर्तिता दन्तमूले तु क्रिया दन्तेषु वक्ष्यते ॥३३॥

नाड़ी-दन्तनाड़ी की सामान्य चिकित्सा नाड़ी व्रण के समान है। इसमें विशेष सुनो। दन्त की नाड़ियों में नाड़ीव्रण के अनुसार चिकित्सा करे। जिस दान्त में नाड़ी उत्पन्न हो जाये, उस दात को उखाड़ दे। इसके लिये मांस को शस्त्र से काटकर दांत को उखाड़े। परन्तु ऊपर के दांत को न उखाड़े। शोधन करके इसको क्षार या अग्नि से जला देवे। दन्त की उपेक्षा करने पर नाड़ी हनुकास्थि को अवश्य नष्ट कर देती है। इसलिये टूटे एवं हिलते हुए दांत को जड़ के साथ ही उखाड़े। स्थिर बन्धन वाले (मजबूत) ऊपर के दांत को जड़ समेत उखाड़ने पर रक्त के अतिस्राव से पूर्वोक्त भयानक रोग होते हैं। इसके सिवाय रोगी काना हो जाता है। इसलिये वैद्य हिलते हुए भी ऊपर के दांत को यथासंभव न उखाड़े। प्रक्षालन में चमेली, मैनफल, कुटकी, गोखरू, इनका कषाय बरते। मुलेहठी, लोध, जमीठ और खैर से सिद्ध किया तैल दन्तगति को संशोधन करके अवश्य

नष्ट करता है। दन्तमूलों के लिये चिकित्सा कह दी गई है वह करे। दन्त रोगों की चिकित्सा कहेंगे ॥

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रैवृतस्य वा ।
निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः ॥३४॥
स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ।
रसो रसयवाग्वश्च क्षीरं सन्तानिका घृतम् ॥३५॥
शिरोबस्तिर्हितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः ।
अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक् ॥३६॥
लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत् ।
दन्तहर्षक्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥३७॥
कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता ।
जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम् ॥३८॥
तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः ।
भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः ॥३९॥
चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेत् सुषिरस्य च ।
ततो विदारीयष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुकैः ॥४०॥
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत् ।

स्नेहों के या घी के अथवा वातव्याधि में कहे त्रैवृत स्नेह के सुहाते हुए गरम कवल, वातघ्न द्रव्यों के कषाय दन्तहर्ष को नष्ट करते हैं। स्नैहिकधूम, नस्य, स्निग्ध भोजन, मांसरस, यूष, यवागू, दूध, मलाई, घृत, शिरोबस्ति, वातनाशक जो चिकित्सा हो वह करे। मसूड़ों को हानि पहुँचाये बिना वैद्य शर्करा को उखाड़े। फिर मधु को लाक्षा चूर्ण में मिलाकर दाँतों पर रगड़े। सम्पूर्णरूप में दन्तहर्ष की चिकित्सा करे। कपालिका रोग कष्टसाध्य है, उसमें भी यही चिकित्सा बरते। न हिलनेवाले कृमिदन्त में स्वेदन करके रक्त निकालकर अथवा लार टपकाकर शान्त करे। वातनाशक, अवपीड नस्य को धारण करे। भद्रदार्वादिगण एवं पुनर्नवा का लेप करे। स्निग्ध भोजन देवे। हिलते हुये दाँत को उखाड़कर खोखले स्थान को जला देवे। विदारी, मुलैहठी, सिंघाड़ा, कसेरु, इनके द्वारा तैल को दस गुने दूध में सिद्ध करके नस्य में बरते।

वि० मन्तव्य—ऊपर के दन्त अथवा जाढ़ को निकालने के विकल्पों पर पाठक भली भाँति ध्यान देवें। दन्तमूल में यदि नाड़ी व्रण हो जाता है तो नाड़ी व्रण के समान ही कष्टसाध्य अवश्य होता है, परन्तु असाध्य नहीं होता, निरन्तर वर्षों तक उक्त अथवा उचित चिकित्सा करके देखना चाहिये। यदि लाभ ही न हो तो दन्त निकालने का उपक्रम करना चाहिये, किसी के कहने से घबराकर दन्त निकलवा देना उचित नहीं है। अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर, यदि कोई अन्य उपाय रह ही न जाय तब निकलवा देने पर कोई हानि भी नहीं है, इस क्रिया में जो काना आदि होने का उल्लेख किया गया है वह भी कादाचित्क ही है, लाख में स्यात् किसीको ऐसा हो। कृमिदन्त रोग जाढ़ में होता है और जाढ़ का मध्य भाग जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फलतः उसमें गड्ढा पड़ जाता है। इस दशा में भी जाढ़ उखाड़ना उचित नहीं है, उक्त विस्रावण आदि उपचार से वेदना शान्त हो जाती है, अथवा जाढ़ के उस खोखले स्थान को तेजाब के फाहा से जलावे, अग्नि से नहीं। इस रोग में जाढ़ का बाह्यभाग ही क्रिमियों द्वारा खादित होता है उसकी जड़ नहीं, अतः बाह्यभाग टूट जाने पर जड़ जीवन भर बनी रहती है, और चर्वण में सहायक भी रहती है॥

हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चार्दितवत् क्रियाम् ॥४१॥
फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम् ।
तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्तरोगी विवर्जयेत्॥४२॥
साध्यानां दन्तरोगाणां चिकित्सितमुदीरितम् ।

हनुमोक्ष में अर्दित के समान चिकित्सा करे। दन्तरोगी, खट्टे फल, शीतल पानी, रूक्ष अन्न, दातुन करना तथा अतिकठिन भक्ष्यों को छोड़ देवे। साध्य दन्त रोगों की चिकित्सा कह दी है।

वि० मन्तव्य—दालन, मञ्जनक तथा श्यावदन्तक नामक दन्तरोग तो असाध्य होते हैं ॥४१-४२॥

जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये ॥४३॥
ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम् ।
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत् कार्यं भिषजा भवेत् ॥४४॥
पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते ।
प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम् ॥४५॥
कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये ।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥४६॥
गृह्णीयात् कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः ।
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत् ॥४७॥
उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत् ।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् ॥४८॥
जिह्वागतानां कर्मोक्तं-

जिह्वा गत साध्य रोगों की चिकित्सा सफलता के लिये कहता हूँ। वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में जो चिकित्सा पहले कही है, वातजन्य जिह्वा कण्टकों में वही कार्य वैद्य करे। पित्तजन्य जिह्वा कण्टकों में गोजी-शेफालिका आदि के पत्तों से घर्षण करके दूषित रक्त को निकालकर मधुर प्रतिसारण और मधुर गण्डूष और मधुर नस्य बरते। कफजन्य कण्टकों में लेखन करके रक्त निकालकर, पिप्पल्यादि गण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। श्वेतसरसों और सैन्धव के कवल मुख में धारण करे। पटोल, नीम, कटेरी बड़ी, यवक्षार, और यूषों से भोजन करे। उपजिह्वा में लेखन कर क्षार से प्रतिसारण करे। शिरोविरेक, गण्डूष, धूम से चिकित्सा करे। जिह्वागत रोगों की चिकित्सा कह दी है ॥४३-४८॥

तालव्यानां प्रवक्ष्यते ।

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम् ॥४९॥
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ।
नोत्कृष्टं चैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद्भिषक् ॥५०॥
अत्यादानात् स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ।
हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः ॥५१॥
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः ।
गलशुण्डीं तु सञ्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम् ॥५२॥
मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः ।
क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत् ॥५३॥
वचामतिविषां पाठां रास्नां कटुकरोहिणीम् ।
निष्क्वाथ्य पिचुमन्दं च कवलं तत्र योजयेत् ॥५४॥
इङ्गुदीकिणिहीदन्तीसरलासुरदारुभिः ।
पञ्चाङ्गीं कारयेत् पिष्टैर्वर्तिं गन्धोत्तरां शुभाम् ॥५५॥
ततो धूमं पिबेज्जन्तुर्द्विरह्नः कफनाशनम् ।
क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः ॥५६॥
तुण्डिकेर्यध्रुषे कूर्मे सङ्घाते तालुपुप्पुटे ।
एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ॥५७॥
तालुपाके तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनम् ।
स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ॥५८॥
कीर्तितं तालुजानां तु-

तालु के रोगों की चिकित्सा कहते हैं। जिह्वा के ऊपर लटकी गलशुण्डिका को अंगूठा और अंगुलि के संदंश से खींचकर मण्डलाग्र से काट देवे। न तो बहुत अधिक काटे और न कम ही काटे, अपितु एक तिहाई भाग को (दो भाग को बचाकर) काटे। अधिक मात्रा में काटने से रक्त के निकलने के कारण रोगी मर जाता है। थोड़ा काटने से शोफ, लालास्राव, निद्रा, भ्रम और अन्धकार होता है। इसलिये चिकित्सा कर्म को देखे हुए, कुशल वैद्य सावधानी से गलशुण्डी को काटकर निम्न चिकित्सा करें। मरिच, अतीस, पाठा, वच, कूठ, श्योनाक, लवण इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। वच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी, नीम इनका क्वाथ करके कवल कराये। इंगुदी (हिंगोट) चिरचिटा, दन्ती, त्रिवृत, देवदारु इन पाँच द्रव्यों को पीसकर प्रचुर गन्ध द्रव्य मिलाकर वर्ति बनाये। इस वर्ति का धूम रोगी दिन में दो बार कफ के नाश के लिये पीये। यवक्षार में सिद्ध किये मूंगों का यूष भोजन में उत्तम है। तुण्डिकेरी, अध्रुष, कूर्म, मांससंघात, तालुपुप्पुट में यही चिकित्सा बरते, विशेष कर शस्त्र चिकित्सा करे। तालुपाक में पित्तनाशक चिकित्सा बरतनी चाहिये। तालु शोष में स्नेह और स्वेद करे। एवं वातनाशक चिकित्सा करे। तालुजन्य रोगों की चिकित्सा कह दी है ॥४९-५८॥

कण्ठ्यानां कर्म वक्ष्यते ।
साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम् ॥५९॥
छर्दनं धूमपानं च गण्डूषो नस्यकर्म च ।
वातिकीं तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ॥६०॥
सुखोष्णान् स्नेहगण्डूषान् धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ।
पतङ्गशर्कराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत् ॥६१॥
द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहे ।
आगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत् ॥६२॥
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम् ।
नस्यकर्मणि योक्तव्यम् तथा कवलधारणे ॥६३॥
पित्तवत् साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम् ।
विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत् ॥६४॥
एककालं यवान्नं च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः ।
उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम् ॥६५॥
एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत् ।
गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत् ॥६६॥
अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद् गलविद्रधिम् ।

कण्ठ के रोगों की चिकित्सा कहते हैं—साध्य रोहिणियों में रक्त मोक्षण उत्तम है। वमन, धूमपान, गण्डूष और नस्य कर्म करे। वातज रोहिणी में रक्त निकालकर नमक से प्रतिसारण करे। सुहाते गरम स्निग्ध गण्डूषों को बार-बार धारण करे। पित्तजन्य रोहिणी में लालचन्दन, शर्करा और मधु से प्रतिसारण करे। द्राक्षा और फालसे का क्वाथ कबल के लिये उत्तम है। कफजन्य रोहिणी में घर का धुवांसा और कटु द्रव्यों (मरिच आदि) से प्रतिसारण करे। कोयल, वायविडंग, दन्ती, सैन्धव इनसे सिद्ध किया तैल नस्य कर्म में और कवल धारण में बरतना चाहिये। रक्तजन्य रोहिणी की चिकित्सा पित्तज रोहिणी की भांति करे। कण्ठशालूक में रक्तमोक्षण करके, तुण्डकेरी के समान चिकित्सा करे। जौ के स्निग्ध भोजन को थोड़ी मात्रा में एक समय खाये। अधिजिह्विका की चिकित्सा उपजिह्विका की भांति करे। एक वृन्द में रक्तमोक्षण करके शोधन विधि बरते। गिलायुरोग में शस्त्र चिकित्सा करे। गलविद्रधि जो मर्म में स्थित न हो, भली पकी हो, उसका भेदन करे ॥५९-६६॥

वातात् सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत् ॥६७॥
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ।
ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ॥६८॥
शालराजादनैरण्डसारैङ्गुदमधूकजाः ।
मज्जानो गुग्गुलुध्याममांसीकालानुसारिवाः ।
श्रीसर्जरसशैलेयमधूच्छिष्टानि चाहरेत् ॥६९॥
तत्सर्वं सुकृतं चूर्णं स्नेहेनालोड्य युक्तितः ।
दुण्ढुकवृन्तं सक्षौद्रं मतिमांस्तेन लेपयेत् ॥७०॥
एष सर्वसरे धूमः प्रशस्तः स्नैहिको मतः ।
कफघ्नो मारुतघ्नश्च मुखरोगविनाशनः ॥७१॥
पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः ।
सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥७२॥
प्रतिसारणगण्डूषौ धूमः संशोधनानि च ।
कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात् कफापहम् ॥७३॥

पिबेदतिविषां पाठां मुस्तं च सुरदारु च।
रोहिणीं कटुकाख्यां च कुटजस्य फलानि च ॥७४॥
गवां मूत्रेण मनुजो भागैर्धरणसंमितैः।
एष सर्वान् कफकृतान् रोगान् योगोऽपकर्षति ॥७५॥

वातजन्य सर्वसर में लवण के चूर्ण से प्रतिसारण करे। वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल कवल और नस्य में बरते। फिर विचक्षण वैद्य इसमें निम्न स्नैहिक धूम को बरते। शाल, खिरनी, एरण्ड, हिंगोट, महुआ, सार (सार वृक्ष, साल) इनकी मज्जा; गुग्गुल, ध्यामक, जटामांसी, कालानुशारी, सर्जरस, शिलापुष्प और मोम, इन सबका चूर्ण भली प्रकार बनाकर स्नेह में मसलकर, इसको मधु लगाई श्योनाक की डंडी पर लेप करे। यह स्नैहिक धूम सर्वसर में उत्तम है। यह धूम कफनाशक, वायुनाशक और मुखरोगनाशक हैं। पित्तजन्य सर्वसर में वमन विरेचन देकर रोगी में पित्तनाशक, मधुर-शीतल सम्पूर्ण चिकित्सा बरते। प्रतिसारण, गण्डूष, धूम, और संशोधन बरते। कफजन्य सर्वसर में कफनाशक विधि करे। अतीस, पाठा, मुस्ता, देवदारु, कटुकी, इन्द्रजौ इनको एक धरण (छै माशा) मात्रा में गोमूत्र के साथ पीये। यह योग कफजन्य सब रोगों को नष्ट करता है ॥७४,७५॥

क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः।
विदध्यात् कवलान् वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥७६॥

दोष को देखकर दूध, गन्ने का रस, गोमूत्र, दधि, मस्तु, अम्लकांजी, (धान्याम्ल और कांजी) तैल और घृत इनसे कवल करे ॥७६॥

रोगाणां मुखजातानां साध्यानां कर्म कीर्तितम्।
असाध्या अपि वक्ष्यन्ते रोगा ये तत्र कीर्तिताः ॥७७॥
ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगतिसौषिरौ ॥७८॥
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वागतेष्वलासस्तु ताल्व्येष्वर्बुदं तथा ॥७९॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो विदार्यलस एव च।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी च या ॥८०॥
असाध्या कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव च।
तेषां चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥८१॥

साध्य मुख रोगों की चिकित्सा कह दी है। असाध्य रोगों को यहाँ कहते हैं, जो पहले कहे हैं। ओष्ठ प्रकोप में मांसजन्य, रक्तजन्य और सन्निपातजन्य ओष्ठ प्रकोप असाध्य हैं। दन्त मूलों में सन्निपातजन्य गति और सुषिर, दन्त रोग में श्याव, दालन, और भञ्जन, जिह्वागत रोगों में अलास, ताल्व्य रोग में अर्बुद, तथा स्वरघ्न, वलय, वृन्द, विदारी, अलस, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी, रोहिणी, ये उन्नीस रोग असाध्य कहकर चिकित्सा करे॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मुखरोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शोफानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शोफों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे--जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहितो लक्षणतः प्रतिकारतश्च, सर्वसरस्तु पञ्चविधः, तद्यथा—वातपित्तश्लेष्मसन्निपातविषनिमित्तः ॥३॥

अवयव में उत्पन्न शोफ लक्षण और चिकित्सा की दृष्टि से छैः प्रकार का है। और सर्वसर शोथ पाँच प्रकार का है, यथा-वात, पित्त, कफ, सन्निपात और विषजन्य है।

"त्रयः शोथा भवन्ति, वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। ते पुनर्द्विविधा निजागन्तुभेदेन ॥ प्रकृतिभिस्ताभिः भिद्यमानो द्विविधः त्रिविधः चतुर्विधः सप्तविधोऽष्टविधश्चशोथउपलभ्यते। पुनश्चैक एवोत्सेधसामान्यात् ॥" च०सू०अ० १८।

वि० मन्तव्य—स्थान के आमपक्वैषणीय १७ में कहा गया है कि "शोफसमुत्थाना ग्रन्थि-विद्रधि-अलजी-प्रभृतयः प्रायेण व्याधयः अभिहिता अनेकाकृतयः, तैः विलक्षणः पृथुः ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते, स षड्विधः वातपित्तकफशोणितसन्निपाताऽऽगन्तुनिमित्तः" व्याख्या वहीं देखिये। इस शोफ से भी विलक्षण (पृथक्-विशिष्ट लक्षणवाला) जो सर्वसर अर्थात् समग्र शरीर में (बाहर एवं भीतर) फैलनेवाला शोथ या श्वयथु नामक रोग होता है, जिसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शास्त्र समयानुसार यह ५ प्रकार का माना गया है। यह लोक भाषा में "सूजन" या "सोजा" कहा जाता है ॥३॥

तत्रापतर्पितस्याध्वगमनादतिमात्रमभ्यवहरतो वा पिष्टान्नहरितकशाकलवणानि क्षीणस्य वाऽतिमात्रमम्लमुपसेवमानस्य मृत्पक्वलोष्टकटशर्करानूपौदकमांससेवनाद-जीर्णिनो वा ग्राम्यधर्मसेवनाद्विरुद्धाहारसेवनात् वा हस्त्यश्वोष्ट्ररथपदातिसङ्क्षोभणाद् दोषा धातून् प्रदूष्य श्वयथुमापादयन्त्यखिले शरीरे ॥४॥

इनमें लंघन, व्यायाम, वमन, रूक्षादि आहार विहार के कारण कृश हुए व्यक्ति के मुसाफरी करने से, अथवा बहुत अधिक मात्रा में भोजन करने से, पिट्ठी के बने भक्ष्य, हरितवर्ग के शाक, लवण आदि के अधिक सेवन करने से क्षीण व्यक्ति के बहुत अधिक मात्रा में अम्ल रस के सेवन करने से

मिट्टी, पक्व लोष्ट (घड़े का ठीकरा आदि), कटशर्करा (अग्निदग्ध शर्करा-चूना), आनूप या औदक (मछली आदि) मांस के सेवन करने से, अजीर्ण रोग में मैथुन करने से, विरोधि आहार के सेवन करने से अथवा हाथी, ऊँट, घोड़ा, रथ, मुसाफरी के संक्षोभ से, एकत्रित हुए दोष धातुओं को दूषित करके सम्पूर्ण शरीर में श्वयथु-शोथ उत्पन्न करते हैं ॥४॥

तत्र वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषाः, पित्तश्वयथुः पीतः सरक्तो वा मृदुः शीघ्रानुसार्यूषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः; श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः शुक्लो वा स्निग्धः कठिनः शीतो मन्दानुसारी, कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषाः, सन्निपातश्वयथुः सर्ववर्णवेदनः, विषनिमित्तस्तु गरोपयोगाद् दुष्टतोयसेवनात् प्रकुथितोदकावगाहनात् सविषसत्त्वदिग्धचूर्णेनावचूर्णनाद्वा सविषमूत्रपुरीषः शुक्रस्पृष्टानां वा तृणकाष्ठादीनां संस्पर्शनात्, स तु मृदु क्षिप्रोत्थानोऽवलम्बो चलोऽचलो वा दाहपाकरागप्रायश्च भवति ॥५॥

इनमें वातजन्य शोथ अरुण या कृष्णवर्ण, मृदु अस्थिर (एक स्थान पर न रहनेवाला) तथा इसमें तोद, भेद, स्फुरण आदि विशेष वेदनायें होती हैं। पित्तश्वयथु पीला, ईषत्‌रक्त, मृदु, शीघ्र फैलनेवाला तथा इसमें ऊष, चोष आदि विशेष वेदनायें होती हैं। कफश्वयथु-पाण्डुवर्ण या शुक्ल, स्निग्ध, कठिन, शीत, धीरे फैलनेवाला और इसमें कण्डु आदि विशेष-वेदनायें होती हैं। सन्निपातजन्य श्वयथु-सब प्रकार के वर्ण एवं सब प्रकार की वेदनावाला होता है। विषजन्य शोथ, गरविष के सेवन से, दूषित पानी के सेवन से, सड़े हुए गदले पानी में स्नान करने से, विषैले प्राणी के विष से लिप्त चूर्ण के छिड़कने से, विषयुक्त मूत्र-मल शुक्र से स्पर्श हुए तिनके या लकड़ियों के छूने से होता है। यह विषजन्य शोथ मृदु, जल्दी ही उत्पन्न होनेवाला, देर तक रहनेवाला, स्थिर या फैलनेवाला, प्रायः करके जलन, सुर्खी एवं पकनेवाला होता है, (यथा मकड़ी का फिर जाना, या शहद की बड़ी मक्खी का काटना) "यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति । स्नेहोष्णमर्दनाभ्यां च प्रणश्येत् स च वातिकः ॥" विस्तार के लिये देखिये च० सु० अ० १८॥५॥

भवन्ति चात्र—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ।
पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः ॥६॥
कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ।

कहा भी है—आमाशय स्थित दोष ऊपर के भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। पक्वाशय में स्थित दोष मध्यभाग में मलाशय में स्थित दोष अधोभाग में सम्पूर्ण शरीर में फैले दोष सारे शरीर में फैले शोथ को उत्पन्न करते हैं ॥६॥

श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः ॥७॥
अर्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ।
श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः ॥८॥
हिक्कातीसारकासाश्च शूनं सङ्क्षपयन्ति हि ।
सामान्यतो विशेषाच्च तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥९॥

जो शोथ शरीर के मध्य भाग में होता है, वह सन्निपात ज्वर की भाँति विरुद्धचिकित्सा होने से कष्ट साध्य है। और जो शोथ सारे शरीर में फैला होता है, वह भी कष्टसाध्य है। शरीर के आधे अङ्ग में जो शोथ होता है, वह भी अरिष्ट के समान है। और जो शोथ नीचे से ऊपर को जाता है, या ऊपर से नीचे को फैलता है, वह भी असाध्य है। शोथ युक्त व्यक्ति को श्वास, प्यास, दुर्बलता, ज्वर, वमन, अरोचक, हिक्का, अतिसार, कास ये रोग नष्ट कर देते हैं। इन शोथों की सामान्य और विशेष रूप में चिकित्सा कहूँगा।

वक्तव्य—अर्धांग—नासा से आधे भाग में एक पक्ष में, अथवा, नाभि से आधे भाग में—ऊपर नीचे के भेद से। "यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वांगगो भवेत्। जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः॥ यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा। सच कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः॥" चरकः "ऊर्ध्वगामिनरं पद्भ्यामधोगामिमुखात् स्त्रियाम्"॥७-६॥

शोफिनः सर्व एव परिहरेयुरम्ललवणदधिगुडवसापयस्तैलघृतपिष्टमयगुरूणि ॥१०॥

सब शोफ रोगी अम्ल, लवण, दही, गुड़, वसा, जल, तैल, घृत, पिट्ठी की बनी और गुरु वस्तुओं का त्याग कर देवें।

वि० मन्तव्य—इन सबका त्याग करके—केवल दूध पर ही निर्वाह करे। निम्नलिखित ११ वें सूत्र के अनुसार अथवा अन्य प्रकार से—विरेचन अवश्य करे। यदि दूध पीने पर भी रोगी जल पीने का हठ करे तो अत्यन्त अल्प मात्रा में उष्ण जल दिया जा सकता है। मुखगत शोथ में तीक्ष्ण नस्य देना चाहिये ॥१०॥

तत्र वातश्वयथौ त्रैवृतमेरण्डतैलं वा मासमर्धमासं वा पाययेत्, न्यग्रोधादिककषायसिद्धं सर्पिः पित्तश्वयथौ, आरग्वधादिसिद्धं सर्पिः श्लेष्मश्वयथौ, सन्निपातश्वयथौ स्नुहीक्षीरपात्रं द्वादशभिरम्लपात्रैः प्रतिसंसृज्य दन्तीद्रवन्तीप्रतीवापं सर्पिः पाचयित्वा पाययेत्, विषनिमित्तेषु कल्पेषु प्रतीकारः ॥११॥

इनमें वातजन्य शोथ में—घी, तैल और वसा इस त्रैवृत स्नेह को या एरण्ड तैल को एक मास या पन्द्रह दिन पिलाये। पित्तज शोफ में न्यग्रोधादिगण के कषाय में सिद्ध घृत को पिलाये। कफजन्य श्वयथु में आरग्व-

धादिगण के क्वाथ में सिद्धघृत को पिलाये। सन्निपातज शोथ में—स्नुहीक्षीर एक आढ़क को बारह आढ़क कांजी में मिलाकर इसमें तन्दी और द्रवन्ती (मोंगलई एरण्ड) का कल्क मिलाकर इसमें घी सिद्ध करे और विरेचनार्थ पिलाये। विषजन्य शोथ की चिकित्सा कल्पस्थान में कहेंगे ॥११॥

अत ऊर्ध्वं सामान्यचिकित्सितमुपदेक्ष्यामः—तिल्वकघृतचतुर्थानि यान्युक्तान्युदरेषु ततोऽन्यतममुपयुज्यमानं श्वयथुमपहन्ति, मूत्रवर्तिक्रियां वा सेवेत, नवायसं वाऽहरहर्मधुना, विडङ्गातिविषाकुटजफलभद्रदारुनागरमरिचचूर्णं वा धरणमुष्णाम्बुना, त्रिकटुक्षारायश्चूर्णानि वा त्रिफलाकषायेण, मूत्रं वा तुल्यक्षीरं, हरीतकीं वा तुल्यगुडामुपयुञ्जीत, देवदारुशुण्ठीं वा गुग्गुलुं वा मूत्रेण वर्षाभूकषायानुपानं वा, तुल्यगुडं शृङ्गवेरं वा, वर्षाभूकषायं मूलकल्कं वा सशृङ्गवेरं पयोऽनुपानमहरहर्मासं, व्योषवर्षाभूकषायसिद्धेन वा, सर्पिषा मुद्गोलुम्बान् भक्षयेत्, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकमयूरकवर्षाभूसिद्धं वा क्षीरं पिबेत्, सहौषधमुरङ्गीमूलसिद्धं वा, त्रिकटुकैरण्डश्यामामूलसिद्धं वा, वर्षाभूशृङ्गवेरसहदेवदारुसिद्धं वा, तथाऽलाबूबिभीतकफलकल्कं वा तण्डुलाम्बुना, क्षारपिप्पलीमरिचशृङ्गवेरानुसिद्धेन च मुद्गयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन भोजयेद्यवान्नं गोधूमान्नं वा, वृक्षकार्कनक्तमालनिम्बवर्षाभूक्वाथैश्च परिषेकः, सर्षपसुवर्चलासैन्धवशार्ङ्गेष्टाभिश्च प्रदेहः कार्यः यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानि तीक्ष्णान्यजस्रमुपसेवेत, स्नेहस्वेदोपनाहांश्च, सिराभिश्चाभीक्ष्णं शोणितमवसेचयेदन्यत्रोपद्रवशोफादिति ॥१२॥

इसके आगे सामान्य चिकित्सा का उपदेश करेंगे–उदरों में "हरीतकीचूर्ण प्रस्थ" एक, 'गव्ये पयसि महावृक्ष,' दूसरा, 'चव्यचित्रकेत्यादि'—तीसरा, 'तिल्वकं,' चौथा (वातव्याधि में कहा) ये जो चार घृत कहे हैं, इनका सेवन करने से शोथ नष्ट होता है। अथवा मूत्रवर्त्ति क्रिया (उदरोक्त-वमन विरेचन शिरोविरेचन द्रव्याणां आदि में कही) का सेवन करे। अथवा प्रतिदिन नवायस (प्रमेह पिड़का में कहे) को मधु से चाटे। अथवा वायविडंग, अतीस, इन्द्रजौ, देवदारु, सोंठ, मरिच के चूर्ण को गरम पानी से पीये। या त्रिकटु, यवक्षार, लोहभस्म को त्रिफला कषाय के साथ पीये। मूत्र (गोमूत्र) में समान मात्रा में दूध मिलाकर पीये। हरड़ को समान गुड़ के साथ खाये। देवदारु, सोंठ, को पीये। गुग्गुल को गोमूत्र से या पुनर्नवा के कषाय के अनुपान से पीये। समान गुड़ के साथ सोंठ को खाये। पुनर्नवा के कषाय को या पुनर्नवा के मूल के कल्क को सोंठ के साथ दूध के अनुपान से प्रतिदिन एक मास तक खाये। त्रिकटु और पुनर्नवा के कषाय से सिद्ध किये घी के साथ उबालकर कुछ भूने हुए मूंग को खाये। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक अपामार्ग, पुनर्नवा, से सिद्ध दूध पीये। सोंठ, सहा (माषपर्णी), शोभांजन की मूल से सिद्ध दूध पीये। त्रिकटु, एरण्ड, निशोथ मूल से सिद्ध दूध पीये। अथवा पुनर्नवा, सोंठ, माषपर्णी और देवदारु से सिद्ध दूध पीये। कड़ुई तुम्बी, बहेड़ा का फल इनका कल्क चावल के पानी के साथ पीये। यवक्षार, पिप्पली, मरिच, सोंठ इनसे सिद्ध किये मूंग के यूष में थोड़ा सा नाम मात्र को ही सैन्धव मिलाकर तथा थोड़ा सा घी डालकर इसके साथ जौ से बना या गेहूँ से बना भोजन करे। कुटज, आक, करंज, नीम और पुनर्नवा इनके क्वाथ से परिषेक करे। सरसों, हुलहुल, सैन्धव, शार्ङ्गेष्टी (काकजंघा) इनसे शोफ पर प्रदेह करना चाहिये। दोष के अनुसार निरन्तर तीक्ष्ण वमन, विरेचन, आस्थापनों को बरते। स्नेह, स्वेद और उपनाह भी करे। उपद्रवजन्य शोथ को छोड़कर शिराओं से बार-बार रक्त को निकाले।

वक्तव्य—आजकल शोथ में मकोय के पत्ते पीस कर उसका लेप करते हैं, उनका अर्क पीते हैं। शीतोष्णस्निग्धरूक्षादि चिकित्सा से जो शोफ शान्त न हो उसमें रक्त मोक्षण करे।

वि० मन्तव्य—पाठक विचार करें—उक्त योगों में–कोई विरेचन है तो कोई मूत्रल है। इन सबमें नवायस योग, पुनर्नवा के योग तथा पयोनुपान आदि पर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिये। मूंग, यव तथा गेहूँ का यद्यपि विधान है, तथापि ये बहुत ही अल्प मात्रा में दिये जायँ। ग्रहणी आदि रोगों में शोथ उपद्रव से भी हो जाता है, उस दशा में शोणित का अवसेचन नहीं करना चाहिये। शोथरोग की चिकित्सा के लिये च० चि० अ० १२ अवश्य देख लेना चाहिये ॥१२॥

भवति चात्र—

पिष्टान्नमम्लं लवणानि मद्यं
मृदं दिवास्वप्नमजाङ्गलं च।
स्त्रियो घृतं तैलपयोगुरूणि
शोफं जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥१३॥

कहा भी है—

पिट्ठी के बने भक्ष्य, अम्लरस, लवण, सब रूप में, मद्य, मिट्टी, दिन में सोना, जांगल मांस के बिना दूसरे मांस, स्त्री-सहवास, घृत, तैल, दूध और गुरु-भोजन, शोफ को नष्ट करने की इच्छावाला व्यक्ति इनका त्याग करे ॥१३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शोथचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातोऽनागताबाधाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अनागताबाधाप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—अनागतः-ईषत् आगतः, नञ् ईषद् अर्थे, बाधा दुःखम्, तस्याः प्रतिषेधः—चिकित्सितम् (डल्हनः) अर्थात्—जो बाधा अर्थात् दुःख नहीं आया है अथवा कुछ आ गया है आने की सम्भावना है उसका प्रतिषेध इस अध्याय में कहा गया है। यथा-मुख की मलिनता के विनाशार्थ दतवन का विधान आदि २। इस अध्याय में वे उपदेश दिये गये हैं, जिनके अनुसार चलने से कष्टों का आना ही रुक जाय—प्रतिषेध निरोध ॥ १,२ ॥

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनारोग्यमिच्छता।
धीमता यदनुष्ठेयं तत् सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥३॥

आरोग्य को चाहनेवाले, स्वस्थ (रोगी नहीं) एवं बुद्धिमान् मनुष्य को निरन्तर प्रतिदिन जो करना चाहिये, वह सब भली प्रकार कहा जाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद का उद्देश्य "स्वस्थस्य परिरक्षणञ्च" भी है। उसीके लिये यह अध्याय है। उठकर मलत्याग-शौचकार्य प्रथम है, यथा—"ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्, स्वस्थो रक्षार्थमायुषः। शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः ॥" स्वस्थ मनुष्य को उषःकाल में उठना चाहिये। यह स्वास्थ्य के लिये नितान्त आवश्यक है ॥ ३ ॥

तत्रादौ दन्तधवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम् ॥४॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम्।
अवेक्ष्यर्तुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत् ॥५॥
कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः।
निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥६॥
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा।
क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च ॥७॥
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत्।
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च ॥८॥
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्।
तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति ॥९॥
वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च।
न खादेद् गलताल्वोष्ठजिह्वारोगसमुद्भवे ॥१०॥
अथास्यपाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च।
दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥११॥
शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पीनक्लमान्वितः।
अर्दितो कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः ॥१२॥

प्रथम दातुन करे। दातुन—बारह अंगुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटी, सीधी, बिना गांठवाली, काणी या खोखली नहीं, दो गांठें जिसमें न हों और जो ताजी एवं उत्तम भूमि में पैदा हुई हो उस दातुन को करे। ऋतु, दोष और दातुन का रस और वीर्य को देखकर दातुन को चुने। कषाय, मधुर, तिक्त और कटुरस की दातुन प्रातःकाल उठकर करे। तिक्त वृक्षों में नीम, कषाय वृक्षों में खैर, मधुर वृक्षों में महुआ और कटु वृक्षों में करञ्ज श्रेष्ठ है। मधु त्रिकटु, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, सैन्धव, तेजबल का चूर्ण इनको तैल (तिल, तैल या सरसों का तेल) में मिलाकर इससे सदा दाँतों को साफ करे। कोमल कूची से एक एक दाँत को (ऊपर के दाँतों को नीचे की ओर, नीचे के दाँतों को ऊपर की ओर) रगड़े। दातुन के साथ दन्तशोधन चूर्ण को रगड़े। इसमें मसूड़ों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाये। इस प्रकार करने से मुख की दुर्गन्धि, मैल और कफ निकल जाता है। मुख में निर्मलता, अन्न में रुचि और मन की प्रसन्नता होती है। गले-तालु-ओष्ठ-जिह्वा रोग में दातुन न करे। मुखपाक श्वास, कास और हिक्का में भी दातुन अच्छी नहीं। दुर्बल, अजीर्ण में भोजन क्रिया, मूर्च्छा से पीड़ित, मद से दुःखी, शिरोरोगी, प्यास से पीड़ित, थका हुआ, मद्यपान के क्लम से युक्त, अर्दितरोगी, कर्णशूलरोगी, दन्तरोगी दातुन न करें ॥४-१२॥

जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च।
तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ॥१३॥
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यशोफजाड्यहरं सुखम्।
दन्तदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेहगण्डूषधारणम् ॥१४॥

जिह्वा को साफ करने की जिभ्भी चाँदी की, सोने की, लकड़ी की होनी चाहिये। यह जिभ्भी मल को दूर करने में योग्य, कोमल, चिकनी और दस अंगुल लम्बी होनी चाहिये। इससे मुख की विरसता, दुर्गन्धि, शोफ, जड़ता दूर होकर सुख मिलता है। तैल के गण्डूष का मुख में धारण करना दाँतों को दृढ़ करता है और भोजन में रुचि उत्पन्न करता है ॥१३,१४॥

क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः।
भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ॥१५॥
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्र स्वस्थः शीतोदकेन वा।
नीलिकां मुखशोषं च पिडकां व्यङ्गमेव च ॥१६॥
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत्।

मुख प्रक्षालन—बरगद आदि क्षीरवृक्षों के कषाय से अथवा इनके कषाय दूधमें मिलाकर या लोध के कषाय से अथवा आंवले के क्वाथ से या शीतल जल से स्वस्थ मनुष्य मुख और नेत्रों को धोये। इस प्रकार करने से नीलिका, मुखशोष,

पिडका, व्यंग, रक्तपित्तजन्य रोग शीघ्र ही नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—गरम पानी या साबुन का उपयोग तथा पाउडर का लगाना मुख के सौन्दर्य को, त्वचा की कोमलता को बिगाड़ता है—इसे सदा याद रक्खें ॥१६॥

सुखं लघु निरीक्षेत दृढं पश्यति चक्षुषा ॥१७॥
मतं स्रोतोऽञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसंभवम्।
दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम् ॥१८॥
तेजोरूपावहं चैव सहते मारुतातपौ।
न नेत्ररोगा जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत् ॥१९॥

आँखों में अंजन (या काजल) लगाने से मनुष्य बिना कष्ट के सुखपूर्वक बारीक वस्तु को देखता है, आँख से स्थिरता से देखता है। सिन्ध प्रदेश में उत्पन्न निर्मल स्रोतांजन श्रेष्ठ माना है। यह अंजन आँख की जलन, खाज, मैल को नष्ट करता है, आँख की क्लिन्नता (गदलापन) और पीड़ा को दूर करता है। आँख सूर्य का प्रतिनिधि होने से अंजन लगाने पर आँखों में तेज आता है, और आँख वायु एवं धूप को भी बर्दाश्त करती है। अंजन लगाने से नेत्र में रोग नहीं होते, इसलिये अंजन करना चाहिये ॥१७-१९॥

मुक्तवाञ्छिरसा स्नातः श्रान्तश्छर्दनवाहनैः।
रात्रौ जागरितश्चापि नाञ्ज्याज्ज्वरित एव च ॥२०॥

भोजन करके, शिर समेत स्नान करके, वमन या अन्य थकान के कारणों से थका, रात्रि में जागरण किया और ज्वर रोगी आँख में अंजन न करे ॥२०॥

कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः।
सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम् ॥२१॥
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम्।
हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् ॥२२॥
प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम्।
पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे ॥२३॥
रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम्।
रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम् ॥२४॥

कर्पूर, जातीफल, शीतलचीनी, लवंग, कटुका (लताकस्तूरी), चूना और सुपारी के साथ पान खाना उत्तम है। पान को खाने से मुख की निर्मलता, मुख में सुगन्धि, कान्ति, सौष्ठव आता है। हनु-दन्त-स्वर-मल-जिह्वा-इनका शोधन होता है। मुख से पानी आना बन्द होता है। पान हृद्य है, गल के रोगों को नष्ट करता है। सोकर उठने पर, भोजन के पीछे स्नान के उपरान्त, वमन के पीछे मनुष्य पान खाये। रक्तपित्त रोगी क्षतक्षीण, प्यास-मूर्च्छा से पीड़ित, रूक्ष, दुर्बल एवं मुख शोष रोगियों के लिये पान हितकारी नहीं है ॥२१-२४॥

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोभ्यङ्गोऽपकर्षति।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम् ॥२५॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम् ॥२६॥

शिर को तेल से भरना (शिर पर भली प्रकार तैल लगाना) शिर पर किया तेल का अभ्यंग शिर के रोगों को दूर करता है। बालों को कोमल, लम्बा, घना, चिकना और काला बनाता है। शिर को खाली (शून्य) नहीं होने देता। मुख की त्वचा को भी सुन्दर करता है। इन्द्रियों को सन्तर्पित करता है॥

मधुकं क्षीरशुक्लां च सरलं देवदारु च।
क्षुद्रकं पञ्चनामानं समभागानि संहरेत् ॥२७॥
तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत्।
सदैव शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत् ॥२८॥

मुलैहठी, विदारी, सरलकाष्ठ, देवदारु, लघुपंचमूल, ये प्रत्येक समभाग लेकर इनके कल्क और कषाय से कोल्हू का ताजा निकाला तैल सिद्ध करे। इस तैल का शिर पर लगाना सब धातुओं में शीतल है ॥२७-२८॥

केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा।

कंघी का करना बालों के लिये हितकारी है तथा धूल, जूं आदि का नाश करता है।

हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥२९॥

कानों में तेल डालना हनु-मन्या शिर और कान के शूल को नष्ट करता है।

वक्तव्य—"धारयेत् पूरणं कर्णे, कर्णमूलं विमर्दयन्। रुजः स्यान्मार्दवं यावत् मात्राशतमवेदने" ॥२९॥

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः ॥३०॥

स्नेह का अभ्यंग सम्पूर्ण शरीर पर करना त्वचा को कोमल करता है, कफ और वायु को रोकता है। रसादि धातुओं को पुष्ट करता है, त्वचा की शुद्धि, वर्ण, बल को देता है।

वक्तव्य—"रोमान्तेषु अनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहः चतुर्भिर्गच्छति त्वचम् ॥"

सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसाधकः।
क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥३१॥
जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥३२॥

सम्पूर्ण अंगों का परिषेक-श्रमनाशक, वायु हृद्रोग-भग्नसन्धि का प्रसाधक, क्षत अग्नि से जले, चोट लगे, घिसड़ लगे हुओं की पीड़ा को मिटाता है। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर जल से सेचन करने पर बढ़ते हैं उसी प्रकार स्नेह से सेचन करने पर धातुओं की वृद्धि होती है ॥३१,३२॥

सिरामुखं रोमकूपैर्धमनीभिश्च तपयन्।
शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥३३॥

अवगाहन में प्रयुक्त किया स्नेह शिरा मुखों द्वारा रोमकूपों से धमनियों को तृप्त करता हुआ स्नेह शरीर में बल उत्पन्न करता है। (स्नेह के अन्दर डुबकी मारना, बैठना) ॥३३॥

तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित्।
तैलं घृतं वा मतिमान् युंज्यादभ्यङ्गसेकयोः ॥३४॥

इसमें प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, देश, दोष और विकार को जाननेवाला बुद्धिमान् वैद्य, अभ्यंग और परिषेक में तैल या घृत जो ठीक समझे वह बरते ॥३४॥

केवलं सामदोषेषु न कथञ्चन योजयेत्।
तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथञ्चन ॥३५॥
तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः।
पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥३६॥
शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः।
सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत् ॥३७॥

आम युक्त दोषों में अकेला स्नेह (असंस्कृत स्नेह) किसी भी अवस्था में नहीं बरतना चाहिये। तरुण ज्वर रोगी और अजीर्ण रोगी को कभी अभ्यंग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार विरेचन दिये, वमन कराये, और जिस मनुष्य को निरूह दिया गया, उनको भी अभ्यंग न कराये। प्रथम दो अवस्थाओं में रोग का कष्ट साध्य होना अथवा रोग का असाध्य होना होता है। शेष रोगियों को उस दिन अग्निमान्द्य आदि रोग हो जाते हैं। सन्तर्पणजन्य रोगों में भी स्नेह का अभ्यंग न करे।

वक्तव्य—सन्तर्पणजन्य रोग—"रोगास्तस्योपजायन्ते संतर्पणनिमित्तजाः। प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः॥ कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकाः। तन्द्रावलैव्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता॥ इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः।" चरक० सूत्र अ० २३-५ ॥३५–३७॥

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्।
तत् कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः ॥३८॥
शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥३९॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥४०॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात् ॥४१॥
न चैनं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति।
स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च ॥४२॥
व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥४३॥
वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्।
व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ॥४४॥
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते।
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥
स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः।
सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः ॥४६॥
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा।
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ॥४७॥
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्।
वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च ॥४८॥
समीक्ष्य कुर्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।
क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥४९॥
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसंभवाः।
रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षतातुरः ॥५०॥
भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणस्तृड्भ्रमार्तश्च वर्जयेत्।

शरीर में जिस कर्म से आयास उत्पन्न होता है, उस कर्म को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम करके शरीर को सुखपूर्वक चारों ओर से मले (जोर से नहीं मले)। व्यायाम करने से शरीर की पुष्टि, कान्ति, अंगों का पृथक्त्व, अग्नि की प्रदीप्ति, आलस्य का न होना, स्थिरता, लघुता, शुद्धि, श्रम-क्लम-प्यास-उष्णिमा और शीत आदि को सहने की शक्ति, और उत्तम आरोग्य मिलता है। मोटापे को कम करने के लिये व्यायाम के समान दूसरी वस्तु नहीं। व्यायाम करनेवाले मनुष्य के शत्रु बलपूर्वक तिरस्कार नहीं कर सकते। इस पर बुढ़ापा एक दम से चढ़कर नहीं बैठ सकता (अपने समय पर ही आता है)। व्यायाम करनेवाले का मांस दृढ़ होता है (ढीला नहीं रहता)। इसके पास रोग भी नहीं फटकते, जिस प्रकार शेर के पास छोटे मृग जानवर नहीं पहुँच पाते। वय, रूप, और गुण से हीन मनुष्य को भी व्यायाम देखने में सुन्दर बना देता है। नित्य व्यायाम करनेवाले मनुष्य का विरुद्ध भोजन भी, विदग्ध हुआ (अम्लपाक) एवं अविदग्ध (उत्तम विदग्ध) भोजन बिना दोष के पच जाता है। क्योंकि स्निग्ध भोजन करनेवाले बलवान् पुरुषों के लिये व्यायाम सदैव पथ्य है। इन लोगों को शीतकाल और वसन्त ऋतु में व्यायाम पथ्य है। (इन ऋतुओं में दूसरी ऋतुओं से थोड़ा अधिक करना चाहिये)। अपना हित चाहनेवाले मनुष्यों को प्रतिदिन सब ऋतुओं में व्यायाम करना चाहिये। इससे अधिक करने पर वह नुकसान करता है। व्यायाम करते हुए हृदय में स्थित वायु जब मुख में आने लगे (मनुष्य हांपकर मुख से श्वास लेने लगे) यह बलार्ध का लक्षण है। वय, बल, शरीर, देश, काल, खान-पान को देखकर व्यायाम करे, अन्यथा रोग उत्पन्न होता है। क्षय, तृष्णा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, भ्रम, क्लम, कास, शोष, ज्वर, श्वास, ये रोग अति-व्यायाम से उत्पन्न होते हैं। रक्तपित्त रोगी कृश-व्यक्ति, शोषरोगी, श्वास, कास, उरःक्षतरोगी, भोजन किया, स्त्री सेवन से कृश, प्यास और भ्रम से पीडित मनुष्य व्यायाम न करे।

वि० मन्तव्य—बलार्द्ध या अर्द्ध शक्ति—व्यायाम

करते समय जब श्वास फूलने लगता है, तब समझ लेना चाहिये कि आधा बल लग चुका है, इस समय व्यायाम से विरत हो जाना चाहिये। कुछ दिन व्यायाम करते २ पसीना आने लगे तब समझ लेना चाहिये कि आधा बल चुक गया है ॥३८-५०॥

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम् ॥५१॥
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।

उद्वर्त्तन (उबटन लगाना)—वातनाशक, कफ और मेद को विलयन करनेवाला है, अंगों को स्थिर करता है। त्वचा को अतिशय निर्मल करता है। (विम्लापनम्-द्रवीकरणम्)॥५१॥

सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥५२॥
उद्घर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम्।
उत्सादनाद् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः॥५३॥
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम्।
उद्घर्षणं तु विज्ञेयं कण्डूकोठानिलापहम् ॥५४॥
ऊर्वोः संजनयत्याशु फेनकः स्थैर्यलाघवे।
कण्डूकोठानिलस्तम्भमलरोगापहश्च सः ॥५५॥
तेजनं त्वग्गतस्याग्नेः सिरामुखविवेचनम्।
उद्घर्षणं त्विष्टिकया कण्डूकोठविनाशनम् ॥५६॥

उद्घर्षण और उद्वर्त्तन से त्वचा में स्थित सिराओं के मुख का खुलना, त्वचा में स्थित अग्नि (भ्राजक पित्त) की दीप्ति निश्चय रूप से होती है। उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से सुन्दर होता है। शरीर में प्रहर्ष, सौभाग्य, शुद्धि, लघुता आदि गुण आते हैं। उद्घर्षण, कण्डू, कोठ और वायु को नष्ट करता है। फेनक जंघाओं में स्थिरता एवं लघुता लाता है। फेनक कण्डु, कोठ, वायु, स्तम्भ, मैलजन्य रोगों को (वृषण कच्छू आदि को) नष्ट करता है। त्वचा में स्थित भ्राजक अग्नि को प्रदीप्त करता है, सिराओं के मुख को खोलता है। ईंट आदि से उद्घर्षण कण्डु, कोठ को नष्ट करता है।

वक्तव्य—उद्घर्षण-अस्नेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम्, यथा-चने या मसूर के आटे से मलना। उत्सादन-स्नेहकल्केन उद्घर्षणम् उद्वर्त्तनम्, यथा—चने के आटे में तेल और दही मिलाकर मलना। फेनक-रीठे या आंवले आदि के पानी से या साबुन से धोना। ईंटे (झामा) से उद्घर्षण आजकल खड़ के स्पंज से शरीर को रगड़ना, या खद्दर के कपड़े से स्नान करते समय शरीर को रगड़ना ॥५२-५६॥

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्।
हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम् ॥५७॥
तन्द्रापाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम् ॥५८॥
उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा।
शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ॥५९॥
श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम्।
काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ॥६०॥
अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम्।
अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्धनम् ॥६१॥
तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु।
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥६२॥
सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम्।
स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम् ॥६३॥
स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम्।

स्नान—निद्रा, दाह एवं श्रम का नाशक, स्वेद, कण्डु और प्यास का नाशक, हृद्य, मल को दूर करने में श्रेष्ठ, सब इन्द्रियों को सचेष्ट बनानेवाला, तन्द्रा, पाप्मा (अलक्ष्मी-मनहूसी) को दूर करनेवाला है। प्रसन्नता एवं पुरुषत्व का वर्धक, रक्त को निर्मल करनेवाला और अग्नि को बढ़ानेवाला है। गरम पानी से शिर का धोना आँखों के लिये सदा हानिकारक है। शीतल पानी से सिर का स्नान करना आँखों के लिये हितकारी है। कफ और वायु के प्रकोप में रोग के बल और निर्बलता को जानकर इच्छानुसार गरम पानी से शिर का स्नान औषध रूप में ही बरते। अति शीतल या शीतऋतु में ठण्डे पानी का स्नान कफ और वायु को कुपित करता है। अतिउष्ण जल या उष्णऋतु में गरम पानी का स्नान पित्त और रक्त को कुपित करता है। अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वातव्याधि, आध्मान, अरोचक, अजीर्ण एवं भोजन करनेपर स्नान करना निन्दित है। अनुलेपन (चन्दन आदि का शरीर पर लेप) सौभाग्य देनेवाला, वर्ण को बढ़ानेवाला, प्रीति, ओज, बलवर्धक है, स्वेद, दौर्गन्ध्य, विवर्णता और श्रम को नष्ट करता है। जिन लोगों के लिये स्नान निषिद्ध है, उनके लिये अनुलेपन भी निषिद्ध है ॥

रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥६४॥
सुमनोम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्।

फूलों की माला, सुन्दर वस्त्रों एवं रत्नों को धारण करना, रक्षोघ्न (भूत आदि बाधा, विष बाधा आदि से बचानेवाला), ओज के लिये हितकारी, सौभाग्य करनेवाला (बड़प्पन श्रीमत्त्व देनेवाला) और प्रीति को बढ़ाता है।

वक्तव्य—"वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका। कर्केतनः सर्पमणिर्वैडूर्यं गजमौक्तिकम्। धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः ॥" चरक० चिकि०। "काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्। श्रीमत् पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ॥ वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं गन्धमाल्यनिषेवणम्। धन्यं मंगलमायुष्यं श्रीमद् व्यसनसूदनम् ॥ हर्षणं काम्यमौजस्यं रत्नाभरणधारणम्॥" चरक सूत्र० अ० ५ ॥५७-६४॥

मुखालेपाद् दृढं चक्षुः पीनगण्डं तथाननम् ।६५॥
अव्यङ्गपिडकं कान्तं भवत्यम्बुजसन्निभम् ।

मुख पर लेप करने से (जैसा कि ब्रह्मदेश में औरतें मुख पर एक विशेष लकड़ी को घिस कर लगाती हैं) चक्षु मजबूत होती हैं, गण्डस्थल और मुख मोटा (भरा हुआ) होता है। मुख पर व्यंग (झांई) एवं पिड़कायें नहीं होतीं, मुख सुन्दर तथा कमल के समान होता है ॥६५॥

पक्ष्मलं विशदं कान्तममलोज्ज्वलमण्डलम् ॥६६॥
नेत्रमञ्जनसंयोगाद् भवेच्चामलतारकम् ।
यशस्यं स्वर्ग्यमायुष्यं धनधान्यविवर्धनम् ॥६७॥
देवतातिथिविप्राणां पूजनं गोत्रवर्धनम् ।

आंखों में काजल लगाना (स्याही लगाना) पलकों के बालों को घना एवं मलरहित (गीद रहित), सुन्दर उज्ज्वल बाह्य चक्षुवाला बनाता है। पुतली निर्मल रहती है। देवता-अतिथि-ब्राह्मण का सत्कार करना यश देनेवाला, स्वर्ग के लिये उत्तम, आयुवर्धक, धन-धान्य को बढ़ानेवाला तथा गोत्रवर्धक (पुत्र देनेवाला) है ॥६६,६७॥

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः ॥६८॥
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोग्निविवर्धनः ।

आहार—पुष्टिदायक, तुरन्त बल कारक, देह को टिकानेवाला, आयु, तेज (कान्ति), उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि को बढ़ाता है ॥६८॥

पादप्रक्षालनं पादमलरोगश्रमापहम् ।
चक्षुःप्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥६९॥

पैरों का धोना-पैरों के मैल-रोग एवं श्रम को दूर करता है। आँखों को निर्मल बनाता है, वृष्य, रक्षोघ्न तथा प्रीतिवर्धक है ॥६९॥

निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत् ॥७०॥
पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः ।

पैर पर तेल मलना (पैर के तलुओं पर तेल घिसना)—निद्रा को लानेवाला, शरीर को सुख देनेवाला, आँखों के लिये उत्तम, श्रम और पाँव के स्वाप को नष्ट करता है। पैर की त्वचा को कोमल बनाता है।

वक्तव्य—यह प्रथा पुरानी है-यथा—"उपानद्युगलनिक्षिप्तैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यां उच्चासन उपविष्टा तिष्ठति।" मृच्छकटिका—अंक ४ ॥७०॥

पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥७१॥
सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम् ।
अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत् ॥७२॥
पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम् ।
पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ॥७३॥
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ।
बाणवारं मृजावर्णतेजोबलविवर्धनम् ॥७४॥

जूते का पहनना—पैर के रोगों को नष्ट करनेवाला, वृष्य, रक्षोघ्न, प्रीतिवर्धक, चलने में सुख पहुँचानेवाला और ओजवर्धक है। जूते बिना सदा चलते फिरते रहना—अस्वास्थ्य कारक, आयु को कम करनेवाला और आँखों को हानि पहुँचाता है। केश नख और रोम को कटवाना-अलक्ष्मी को नष्ट करता है। हर्ष, लघुता, सौभाग्य, और उत्साह को बढ़ाता है। कवच का धारण करना (अंगरखी का पहनना) शुद्धि, तेज, वर्ण और बल को बढ़ाता है। (चंक्रमणम्-टहलना-घूमना) ॥७१-७४॥

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोपहम् ॥

शिर पर पगड़ी, आदि पहना पवित्र, बालों के लिये उत्तम है, वायु, धूल और धूप को नष्ट करता है।

वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम् ॥७५॥
वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शंकरं छत्रधारणम् ।

छाते का धारण करना—वर्षा, वायु, धूल, बर्फ (ओस) आदि को दूर करता है। वर्ण, ओज एवं आँखों के लिये हितकारी, तथा सुखकारक है ॥७५॥

शुनः सरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम् ॥७६॥
श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते ।
सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम् ॥७७॥
अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम् ।

हाथ में दण्डे का धारण करना—कुत्ता, सांप, हिंसक पशु या गाय बैल के भय से बचाता है। थकान एवं फिसलने के दोष से रक्षा करनेवाला, बुढ़ापे में सहारा है। सत्त्व, उत्साह (बल), ओज, स्थिरता, धैर्य, शक्ति को बढ़ाता है। सहारा देनेवाला और भयनाशक है ॥७६,७७॥

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यकरी सुखा ॥७८॥

बैठना (आराम करना)—वर्ण, कफ, स्थूलता, सुकुमारता एवं सुख को देता है ॥७८॥

अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यविनाशनः ।
अत्यध्वा विपरीतोऽस्माज्जरादौर्बल्यकृच्च सः ॥७९॥
यत्तु चङ्क्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत् ।
तदायुर्बलमेधाग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम् ॥८०॥

मुसाफरी—वर्ण, कफ, स्थूलता, सुकुमारता को नष्ट करती है। अतिशय मुसाफरी-वर्ण-कफ आदि को बहुत अधिक मात्रा में नष्ट करती है, तथा बुढ़ापा एवं दुर्बलता लाती है। जितने चलने में शरीर में बहुत अधिक कष्ट न हो, उतना चलना आयु, बल, मेधा, अग्नि को बढ़ाता है और इन्द्रियों को सचेष्ट बनाता है ॥७९,८०॥

श्रमानिलहरं वृष्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम् ।
सुखं शय्यासनं, दुःखं विपरीतगुणं मतम् ॥८१॥
बालव्यजनमौजस्यं मक्षिकादीनपोहति ।
शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नो व्यजनानिलः ॥८२॥

सुखदायक शय्या (चौड़ी-लम्बी, तथा गद्दे एवं तकियों से युक्त) पर सोना, श्रम और वायुनाशक, तथा वृष्य है, पुष्टि, निद्रा एवं धृति को देनेवाला है। इससे विपरीत शय्या दुःखदायी और विपरीत गुण करती है। बालों की चंवर से हवा करना ओज के लिये उत्तम, मक्खी-मच्छर आदि को हटानेवाला है। पंखे की वायु-शोष, दाह, श्रम, स्वेद और मूर्च्छानाशक है ॥८१,८२॥

प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम्।
संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम् ॥८३॥

संवाहन (चापी करना)—प्रीति, निद्रा को देनेवाला, वृष्य है। कफ, वात एवं श्रम का नाशक, मांस, रक्त और त्वचा को निर्मल करनेवाला तथा सुखदायक है। (संवाहनं—हस्ताभ्यां शनैः शनैराहननम्) ॥८३॥

प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहपक्तिनुत्।
स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा ॥८४॥
सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः।
निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा ॥८५॥
आतपः पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत्।
दाहवैवर्ण्यकारी च छाया चैतानपोहति ॥८६॥
अग्निर्वातकफस्तम्भशीतवेपथुनाशनः।
आमाभिष्यन्दजरणो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥८७॥
पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम्।
करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता ॥८८॥

सामने के ओर की वायु—रूक्षता, विवर्णता, स्तम्भ करनेवाली, दाह एवं पाक को नष्ट करती है। पसीना, मूर्च्छा और प्यास को दूर करती है। जो वायु सामने से झोंक में नहीं आती वह इससे विपरीत गुण करती है। ग्रीष्म और शरद् ऋतु में मनुष्य सुख से (जितना सहन हो सके) वायु का सेवन करे। निवात (झोंके की सामने की वायु से बचकर) का सदा सेवन करना आरोग्य एवं आयु को देता है। धूप का सेवन-पित्त, तृष्णा, अग्नि, स्वेद, मूर्च्छा भ्रम, और रक्त को करता है। दाह और विवर्णता को उत्पन्न करता है। छाया-धूप के विकारों को दूर करती है। आग का तापना-वायु, कफ, स्तम्भ, शीत और कम्पन को नष्ट करता है। आम एवं अभिष्यन्द को जीर्ण करता है, रक्तपित्त को दूषित करता है। समय पर सेवन की हुई निद्रा-पुष्टि, बल, वर्ण, उत्साह, अग्नि की दीप्ति, अतन्द्रिता (जागरण) एवं धातुओं की समता को करती है ॥८४-८८॥

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघूष्णीषच्छत्रोपानत्केन दण्डपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बन्धुभूतेन भूतानां गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खलूपचरितव्यं, तदपि न रात्रौ, न केशास्थिकण्टकाश्मतुषभस्मोत्करकपालाङ्गारमेध्यस्नानबलिभूमिषु, न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात् ॥

बचपन से ही नख और रोम कटवाकर, पवित्र, श्वेत, निर्मलवस्त्र धारण करनेवाला, लघु-हल्की पगड़ीवाला, छाता एवं जूता धारण करने का आदी, हाथ में दण्ड (सोटी) रखनेवाला, समय पर हितकारी, थोड़ा एवं मधुर बोले। मिलने पर प्रथम कुशल मंगल पूछे। प्राणियों में बन्धुभाव (मैत्री भाव) रखते हुये, गुरु एवं वृद्ध पुरुषों से आज्ञा प्राप्त करके, उत्तम अच्छे सहायक के साथ, एकाग्रमन से चलना चाहिये। इतना होने पर भी रात्रि में बाहर नहीं जाये। केश, अस्थि, काँटे, पत्थर, तुष, राख, कूड़े का ढेर, कपाल (ठीकरे), अंगार अपवित्रस्थान (वध्य भूमि आदि), स्नान एवं बलिभूमि पर से नहीं जाना चाहिये। विषमस्थान, यज्ञ के लिये गाड़े हुए यूप, चौराहे गड्ढे के ऊपर से नहीं जाना चाहिये ॥८९॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत्, न देवब्राह्मणपितृपरिवादांश्च; न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचानुपासीत।

राजा के विरोधी, कठोर, छलवाले, झूठ वचन न बोले। देवता, ब्राह्मण, पितर की निन्दा न करे। राजा जिनसे द्वेष करता है, उनकी, उन्मत्त, पतित (स्वकीय धर्म से भ्रष्ट) क्षुद्र (लघु) नीच (म्लेच्छ आदि) की सेवा न करे ॥९०॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुञ्जराद्यधिरोहणानि परिहरेत्, पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि, भिन्नशून्यागारश्मशानविजनारण्यवासाग्निसंभ्रमव्यालभुजङ्गकीटसेवाश्च, ग्रामाघातकलहशस्त्रसन्निपातव्यालसरीसृपश्रृङ्गिसन्निकर्षांश्च ॥९१॥

वृक्ष, पर्वत प्रपात (झरना), विषम, वल्मीक, दुष्ट घोड़े, दुष्ट हाथी आदि पर न चढ़े। भरी हुई नदी, समुद्र, न जाने हुए सरोवर, कुआँ, गड्ढे में न उतरे। टूटे अथवा खाली पड़े घर में, श्मशान में, मनुष्यों से रहित; जंगल में रहना न करे। अग्नि संभ्रम (आग का लगना), हिंसक पशु, साँप, कीट (बिच्छू आदि) के पास न जाये। ग्रामाघात (महामारी या मारक रोग जहाँ फैला हो) कलह (झगड़ा जहाँ चल रहा हो), शस्त्र सन्निपात (युद्ध), हिंसकपशु, साँप (अजगर) गाय बैल आदि के पास न जाये।

वि० मन्तव्य—प्रपात-जिस पर से बहुत नीचे गिरता है यथा ऊँची दीवार, नदी द्वारा कटी भूमि का तट-ढांग। उपासीत—पास बैठना, रहना, साथ २ कार्य करना, मिलना जुलना, व्यहार करना। अग्निसम्भ्रम-ज्वालामुखी का गह्वर, जहाँ ज्वाला फूटी हो ॥९१॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेङ्खाद्स्पत्यन्तरेण यायात्। न शवमनुयायात्। देवब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रमेत। नास्तं गच्छन्तमुद्यन्तं वाऽऽदित्यं वीक्षेत। गां धापयन्तीं धयन्तीं परसस्यं वा चरन्तीं न

कस्मैचिदाचक्षीत, न चोल्कापातोत्पातेन्द्रधनूंषि। नाग्निं-मुखेनोपधमेत्। नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात्॥

आग, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेंखा (दोला), दम्पती (पति-पत्नी)—इनके बीच में से न गुजरे। मुर्दे के पीछे अनुगमन न करे। देवता, गौ, ब्राह्मण, चैत्य, ध्वजा, रोगी, पतित और पाप करनेवाली छाया को न लांघे। छिपते हुए या उगते हुए सूर्य को न देखे। बछड़े को दूध पिलाती, या स्वयं पीती हुई अथवा दूसरे के अन्न को खाती हुई गाय की चर्चा किसीसे न करे। उल्कापात (आकाश से अग्नि का गिरना) उत्पात, इन्द्र धनुष को न देखे। मुख से अग्नि में फूंक न मारे। पानी या भूमि में पैर से चोट न करे।

वक्तव्य—उत्पात-दिव्य-भौम और आन्तरिक्ष भेद से तीन प्रकार के हैं। दिव्य उत्पात प्रतिमा-रोदन, गन्धर्व नगर दर्शन आदि। भौम-भूकम्प आदि। आन्तरिक्ष-तारापतन, रविपरिवेष आदि। गन्धर्वनगर का नाम चरक, सत्यार्थप्रकाश एवं दर्शन में भी आता है॥९२॥

न वेगान् धारयेद् वातमूत्रपुरीषादीनाम्। न बहिर्वेगान् ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसन्निकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम्॥९३॥

वायु, मूत्र और मल आदि के उपस्थित वेगों को न रोके। मल-मूत्र आदि बाह्य वेगों को ग्राम, नगर, मन्दिर, श्मशान, चौराहा, पानी के तालाब, रास्ता इनके पास न त्यागे। खुले मैदान में (दिखाई दे) न त्याग करे। वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, गौ, गुरु की ओर मुख करके मल मूत्र न त्यागे॥

न भूमिं विलिखेत्, नासंवृतमुखः सदसि जृम्भोद्गारकासश्वासक्षवथूनुत्सृजेत्, न पर्यङ्किकावष्टम्भपादप्रसारणानि गुरुसन्निधौ कुर्यात्॥९४॥

भूमि को न कुरेदे। मुख को बिना ढांपे सभा में जम्भाई, डकार, कास, श्वास, छींक न करे। गुरु के पास में कुर्सी पर सहारा लगाकर, या पैर को फैलाकर न बैठे॥९४॥

न बालकर्णनासास्रोतोदशनाक्षिविवराण्यभिकुष्णीयात्, न वीजयेत् केशमुखनखवस्त्रगात्राणि, न गात्रनखवक्त्रवादित्रं कुर्यात्, न काष्ठलोष्टतृणादीनभिहन्याच्छिन्द्याद्भिन्द्याद्वा॥९५॥

बाल, कान, नासा-स्रोत, आँख, दाँत इनके विवरों को न कुरेदे (इनमें अंगुली न डालें)। केश, मुख, नख, वस्त्र या शरीर को न कम्पाये। शरीर, नख, मुख इनसे बाजे का काम न करे, काष्ठ, लोष्ठ, तिनके आदि पर चोट न करे, न इनको तोड़े और न इनके टुकड़े करे॥९५॥

न प्रतिवातातपं सेवेत, न भुक्तमात्रोऽग्निमुपासीत, नोत्कटकालपकाष्ठासनमध्यासीत, न ग्रीवां विषमं धारयेत् न विषमकायः क्रियां भजेत भुञ्जीत वा, न प्रततमीक्षेत विशेषाज्ज्योतिर्भास्करसूक्ष्मचलभ्रान्तानि, न भारं शिरसा वहेत्, न स्वप्नजागरणशयनासनस्थानचङ्क्रमणयानवाहनप्रधावनलङ्घनप्लवनप्रतरणहास्यभाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यतिसेवेत॥९६॥

सामने की वायु या धूप का सेवन न करे। खाते ही अग्नि को न सेके। बहुत ऊँचे (विषम), छोटे, लकड़ी के आसन पर न बैठे। गर्दन को टेढ़ा न रक्खे। शरीर को टेढ़ा करके (झुकाकर) कार्य न करे। और न भोजन करे। बल लगाकर या निरन्तर न देखे। विशेषतः ज्योतिः सूर्य, सूक्ष्म, अस्थिर, भ्रान्त रूपों को निरन्तर न देखे। शिर पर बोझ न उठाये। नींद, जागना, लेटना, बैठना, खड़े रहना, घूमना, घोड़े आदि की सवारी, रथ आदि की सवारी, दौड़ना, कूदना, लांघना, तैरना, हास्य, बोलना, मैथुन, व्यायाम आदि उचित कार्यों को भी अधिक मात्रा में सेवन न करे।

वक्तव्य—"पृष्ठतः सेवेदर्कं, जठरेण हुताशनम्"॥९६॥

उचितादप्यहितात् क्रमशो विरमेत्, हितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशः, चैकान्ततः पादहीनात्॥९७॥

उचित भी (अभ्यास किये-जिसकी आदत पड़ी हुई है) परन्तु हानिकारक आहार विहार से क्रमशः-धीरे-धीरे अलग हो जाये। हितकारी परन्तु अनुचित (अनभ्यस्त-जिसकी आदत नहीं) आहार विहार का क्रमशः सेवन करे। चतुर्थांश या षोडशांश रूप के बिना सम्पूर्ण रूप से आहार विहार का सेवन या त्याग न करे।

वक्तव्य—अभ्यस्त वस्तु का चतुर्थांश या षोडशांश छोड़ते हुए इसमें अनभ्यस्त वस्तु का उतना ही चतुर्थांश या षोडशांश मिलता जाये। इस प्रकार बरते हुए सम्पूर्ण वस्तु त्याग करके सम्पूर्ण अनभ्यस्त वस्तु का ग्रहण करे। "उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः। हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते॥ प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्। एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा॥" चरक० सू० अ० ७।३६-३७॥

नावाक्शिराः शयीत, न भिन्नपात्रे भुञ्जीत, नविना पात्रेण, नाञ्जलिपुटेनापः पिबेत्, काले हितमितस्निग्धमधुरप्रायमाहारं वैद्यप्रत्यवेक्षितमश्नीयात्, ग्रामगणगणिकापणिकशत्रुसत्रशठपतितभोजनानि परिहरेत्, शेषाण्यपि चानिष्टरूपरसगन्धस्पर्शशब्दमानसानि, अन्यान्यवैगुण्यान्यपि संभूय दत्तानि, (तान्यपि) मक्षिकाबालोपहतानि, नाप्रक्षालितपाणिपादो भुञ्जीत, न मूत्रोच्चारपीडितः, न

सन्ध्ययोर्नानुपाश्रितो नातीतकालं हीनमतिमात्रं (नोद्धृतस्नेहं) चेति ॥९८॥

शिर को नीचा करके न सोये। टूटे हुए पात्र में भोजन न करे, पात्र के बिना (हाथ में लेकर) भोजन न करे। चूल्लू में लेकर पानी न पीये। समय पर हितकारी, थोड़ा, स्निग्ध, मधुरबहुल, वैद्य से देखे हुए आहार को खाये। ग्राम-गण (गाँव मिलकर जो अन्न पकाते हैं), वेश्या, पणिक् (वैश्यों से दूसरे जो सूद कार्य करते) हैं, शत्रु, सत्र (यज्ञ), शठ, पतित (नीच) के भोजन का न खाये। शेष मनुष्यों का भी रूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्द-मन से अनिच्छित भोजन को न खाये। दूसरे भी इच्छित रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, मनवाले, भोजन जो मिलाकर बनाये गये हों, उनको भी न खाये। इन्हीं गुणों का भोजन मक्खी, बाल से युक्त होने पर न खाये। हाथ पैर बिना धोये भोजन न करे। मूत्र और मल के वेग से पीड़ित होने पर भोजन न करे। सन्ध्याकाल में भोजन न करे। किसीकी दया से मिला (आश्रित बनकर) भोजन न करे। समय बीतने पर भोजन न करे, मात्रा से कम या मात्रा में अधिक भोजन न करे। (स्नेहवाली जिस वस्तु से स्नेह निकाल लिया गया हो उसको न खाये)।

वि० मन्तव्य—ग्रामभोजन–जिसमें गाँव भर का साझा हो, गण भोजन–समुदाय–बहुतों का साझा भोजन, डल्लन के कथनानुसार रथकार एवं चारण जातिवालों का भोजन। पणिक भोजन–होटल बासा, तन्दूर आदि से खरीदा गया। न अनुपाश्रितः–आसनरहितः न भुञ्जीत–अर्थात् आसन पर बैठकर खाना चाहिये। सम्भूय दत्तानि–मिलित्वा यावत् दत्तानि भोजनानि परिहरेत्, सम्भ्रमदत्तानि–(पाठान्तर है)–सर्वाणि च त्वरया दत्तानि परिहरेत्–(डल्लन) अर्थात्–अनेकों जनों द्वारा मिलकर दिये गये अथवा घबराहट—उद्वेग के साथ दिये गये, भोजनों का परित्याग करे। ऐसे भोजन सन्दिग्ध होते हैं, अनिष्ट के लिये या उपहास के लिये हो सकते हैं ॥९८॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नष्टं पर्युषितं पयः।
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ॥९९॥
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।
अन्यथा जनयेत् कुष्ठविसर्पादीन् गदान् बहून् ॥
नात्मानमुदके पश्येन्न नग्नः प्रविशेज्जलम् ॥१००॥

जिस दूध में से स्नेह (चिकनाई) निकाल लिया हो, जो दूध फट गया हो, या जो बासी हो, उस दूध को न पीये। रात्रि में दही न खाये। घी और शर्करा के बिना, मूँग के यूष के बिना, मधु के बिना, उष्णवस्तु (सोंठ आदि) के बिना, आँवलों के बिना रात्रि में दही न खाये। अन्यथा दही कुष्ठ, वीसर्प आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। अपनी परछांई जल में न देखे, और नंगा होकर जल में न घुसे ॥१००॥

द्यूतमद्यातिसेवाप्रतिभूत्वसाक्षित्वसमाह्वानगोष्ठीवादित्राणि न सेवेत, स्रजं छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि न चान्यैर्धृतानि धारयेत्, ब्राह्मणमग्निं गां च नोच्छिष्टः स्पृशेत् ॥१०१॥

जुआ, मद्य का अतिसेवन, प्रतिभू (जमानती), साक्षी होना, समाह्वान (अप्रासंगिक बोलना), गपशप करना, गाना-बजाना न करे। माला, छाता, जूता, स्वर्ण, पुराने-जीर्ण वस्त्र, या दूसरों से धारण किये-इनको न धारण करे। जूठी अवस्था में ब्राह्मण गाय या अग्नि का स्पर्श न करे।

वि० मन्तव्य—समाह्वान–किसीके बुलाने पर जूआ खेलना, अथवा प्राणियों—गो आदि या पत्नी, भगिनी आदि को दाव पर लगाकर जूआ खेलना। गोष्ठी वादित्र—सभा में या सभासद् की भाँति सभा में सम्मिलित होकर मृदंग आदि बाजे बजाना ॥१०१॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्।
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥१०२॥
वर्षासु न पिबेत्तोयं पिबेच्छरदि मात्रया।
वर्षासु चतुरो मासान् मात्रावदुदकं पिबेत् ॥१०३॥
उष्ण हैमे वसन्ते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम्।
हेमन्ते च वसन्ते च सीध्वरिष्टौ पिबेन्नरः ॥१०४॥
शृतशीतं पयो ग्रीष्मे प्रावृट्काले रसं पिबेत्।
यूषं वर्षति, तस्यान्ते प्रपिबेच्छीतलं जलम् ॥१०५॥
स्वस्थ एवमतोऽन्यस्तु दोषाहारगतानुगः।
स्नेहं सैन्धवचूर्णेन पिप्पलीभिश्च संयुतम् ॥१०६॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं न च वेगान् विधारयेत्।

कहा भी है—जिस जिस ऋतु में मनुष्यों के जो-जो दोष कुपित होते हैं, उन-उन ऋतुओं में वे-वे रस जाननेवाला वैद्य देवे। वर्षा ऋतु में पानी न पीये (बहुत थोड़ा पीये)। शरत्ऋतु में मात्रा से (थोड़े परिमाण में) पीये। वर्षा के चारों मासों (आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन) में मात्रा से पानी पीये। शीत और वसन्त ऋतु में गरम पानी, इच्छानुसार—उष्ण अथवा शीत, ग्रीष्म में शीतल जल पीये। ग्रीष्म ऋतु में गरम करके ठण्डा दूध पीये, प्रावृट्काल में मांस रस पीये। वर्षा में मूँग आदि का यूष पीये। वर्षा के अन्त में शीतल जल पीये, स्वस्थ मनुष्य इस प्रकार करे। रोगी मनुष्य दोष और आहार के अनुसार पीये। अग्नि को बढ़ाने के लिए स्नेह को सैन्धवचूर्ण और पिप्पली के साथ मिलाकर खाये। (इसी से षट्पलघृत हम देते हैं)। उपस्थित वेगों को न रोके ॥१०२-१०६॥

अग्निदीप्तिकरं नृणां रोगाणां शमनं प्रति ॥१०७॥
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु सम्यक् स्नेहादिमाचरेत्।
कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको बस्तिरीरणे ॥१०८॥

शस्यते त्रिष्वपि सदा व्यायामो दोषनाशनः ।
भुक्तं विरुद्धमप्यन्नं व्यायामान्न प्रदुष्यति ॥१०९॥

मनुष्यों में रोगों को शान्त करने के लिये अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये। प्रावृट्, शरद् और वसन्त में भली प्रकार स्नेह आदि का सेवन करे। कफ में वमन, पित्त में विरेचन, वायु में बस्ति, उत्तम है। तीनों दोषों में व्यायाम का सदा करना दोषनाशक है। खाया हुआ विरोधि भोजन भी व्यायाम के कारण दूषित नहीं होता, दोष नहीं करता ॥१०७-१०९॥

उत्सर्गमैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मनाः ।
नेच्छेद्दोषचयात् प्राज्ञः पीडां वा कायमानसीम् ॥११०॥
अतिस्त्रीसंप्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान् ।
शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः ॥१११॥
अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्च क्षेपकादयः ।
आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः ॥११२॥
स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः ।
त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्वा समीयात् प्रमदां नरः ॥११३॥
सर्वेष्वृतुषु, घर्मेषु पक्षात् पक्षाद् व्रजेद् बुधः ।
रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥११४॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम् ।
हीनाङ्गीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषसमन्विताम् ॥११५॥
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि ।
सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः ॥११६॥
गोसर्गे चार्धरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च ।
लज्जासमावहे देशे विवृतेऽशुद्ध एव च ॥११७॥
क्षुधितो व्याधितश्चैव क्षुब्धचित्तश्च मानवः ।
वातविण्मूत्रवेगी च पिपासुरतिदुर्बलः ॥११८॥
तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् ।
दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत् ॥११९॥
रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्धावरणमेव च ।
स्थितावुत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम् ॥१२०॥
क्रीडायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत् ।
रजस्वलां प्राप्नवतो नरस्यानियतात्मनः ॥१२१॥
दृष्टयायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ।
लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु ॥१२२॥
वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवितक्षयः ।
गर्भिण्या गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः ॥१२३॥
हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां कामं वन्ध्यामसंवृते ।
देशेऽशुद्धे च शुक्रस्य मनसश्च क्षयो भवेत् ॥१२४॥
क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृषितोऽबलः ।
स्थितश्च हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विन्दति ॥१२५॥
अतिप्रसङ्गाद् भवति शोषः शुक्रक्षयावहः ।
व्याधितस्य रुजा प्लीहि मृत्युर्मूर्च्छा च जायते ॥१२६॥
प्रत्यूषस्यर्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः ।
तिर्यग्योनावयोनौ च दुष्टयोनौ तथैव च ॥१२७॥
उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रस्य च क्षयः ।
उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे ॥१२८॥
उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु संभवः ।
सर्वं परिहरेत्तस्मादेतल्लोकद्वयेऽहितम् ॥१२९॥
शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न सन्धार्यं कथंचन ।

मलमूत्र के त्याग, मैथुन, आहार एवं शरीर के शोधन में मनुष्य दत्तचित्त बनकर रहे। बुद्धिमान् मनुष्य दोष के संचय से शारीरिक या मानसिक पीड़ा को न चाहे। (इसलिये इन कार्यों में मन लगाये)। जितेन्द्रिय बनकर अतिस्त्री सेवन से अपने को बचाये। अतिस्त्री सेवन से शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पाण्डुरोग, क्षय, आक्षेप आदि रोग होते हैं। स्त्रियों में संयमी पुरुष दीर्घायु, देर में बुड्ढे होनेवाले, शरीर-बल-वर्ण से युक्त, कठिन स्थिर मांसवाले होते हैं। सब ऋतुओं में तीन-तीन दिन के अन्तर से स्त्री सेवन करे, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में पन्द्रह दिन के अन्तर से बुद्धिमान् स्त्री सेवन करे।

मैथुन में अयोग्य स्त्री—रजस्वला, मैथुन की अनिच्छावाली, मैली, अप्रिय, अपने वर्ण से ऊँचे वर्ण की, आयु में बड़ी, रोग से पीड़ित, हीन अंगवाली, गर्भवती, द्वेष रखनेवाली, योनि रोग से पीड़ित, समान गोत्रवाली, गुरु की पत्नी, संन्यासिनी स्त्री से सहवास न करे। सन्ध्याकाल में, पर्व समय में (सूर्य ग्रहण आदि के समय), सास, लड़की आदि मैथुन के अयोग्य स्त्री से पुरुष मैथुन न करे। गायों के छुटने के समय (प्रातःकाल में), आधी रात में, मध्याह्न में, जिस स्थान पर लज्जा अनुभव हो, खुले मैदान में, अशुद्धस्थान पर सहवास न करे। भूख लगी होने पर, रोगी होने पर, चित्तक्षुब्धमन की अवस्था में मनुष्य मैथुन न करे। वायु-मल-मूत्र का वेग उपस्थित होने पर, प्यास लगी होने पर, अतिनिर्बलता में, तिर्यग् योनि (बकरी आदि में) अयोनि में (मुख आदि में) शुक्र के क्षरण में उपस्थित वेग को, दूषित योनि में शुक्र के त्याग को बलवान् पुरुष भी छोड़ देवे। शुक्र का अतिशय त्याग, शिश्न के अग्रभाग का ढकना, खड़े होकर या चित लेटकर शुक्र का त्याग करना बहुत निन्दित है। बुद्धिमान् एवं हित चाहनेवाला मनुष्य क्रीड़ा में भी शुक्र का त्यान न करे। असंयमी मनुष्य के रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने पर दृष्टि, आयु और तेज की हानि एवं अधर्म होता है। संन्यासिनी, गुरुपत्नी या समान गोत्रवाली स्त्री के साथ, अथवा पर्व में, वृद्धा के साथ या सन्ध्याकाल में मैथुन करने से जीवन का नाश होता है। गर्भवती के साथ मैथुन करने पर गर्भ को हानि होती है, रुग्णा के साथ मैथुन करने पर बल का क्षय होता है। हीन अंगोंवाली, मलिन, शत्रुबनी, न चाहनेवाली, वन्ध्या या खुले स्थान पर अथवा मलिनस्थान पर मैथुन करने पर

शुक्र और मन का क्षय (ग्लानि) होता है। खड़े होकर मैथुन करने पर शुक्र की हानि और वायु का कोप होता है। अतिमैथुन से शोष, शुक्र-क्षय होता है। रोगी पुरुष के मैथुन करने पर प्लीहा के रोग, मृत्यु या मूर्च्छा होती है। प्रातःकाल में या आधीरात में मैथुन करने पर (क्रमशः) वात, पित्त कुपित होते हैं। तिर्यग्योनि (बकरी आदि) में या अयोनि में, दूषित योनि में मैथुन करने से उपदंश, वायु का कोप और शुक्र का क्षय होता है। मल-मूत्र के या शुक्र के उपस्थित वेग को धारण करने से तथा चित लेटकर (अधः स्थितः पुमानुत्तानः तदुपरिस्थिता नारी-अनुत्ताना), मैथुन करने से शुक्राश्मरी शीघ्र उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इन सब उपरोक्त बातों से बचे, ये दोनों लोकों (इहलोक, परलोक) में गर्हित हैं। उपस्थित शुक्र को कभी भी अज्ञान के कारण रोकना नहीं चाहिये। (शुक्रवेगनिरोधः षाण्ढ्यकराणाम्—चरक)।

वि० मन्तव्य—मूर्धावरणमेव च— शिश्न के मूर्धमणि पर आवरण चढ़ाना—जैसे फ्रेंच लेदर आदि का उपयोग सन्तति निरोधार्थ किया जाता है, सुना है कि इससे नर नारी दोनों को हानि पहुँचती है। यथा दाक्षिणात्याः कृतकमणिं कारयन्ति इति जज्जराचार्यः-अर्थात् बनावटी शिश्न का प्रयोग न करे। वात्स्यायन काम सूत्र अधिकरण ७ अ० २ में "अपद्रव्य" नाम से इसका उल्लेख है। बलवान् अपि वर्जयेत्—अत्यन्त मैथुन सामर्थ्य होने पर भी ऐसा न करे। अकामा—अकामा के साथ संसर्ग करना "बलात्कार" कहलाता है, जो दण्डविधान में अपराध माना गया है। क्रीडायां अपि........परिवर्जयेत्—अर्थात् केवल क्रीड़ा के लिये—खेल २ में मैथुन करना उचित नहीं, यथा कुछ नर-नारियां परस्पर मित्र बनकर इस कर्म को करने में संकोच नहीं करते, आयुर्वेद-स्वास्थ्य शास्त्र हैं। वह केवल उत्तम सन्तान के लिये ही मैथुन का उपदेश करता है, यथा—

सन्तोऽपि आहुः अपत्यार्थं दम्पत्योः संगतं रहः।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो जातं गोत्रे महत्यपि॥
अ० हृ० शा० अ० १

अतएव वन्ध्या के साथ भी संसर्ग का निषेध किया गया है ॥१२९॥

वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलान्विताम् ॥१३०॥
अभिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलङ्कृताम्।
सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणबृंहितः ॥१३१॥
भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरंससितं रस एव च।
स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायान्ते हितानि तु ॥१३२॥

वय, रूप, गुण से युक्त, समान स्वभाववाली, उत्तम कुलयुक्ता, चाहवाली, कामेच्छावाली (वृषस्यन्तीं—सकामाम् इति डल्लन), प्रसन्न, अलंकृत (शृंगार की हुई), स्त्री के साथ, वाजीकरण औषधियों से पुष्ट प्रसन्न मन मनुष्य युक्ति के साथ सहवास करे। मैथुन के पीछे, शर्करा मिश्रित भक्ष्य (खाद्य), शर्करा (मिश्री) मिला दूध, मांसरस, स्नान, पंखे की वायु, सोना उत्तम है ॥१३०-१३२॥

वक्तव्य—"स्नानं सशर्करं क्षीरं रसो भक्ष्याश्च गौड़िकाः। व्यजनं स्वप्नसेवा च व्यवायान्ते हितानि तु॥ रात्रि में स्नान कठिन है, फिर भी प्रातःस्नान विधेय है। मैथुन के तुरन्त पीछे स्नान ठीक नहीं। शरीर के स्वस्थ हो जाने पर (साधारणतः दो या तीन घण्टे के पीछे) स्नान करना चाहिये।

वि० म०—सव्यजनं स्नानं, पंखा करके मैथुन जन्य श्रम दूर हो जाने पर स्नान करने से कोई हानि नहीं, अपितु लाभ होता है। स्नानं सशर्करं क्षीरं भक्ष्यं ऐक्षवसंस्कृतम्। वातो मांसरसः स्वप्नो सुरतान्ते हिता अमी॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ४। स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्यशीताम्बुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः। सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्य तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम॥ वाग्भट्ट ॥१३०-१३२॥

मुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यैतदीरितम्।
आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥१३३॥

यह सद्वृत्त केवल प्रधानरूप में दिग्दर्शन रूप से कहा है। अनाचारवाले मनुष्य आरोग्य आयु और धन प्राप्त नहीं कर सकते ॥१३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनागताबाधचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मिश्रकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मिश्रक चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

पाल्यामयास्तु विस्राव्या इत्युक्तं प्राङ्निबोध तान्।
परिपोटस्तथोत्पात उन्मन्थो दुःखवर्धनः ॥३॥
पञ्चमः परिलेही च कर्णपाल्यां गदाः स्मृताः।

विस्रावण के योग्य पाली के जो रोग हैं, उनको मुझसे सुनो। परिपोट, उत्पात, उन्मन्थ, दुःखवर्धन और परिलेही ये पाँच कर्णपाली के रोग कहे हैं ॥३॥

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्धिते ॥४॥
कर्णशोफो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥५॥
गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्घर्षणादपि।
शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥६॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः।
बलाद्वर्धयतः कर्णे पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥७॥

गृहीत्वा सकफं कुर्याच्छोफं तद्वर्णवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥८॥
वर्धमाने यदा कर्णे कण्डूदाहरुगन्वितः ।
शोफो भवति पाकश्च त्वक्स्थोऽसौ दुःखवर्धनः ॥९॥
कफासृक्क्रिमयः कुर्युः सर्षपाभा विकारिणीः ।
स्राविणीः पिडकाः पाल्यां कण्डूदाहरुगन्विताः ॥१०॥
कफासृक्क्रिमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिह्यात् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥११॥
पाल्यामया ह्यमी घोरा नरस्याप्रतिकारिणः ।
मिथ्याहारविहारस्य पालीं हिंस्युरुपेक्षिताः ॥१२॥

परिपोट सुकुमारता के कारण बहुत समय से छोड़े हुए कान का सहसा छेदन करने से पाली में वेदना युक्त जो कर्णशोफ होता है, उसको परिपोट कहते हैं। यह परिपोटक वायु के कारण कृष्ण-अरुण वर्ण तथा स्तब्ध (कड़ा) होता है। भारी आभूषणों के पहनने से, थप्पड़ आदि लगाने से या कुश्ती आदि में रगड़ पड़ने से पाली में जो शोफ श्याव वर्ण, दाह, पाक, वेदना एवं सुर्खीवाला होता है, उसे उत्पात कहते हैं, यह रोग रक्त और पित्त से होता है। जबरदस्ती कान को वेधते हुए पाली में वायु प्रकुपित होती है। यह वायु कफ के साथ मिलकर कफ के वर्ण (श्वेत) एवं वेदना से युक्त शोफ को उत्पन्न करती है। इस रोग को उन्मन्थक कहते हैं, इसमें कण्डु रहती है, यह रोग कफवातजन्य है। कान को वेधते समय कण्डु दाह और सुर्खीवाला शोफ एवं पाक, त्वचा में हो जाता है, उसे दुःखवर्धन कहते हैं। कफ-रक्त और कृमि विकार करनेवाली, एवं स्राव युक्त, सरसों जैसी पिड़काओं को पाली में उत्पन्न कर देते हैं। इसमें कण्डु, दाह और वेदना होती है। कफ रक्त और कृमि से उत्पन्न यह पिड़का इधर-उधर फैलते हुए शष्कुली और पाली को चट कर जाती है, इसे परिलेही कहते हैं। चिकित्सा न करनेवाले एवं मिथ्या आहार-विहारवाले पुरुष में पाली के ये भयानक रोग उपेक्षा करने पर पाली को नष्ट कर देते हैं।

वि० मन्तव्य—बालक को सुकुमार समझकर छठे अथवा सातवें मास में कर्णवेध नहीं किया जाता और १-२-३-४-५ वर्ष का होने पर किया जाता है तो परिपोटक हो जाता या हो सकता है ॥४-१२॥

तस्मादाशु भिषक् तेषु स्नेहादिक्रममाचरेत् ।
तथाऽभ्यङ्गपरीषेकप्रदेहासृग्विमोक्षणम् ॥१३॥
सामान्यतो विशेषाच्च वक्ष्याम्यभ्यञ्जनं प्रति ।
खरमञ्जरियष्टयाह्वसैन्धवामरदारुभिः ॥१४॥
सुपिष्टैः साश्वगन्धैश्च मूलकावल्गुजैः फलैः ।
सर्पिस्तैलवसामज्जमधूच्छिष्टानि पाचयेत् ॥१५॥
सक्षीराण्यथ तैः पालीं प्रदिह्यात् परिपोटके ।
मञ्जिष्ठातिलयष्टयाह्वसारिवोत्पलपद्मकैः ॥१६॥
सरोध्रैः सकदम्बैश्च बलाजम्ब्वाम्रपल्लवैः ।
सिद्धं धान्याम्लसंयुक्तं तैलमुत्पातनाशनम् ॥१७॥
तालपत्र्यश्वगन्धार्कवाकुचीफलसैन्धवैः ।
तैलं कुलीरगोधाभ्यां वसया सह पाचितम् ॥१८॥
सरलालाङ्गलीभ्यां च हितमुन्मन्थनाशनम् ।
तथाऽश्मन्तकजम्ब्वामपत्रक्वाथेन सेचनम् ॥१९॥
प्रपौण्डरीकमधुकमञ्जिष्ठारजनीद्वयैः ।
चूर्णैरुद्वर्तनैः पालीं तैलाक्तामवचूर्णयेत् ॥२०॥
लाक्षाविडङ्गकल्केन तैलं पक्त्वाऽवचारयेत् ।
स्विन्नां गोमयपिण्डेन प्रदिह्यात् परिलेहिके ॥२१॥
पिष्टैर्विडंगैरथवा त्रिवृच्छयामार्कसंयुतैः ।
करञ्जेङ्गुदिबीजैर्वा कुटजारग्वधायुतैः ॥२२॥
सर्वैर्वा सार्षपं तैलं सिद्धं मरिचसंयुतम् ।
सनिम्बपत्रैरभ्यंगे मधूच्छिष्टान्वितं हितम् ॥२३॥
पालीषु व्याधियुक्तासु तन्वीषु कठिनासु च ।
पुष्ट्यर्थं मार्दवार्थं च कुर्यादभ्यञ्जनं त्विदम् ॥२४॥
लोपाकानूपमज्जानं वसां तैलं नवं घृतम् ।
पचेद्दशगुणं क्षीरमावाप्य मधुरं गणम् ॥२५॥
अपामार्गाश्वगन्धे च तथा लाक्षारसं शुभम् ।
तत्सिद्धं परिपूतं च स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥२६॥
तेनाभ्यञ्ज्यात् सदा पालीं सुस्विन्नामतिमर्दिताम् ।
एतेन पाल्यो वर्धन्ते नीरुजो निरुपद्रवाः ॥२७॥
मृद्व्यः पुष्टाः समाः स्निग्धा जायन्ते भूषणक्षमाः ।

इसलिये वैद्य इनमें शीघ्र ही स्नेहादि उपचार बरते। एवं अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रदेह, रक्त मोक्षण करे। यह सामान्य रूप में कहा, अब प्रत्येक के लिये विशेष रूप में प्रत्येक रोग के लिये अभ्यंग आदि कहते हैं। चिरचिटा, मुलेहठी, सैंधव, देवदारु, अश्वगन्धा, मूली और बावची के फल, इनसे दूध के साथ घी, तैल, वसा, मज्जा और मोम को पकाये। इसका परिपोटक में पाली पर लेप करे। मंजीठ, तिल, मुलैहठी, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, कदम्ब, बला, जामुन और आम के पत्ते, इनसे कांजी के साथ सिद्ध किया तैल, उत्पातनाशक है। मुसली, अश्वगन्धा, आक, बावची, मैनफल, सैंधव, सरल, कलिहारी, इनसे तैल को, केंकड़ा और गोह इनकी वसा के साथ सिद्ध करे। यह तैल उन्मन्थ नाशक है। अश्मन्तक, जामुन, आम इनके पत्तों के क्वाथ से परिषेचन करना उत्तम है। लाख और विडङ्ग के कल्क से तैल को पकाकर इससे पाली को स्निग्ध करके, प्रपौण्डरीक, मुलैहठी, मजीठ, हल्दी, दारुहल्दी इनके चूर्ण को पाली पर बुरक देवे। परिलेहिक में गोमयपिण्ड (गीला गोबर) से स्वेद करके वायविडङ्ग अथवा निशोथ, श्यामा (काली निशोथ),

आक, करञ्ज, हिंगोट के बीज, कूडा और अमलतास इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे। या इन द्रव्यों से मरिच, नीम के पत्तों के साथ गोमूत्र में सरसों का तेल सिद्ध करके बरते। अभ्यंग के लिये इस तेल में मोम मिलाये। रोगग्रस्त, छोटी तथा कठिन पालियों में पुष्टि एवं कोमलता के लिये निम्न तैल में अभ्यंग करे। लोमड़ी, भैंस आदि आनूप प्राणियों की मज्जा, वसा, तैल, नूतनघृत (मक्खन) इनको दस गुणे दूध में मिलाकर, काकोल्यादिमधुरगण का और चिरचिटा, अश्वगन्धा काभी प्रक्षेप देकर, लाक्षारस मिलाकर सिद्ध करे। सिद्ध हो जाने पर छानकर सुरक्षित स्थान पर रख देवे। भली प्रकार स्वेद करके अतिशय मर्दन की हुई पाली पर इससे अभ्यंग करे। इस तेल से पालियां बिना पीड़ा एवं उपद्रव के बढ़ती हैं। कोमल, पुष्ट, समान, स्निग्ध एवं आभूषणों को सहने योग्य हो जाती हैं।

वि० मन्तव्य—किसी किसी बालक की कर्णपाली तन्वी—बहुत छोटी एवं कठोर होती है। इस दशा में उसे बड़ी एवं कोमल करने का उपाय किया जाता है, तदर्थ ही लोपाकादि स्नेह का अभ्यङ्ग करने का विधान है ॥१३-२७॥

नीलीदलं भृङ्गरजोऽर्जुनत्वक्
पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च।
बीजोद्भवं साहचरं च पुष्पं
पथ्याक्षधात्रीसहितं विचूर्ण्य ॥२८॥
एकीकृतं सर्वमिदं प्रमाय पङ्केन तुल्यं नलिनीभवेन।
संयोज्य पक्षं कलशे निधाय लौहे घटे सद्मनि सापिधाने।
अनेन तैलं विपचेद्विमिश्रं रसेन भृङ्गत्रिफलाभवेन।
आसन्नपाके च परीक्षणार्थं पत्रं बलाकाभवमाक्षिपेच्च॥
भवेद्यदा तद् भ्रमराङ्गनीलं
तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे।
कृष्णायसे मासमवस्थितं तद-
भ्यङ्गयोगात् पलितानि हन्यात् ॥३१॥

नील के पत्र, भांगरा, अर्जुन की छाल, काले फूल का मैनफल, लोह का चूरा, बीजक (असन) और झिण्टी के फूल, हरड़, बहेड़ा और आंवला इन सबका चूर्ण करके, इनको मिलाकर, नलिनी का कीचड़ समान मात्रा में लेकर, उसके साथ मथकर ढक्कनदार लोहे के घड़े में पन्द्रह दिन सुरक्षित रख देवे। पन्द्रह दिन के पीछे इसमें त्रिफला और भांगरे के क्वाथ और स्वरस (क्रमशः) मिलाकर तैल सिद्ध करे। जब तैल पाक होने के लगभग आ जाये तब इस तैल की परीक्षा के लिये इसमें बलाका (बगला) पक्षी का श्वेत पंख गिराये। जब यह पंख भ्रमर के अंगों के समान नीला (काला) हो जाये, तब पका हुआ जाने। इसको लोहे के पात्र में एक महीने तक रक्खे। इस तैल के लगाने से पलितरोग नष्ट होता है ॥२८-३१॥

सैरीयजम्ब्वर्जुनकाश्मरीजं पुष्पं तिलान्मार्कवचूतबीजे।
पुनर्नवे कर्दमकण्टकार्यौ कासीसपिण्डीतकबीजसारम् ॥
फलत्रयं लोहरजोऽञ्जनं च
यष्ट्याह्वयं नीरजसारिवे च।
पिष्ट्वाऽथ सर्वं सह मोदयन्त्या
साराम्भसा बीजकसंभवेन ॥३३॥
साराम्भसः सप्तभिरेव पश्चात्
प्रस्थैः समालोड्य दशाहगुप्तम्।
लौहे सुपात्रे विनिधाय तैल-
मक्षोद्भवं तच्च पचेत् प्रयत्नात् ॥३४॥
पक्वं च लौहेऽभिनवे निधाय
नस्यं विदध्यात् परिशुद्धकायः।
अभ्यङ्गयोगैश्च नियुज्यमानं
भुञ्जीत माषान् कृशरामथो वा ॥३५॥
मासोपरिष्टाद्घनकुञ्चिताग्राः
केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः।
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयु-
र्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति ॥३६॥
बलं परं संभवतीन्द्रियाणां भवेच्च वक्त्रं बलिभिर्विमुक्तम्।
नाकामिनेऽनर्थिनि नाकृताय नैवारये तैलमिदं प्रदेयम् ॥

सैरीय (कांटासरैया), जामुन, अर्जुन और गम्भारी के फूल, तिल, भांगरा, आम की गुठली, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, कीचड़, कटेरी, कासीस, मैनफल, विजयसार, त्रिफला, लोहचूर्ण, रसांजन या (स्रोतोंजन), मुलैहठी, नीलोत्पल, सारिवा, मञ्जिका, इन सबको असन वृक्ष की लकड़ी के क्वाथ के साथ पीसकर इनको सात प्रस्थ असन के क्वाथ में घोलकर दस दिन सुरक्षित रख देवे। फिर लोहे के पात्र में बहेड़े का तैल एक आढ़क डालकर इस क्वाथ से सिद्ध करे। सिद्ध हुए तैल को लोहे के नये पात्र में रक्खे। वमनादि से शरीर का शोधन करके इस तैल से नस्य करे। इस तैल का अभ्यंग में व्यवहार करे। भोजन में उड़द या तिल तण्डुल की खिचड़ी खाये। इस प्रकार एक मास तक इसका सेवन करने पर बाल घने और घुंघरीले एवं काले बन जाते हैं। खलति में नये केश उत्पन्न हो जाते हैं, और बुढ़ापा भी एक दम से नहीं आता। इन्द्रियों में उत्तम बल आता है, मुख की झुर्रियाँ मिट जाती हैं। न चाहनेवाले, बिना मांगे, कृतघ्न के लिये, शत्रु के लिये यह तैल नहीं देना चाहिये। (तैल को एक मास तक रखकर सिद्ध हो जाने के एक मास पीछे बरते)।

वि० मन्तव्य—इस तैल में मोदयन्ती शब्द से मेंहदी के पत्र लेना अधिक उपयुक्त है। श्लो० ३८-४२ के लाक्षादि

तैल में पारद शब्द से शिंगरफ लेना चाहिये। इस तैल को सिद्ध करके अन्त में मोम (तैल से ८ वाँ अथवा १६ वाँ भाग) डालकर पिघलावे और अन्त में शिंगरफ को अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर मिलावे ॥३७॥

लाक्षा रोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले
कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च ।
मञ्जिष्ठोग्रा स्यात् सुराष्ट्रोद्भवा च
पत्तङ्गं वै रोचना चाञ्जनं च ॥३८॥
हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य
कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम् ।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च
काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः ॥३९॥
मेदो मज्जा सिक्थकं गोघृतं च
दुग्धं क्वाथः क्षीरिणां च द्रुमाणाम् ।
एतत् सर्वं पक्वमैकध्यतस्तु
वक्त्राभ्यङ्गे सर्पिरुक्तं प्रधानम् ॥४०॥
हन्याद् व्यङ्गं नीलिकां चातिवृद्धां
वक्त्रे जाताः स्फोटिकाश्चापि काश्चित् ।
पद्माकरं निर्वलीकं च वक्त्रं
कुर्यादेतत् पीनगण्डं मनोज्ञम् ॥४१॥
राज्ञामेतद्योषितां चापि नित्यं
कुर्याद्वैद्यस्तत्समानां नृणां च ।
कुष्ठघ्नं वै सर्पिरेतत् प्रधानं
येषां पादे सन्ति वैपादिकाश्च ॥४२॥

लाक्षा, लोध, हल्दी, दारुहल्दी, मैनसिल, हरताल, कुष्ठ, नागकेसर, गेरु, वर्णकर (कमीला), मंजीठ, वच, सुराष्ट्रा, (गोपीचन्दन), चन्दन, गोरोचना, स्रोतोंजन, आरग्वध की छाल, बरगद का पीला पत्र, कालीयक, पद्माख, कमल का केशर, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, पारद और काकोल्यादिगण को दूध में पीसकर, मेद, मज्जा, मोम, गाय का घी, दूध, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों का क्वाथ, इन सबको मिलाकर एक साथ पाक करे। इस सिद्ध हुए घृत का मुख पर अभ्यंग करना श्रेष्ठ है। इसके लगाने से व्यंग, बहुत बढ़ी हुई झांई, मुख पर उत्पन्न हुई जो फुन्सियाँ हैं वे सब नष्ट होती हैं। यह घृत मुख को कमल के समान सुन्दर, झुर्रियों रहित, भरी गालोंवाला और सुन्दर कर देता है। राजाओं, औरतों एवं इनके समान वैभवशाली पुरुषों के लिये वैद्य इस तैल को बनाये। यह घृत कुष्ठ को नाश करने में तथा जिनके पाँव में बिवाई फटी हो, उसके लिये श्रेष्ठ है[1] ॥३८-४२॥

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम् ।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः॥

हरड़ का चूर्ण, नीम के (या रीठे के पत्ते), आम की छाल, अनारपुष्प की कली, मेंहदी के पत्ते, इनका लेप राजाओं के योग्य अंगराग है।

वक्तव्य—हरीतकीपूतमरिष्टपत्रं चूतत्वचो दाडिमवल्कलश्च ।
एषोऽङ्गरागः कथितोऽङ्गनानाम्, जंघाकषायश्च नराधिपानाम् ॥
घोड़े की सवारी से जंघायें खराब हो जाती हैं, इसलिये अंगराग लगाते हैं।

वि० मन्तव्य—अकेली मेंहदी भी हाथ-पाँव के तलुओं पर अंगराग के लिये और केशों तथा श्मश्रु पर राग के लिये लगाई जाती है। इससे बाल लाल हो जाते हैं ॥४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मिश्रकचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे क्षीणबलीय वाजीकरण चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वाजीकरण तन्त्र का संक्षेपतः वर्णन कर दिया गया है। इसमें–अल्प, दुष्ट, क्षीण तथा विशुष्क (खर, श्लो० १४) शुक्र के आप्यायन, प्रसादन, उपचयन तथा जनन के लिये अनेक आहार विहार एवं औषध लिखे गये हैं और छः प्रकार के क्लैब्य का भी वर्णन किया गया है। भगवान् पुनर्वसु ने भी (च० चि० अ० २) एक ही अध्याय में वाजीकरण तन्त्र का वर्णन पूरा कर दिया है ॥१,२॥

गोरोचनाकुंकुमगैरिकाणि
निशाद्वयं पारदचन्दने च ।
क्षौद्रोत्थमज्जाज्यवसापयांसि
सस्वादुवर्गामयवर्णकानि ॥
क्षीरद्रुमाणां-क्वथनेन पिष्ट्वा
संपाचितं ताम्रमये कटाहे ।
अभ्यंगयोगेन निषेव्यमाणं
व्यंगं समस्तान् पिडकाश्च सर्पिः ॥
वक्त्रे प्रवृद्धामतिनीलिकां च
तूर्णं निहन्यात्तिलकालकांश्च ।
वलीविमुक्तं दृढपीनगण्डं
कुर्याच्च वक्त्रं कमलानुकारि ॥

१—लाक्षा मनोह्वागजरोध्रतालं
पतंगरक्ताकनकाभिधानाः ।
सौरष्ट्रिका पाण्डुवटस्य पत्रं
कालीयकं पद्मकपद्ममध्यम् ॥

यह पाठ भेद है। हेमांगत्वक् से कुछ स्वर्णक्षीरी की छाल लेते हैं।

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥३॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् ।
योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥४॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् ।
नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः ॥५॥

रोग रहित, तरुण (उठती हुई जवानी या भरी हुई जवानी के) एवं वाजीकरण औषधियों का सेवन करनेवाले व्यक्ति के लिये सब ऋतुओं में प्रतिदिन स्त्री सहवास करना मना नहीं है, अर्थात् वह संयोग कर सकता है। बुड्ढे—मैथुन की इच्छा-वाले, स्त्रियों का प्यार चाहनेवाले, स्त्रीसेवन से क्षीण हुए, नपुंसक एवं थोड़े शुक्रवाले, विलासी, धनी, रूप एवं यौवन से भरे, बहुत औरतोंवाले पुरुषों के लिये वाजीकर योग उत्तम है।

वाजीकर—"अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन इति वाजीकरणम्। येन वाऽत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम्। वक्ष्यति च-येन नारीषु सामर्थ्यं वाविल्लभते नरः । व्यज्यते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ वाजः शुक्रं, सोऽस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम्। किंवा वाजो मैथुनम्, उक्तं हि हारीते-वाजो नाम प्रकाशत्वाच्च मैथुनसंज्ञितम्। वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ॥ शिवदाससेनः ॥३-५॥

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥६॥
भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च
वाचःश्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा ॥७॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना ।
गीतं श्रोत्रमनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः ॥८॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ।
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥९॥

जिस के उचितरूप से निरन्तर सेवन करने पर मनुष्य घोड़े के समान अतिशय वेगवान् बनकर स्त्री को संतुष्ट करता है, उससे उसे वाजीकरण कहते हैं। नानाप्रकार के भोजन, अनेक प्रकार के पेय, कानों के लिये प्रिय वाणियाँ, त्वचा के लिये सुखदायी स्पर्श, चन्द्रमा से शोभित रात्रि, उठती जवानीवाली स्त्री, कानों के लिये मनोहर गीत, पान, मदिरा, मालायें मन की प्रिय सुगन्धियाँ (अतर), मन के प्रिय एवं नाना प्रकार के रूप, बाग-बगीचे, मन में ग्लानि (उदासी) का न होना मनुष्य को वीर्यवान् बनाते हैं॥

वक्तव्य—"सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः, फुल्लाः वनान्ता विशदान्नपानाः। गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च ॥ सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्रीचायुधं सर्वमिहात्मजस्य। वयो नवं जातमदश्च कालो, हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥" चरक० चि० अ० २-३०।

वाजीकरण तीन प्रकार का है—शुक्रजनक, यथा—मांस घृतादि, प्रवर्त्तक-उच्चटा चूर्णादि, जनक और प्रवर्त्तक दोनों गुणवाला यथा-गोघृत, कौंच आदि। देहबलकारक जनक-गोधूमादि, केवल मनो बलकर-संकल्पादि (संकल्पो वृष्याणाम् चरक)। घृत क्षीर आदि देह और मन दोनों को बल देते हैं। प्रवर्त्तक-विरेचन-क्षरणाभिमुख करनेवाले, न कि शुक्र का क्षय करनेवाले ॥६-९॥

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते ।
द्वेष्यस्त्रीसंप्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम्।
कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः ॥१०॥
सौम्यधातुक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तदपरं स्मृतम्।
अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः ॥११॥
ध्वजभङ्गमवाप्नोति तच्छुक्रक्षयहेतुकम् ।
महता मेढ्ररोगेण मर्मच्छेदेन वा पुनः ॥१२॥
क्लैब्यमेतच्चतुर्थं स्यान्नृणां पुंस्त्वोपघातजम्।
जन्मप्रभृति यः क्लीबः क्लैब्यं तत् सहजं स्मृतम् ॥१३॥
बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्मचर्यतः।
षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु स्वरशुक्रनिमित्तजम् ॥१४॥
असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत्।
साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः ॥१५॥

भय, अविश्वास, स्त्रीदोष-दर्शन आदि हृदय के लिये अप्रिय भावों से मैथुन करनेवाले पुरुष के मन पर आघात पहुँचने से, और शत्रु स्त्री के संयोग के कारण जो क्लीबता होती है, उसे मानस क्लीबता कहते हैं। कटु, अम्ल, उष्ण रसों के अतिमात्रा में सेवन करने से शुक्र धातु का क्षय देखा जाता है, यह दूसरा आहार जन्य क्लैब्य कहा है। जो अतिशय मैथुन करते हुए-वाजीकर योगों को सेवन नहीं करता, उसे शुक्रक्षय के कारण ध्वजभंग हो जाता है। बहुत बड़े मेढ्र रोग के कारण अथवा शुक्रवह नाड़ियों (मर्म) के छेदन होने से पुरुष में पुंस्त्व का नाश होने से चौथे प्रकार की क्लीबता होती है। जो मनुष्य जन्म से ही क्लीब है, उसे सहज (जन्मजात) क्लीब कहते हैं। बलवान् परन्तु चंचल चित्त (असंयमी) मनुष्य में ब्रह्मचर्य के कारण छठे प्रकार की क्लीबता होती है, यह क्लीबता शुक्र के कठिन (शुष्क) होने के कारण होती है। इनमें सहज तथा मर्मच्छेद से उत्पन्न क्लीबता असाध्य है। शेषों में कारण से विपरीत चिकित्सा करने से ये साध्य हैं।

वक्तव्य—ब्रह्मचर्यजन्य क्लीबता को देखकर ही अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में "त्रय उपस्तम्भाः शरीरस्य, आहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति" पढ़कर—"मनः शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेत् व्यवायं न च तत्परः स्यात् ॥" यह नियम कर दिया। विस्तार के लिये अनुवाद अष्टांगसंग्रह पृष्ठ—१०२ देखें।

वि० मन्तव्य—महता मेढ्ररोगेण—उपदंश एवं शूक दोष आदि के विकारों से भी क्लीबता हो जाती है। कभी २ तो शिश्न ही सड़ जाता है। मर्मच्छेदेन वा पुनः—शुक्रवह स्रोतस् अथवा अण्डवह सिराओं अथवा अण्ड वृषणों के कटने, निकाल देने, बधिया कर देने से भी नपुंसकता हो जाती है। एक स्मरणीय एवं विचारणीय बात है—उक्त प्रकार की क्लीबता नर के समान नारी में भी होती है। मैथुन कर्म की इच्छा न होना अथवा सामर्थ्य न होना नर नारी दोनों में समान रूप से मैथुन की इच्छा एवं सामर्थ्य हो जाते हैं, इसलिये यहाँ पर नर का उद्देश करके जो कुछ भी कहा गया है वह सब नारी के लिये भी समझना चाहिये। अर्थात् नर-नारी दोनों के लिये वाजीकरण का वैसे ही उपयोग किया जाता है जैसे ज्वरादि रोगों में अन्यान्य चिकित्सा का ॥१०-१५॥

विधिर्वाजीकरो यस्तु तं प्रवक्ष्याम्यतः परम्।
तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा ॥१६॥
पौण्ड्रकेक्षुरसैरार्द्रं मर्दितं सैन्धवान्वितम्।
वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत् ॥१७॥
तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम्।

इसके आगे श्रेष्ठ वाजीकर विधि को कहूँगा। तिल, उड़द, विदारी अथवा शालिधान्य के चूर्ण को पौण्डे या गन्ने के रस में गूँधकर (मथकर) इसमें थोड़ा सा सैन्धानमक मिलाकर, सुअर की मेद के साथ घी में उत्कारिका (पूरी या कचौरी) तले। इनको खाकर पुरुष एक सौ स्त्रियों में रमण करता है ॥१६,१७॥

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ॥१८॥
शिशुमारवसापक्वाः शष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः।
यः खादेत् पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत् ॥१९॥

बकरे के अण्ड से सिद्ध किये दूध में तिलों को बहुत बार भावित करके दूध के अनुपान से खाये। इन्हीं तिलों की बनाई कचौरियों को शिशुमार की वसा में पकाकर खाये। इस प्रकार जो पुरुष इन योगों का सेवन करता है, वह एकसौ औरतों में प्रथम सुरत की तरह रमण करता है।

वक्तव्य—"द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः" ॥१८,१९॥

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि।
साधिते भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम् ॥२०॥

दूध से निकाले घी में पिप्पली और लवण के साथ बकरे के अण्ड सिद्ध करके जो पुरुष खाता है, वह एक सौ स्त्रियों में रमण कर सकता है ॥२०॥

पिप्पलीमाषशालीनां यवगोधूमयोस्तथा।
चूर्णभागैः समैस्तैस्तु घृते पूपलिकां पचेत् ॥२१॥
तां भक्षयित्वा पीत्वा तु शर्करामधुरं पयः।
नरश्चटकवद् गच्छेद्दशवारान्निरन्तरम् ॥२२॥

पिप्पली, उड़द, चावल, जौ और गेहूँ इनके समान भाग चूर्ण से घी में पूपलिका (पूरी) सिद्ध करे। इनको खाकर पीछे से शर्करा से मधुर किया दूध पीये। इससे मनुष्य चिड़िया के समान निरन्तर दस बार मैथुन कर सकता है ॥२१,२२॥

विदार्याः सुकृतं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्।
सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति ॥२३॥
एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्युक्तं लीढ्वा पयः पिबेत् ॥२४॥
एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति।

विदारी का अच्छी प्रकार (बारीक) बनाया चूर्ण विदारी के स्वरस से भावित करके (सात बार) घी और मधु के साथ मिलाकर चाटने से मनुष्य दस स्त्रियों में मैथुन करता है। इसी प्रकार आँवले के चूर्ण को आंवले के स्वरस से भावित करके शर्करा, मधु और घी के साथ चाटकर पीछे से दूध पीये। इससे अस्सी वर्ष का बुड्ढा भी युवा की भाँति प्रसन्न होता है।२३,२४।

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते ॥२५॥
शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम्।
कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ॥२६॥
महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः।

घी में तले हुए बकरे के अण्डों का या शिशुमार के अण्ड को पिप्पली और सैन्धानमक के साथ खाये। ये अतिशय वाजीकर हैं। कुलीर (केकड़ा), कछुआ, नक्र इनके अण्डों को भी इसी प्रकार खाये। अथवा मनुष्य भैंस, बैल या बकरे के शुक्र को पीये।

वक्तव्य—आजकल जुन्द वेदस्तर का यूनानी में उपयोग इसी कार्य के लिये होता है। एलोपैथी में अण्डों का चूर्ण, गोली, इंजेक्शन बरता जाता है। इनको दूसरी ग्रन्थियों के साथ मिलाकर या अलग बरतते हैं ॥२५,२६॥

अश्वत्थफलमूलत्वक् शुङ्गासिद्धं पयो नरः ॥२७॥
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति।
विदारिमूलकल्कं तु शृतेन पयसा नरः ॥२८॥
उडुम्बरसमं पीत्वा वृद्धोऽपि तरुणायते।
माषाणां पलमेकं तु संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा ॥२९॥
अवलिह्य पयः पीत्वा तेन वाजी भवेन्नरः।
क्षीरपक्वांस्तु गोधूमानात्मगुप्ताफलैः सह ॥३०॥
शीतान् घृतयुतान् खादेत्ततः पश्चात् पयः पिबेत्।
नक्रमूषिकमण्डूकचटकाण्डकृतं घृतम् ॥३१॥
पादाभ्यङ्गेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत्।
यावत् स्पृशति नो भूमिं तावद् गच्छेन्निरन्तरम्।
स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम्।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥३२॥

उच्चटाचूर्णमप्येवं क्षीरेणोत्तममिष्यते ।
शतावर्युच्चटाचूर्णं पेयमेवं बलार्थिना ॥
स्वयंगुप्राफलैर्युक्तं माषसूपं पिबेन्नरः ॥३४॥
गुप्राफलं गोक्षुरकाच्च बीजं
तथोच्चटां गोपयसा विपाच्य ।
खजाहतं शर्करया च युक्तं
पीत्वा नरो हृष्यति सर्वरात्रम् ॥३५॥
काषान् विदारीमपि सोच्चटां च
क्षीरे गवां क्षौद्रघृतोपपन्नाम् ।
पीत्वा नरः शर्करया सुयुक्तां
कुलिङ्गवद्धृष्यति सर्वरात्रम् ॥३६॥

पीपल के फल, मूल, छाल, शुंग (आगे के कोमल पत्ते) इनसे सिद्ध किया दूध शर्करा और मधु के साथ पीकर मनुष्य कुलिंग (चिड़िया) की भाँति हर्षित (उत्तेजित) होता है[1] । विदारी मूल के कल्क की गूलर के समान मात्रा को गरम किये दूध के साथ पीकर वृद्ध भी युवा की भाँति आचरण करता है । उड़दों की एक पल मात्रा को मधु और घी में मिलाकर, चाटे पीछे से दूध पीये । इसी से मनुष्य शुक्रशाली बनता है । गेहूँ और कौंच को दूध में पकाये, शीतल होने पर इनमें घी मिलाकर खाये, पीछे से दूध पीये । नक्र, चूहा, मेढक, चिड़िया इनके अण्डों से (वृषण नहीं, eggs) बनाया घी पैरों के तलुए पर मलने से, तब तक बलवान् करता है, जब तक कि मनुष्य पृथ्वी को नहीं छूता । तब तक वह स्त्री सेवन कर सकता है । कौंच और तालमखाने के फल का चूर्ण शर्करा के साथ मिलाकर धारोष्ण दूध के साथ पीने से मनुष्य के शुक्र का क्षय नहीं होता । उच्चटा (रत्ती श्वेत गुञ्जा) के चूर्ण को दूध के साथ पीने से भी यही गुण होता है । बल की इच्छावाले को चाहिये कि वह शतावरी और श्वेत घुँघची के चूर्ण को भी दूध से पीये । कौंच के फलों से मिली उड़द दाल मनुष्य पीये । कौंच के फल, गोखरू के बीज और श्वेत घुँघची इनको गाय के दूध में पकाकर मन्थनदण्ड से मिलाये । इसमें शर्करा मिलाकर पीने से मनुष्य सारी रात हर्षित रहता है । उड़द, विदारी, और श्वेत घुँघची, इनको गाय के दूध में पकाकर इसमें मधु, घी और शर्करा मिलाकर पीने से मनुष्य सारी रात कुलिंग की भाँति हर्षित रहता है ॥२७-३६॥

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषपर्णभृतां गवाम् ।
यत् क्षीरं तत् प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु ॥३७॥

[1] "शमीमश्वत्थमारूढः तत्र पुंसवनं कृतम् । तद् वै पुत्रस्य वेदनम् ॥" अथर्ववेद, अश्वत्थ का उपयोग पुत्रोत्पत्ति में विशेषकर पुंसवन में है ।

क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः ।
वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत् ॥३८॥

प्रथम बार ब्यायी, जिसका बछड़ा बड़ा हो गया (दूध पलेटा हो गया), जिसको उसको उड़द के पत्ते खाने को दिये जाते हैं, उस गाय का दूध बल चाहनेवाले मनुष्यों के लिये उत्तम है । सब प्रकार के दूध, सब प्रकार के मांस, और काकोल्यादिगण, ये वाजीकरण के कारण हैं, इसलिये इनका प्रयोग करे ॥३७-३८॥

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः ।
सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया ॥३९॥

ये वाजीकर योग प्रीति (स्त्री प्रीति), सन्तान और बल को देनेवाले हैं । वमन विरेचन से शोधित एवं पुष्ट शरीरवाले मनुष्यों को देश, काल आदि की अपेक्षा से इनका सेवन करना चाहिये ॥३९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातः सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्वोपघातशमनीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ।

वक्तव्य—सर्वोपघातशमनीय शब्द से 'रसायन' शब्द अभिप्रेत है । रसायन—"लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥"—रसायन दो प्रकार की है—कुटी प्रावेशिक और वातातपिक । यह फिर तीन प्रकार की है—काम्य—प्राणकामः मेधाकामः श्रीकामः—इत्यादि । नैमित्तिक—व्याधिनिमित्त-शिलाजतु, भल्लातक, तुवरकादि सेवन । आजस्रिक-दूध घी का निरन्तर सेवन आदि ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में रसायन तन्त्र का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम् ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥३॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः ।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः ॥४॥
शरीरस्योपघाता ये दोषजा मानसास्तथा ।
उपदिष्टाः प्रदेशेषु तेषां वक्ष्यामि वारणम् ॥५॥

बुद्धिमान् वैद्य, स्निग्ध एवं शुद्ध शरीरवाले मनुष्य को किशोरावस्था में, अथवा मध्यावस्था में सदा रसायन का सेवन कराये । शरीर का शोधन किये बिना रसायन विधि बरतना ठीक नहीं । मलिन वस्त्र पर जैसे रङ्ग नहीं चढ़ता, इसी प्रकार

मलिन शरीर पर रसायन का रंग नहीं निखरता। शरीर को नष्ट करनेवाले वातादि शारीरिक दोष, रज-तम मानसिक दोष जो स्थान स्थान पर कहे हैं, उनका निवारण कहता हूँ।

वक्तव्य—पूर्वे वयसि, मध्ये वा। इससे चरकोक्त—बाल्य मध्य अवस्था लेनी चाहिये। बाल अवस्था सोलह से लेकर तीस वर्ष तक, मध्य अवस्था—तीस से साठ तक है। इस समय में रसायन सेवन करना उत्तम है॥ देखिये चरक० वि० अ० ८।१२२॥३-५॥

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः॥६॥

ठण्डा पानी, दूध, मधु, घी इनको अलग अलग, या किन्हीं दो को, किन्हीं तीन को अथवा सबको मिलाकर भोजन से पूर्व (प्रातः) पीने से वय स्थिर रहती हैं॥६॥

तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेदेवमहरहर्मासं, तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा, मधुद्राक्षा क्वाथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा, गुडूचीक्वाथेन वा, एवमेते पञ्च प्रयोगा भवन्ति, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, एते खल्वर्शांसि क्षपयन्ति, कृमीनुपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति॥७॥

विडंग-तण्डुल (वाय विडंग की पिप्पली) के चूर्ण को लाकर इसमें मुलैहठी का चूर्ण और मधु मिलाकर बल के अनुसार शीतल जल से खाये। पीछे से भी शीतल जल पीये। इस प्रकार प्रति दिन एक मास तक करे। विडंग तण्डुल चूर्ण को मधु में मिलाकर भिलावे के कषाय से पीये। विडंग-तण्डुल चूर्ण को मधु और द्राक्षा क्वाथ में मिलाकर पीये। विडंग-तण्डुल को मधु और आँवले के साथ अथवा गिलोय के क्वाथ से पीये। इस प्रकार से पांच प्रयोग हैं। इसके जीर्ण हो जाने पर नमक रहित और घी थोड़ा डालकर मूँग और आँवले के यूष के साथ घी मिला भात खाये। ये योग अर्श को नष्ट करते हैं। कृमियों को मारते हैं। वस्तु को समझने की ओर धारण शक्ति (स्मृति) को उत्पन्न करते हैं। एक एक मास के प्रयोग से एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है॥७॥

विडङ्गतण्डुलानां द्रोणं पिष्टपचने पिष्टवदुपस्वेद्य विगतकषायं स्विन्नमवतार्य दृषदि पिष्टमायसे दृढे कुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि भस्मराशावन्तर्गृहे चतुरो मासान्निदध्यात्, वर्षाविगमे चोद्धृत्योपसंस्कृतशरीरः सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, पांशुशय्यायां शयीत, तस्य मासादूर्ध्वं सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्, द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूकास्तथैवापहरेत्, चतुर्थे दन्तनखरोमाण्यवशीर्यन्ते; पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते, अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति, दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि चास्य भवन्ति, रजस्तमसी चापोह्य सत्त्वमधितिष्ठति, श्रुतनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजबलोऽश्वजवः पुनर्युवाऽष्टौ वर्षशतान्यायुरवाप्नोति; तस्याणुतैलमभ्यङ्गार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चंदनमुपलेपनार्थे, भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च॥८॥

विडंग-तण्डुल की एक द्रोण मात्रा को पिष्ट पचन (भाप से गरम करके, जैसा कि गुजरात में ढोकरा बनाने में करते हैं) विधि से पिट्ठी की तरह उबालकर, कषाय से अलग करके, गल जाने पर निकालकर पत्थर पर पीसकर लोहे के दृढ़ घड़े में—मधु-मिश्रित जल पर्याप्त डालकर प्रावृड् काल में राख के ढेर में, अन्दर के घर में चार मास तक रख देवे। वर्षा बीत जाने पर इसको निकालकर, शरीर को शुद्ध करके, एक हजार आहुतियाँ सहस्र संपात विधि से देकर, प्रतिदिन प्रातः काल बल के अनुसार उपयोग करे। इसके पच जाने पर नमक रहित मूँग और आँवले के यूष के साथ घृत मिश्रित भात खाये। धूल की शय्या पर सोये। एक मास के पीछे इसके शरीर से कृमि निकलते हैं। इन पर अणुतैल का अभ्यंग करके बाँस की खप्पच्च (चिमटे से इनको अलग करे। दूसरे महीने में चिऊँटी और तीसरे महीने में जूँ निकलती हैं, इनको भी इसी प्रकार हटायें। चौथे मास में दाँत—नख और रोम गिर जाते हैं। पाँचवें महीने में उत्तम लक्षणोंवाले दाँत, नख रोम निकल आते हैं। पाँचवें मास में मनुष्यों से अधिक (दिव्य), सूर्य के समान शरीर हो जाता है। कान और आँख की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। रज और तम नष्ट होकर सत्त्व गुण बढ़ जाता है। सुनते ही कहनेवाला, नई नई बात कहनेवाला, घोड़े के समान वेगवान्, हाथी के समान बलवान्, पुनः युवा बनकर आठ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। इसको अभ्यंग के लिये अणुतैल, उत्सादन के लिए अजकर्ण (साल) का कषाय, स्नान के लिये खस मिला कुएं का पानी, लेप के लिए चन्दन बरते। आहार और परिहार (त्याज्य) भिलावे के विधान की भाँति है।

वक्तव्य—विडंग-तण्डुल को पोटली में बाँधकर पानी में लटकाकर भी पका सकते हैं। इसमें पोटली का कुछ भाग पानी से छूता रहेगा। इसी कषाय में मधु मिलाकर घड़े में रक्खे। आठ वर्ष के घोड़े की उपमा चरक में भी है,—"एतैः प्रयोगैर्विधिवद्वपुष्मान्, वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः। हर्षान्वितो वाजिव-

भवेत् समर्थश्च वरांगनासु ॥" घोड़ा आठ वर्ष की अवस्था में पूर्ण यौवन पर होता है ॥८॥

काश्मर्याणां निष्कुलीकृतानामेष एव कल्पः पांशुशय्याभोजनवर्जं; अत्र हि पयसा शृतेन भोक्तव्यं-समानमन्यत् पूर्वेणाशिषश्च । शोणितपित्तनिमित्तेषु विकारेष्वेतेषामुपयोगः ॥९॥

गम्भारी फलों में से गुठली निकालकर इसी विधि से कल्प करे, परन्तु इसमें धूलि की शय्या और भोजन न बरते । इसमें दूध से पकाया भात खाना चाहिये, और सब एक जैसा है, और फलश्रुति भी पहले की भाँति है । रक्त-पित्तजन्य रोगों में इनका उपयोग है ॥९॥

यथोक्तमागारं प्रविश्य बलामूलार्धपलं पलं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य द्वादशवर्षाणि वयस्तिष्ठति; एवं दिवसशतमुपयुज्य वर्षशतं वयस्तिष्ठति । एवमेवातिबलानागबलाविदारीशतावरीणामुपयोगः । विशेषतस्त्वतिबलामुदकेन, नागबलाचूर्णं मधुना, विदारीचूर्णं क्षीरेण, शतावरीमप्येवं, पूर्वेणान्यत् समानमाशिषश्च समाः । एतास्त्वौषधयो बलकामानां शोषिणां रक्तपित्तोपसृष्टानां शोणितं छर्दयतां विरिच्यमानानां चोपदिश्यन्ते ॥१०॥

कहे हुए आगार (घर में - सूत्र० अ० १६।४) में जाकर बला के मूल की आधा पल या पल भर मात्रा को दूध में घोलकर पीये । इसके जीर्ण होने पर दूध, घी और भात का आहार करे । इस प्रकार बारह रात्रि सेवन करने से बारह वर्ष तक वय स्थित रहता है । इसी प्रकार एक सौ दिन सेवन करने से एक सौ वर्ष तक वय स्थिर रहता है । इसी प्रकार से अतिबला, नागबला, विदारी, शतावरी का उपयोग करे, भेद इतना है कि अतिबला को पानी से, नागबला के चूर्ण को मधु से, विदारी के चूर्ण को दूध से, नागबला से शतावरी को भी दूध से लेवे । शेष सब पहले की भांति, और फलश्रुति भी समान है । ये औषधियाँ बलकी चाहवाले, शोषरोगी, रक्त-पित्त से पीड़ित, रक्त का वमन करनेवाले तथा विरेचन करनेवालों के लिये कही जाती है ।

वि० मन्तव्य—पुनर्वसु के शब्दों में यह कुटीप्रावेशिक रसायन सेवन का विधान है च० चि० अ० १ में देखिये ॥ १० ॥

वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, प्रतिषेधोऽत्र पूर्ववत्, प्रयोगमिममुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम्, एतेनैव चूर्णेन पयोऽवचूर्ण्य शतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुञ्जीत सायं प्रातरेककालं वा, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति ॥११॥

वाराही कन्द के मूल का चूर्ण एक तुला (एक सौ पल) लेकर इसमें से योग मात्रा को मधु युक्त दूध में घोलकर पीये । इसके जीर्ण होने पर दूध घी चावल का भोजन करे । इसमें अपथ्य पूर्व की भाँति है । इस प्रयोग के उपयोग से एक सौ वर्ष की आयु होती है, स्त्रियों में अक्षयता (शुक्र का नाश न होना) मिलती है । वाराही मूल के चूर्ण को दूध में मिलाकर पकाये । इस पके हुए दूध के मथने से जो घी निकले, उस घी को मधु में मिलाकर प्रातः और सायं या एक समय खाये । इसके पचने पर दूध, घी, चावल का भोजन करे । इस प्रकार एक मास सेवन करने पर एक सौ वर्ष की आयु होती है ।

वक्तव्य—वाराहीकन्दकल्क, दूध चार गुणा, घी एक द्रोण सिद्ध करे । इस प्रकार इस घृत को एक सौ बार पाक करे । इसमें जल भी चौगुना मिलाना चाहिये, ऐसा कई कहते हैं ॥ ११ ॥

चक्षुःकामः प्राणकामो वा बीजकसाराग्निमन्थमूलं निष्क्वाथ्य माषप्रस्थं साधयेत्, तस्मिन् सिध्यति चित्रकमूलानामक्षमात्रं कल्कं दद्यादामलकरसचतुर्थभाग, ततः स्विन्नमवतार्य सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा । शीतीभूतं मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्योपयुञ्जीत यथाबलं यथासात्म्यं च लवणं परिहरन् भक्षयेत् । जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात् पयसा वा मासत्रयम्, एवमाभ्यां प्रयोगाभ्यां चक्षुः सौपर्णं भवत्यनल्पबलः स्त्रीषु चाक्षयो वर्षशतायुर्भवतीति ॥१२॥

आँखों के तेज या प्राणों की इच्छावाले जो हों, वे विजयसार, साल, अग्निमन्थ इनके मूल का क्वाथ करके इसमें एक प्रस्थ उड़द सिद्ध करें । जब उड़द पक रहे हों, तब इसमें चित्रक मूल का कल्क एक कर्ष आँवले का रस चौथाई भाग मिलाये । उड़दों के पक जाने पर उतारकर, सहस्र संपात आहुतियों से होम करके, ठण्डा होने पर इसमें मधु और घृत मिलाकर बल के अनुसार खाये । सात्म्य के अनुसार-नमक को छोड़ते हुए, भोजन करे । पच जाने पर नमक रहित मूंग और आँवले के यूष के साथ घृत मिला भात खाये या दूध के साथ भात खाये । इस प्रकार तीन मास करे । इस प्रकार इन प्रयोगों को करने से आँख गरुड़ के समान हो जाती है, बहुत बल आता है, स्त्रियों में निर्बलता अनुभव नहीं होती, एक सौ वर्ष की आयु होती है ॥ १२ ॥

भवति चात्र—

पयसा सह सिद्धानि नरः शणफलानि यः ।
भक्षयेत् पयसा सार्धं वयस्तस्य न शीर्यते ॥१३॥

कहा भी है—जो मनुष्य दूध के साथ सिद्ध किये शण के फलों को दूध के साथ खाता है, उसका वय-गिरता नहीं (वय स्थिर रहता है) ॥१३॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सर्वोपघातशमनीयं रसायनचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मेधायुष्कामीयंरसायनचिकित्सितं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मेधायुष्कामीय रसायन चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में मेधा-स्मरण शक्ति तथा आयु की प्राप्ति के उपाय लिखे गये हैं। उन्माद एवं अपस्मार आदि रोगोंमें भी इन उपायों का प्रयोग करना चाहिये ॥१,२॥

मेधायुष्कामः श्वेतावल्गुजफलान्यातपपरिशुष्काण्यादाय सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा गुडेन सहालोड्य स्नेहकुम्भे सप्तरात्रं धान्यराशौ निदध्यात्, सप्तरात्रादुद्धृत्य हृतदोषस्य यथाबलं पिण्डं प्रयच्छेदनुदिते सूर्य, उष्णोदकं चानुपिबेत् भल्लातकविधानवच्चागारप्रवेशः, जीर्णौषधश्चापराह्णे हिमाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रः शालीनां षष्टिकानां च पयसा शर्करामधुरेणौदनमश्नीयात्, एवं षण्मासानुपयुज्य विगतपाप्मा बलवर्णोपेतः श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। कुष्ठिनं पाण्डुरोगिणमुदरिणं वा कृष्णाया गोमूत्रेणालोड्यार्धपलिकं पिण्डं विगतलौहित्ये सवितरि पाययेत्, अपराह्णे चालवणेनामलकयूषेण सर्पिष्मन्तमोदनमश्नीयात्; एवं माससुपयुज्य स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। एष एवोपयोगश्चित्रकमूलानां रजन्याश्च, चित्रकमूले विशेषो द्विपलिकं पिण्डं परं प्रमाणं, शेषं पूर्ववत्।

मेधा और आयु की कामनावाला मनुष्य श्वेत बावची के फलों को धूप में सुखाकर बारीक चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को गुड़ के साथ मिलाकर घी से स्निग्ध घड़े में रखकर सात दिन तक धान्यराशि में रख देवे। सात दिन के पीछे इसको निकालकर दोषों को वमन-विरेचन से शुद्ध करके, बल के अनुसार सूर्य के उगने से पहले ही योग्य मात्रा में खाकर पीछे से गरम पानी पीये। मिलावे के विधान की भाँति घर में प्रवेश करके नियम पाले। औषध के जीर्ण होने पर अपराह्ण में ठण्डे जल से स्नान करके शाली या साठी के भात को शर्करा मिश्रित दूध से खाये। इस प्रकार छैः मास तक सेवन करने पर पाप रहित, बल-वर्ण से युक्त; सुनते ही धारण करनेवाला, स्मृतिशाली नीरोगी, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। कुष्ठरोगी, पाण्डुरोगी या उदररोगी को काली बावची के बीजों का चूर्ण गोमूत्र में घोलकर, आधापल की मात्रा में, सूर्य के लाल वर्ण से पहले अर्थात् उषाकाल में ही पिला देवे। अपराह्ण में नमक रहित यूष से घीवाला भात खाये। इस प्रकार एक मास सेवन करने पर स्मृतिशाली, नीरोगी, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। यही उपयोग चित्रकमूल और हल्दी का है। चित्रकमूल में इतना भेद है कि इसकी उत्कृष्ट मात्रा दो पल है, शेष पूर्व की भांति है।

हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत् पयोऽनुपानं वा, तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत, तिलैर्वा सह भक्षयेत्त्रीन् मासान् पयोऽनुपानं जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसी श्रुतिनिगादी भवति वर्षशतमायुरवाप्नोति। त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनां भक्षयेत्, त्रिरात्रादूर्ध्वं पयः सर्पिरिति चोपयुञ्जीत। बिल्वमात्रं पिण्डं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत् एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥४॥

वमन विरेचन से दोषों को निकालकर पेया आदि का संसर्जन क्रम पालकर क्रमशः भोजन पर पहुँच जाने पर आगार (घर) में प्रविष्ट होकर, मण्डूकपर्णी का स्वरस निकालकर सहस्र संपात आहुतियाँ देकर, बल के अनुसार स्वरस को दूध में मिलाकर पीये, अथवा स्वरस को पीसकर पीछे से दूध, पीये। इसके जीर्ण होने पर जौ के अन्न को दूध के साथ खाये। अथवा तिल के साथ खाये। दूध का अनुपान बरते, इस प्रकार तीन मास करे। औषध के जीर्ण होने पर दूध, घी और भात का ही भोजन करे। इस प्रकार करने से ब्रह्मवर्चसवाला, सुनते ही धारण करनेवाला होता है, एक सौ वर्ष की आयु होती है। अथवा तीन दिन उपवास करके तीन दिन इस मण्डूकपर्णी को खाये। तीन दिन के पीछे दूध, घी को खाये। ब्राह्मी की या ब्राह्मीकल्क की बिल्वमात्रा (एक पल मात्रा) को दूध में घोलकर पीये। इस प्रकार बारह रात्रि खाने पर मेधावी और एक सौ वर्ष की आयु होती है ॥४॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्, क्षीरसात्म्यो वा पयसा भुञ्जीत, एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चस्वी मेधावी भवति द्वितीयं सप्तरात्रमुपयुज्य ग्रन्थमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति, तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारितं शतमप्यवधारयति, एवमेकविंशतिरात्रमुपयुज्यालक्ष्मीरपक्रामति, मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति, सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठन्ति, श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति ॥५॥

वमन, विरेचन से शुद्ध होकर घी में जाकर पेया आदि संसर्जन विधि पूरी करके ब्राह्मी स्वरस को लेकर सहस्रसंपात विधि से होम करके, बल के अनुसार पीये। औषध के जीर्ण होने पर अपराह्न में नमक रहित यवागू को पीये। दूध जिसको सात्म्य हो, वह दूध के साथ यवागू खाये। इस प्रकार सात दिन खाकर ब्रह्मवर्चस्वी, मेधावी होता है। दूसरे सात दिन औषध खाकर इच्छित ग्रन्थ को बनाता है, भूला हुआ स्मरण हो जाता है, तीसरे सात दिन सेवन करने से दो बार कही सौ बात भी याद हो जाती हैं। इस प्रकार इक्कीस दिन सेवन करने से दारिद्रय दूर होता है, सरस्वती देवी सामने मूर्त्ति रूप से खड़ी हो जाती है। सब श्रुतियाँ (वेद) याद हो जाती हैं। सुनते ही याद करता है, पाँच सौ वर्ष की आयु होती है ॥५॥

ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडङ्गतण्डुलानां कुडवं द्वे द्वे पले वचामृतयोर्द्वादश हरीतक्यामलकबिभीतकानि श्लक्ष्णपिष्टान्यावाप्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, पूर्ववच्चात्र परीहारः, एतेनोर्ध्वमधस्तिर्यक् कृमयो निष्क्रामन्ति, अलक्ष्मीरपक्रामति, पुष्करवर्णः स्थिरवयाः श्रुतनिगादी त्रिवर्षशतायुर्भवति, एतदेव कुष्ठविषमज्वरापस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु संशोधनमादिशन्ति ॥६॥

ब्राह्मी स्वरस दो प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, विडङ्ग-तण्डुल एक कुडव, वच, गिलोय दो-दो पल, हरड़ आँवला और बहेड़ा मिलित बारह पल लेकर इनको बारीक पीसकर एक साथ सिद्ध करके, सुरक्षित स्थान पर रख देवे। फिर पूर्व विधि से (वमनादि से शुद्ध होकर पेयादि क्रम का पालन करके) इसको बलानुसार सेवन करे। पचने पर दूध, घी, और भात खाये। पूर्व की भाँति परिहार है। इससे मुख, नासा, गुदा, मूत्र आदि ऊपर एवं नीचे के तथा हाथ पैर आदि सब स्थानों से (त्वचा से) कृमि निकलते हैं। अलक्ष्मी दूर होती है, कमल जैसा वर्ण, स्थिर वय, सुनते ही धारण करनेवाला, तीन सौ वर्ष की आयु का होता है। कुष्ठ, विषमज्वर, अपस्मार, उन्माद, विष-भूत-ग्रह और अन्य महारोगों में यही संशोधन कहा जाता है। (पुष्करवर्णः—पुष्करं पद्मवराटकम्। श्रुतनिगादी—श्रुतग्रहणशक्तिमान्—डल्हणः)।

वि० मन्तव्य—मण्डूकपर्णी एवं ब्राह्मी का सेवन करने—४-५ तथा ६ सूत्रों के अनुसार आहार विहार, मात्रा आदि पर ध्यान देवें। प्रायः ब्राह्मी के ७ या १४ पत्तों का प्रयोग करके पूर्ण लाभ की असफल कामना की जाती है। वचामृतयोः के स्थान पर वचात्रिवृतयोः पाठान्तर अधिक संगत है, क्योंकि इस घृत का कुष्ठ आदि रोगों में संशोधनार्थ प्रयोग करने का आदेश है ॥६॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य हैमवत्या वचायाः पिण्डमामलकमात्रमभिहुतं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुञ्जीत, ततोऽस्य श्रोत्रं विव्रियते द्विरभ्यासात् स्मृतिमान् भवति; त्रिरभ्यासात् श्रुतमादत्ते, चतुर्द्वादशरात्रमुपयुज्य सर्वं तरति किल्विषं, तार्क्ष्यदर्शनमुत्पद्यते, शतायुश्च भवति। द्वे द्वे पले इतरस्या वचाया निष्क्वाथ्य पिबेत्, पयसा, समानं भोजनं समाः पूर्वेणाशिषश्च ॥७॥

वमनादि से शरीर के दोषों को निकालकर घर में प्रविष्ट होकर श्वेत वच की आँवले के समान मात्रा को होम विधि करके, दूध में घोलकर पीये। इसके जीर्ण होने पर घी, दूध, और भात का भोजन करे। इस प्रकार बारह दिन करे। इससे इसके कान खुल जाते हैं। दो बारह दिन (चौबीस दिन) सेवन करने से स्मृतिशाली हो जाता है। छत्तीस दिन सेवन करने पर सुनते ही याद हो जाता है, अड़तालीस दिन सेवन करने पर सब पाप नष्ट हो जाते हैं, एक सौ वर्ष की आयु होती है। दूसरी प्रकार की लाल वच के दो-दो पल दूध के साथ क्वाथ करके पीये। भोजन पूर्व की भाँति और फलश्रुति भी पूर्व की भाँति है। (क्षीर पाक विधि से पाक विधि है) ॥७॥

वचाशतपाकं वा सर्पिर्द्रोणमुपयुज्य पञ्चवर्षशतायुर्भवति, गलगण्डापचीश्लीपदस्वरभेदांश्चापहन्तीति ॥८॥

वचा के कल्क से एक सौ बार सिद्ध किये घी की एक द्रोण मात्रा को खाने से पाँच सौ वर्ष की आयु होती है। गलगण्ड-अपची श्लीपद स्वरभेद नष्ट हो जाते हैं ॥८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि आयुष्कामरसायनम्।
मन्त्रौषधसमायुक्तं संवत्सरफलप्रदम् ॥९॥
बिल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान् सहस्रशः।
श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने ॥१०॥
सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम्।
त्वचं विहाय बिल्वस्य मूलक्वाथं दिने दिने ॥११॥
प्राश्नीयात् पयसा सार्धं स्नात्वा हुत्वा समाहितः।
दशसाहस्रमायुष्यं स्मृतं युक्तरथं भवेत् ॥१२॥
हुत्वा बिसानां क्वाथं तु मधुलाजैश्च संयुतम्।
अमोघं शतसाहस्रं युक्तं युक्तरथं स्मृतम् ॥१३॥

इसके आगे आयुष्काम (आयुवर्धक) मंत्र और औषध के साथ, एक वर्ष में फल देनेवाली रसायन को कहूँगा। बिल्व के चूर्ण को पुष्य नक्षत्र में श्रीसूक्त से (हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजामित्यादि) एक हजार बार होम करके सुवर्ण के साथ घी और मधु मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल में खाये। यह उत्तम दारिद्रय नाशक है। बिल्वमूल की छाल उतारकर इसका क्वाथ करके प्रतिदिन दूध के साथ खाये।

खाने से पूर्व स्नान और होम करे। इस प्रकार करने से दस हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है, और युक्तरथ होता है। हवन करके, बिस (भिस) के क्वाथ को मधु और लाजा के साथ मिलाकर खाये। यह अव्यर्थ एवं एक सौ हजार वर्ष की आयु देती है, और युक्तरथ है।

वक्तव्य—बिल्व की इतनी बड़ी महिमा से ही, शायद बिल्वपत्र भगवान् शंकर पर चढ़ाने की प्रथा आर्य-संस्कृति में है। युक्तरथ–जोड़े हुए रथों में भी जो बरता जाये अर्थात् इनमें किसी प्रकार का परिहार नहीं होता। अथवा जैसे जुड़ा हुआ रथ होने पर तुरन्त कहीं भी जा सकते हैं, उस प्रकार यह रसायन तुरन्त जब इच्छा हो तभी ली जा सकती है, इसके लिये वमनादि कर्म की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार युक्त रथ वस्ति है, जो कि जब जरूरत समझी उसी समय बरती जा सकती है ॥९-१३॥

सुवर्णं पद्मबीजानि मधु लाजाः प्रियङ्गवः।
गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत् ॥१४॥
नीलोत्पलदलक्वाथो गव्येन पयसा शृतः।
ससुवर्णस्तिलैः सार्धमलक्ष्मीनाशनः स्मृतः ॥१५॥
गव्यं पयः सुवर्णं च मधूच्छिष्टं च माक्षिकम्।
पीतं शतसहस्राभिर्हुतं युक्तरथं स्मृतम् ॥१६॥

सुवर्ण भस्म (या वरक), कमलगट्टा, मधु, लाजा, प्रियंगु, इनको गाय के दूध से पीने पर पाप-दौर्भाग्य नष्ट होता है। नीले कमल के पत्तों का क्वाथ गाय के दूध से पकाया हुआ, सुवर्ण और तिल के साथ खाना उत्तम अलक्ष्मी—नाशक है। गाय का दूध, सुवर्ण, मोम और मधु (भ्रामर मधु) पीने पर युक्त रथ रसायन हैं, इसके साथ एक लाख आहुतियों से होम करे॥

वचाघृतसुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम्।
मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥१७॥
वासामूलतुलाक्वाथे तैलमावाप्य साधितम्।
हुत्वा सहस्रमश्नीयान्मेध्यमायुष्यमुच्यते ॥१८॥
यावकांस्तावकान् खादेदभिभूय यवांस्तथा।
पिप्पलीमधुसंयुक्तान् शिक्षा चरणवद्भवेत् ॥१९॥

वचाचूर्ण, सुवर्णभस्म और बिल्वचूर्ण इनको घी के साथ चाटे। मेधा, आयुष्य, आरोग्य, पुष्टि, और सौभाग्य इससे बढ़ता है। वासामूल के क्वाथ में तैल प्रक्षेप देकर सिद्ध करे। एक हजार आहुति देकर खाये, यह मेध्य और आयुवर्धक कहा जाता है। जौ को कूटकर बनाये भक्ष्य को पिप्पली और मधु के साथ खाने पर गुरु से सीखे बिना ज्ञान होता है, जिस प्रकार कि बाल्यावस्था में घुटने चलने के उपरान्त, बिना सीखे पैरों से चलना आ जाता है ॥१७-१९॥

मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्॥
प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात् ॥२०॥
शतावरीघृतं सम्यगुपयुक्तं दिने दिने।
सक्षौद्रं ससुवर्णं च नरेन्द्रं स्थापयेद्वशे ॥२१॥
गोचन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु।
सुवर्णमिति संयोगः पेयः सौभाग्यमिच्छता ॥२२॥
पद्मनीलोत्पलक्वाथे यष्टीमधुकसंयुते।
सर्पिरासादितं गव्यं ससुवर्णं सदा पिबेत् ॥२३॥
पयश्चानुपिबेत् सिद्धं तेषामेव समुद्भवे।
अलक्ष्मीघ्नं सदाऽऽयुष्यं राज्याय सुभगाय च ॥२४॥
यत्र नोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने।
शब्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदा भवेत् ॥२५॥
पाप्मानं नाशयन्त्येता दद्युश्चौषधयः श्रियम्।
कुर्युर्नागबलं चापि मनुष्यममरोपमम् ॥२६॥

मधु, आँवले का चूर्ण और सुवर्ण इनको खाकर मृत्यु से पकड़ा हुआ भी मनुष्य प्राण संशय से छूट जाता है। शतावरी-घृत को सुवर्ण और मधु के साथ प्रतिदिन भली प्रकार खाने पर राजा को भी वश में कर देता है। सौभाग्य को चाहनेवाला व्यक्ति गोचन्दन (प्रियंगु), मोहनिका (जिया पोता), मुलैहठी, माक्षिक मधु और सुवर्ण को मिलाकर पीये। लालकमल, नीला कमल, मुलैहठी इनके क्वाथ में सिद्ध किया गाय का घृत सुवर्ण के साथ सदा पीये। और इसके पीछे लाल, नीले कमल और मुलैहठी में सिद्ध किया दूध पीये। यह अलक्ष्मी नाशक, सदा आयुवर्धक, राज्य के लिये और मंगल के लिये है। इन योगों के बनाने में जहाँ मंत्र का विधान नहीं किया, वहाँ सब स्थानों में तीन पदवाली गायत्री का पाठ करना चाहिये। ये औषधियाँ अलक्ष्मी का नाश करती हैं, और लक्ष्मी को देती हैं। मनुष्यों में हाथियों का बल देती हैं और मनुष्य को देवता के समान बना देती हैं।

वक्तव्य—त्रिपदा गायत्री—"ॐ भूर्भवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्" ॥२०-२६॥

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रावलोकनम्।
तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गु (ग) णः ॥२७॥
आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥२८॥

निरन्तर अध्ययन (स्वाध्याय), वाद, दूसरों के ग्रन्थों को देखना, उस विद्या को जाननेवाले आचार्यों की सेवा, ये बुद्धि-मेधा को करनेवाले हैं। पहले भोजन के जीर्ण होने पर भोजन करना, मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और साहसिक कार्यों का त्याग आयुवर्धक है।

वक्तव्य—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' बुद्धि-समझने की शक्ति, मेधा-स्मृति-धारण करने की शक्ति।

ब्रह्मचर्यमायुष्यकराणाम्, अहिंसा प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमा। चरक० ॥२७,२८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मेधायुष्कामीयं रसायनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन का व्याख्यान करेंगे - जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—स्वभावतः होनेवाली जरा एवं मृत्यु आदि रोगों का निरोध करने के उपाय इस अध्याय में लिखे गये हैं। युवावस्था के पश्चात् जरा स्वभावतः आती है और जरा के पीछे मृत्यु भी स्वभावतः आती है, परन्तु इन उपायों से कुछ काल के लिये जरा एवं मृत्यु का निरोध किया जा सकता है ॥ १,२ ॥

ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥३॥

ब्रह्मा आदि देवताओं ने बुढ़ापा और मृत्यु के नाश के लिये पूर्वकाल में सोम संज्ञावाले अमृत को बनाया था। उस सोम का विधान कहा जायेगा ॥३॥

एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥४॥

सोम वास्तव में एक ही है, परन्तु स्थान, नाम, आकार, वीर्य की भिन्नता से चौबीस प्रकार का हो जाता है ॥४॥

तद्यथा—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥५॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि।
स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥६॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥७॥
गायत्र्या त्रिपदायुक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥८॥
सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥९॥

जैसा कि—अंशुमान्, मुंजवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत, गायत्र, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, शाक्वर, अग्निष्टोम, रैवत, त्रिपदा गायत्री से युक्त और उडुपति—ये चौबीस सोम वेदोक्त शुभ नामों से कहे जाते हैं। इन सब सोमों के सेवन करने की एक ही विधि है और सबका समान ही गुण है। इनका विधान-सेवन-विधि कही जाती है ॥५-९॥

अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्ते देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे (राजते वा) पात्रेऽञ्जलिमात्रं, ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्, तत उपस्पृश्य शेषमप्सु प्रक्षिप्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥१०॥

इनमें से किसी भी एक सोम को पीने की इच्छावाला मनुष्य सब साधन एवं परिचारकों से युक्त, उत्तम स्थान में तीन खण्डवाली (एक कोठरी के अन्दर दूसरी, दूसरी में तीसरी) कोठरी बनवाकर, वमनादि से शरीर के दोषों को निकालकर, पेया आदि क्रम का पालन करके, प्रशस्त तिथि-करण-मुहूर्त्त-नक्षत्रों में, याज्ञिक विधि से अंशुमान् सोम को लाकर, ऋत्विगों से स्नान कराये एवं अग्नि में दिये हुए सोम को, घर के अन्दर, मंगल (शान्तिपाठ) और स्वस्तिवाचन करके सोमकन्द को सुवर्ण की सुई से (चाकू) से चीरकर, सोने या चाँदी के पात्र में एक अंजलि परिमाण रस को ले ले। इस रस को एकदम से ही पी जाये, घूँट-घूँट करके न पीये। फिर आचमन करके, बचे हुए को जल में फेंककर, अपने को यम-नियम रखते हुए, वाणी को नियमित (मौन) करके, मित्रों के साथ विहार करे—घूमे फिरे, बैठे।

वक्तव्य—साधन—गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां सुप्रतिविहिततृणशरणपानीयम् पात्र्याचमनीयोदककोष्ठं, मणिकघटपिठरपर्योगकुम्भीकुम्भकुण्डशरावदर्वीकटोदञ्चनपरिपचमन्थान–चर्मचेलसूत्रकार्पासोर्णादीनि च, चरक सूत्र०। "प्रशस्तदेश-प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परिवापपुष्करण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले।" वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतंगं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात् ॥" चरक। विहार चार प्रकार है, यथा—गमन, चंक्रमण, स्थान, और आसन ॥१०॥

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः।
आसीत तिष्ठेच्च क्रामेच्च न कथंचन संविशेत् ॥११॥

रसायन पीकर मनुष्य वायु रहित स्थान में (जहाँ सीधी वायु न आये) रसायन में मन लगाकर, पवित्रता के साथ रहे, बैठे, खड़ा रहे और चले, परन्तु लेटे (सोये) नहीं ॥११॥

सायं वा मुक्तवानुपश्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत, तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत् (अशनायितो वा क्षीरं); ततः

प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत, तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते, ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं छर्दितवते सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्; ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्यते, स तेनानिष्टप्रतिग्रहभक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्विनिर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति, ततः सायं स्नाताय पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्, क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्, ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते ततः सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत, ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्; एवं पञ्चमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत, केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्; ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति, तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत्, ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, ततोऽस्य मांसमाप्याय्यते, त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति; तस्य नवमदिवसात्प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेकः; ततो दशमेऽह्न्येतदेव वितरेत्, ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति; एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत; ततस्त्रयोदशाहात् प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः; एवमाषोडशाद्वर्तेत; ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकप्रकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः। तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत् पञ्चविंशतिरिति; ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा, ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः स्थिराः स्निग्धा लक्षणसपन्नाः केशाश्च सूक्ष्मा जायन्ते, त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशा; ऊर्ध्वं च मासात् केशान् वापयेत्, वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत्, ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात् केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्थिराः स्निग्धाः, ततस्त्रिरात्रात् प्रथमावसथपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्, ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्यं, यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे सुखोष्णं च पयः परिषेकार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चन्दनमनुलेपार्थे, आमलकरसविमिश्रश्चास्य यूषसूपविकल्पाः क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थे; एवं दशरात्रं, ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत; ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत, किञ्चिदातपपवनान् वा सेवेत, पुनश्चान्तः प्रविशेत्, न चात्मानमादर्शेऽप्सु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्, ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेत्, एवं सर्वेषामुपयोगविकल्पः विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपकादयः सोमा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्भक्षयितव्याः। तेषां तु प्रमाणमर्धचतुष्कमुष्टयः ॥१२॥

अथवा सायंकाल में भोजन करके शान्तिपाठ सुनकर, कुशा की शय्यापर काले मृग की मृगछाला बिछाकर-मित्रों से घिरा हुआ सोये। प्यास लगने पर शीतल जल ही थोड़ा सा पीये। (भोजन न करने पर दूध ही पीये) फिर प्रातःकाल उठकर शान्तिपाठ सुनकर, स्वस्तिवाचन करके, गाय का स्पर्श करके पूर्व की भाँति रहे। सोम के जीर्ण होने पर वमन होता है। फिर रक्तमिश्रित कृमियुक्त वमन करनेवाले मनुष्य को सायंकाल गरम करके ठण्डा किया दूध देवे। फिर तीसरे दिन कृमिमिश्रित मल आता है। इससे वह मनुष्य अनिष्ट-प्रतिग्रह भोजन आदि से मुक्त होकर शुद्ध शरीरवाला होता है। फिर सायंकाल स्नान किये हुए को पूर्व की तरह दूध देवे। रेशम की चादर बिछाई शय्यापर इसको सुलाये। फिर चौथे दिन इसमें शोथ उत्पन्न होता है। फिर सब अंगों से कृमि निकलते हैं। फिर उसी दिन शय्यापर धूल बिछाकर सोये। सायंकाल पूर्व की भाँति गरम करके ठण्डा किया दूध दे। इसी तरह पाँचवें और छठे दिन करे। केवल दोनों समय इसको दूध ही देवे। फिर सातवें दिन मांस के बिना, त्वचा और अस्थिमात्र रहते हैं, सोम के पीने के कारण ही बचा रहता है। उस दिन सुहाते हुए गरम दूध से स्नान करके तिल, मुलैहठी और चन्दन का लेप शरीर पर कराके दूध पिलाये। फिर आठवें दिन प्रात.काल में ही दूध से स्नान कराके, चन्दन का शरीर पर लेप कराके, दूध पिलाये। धूल की शय्या को छोड़कर रेशम से बिछाई शय्यापर लिटा देवे। फिर इसका मांस बढ़ने लगता है (पुष्ट होता है)। त्वचा फटती है, दाँत-नख और रोम गिर जाते हैं। नवें दिन से इसके शरीर पर अणुतैल का अभ्यंग करे, खैर की छाल के कषाय से स्नान कराय। दसवें दिन इसी प्रकार करे। इससे इसकी त्वचा स्थिर बन जाती है। ग्यारहवें और बारहवें दिन भी इसी प्रकार करे। तेरहवें दिन से लेकर खैर की छाल के कषाय से स्नान कराये। इस प्रकार सोलहवें दिन तक करे। फिर सतरहवें और अठारहवें दिन नोकदार, स्निग्ध, वज्र-वैडूर्य-स्फटिक-के समान निर्मल, समान, स्थिर, खट्टे आदि का सहन करनेवाले दाँत निकल आते हैं। तब से लेकर पुराने शाली चावलों की कणियों से दूध में बनाई यवागू को खाये। पच्चीसवें दिन तक इसी प्रकार करे। फिर इसको शाली चावलों का नरम भात दूध के साथ दोनों समय देवे। फिर इसके मूंग, वीरबहूटी, तरुण सूर्य के समान लाल नख निकल आते हैं। स्थिर, स्निग्ध, सूक्ष्म एवं लक्षणों से युक्त बाल उग आते हैं। नीले कमल, अलसी के फूल, तथा वैडूर्य के सदृश वर्णवाली त्वचा हो जाती है। एक मास के पीछे बालों को कटवा दे। बाल कटवा कर खस, चन्दन, काले तिल इनको

पीसकर सिर पर लेप करे। अथवा दूध से स्नान कराये। इससे सात दिन पीछे, भ्रमर के समान काले घुंघराले, स्थिर, स्निग्ध बाल उत्पन्न होते हैं। फिर तीन दिन पीछे पहले घर की देहली मेंसे (घर की चार दिवारी से) बाहर आकर, थोड़ी सी दूर रह कर फिर अन्दर उसी घर में चला जाये। अभ्यंग के लिये इसे बलातैल बरतना चाहिये। उद्वर्तन के लिये जौ का आटा, परिषेक के लिये सुहाता हुआ गरम पानी, उत्सादन के लिये अजकर्ण (साल) का कषाय, स्नान के लिये खस मिश्रित कुए का पानी, लेपन के लिये चन्दन, यूष सूप आदि आँवले का रस मिलाकर बनाये। गाय के दूध और मुलैहठी के कल्क से सिद्ध किया काले तिलों का तेल, शाक, आदि वस्तुओं के सिद्ध करने में बरते। इस प्रकार दस दिन करे। दूसरे दस दिन दूसरे घर में रहें। इसके पश्चात् तीसरे घर में दस दिन तक वहीं रहे। थोड़ी धूप और वायु का सेवन करने लगे। और फिर अन्दर चला जाये। अतिशय सुन्दर होने से अपना मुख शीशे या पानी में न देखे। अगले दस दिन तक क्रोध आदि को छोड़ देवे। यह विधि सब सोमों के सेवन की है। विशेषकर वल्ली (लता आदि), (दूर्वा जैसे)—क्षुपक (झाड़ी जैसे) आदि सोम ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को खाने चाहिये। इनकी मात्रा साढ़े तीन मुष्टि (पल) है ॥१२॥

अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात्, चन्द्रमसं राजते तावुपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति, शेषास्तु ताम्रमये मृन्मये वा रोहिते वा चर्मणि वितते, शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः। ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति ॥१३॥

अंशुमान् सोम को सुवर्ण के पात्र से निचोड़े। चान्द्रमस सोम को चाँदी के पात्र में निचोड़े। इन दोनों का उपयोग करके मनुष्य देवताओं के अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त करके भगवान् शिव में प्रवेश करता है। शेष सोमों को ताम्र के, मिट्टी के, या लोहित मृग के चमड़े से बने पात्र में निचोड़े। शूद्र को छोड़कर शेष तीनों वर्ण सोमका उपयोग करें। फिर चौथे मास में पूर्णमासी के दिन पवित्र स्थान पर ब्राह्मणों की पूजा करके, स्वस्तिपाठ करके, घर से निकलकर इच्छानुसार जाये।

वक्तव्य—अष्टविधमैश्वर्यम्—"अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ इत्यष्टगुणमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ॥" चरक० ॥१३॥

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥१४॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च।
तस्यालमायुःक्षपणे समर्थानि भवन्ति हि ॥१५॥
भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रस्रुतानामनेकधा।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥१६॥
क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥१७॥
कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः ॥१८॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥१९॥

बुद्धिमान् मनुष्य औषधियों के स्वामी सोम का उपयोग करके दस हजार वर्ष तक नूतन शरीर को धारण करता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र और अस्त्र कोई भी इसकी आयु को नष्ट नहीं कर सकते। अपितु इसको बढ़ाते हैं। उत्तम जाति के साठ वर्ष की आयुवाले तथा मद बहाते हुये हजारों हाथियों का बल आ जाता है। क्षीरसमुद्र, इन्द्र का घर-स्वर्ग, उत्तर कुरु जहाँ भी जाना चाहता है, वहाँ पर वह बेरोक-टोक गति से जा सकता है। रूप में कामदेव के समान, कान्ति में चन्द्रमा के समान, यह महान् तेजस्वी मनुष्यों के मनों को प्रसन्न करता है। अंग—उपांगों समेत सब वेदों को तत्त्व रूप से जानता है। देवता के समान अव्यर्थ संकल्पवाला जगत् में घूमता है।

वक्तव्य—'उत्तर-कुरु' वर्तमान थ्यानशान (देवताओं का पर्वत) है जो मध्य एशिया में है। उत्तर कुरु का नाम किरातार्जुनीय में भी अर्जुन की विजय वर्णन में आया है, यथा—'विजित्य प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ॥१४-१९॥

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥२०॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥२१॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥२२॥
अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवाल्लशुनच्छदः ॥२३॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ ॥२४॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ।
तथाऽन्ये मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ॥२५॥
सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥२६॥

सब प्रकार के सोमों के पत्ते पन्द्रह होते हैं। ये पत्ते शुक्ल पक्ष में उत्पन्न होते हैं, और कृष्ण पक्ष में गिर जाते हैं। शुक्ल

पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्र सोम में बढ़ता है, और पूर्णमासी में पूरे पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं। कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्र झड़ने लगता है, और अमावस्या के दिन केवल लता मात्र बच जाती है। अंशुमान् सोम घृत के समान गन्धवाला, एवं कन्दवान् होता है। रजतप्रभ केले के आकार के कन्दवाला है। मुंजवान में लहसुन के समान पत्ते होते हैं। चन्द्रमा और कनकप्रभ सदा जल में रहते हैं। गरुडाहृतनामा और श्वेताक्ष ये पाण्डुर वर्ण, सांप की केंचुली जैसे, वृक्ष के अग्रभाग में लटकते हैं। शेष दूसरे चित्रित मण्डल (धब्बों से) चित्रित हुए दीखते हैं। सब सोमों के पत्ते पन्द्रह होते हैं, इनके कन्द में दूध होता है, लता रहती है, नाना प्रकार के पत्ते होते हैं ॥२०-२६॥

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥२७॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥२८॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥२९॥
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥३०॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥३१॥

हिमालय, पहाड़ की चोटी पर, सह्याद्रि में, महेन्द्र में, मलयाचल पर, श्रीपर्वत पर, देवगिरि पर, देवसहगिरि पर, पारियात्र में, विन्ध्याचल में, देवसुन्द में, ह्रद में, वितस्ता के उत्तर में, जो ऊँचे पाँच पर्वत हैं, उनके नीचे, मध्य में, सिन्धु नामक जो बड़ी नदी है, उसमें सोमों में श्रेष्ठ चन्द्रमा सोम हठ (जल कुम्भी) की तरह तैरता है। इसके समीप में ही मुंजवान् अंशुमान् रहता है। कश्मीर में क्षुद्रक मानस नाम का दिव्य तालाब है, यहाँ पर गायत्र, त्रैष्टुभ, पांक्त, जागत, शाक्वर तथा चन्द्रमा के समान कान्तिवाले दूसरे सोम हैं ॥२७-३१॥

यैश्चात्र मन्दभाग्यैस्ते भिषजश्चापमानिताः।
न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥३२॥

इन स्थानों पर जो वैद्यों का अपमान करते हैं, अधर्मात्मा, कृतघ्न, औषध से द्वेष करनेवाले, ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाले हैं वे लोग इन सोमों को नहीं देख सकते ॥३२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निवृत्तसन्तापीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे निवृत्त सन्तापीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१-२॥

यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः।
तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः ॥३॥

जिस प्रकार स्वर्ग में देवता संताप (दुःख) से रहित होकर आनन्द करते हैं, उसी प्रकार इन औषधियों को प्राप्त करके पृथ्वीतल पर मनुष्य आनन्द अनुभव करते हैं ॥३॥

अथ खलु सप्त पुरुषाः रसायनं नोपयुञ्जीरन्, तद्यथा-अनात्मवानलसो दरिद्रः प्रमादी व्यसनी पापकृद् भेषजापमानी चेति। सप्तभिरेव कारणैर्न संपद्यते, तद्यथा-अज्ञानादनारम्भादस्थिरचित्तत्वाद्दारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्मादौषधालाभाच्चेति ॥४॥

सात पुरुष रसायन का सेवन न करें। यथा—अजितेन्द्रिय, आलसी, दरिद्र, प्रमादी, व्यसनी, पापकर्म करनेवाला और औषध का अपमान करनेवाला। सात कारणों से रसायन औषध गुण नहीं करती, यथा–अज्ञान से, औषध का आरम्भ न करने से, चित्त के अस्थिर होने से, दारिद्र्य से (दरिद्रता से), अनायत्तता से, अधर्म से, औषध के न मिलने से ॥४॥

अथौषधीर्व्याख्यास्यामः—तत्राजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, चेत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः। तासौ सोमवत् क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहिताः। तासामागारेऽभिहुतानां याः क्षीरवत्यस्तासां क्षीरकुडवं सकृदेवोपयुञ्जीत यास्त्वक्षीरा मूलवत्यस्तासां प्रदेशिनीप्रमाणानि त्रीणि काण्डानि प्रमाणमुपयोगे, श्वेतकापोतीं समूलपत्रां भक्षयितव्या, गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्राव्याभिघारितमभिहुतं च सकृदेवोपयुञ्जीत, चक्रकायाः पयः सकृदेव, ब्रह्मसुवर्चला सप्तरात्रमुपयोक्तव्या। भद्यकल्पेन शेषाणां पञ्च पञ्च पलानि क्षीराढककथितानि प्रस्थेऽवशिष्टेऽवतार्य परिस्राव्य सकृदेवोपयुञ्जीत। सोमवदाहारविहारौ व्याख्यातौ, केवलं नवनीतमभ्यङ्गार्थं, शेषं सोमवदानिर्गमादिति ॥५॥

इसके आगे औषधियों का व्याख्यान करेंगे—अजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका; आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, ये

अठारह औषधियाँ सोम के समान शक्तिशाली हैं। इनकी क्रिया (सेवन विधि), और फलश्रुति-स्तुति शास्त्र में सोम के समान कही है। इनके स्थान पर होम करके, जो दूधवाली हों, उनके दूध की एक कुडव मात्रा एक साथ पी जाये। जो औषधियाँ दूध रहित हैं, और मूलवाली हैं, उनके मूल में से तर्जनी के बराबर तीन टुकड़े लेकर उपयोग करें। श्वेतकापोती को मूल और पत्ते के साथ खाना चाहिये। गोनसी, अजगरी, कृष्णकापोती, इनको नाखूनों समेत मुट्ठी भरकर-टुकड़े करके, काटकर दूध के साथ पकाकर, छानकर, घृत से थोड़ा स्निग्ध करके, पीछे से होम करके, इसको एक साथ पी जाये। चक्र का दूध एक साथ पीये। भक्ष्य विधि से ब्रह्मसुवर्चला को सात दिन खाना चाहिये। शेष औषधियों के पाँच-पाँच पल लेकर एक आढ़क दूध में पकाये। एक प्रस्थ रहने पर उतारकर, छानकर एक साथ पी जाये। आहार और विहार सोम की भाँति है। केवल भेद इतना है कि अभ्यङ्ग के लिये मक्खन बरते। शेष सब विधि बाहर आने तक सोम की भाँति है ॥५॥

भवन्ति चात्र—

युवानं सिंहविक्रान्तं कान्तं श्रुतनिगादिनम्।
कुर्युरेताः क्रमेणैव द्विसहस्रायुषं नरम् ॥६॥
अङ्गदी कुण्डली मौली दिव्यस्रक्चन्दनाम्बरः।
चरत्यमोघसंकल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे ॥७॥
व्रजन्ति पक्षिणो येन जललम्बाश्च तोयदाः।
गतिः सौषधिसिद्धस्य सोमसिद्धे गतिः परा ॥८॥

कहा भी है—ये औषधियाँ मनुष्य को युवा, सिंह के समान पराक्रमी, सुन्दर शरीर, सुनते ही धारण करनेवाला, तथा दो हजार वर्ष की आयुवाला करती हैं। केयूरयुक्त, कुण्डल धारण किये, मुकुटधारी, दिव्य माला चन्दन और वस्त्र को धारण करके, अव्यर्थ संकल्पवाला होकर बादल से भी न जाने योग्य आकाश में विचरता है। जिससे पक्षी जाते हैं, और पानी से भरे बादल जिस गति (मार्ग) से जाते हैं, औषधि से सिद्ध मनुष्य की वह गति है, सोम से सिद्ध व्यक्ति की गति इससे भी ऊपर हो जाती है ॥६-८॥

अथ वक्ष्यामि विज्ञानमौषधीनां पृथक् पृथक्।
मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ॥९॥
पञ्चारत्निप्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः।
निष्पत्रा कनकाभासा मूले द्व्यंगुलसंमिता ॥१०॥
सर्पाकारा लोहितान्ता श्वेतकापोतिरुच्यते।
द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमण्डलाम् ॥११॥
द्व्यरत्निमात्रां जानीयाद् गोनसीं गोनसाकृतिम्।
सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम् ॥१२॥
एवंरूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत्।
कृष्णसर्पस्वरूपेण वाराही कन्दसंभवा ॥१३॥
एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा।
छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसंभवे ॥१४॥
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते।
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥१५॥
कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी।
करेणुः सुबहुक्षीरा कन्देन गजरूपिणी ॥१६॥
हस्तिकर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी।
अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ॥१७॥
अजा महौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा।
श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्याः समां क्षुपाम् ॥१८॥
चक्रकामोषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम्।
मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः ॥१९॥
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदाऽऽदित्यानुवर्तिनी।
कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति ॥२०॥
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला।
अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यंगुलसंमितैः ॥२१॥
पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः।
श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ॥
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा।
गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसंभवे ॥२३॥
हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः।
अथवा शङ्खपुष्प्या च समाना सर्वरूपतः ॥२४॥
वेगेन महताऽऽविष्टा सर्पनिर्मोकसन्निभा।
एषा वेगवती नाम जायते ह्यम्बुदक्षये ॥२५॥

इसके आगे औषधियों को पृथक् २ पहिचान कहेंगे। अजगरी—चित्रित कपिल वर्ण के धब्बोंवाली, साँप के आकार की, पाँच पत्तों की पाँच अरत्नि प्रमाण होती है। (अरत्नि—बालिस्त)। श्वेतकापोती—पत्र रहित, स्वर्ण के समान चमकवाली, मूल में दो अंगुल लम्बी, साँप के आकार की, अन्दर से लाल होती है। गोनसी—दो पत्तोंवाली, मूल में अरुण वर्ण काले धब्बों की दो अरत्नि लम्बी, गाय की नासा के समान आकार की होती है। कृष्णकापोतिका—दूधयुक्त, रुँआटेवाली, कोमल, रस में गन्ने के रस के समान होती है। छत्रा, अतिच्छत्रा—एक पत्तेवाली, महान् शक्ति सम्पन्न, तोड़े हुए अञ्जन के समान कान्ति युक्त, रक्षोघ्न एवं कन्द से उत्पन्न होती हैं। ये जरा और मृत्यु को नष्ट करती हैं, श्वेतकापोतिका के आकार की हैं। कन्या—सुन्दर एवं मोर के बालों के समान बारह पत्रों से युक्त, कन्द से उत्पन्न, स्वर्ण के समान दूधमहौषधी है। करेणु—बहुत दूधवाली, और हाथी के समान कन्दवाली है। अजा-महौषधी—हस्ति कर्णपलाश (हाथी चिवारी ढाक) के समान पत्तों की, दो पत्तोंवाली, बकरी के स्तनों के समान कन्द की, दूधवाली, क्षुपरूप, शंख, कुन्द (मोगरा), इन्दु के समान श्वेत होती है। चक्रका औषधि—श्वेतवर्ण, विचित्र फूलों की, काकादनी के समान क्षुप की, जरा और मृत्यु को नष्ट करनेवाली है। आदित्यपर्णिनी—मूलवाली पाँच पत्तों की, ये परो-

सूय के समान लाल, कोमल, होते हैं। यह महौषधी, सूर्य की ओर सदा मुख रखती है। इसकी चमक स्वर्ण के समान, जल के किनारों पर सब ओर फैलती है ब्रह्मसुवर्चला—दूधवाली, कमलिनी के समान, अरत्निमात्र (बालिस्तभर) क्षुप की, दो अङ्गुल लम्बे पत्तों की, नीले कमल के समान फूलों की, और फल अञ्जन के समान काले होते हैं। महा श्रावणी—स्वर्ण के समान कान्ति की और दूधवाली है। श्रावणी-पाण्डुरवर्ण और महाश्रावणी के लक्षणों की है। गोलोमी और अजलोमी–रुंआटेवाली एवं कन्द से उत्पन्न होती है। वेगवती—हंसपाद (हंसराज) के समान टूटे हुए, मूल से निकलते हुए पत्तोंवाली, अथवा सब प्रकार से शंखपुष्पी के समान, बड़े भारी वेग से घिरी हुई, साँप के केंचुली के समान होती है। वर्षा के बीतने पर यह उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—अरत्निः–विस्तृतकनिष्ठिकाङ्गुलिमुष्टिकहस्तः अरत्निः। बद्धमुष्टिकरः अरत्निः–दोनों ही अर्थ डल्हण के हैं। अम्बुदक्षये शरदि ॥९–२५॥

सप्तादौ सर्परूपिण्यो ह्यौषध्यो याः प्रकीर्तिताः।
तासामुद्धरणं कार्यं मन्त्रेणानेन सर्वदा ॥२६॥
महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥२७॥
मन्त्रेणानेन मतिमान् सर्वा एवाभिमन्त्रयेत्।
अश्रद्दधानैरलसः कृतघ्नैः पापकर्मभिः ॥२८॥
नैवासादयितुं शक्याः सोमाः सोमसमास्तथा।

साँप के आकार की पहली जो सात औषधियाँ कही हैं, उनको निम्नमंत्र के साथ उखाड़ना चाहिये। महेन्द्र, राम, कृष्ण, ब्राह्मण, गाय, इनके तप या तेज के कारण कल्याण के लिये उपशमन करो। इस मंत्र से बुद्धिमान् सब औषधियों को आमन्त्रित करे। श्रद्धाहीन आलसी, कृतघ्न और पापकर्म करनेवाले मनुष्य सोम को तथा सोम जैसी अजगरी आदि को नहीं प्राप्त कर सकते ॥२६-२८॥

पीतावशेषममृतं देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः ॥२९॥
निहितं सोमवीर्यासु सोमे चाप्योषधीपतौ।

ब्रह्मा के आगे चलनेवाले देवताओं के पीने से बचे हुए अमृत को सोमवीर्यवाली औषधियों में और औषधियों के पति सोम नामक औषधी में रख दिया था ॥२९॥

देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे ॥३०॥
दृश्यते च जलान्तेषु मेध्या ब्रह्मसुवर्चला।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हिमसंक्षये ॥३१॥
दृश्यतेऽजगरो नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥३२॥
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा।
गोलोमी चाजलोमी च महती श्रावणी तथा ॥३३॥
वसन्ते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते।
कौशिकीं सरितं तीर्त्वा सञ्जयन्त्यास्तु पूर्वतः ॥३४॥
क्षितिप्रदेशो वल्मीकैराचितो योजनत्रयम्।
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्धसु ॥३५॥
मलये नलसेतौ च वेगवत्यौषधी ध्रुवा।
कार्तिक्यां पौर्णमास्यां च भक्षयेत्तामुपोषितः ॥३६॥
सोमवच्चात्र वर्तेत फलं तावच्च कीर्तितम्।
सर्वा विचेयास्त्वोषध्यः सोमाश्चाप्यर्बुदे गिरौ ॥३७॥
स शृंगैर्देवचरितैरम्बुदानीकभेदिभिः।
व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितः ॥३८॥
गुहाभिर्भीमरूपाभिः सिंहोन्नादितकुक्षिभिः।
गजालोडिततोयाभिरापगाभिः समन्ततः ॥
विविधैर्धातुभिश्चित्रैः सर्वत्रैवोपशोभितः ॥३९॥
नदीषु शैलेषु सरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाःपरिमार्गितव्याः सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते॥

ब्रह्मसुवर्चला तालाबों में श्रेष्ठ देवसुन्द में, महानदी सिन्धु में और जल के किनारे मेध्य बुद्धिवर्धक ब्रह्मसुवर्चला मिलती है। आदित्यपर्णी भी वसन्त में वहीं मिलती है। अजगरी सदा मिलती है, गोनसी वर्षा में मिलती है। काश्मीर में क्षुद्रक मानस नाम का दिव्य तालाब है, वहाँ पर करेणु, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, गोलोमी, अजलोमी, महाश्रावणी होती है। वसन्त में कृष्णसर्पा और गोनसी दीखती है। कौशिकी नदी को पार कर सञ्जयन्ती नदी से पूर्व की ओर वल्मीकों से भरे जो क्षिति (भूमि) भाग हैं, ये भूमि भाग तीन योजन लम्बे हैं, वहाँ से ये उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर वल्मीक की चोटी पर श्वेतकापोती उत्पन्न होती है। मलय और नलसेतु पर वेगवती औषधियाँ होती हैं। उपवास करके इस औषधि को कार्तिकी की पूर्णिमा को खाये (सोम के समान आचरण करे), फल भी सोम के समान है। इन सब औषधियों को और सोम को भी अर्बुद पर्वत से एकत्रित करना चाहिये। यह पर्वत देवताओं के विचरने से पवित्र बादलों से भी ऊँचा सिद्धर्षि–देवताओं से सेवित प्रसिद्ध हैं। भयङ्कर गुहाओं से युक्त सिंह की गर्जना से नादित हाथी से आलोड़ित जलवाली नदियों से घिरा नानाप्रकार के विचित्र धातुओं से सब स्थानों पर शोभित है। नदियों में, पर्वतों में, तालाबों में, पवित्र जङ्गलों में, आश्रमों में सब स्थानों में ये सब औषधियाँ ढूँढनी चाहिये, क्योंकि–भूमि सर्व वसु—(रत्नों को) धारण करती है।

वि० मन्तव्य—अ० २९ तथा ३० में सोमवर्ग की जिन २४ औषधियों का तथा अजगरी आदि १८ औषधियों का वर्णन किया गया है उनको जानना पहिचानना लुप्त हो गया है और साथ ही उनका प्रचार भी समाप्त हो गया है। यद्यपि जिन स्थानों पर उनका होना

अठारह औषधियाँ सोम के बतलाया गया है वहाँ सर्वत्र मानव आज भी जाता-आता है, निवास करता है परन्तु उन दिव्य औषधियों को भूल गया है ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निवृत्तसंतापीयं रसायनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्नेहोपयौगिक चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में स्नेहों के उपयोग तथा प्रयोग का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोवस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः ॥३॥

यह पुरुष स्नेहसार (स्नेह के सहारे टिकनेवाला) है, और प्राण भी स्नेह की मुख्यतावाले हैं, (प्राणों का भी मुख्य आधार स्नेह ही है)। तथा रोग भी स्नेह से ही साध्य होते हैं। क्योंकि स्नेह पान-अनुवासन-मस्तिष्क (शिरोविरेचन) शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति, नस्य, कर्ण में भरने, शरीर पर अभ्यंग, भोजनों में बरतना चाहिये ॥३॥

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः स्नेहगुणाश्च। तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति ॥४॥

इसमें स्नेह की योनि (उत्पत्तिस्थान) दो प्रकार की (स्थावर और जंगम) है। स्नेह के चार भेद (घी, तैल, वसा और मज्जा) पहले (सू० ४-५ में देखिये) कहे हैं। इनमें जंगम स्नेहों में (घी, वसा, मज्जा में) गौ का घृत प्रधान है। और स्थावर स्नेहों में तिल तैल प्रधान है।

वक्तव्य—घृत की प्रधानता में—"नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते, यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥ चरक० (२) सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः। एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् ॥ चरक०। तैल शब्द—तिलों से उत्पन्न तेल को तैल कहना चाहिये, तथापि दूसरे स्थावर द्रव्यों से उत्पन्न स्नेह को भी तैल कहते हैं. यथा—'निष्पत्तेः तद्गुणत्वाच्च तत्तैलमितरेष्वपि ॥' घी दो प्रकार का है, दूध से निकाला हुआ और दही से निकाला। शुद्ध मांस का स्नेह वसा है, अस्थियों में आश्रित स्नेह मज्जा है। जंगमों में घी प्रधान है, स्थावरों में तिलतैल, विरेचन के लिये एरण्ड तैल उत्तम है ॥४॥

अत ऊर्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाप्रधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः—तत्र तिल्वकैरण्डकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकम्पिल्लकशम्पाकनीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति, जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति, विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुसिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरो विरेचयन्ति, करञ्जपूतीककृतमालमातुलुङ्गेङ्गुदीकिराततिक्तस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते, तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिषु, त्रपुसैर्वारुककर्कारुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहा मूत्रसंगेषु, कपोतवङ्कावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु, कुसुम्भसर्षपातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहेषु, तालनारिकेलपनसमोचप्रियालबिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ, बिभीतकभल्लातकपिण्डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे, श्रवणकङ्गुकटुण्टुकस्नेहाः पाण्डूकरणे, सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषु, सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नन्ति, तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः ॥५॥

इसके आगे प्रयोजन के अनुसार, प्रधान (मुख्य) की दृष्टि से स्थावर स्नेहों को कहेंगे–इनमें तिल्वक, एरण्ड, कोशाम्र, जमालगोटा, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) सप्तला (सातला), शंखिनी (यवतिक्ता), ढाक, विषाणिका (मेढासिंगी) गवाक्षी (इन्द्रायण), कमीला, अमलतास, नीलिनी, इनके स्नेह विरेचन करते हैं। जीमूतक (देवदाली), कूड़ा, कृतवेधन (कोशातकी—कडुई तोरई) इक्ष्वाकु (कडुआ तुम्बा), धामार्गव (घिया तोरई—नेनुआ), मैनफल, इनका स्नेह वमन कराते हैं। विडंग, चिरचिटा, मीठा सहजन, सूर्यवल्ली (आदित्य भक्ता—हुलहुल), पीलु, सरसों, मालकंगनी इनका स्नेह शिर का विरेचन करता है। करंज, पूतीकरंज, अमलतास, बिजौरा, हिंगोट, चिरायता इनका स्नेह दूषित व्रणों में बरता जाता है। तुवरक, कैथ, कमीला, भिलावा, पटोल इनका स्नेह महारोगों में बरता जाता है। खीरा, ककड़ी, कर्कारु (फूट), तुम्बी पेठा इनका स्नेह मूत्र के अवरोधों में बरता जाता है। कपोतवङ्का, (ब्रह्मसुवर्चला या ब्राह्मी) बावची, हरड़ का स्नेह शर्करा एवं अश्मरी में प्रयुक्त होता है। कुसुम्भ (बर्रे), सरसों, अलसी, नीम, माधवीलता, भाण्डी, कडुईतुम्बी और नीली अपराजिता (कोयल) इनका स्नेह प्रमेहों में बरता जाता है। ताल, नारियल, कटहल, केला, पियाल, बिल्व, महुआ, लसूड़ा, अम्बाड़ा, इन फलों के स्नेह पित्त से मिली वायु में बरते जाते हैं। बहेड़ा, भिलावा, मैनफल, इनका स्नेह श्वेत व्रण को काला बनाने में बरता जाता है। श्रवण, कङ्गुक (प्रियंगु) और श्योनाक के

स्नेह काले को श्वेत बनाने में, चीड़, देवदारु, शीशम, अगरु, इन लकड़ियों का स्नेह द्रद्रु, कुष्ठ, किटिभ में बरता जाता है। सभी स्नेह वायु का नाश करते हैं। तैलगुणों को संक्षेप से कह दिया है।

वक्तव्य—महाव्याधि—महाकुष्ठ—प्रमेह आदि आठ हैं। मोच का अर्थ सिम्बल और शिग्रु भी किया है ॥५॥

अत ऊर्ध्वं कषायस्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः। तत्र केचिदाहुः-त्वक्पत्रफलमूलादीनां भागस्तच्चतुर्गुणं जलं चतुर्भागावशेषं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः, स्नेहप्रसृतेपु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्चाक्षसमानभेषजपिण्डानित्येष स्नेहपाककल्पः। एतत्तु न सम्यक्, कस्मात्? आगमासिद्धत्वात् ॥६॥

इसके आगे कषाय तथा स्नेह की पाकविधि का उपदेश करेंगे। इसमें कई आचार्य कहते हैं कि छाल, पत्र, फल, मूल आदि का एक भाग, इससे चार गुणा पानी मिलाकर क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर उतार लेवे, यह कषाय कल्पना है। स्नेह के छै प्रसृत लेकर इसमें चौगुना द्रव मिलाकर, चार अक्ष मात्रा में औषधि का कल्क मिलाकर पाक करे, यह स्नेहपाक विधि है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र से मान्य नहीं है।

वक्तव्य—प्रसृत (दोपल) अथवा, "संयुक्त पंचाङ्गुलिरीषद् विस्तृतपाणिरेकः"। अक्ष—बहेड़े के बराबर या कर्ष मात्रा में ॥६॥

पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः—तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः, ते षोडश सुवर्णम्, अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति ॥७॥

इसलिये पल-कुडव आदि का परिमाण कहते हैं—इसमें श्रेष्ठ मध्यम आकार के बारह माषों (उड़दों) का एक सुवर्ण माष है। ये सोलह सुवर्ण माष एक सुवर्ण कर्ष के बराबर हैं। अथवा मध्यम आकार के उन्नीस निष्पाव (सेम के बीज) एक धरण के बराबर हैं। इन अढ़ाई धरण से एक कर्ष होता है। इससे आगे प्रत्येक का चार गुणा करते हुए पल, कुडव, प्रस्थ, आढ़क, द्रोण बन जाते हैं। तुला का परिमाण एक सौ पल है। बीस तुला से एक भार बनता है। यह मान शुष्क द्रव्यों के लिये ही है। गीले तथा द्रवों के लिये इस परिमाण को दुगुना करना चाहिये।

वक्तव्य—चार कर्ष से एक पल, चार पल का एक कुडव, चार कुडव से एक प्रस्थ, चार प्रस्थ से एक आढ़क, चार आढ़क का एक द्रोण। कहीं पर आर्द्र द्रव्यों का भी दुगुना नहीं बरतते, यथा—"वासाकुटजकूष्माण्डशतमूलीसहामृता। प्रसारण्यश्वगन्धा च शतपुष्पा सहाचराः॥ नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या न तासां द्विगुणं भवेत्॥ प्रस्थ के विषय में—'द्वात्रिंशताऽत्रिंशत्यापलैः, षोडशभिः क्रमात्। तोयस्नेहविशुष्काणां द्रव्याणां प्रस्थमादिशेत्॥ सुश्रुत का मान मागध मान कहाता है, चरक का मान कालिंग मान है[1] ॥७॥

तत्रान्यतमपरिमाणसंमितानां यथायोगं त्वक्पत्रफलमूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्वाऽवकुट्याष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाभिषिच्य स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वाऽपहरेदित्येष कषायपाककल्पः। स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः, तदैकध्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः। अथवा तत्रोदकद्रोणे त्वक्पत्रफलमूलादीनां तुलामावाप्य चतुर्भागावशिष्टं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रवमावाप्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः ॥८॥

इनमें से किसी एक परिमाण के अनुसार, योग के अनुकूल छाल, पत्ते, फल, मूल आदि जो धूप में सुखाये हों, उनको लेकर उनमें से काटने योग्यों को काटकर, तोड़ने योग्यों को तोड़कर, सबको कूटकर, आठ गुणे (साधारण सख्त द्रव्यों में) या सोलह गुणे (खैर आदि कठिन द्रव्यों में) पानी में डालकर पात्र में रखकर पकाये। पानी का चौथाई अंश रह जाने पर इसको उतार ले, यह कषाय कल्पना है। स्नेह से चार गुणा द्रव, स्नेह से चतुर्थांश औषध का कल्क, इनको एक साथ, मिलाकर पकाये, यह स्नेहपाककल्प है। अथवा एक द्रोण जल में छाल, पत्ते, फल, मूल आदि की एक तुला मिलाकर, चौथाई रह जाने तक क्वाथ करे, यह कषाय पाक की विधि है। स्नेह के एक कुडव में—औषधि एक पल पीसकर कल्क बनाकर मिलाये, इसमें चार गुणा द्रव (स्नेह का) मिलाकर पाक करे, यह कषाय स्नेहपाकविधि है।

वक्तव्य—कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावद् तोयमष्टगुणं भवेत्॥ चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं भवेत्। (२) मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं जलम्॥ कठिनात् कठिने देयं जलं षोडशिकं मतम्॥ स्नेहपरिमाण—यत्रैकद्वित्रिचतुराणि द्रवद्रव्याणि तत्र सर्वाण्येव स्नेहाच्चतुर्गुणानि पञ्चप्रभृतीनि स्नेहसमानानि। पञ्चप्रभृति यत्र स्युः द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः अर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥८॥

---

१ मान के लिये रसयोगसागर भाग-२, और द्रव्यगुणविमर्श का उत्तरार्द्ध देखिये।

भवतश्चात्र—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम्।
तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु ॥९॥
अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्।
कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् ॥१०॥

कहा भी है—स्नेह, औषध और पानी का परिमाण जहाँ पर न कहा गया हो, वहाँ पर यह उपर्युक्त विधि बरतनी चाहिये। कहे हुए स्थान पर कही हुई विधि बरतनी चाहिये। द्रव कार्य में जहाँ कोई द्रव्य न कहा हो, वहाँ पर जल बरतना चाहिये। क्वाथ और कल्क का जहाँ पर निर्देश न किया हो, वहाँ पर उसी गण का क्वाथ एवं कल्क समझना चाहिये ॥१०॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः। स तु त्रिविधः, तद्यथा—मृदुः, मध्यमः, खर इति। तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति, मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः कृष्णमवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषजं स खर इति, अत ऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति, तं पुनः साधु साधयेत्। तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति ॥११॥

इसके आगे स्नेहपाकविधि का उपदेश करेंगे-यह विधि तीन प्रकार की है, यथा—मृदु, मध्यम और खर। जिस स्नेह पाक में औषध और स्नेह पृथक् मात्र ही होते हैं, वह मृदुपाक है। जिसमें औषध मोम के समान निर्मल, चिपटनेवाली, हो जाती है, वह मध्यम पाक है। जिसमें औषध काली, जली हुई, थोड़ी काली विकास युक्त हो जाती है, वह खर पाक है। इसके आगे स्नेह जल जाता है। इस स्नेह को पुनः ठीक प्रकार से पकाये। पीने, खाने में मृदु स्नेहपाक, नस्य और अभ्यंग में मध्यम, बस्ति और कान में डालने के लिये खर पाक स्नेह उत्तम है।

वक्तव्य—'मृदुर्नस्ये, खरोऽभ्यंगे,पाने बस्तौ च मध्यमः॥" चरक० क० अ० १२। दोनों ही प्रमाण हैं ॥११॥

भवतश्चात्र—

शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपशमे तथा।
गन्धवर्णरसादीनां संपत्तौ सिद्धिमादिशेत् ॥१२॥
घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात् कुशलो भिषक्।
फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ॥१३॥

कहा भी है—घृतपाक में (द्रव) शब्द की समाप्ति होने पर और झाग आना रुक जाने पर, गन्ध, वर्ण, रस आदि की समृद्धि हो जाने से सिद्ध हुआ जाने। कुशल वैद्य घृत पाक में यह नियम समझे। तैल पाक में, झाग बहुत आती है, और शेष लक्षण घृत पाक के समान हैं ॥१२,१३॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममुपदेक्ष्यामः—अथ खलु लघुकोष्ठायातुराय कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत् ॥१४॥

इसके आगे स्नेह पान विधि का उपदेश करते हैं—हल्के (नरम) कोष्ठवाले रोगी को शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन करा के, गरम किये सोने की सी किरणोंवाले, पीले लाल सूर्य के उदयाचल पर्वत के शिखर पर पहुँच जाने पर रोगी के बल के अनुसार तैल या घृत की मात्रा पीने को देवे। पीने के पीछे तुरन्त गरम जल का आचमन करके, जूता पहनकर सुख के साथ रोगी घूमना आरम्भ करे।

वक्तव्य—"द्रवोष्णमनभिष्यन्दिभोज्यमन्नं प्रमाणतः। नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता। पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकांक्षितः। शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः॥ चरक० सू० अ० १३ ॥६०-६१ ॥१४॥

रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम्।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥१५॥
कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये ॥१६॥
व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः।
महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥१७॥
क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः।
मज्जानमाप्नुयुः सर्वे सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥१८॥

रूक्ष, क्षत, विष से पीड़ित, वात-पित्त रोगियों के लिये, मेधा और स्मृति में हीन पुरुषों के लिये घृतपान उत्तम है। कृमिकोष्ठवाले, वायु जिनमें भरी है (बहुत वायुवाले), कफ और मेद की जिनमें अधिकता हैं, जिनको तैल-सात्म्य है, शरीर को जो दृढ़ करना चाहते हैं, वे तैल को पीयें। व्यायाम से कृश हुए, रेत और रक्त जिनके सूख गये अतिशय पीड़ा युक्त प्रवृद्ध अग्निवाले बढ़ी वायुवाले तथा महा प्राणवाले हैं, वे मनुष्य वसा के योग्य हैं। क्रूर आशयवाले (क्रूर कोष्ठ), क्लेश को सहनेवाले, वायु से पीड़ित, प्रदीप्त अग्नि के पुरुष मज्जा का सेवन करें, अथवा अपने रोग की औषध से युक्त घृत पीयें।

वक्तव्य—महाग्निमारुतप्राणा का अर्थ, अतिशयअग्नि, अतिशयवायु एवं अतिप्राण (अतिबलवाले) भी हैं। अथवा जिनमें वायु बहुत प्रबल है वे वसा को पीयें। यथा—"बलवान्मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति। महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः॥" विस्तार के लिये देखिये च० सू० अ० १३। ४१-५० ॥१५-१८॥

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम् ॥१९॥

पित्तविकार में शुद्ध (किसी द्रव्य से न मिलाये) घी पीना

चाहिये। वायुरोग में नमक के साथ, कफ की अधिकता होने पर त्रिकटु और यवक्षार से मिलाकर देना चाहिये।

वक्तव्य–"न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः। सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत्॥" इसलिये गयी का अर्थ–'पित्तहरद्रव्यसाधितमेव केवलम्' यह ठीक है॥१९॥

दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च।
युञ्ज्यात्त्रिषष्टिधाभिन्नैः समासव्यासतो रसैः॥२०॥

दोषों की न्यूनता या अधिकता का, उनके संसर्ग का विचार करके, समास व्यास रूप से तिरसठ प्रकार के रसों से घी का या स्नेह का उपयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—"रसैश्चोपहिताः स्नेहाःसमासव्यासयोगिभिः। षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः॥ एवमेषा चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणा। ओकर्त्तुव्याधिपुरुषान्प्रयोज्या जानता भवेत्॥" चरक सू० अ० १३-२७-२८॥२०॥

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्णशीतले।
अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम्॥२१॥

स्नेह जिनको सात्म्य है, क्लेश को सहने के आदी हैं, न बहुत उष्ण एवं न बहुत शीतल काल के होने पर केवल स्नेह (असंस्कृत) को पीये। क्योंकि केवल स्नेहपान उत्तम है।

"अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः॥"

चरक अ० सू० १३-२६॥२१॥

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा॥२२॥

शीतकाल में दिन के समय स्नेह को पीये। उष्णकाल में रात्रि में स्नेह को पीये। वातपित्त की अधिकता में रात्रि में स्नेह पान करे। वात-कफ की अधिकता में दिन में स्नेह पान करे।

वक्तव्य—वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः। श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे॥ "त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं प्रयोजयेत्। उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिस्तु दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा॥" च० सू० अ० १३-१९॥२२॥

वातपित्ताधिकस्योष्णे तृण्मूर्च्छोन्मादकारकः।
शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत्॥२३॥

वात-पित्त की अधिकता में उष्ण ऋतु में दिन में पिया स्नेह प्यास, मूर्च्छा, उन्माद करता है। शीत ऋतु में वात-कफ से पीड़ित मनुष्य द्वारा रात में पिया स्नेह गौरव, अरुचि और शूल करता है।

वक्तव्य—"अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत्॥ शीते रात्रौ पिबेत्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा। आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति॥ च०सू०अ० १३-२०॥२३॥

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः।
एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत्॥२४॥
दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत्।

स्नेह पीने के पीछे यदि प्यास उत्पन्न हो तो गरम पानी पीये। यदि इससे भी प्यास न बुझे तो गरम पानी पीकर स्नेह का वमन कर देवे। शीतल चन्दन आदि का शिर पर लेप करे, शीतल पानी में गोता लगाये।

वक्तव्य—स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली। स्नेहाऽग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत्।

चरक सू० अ० १३-७०॥२४॥

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि॥२५॥
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत यथाऽर्धदिवसे गते॥२६॥
सा वृष्या बृंहणीया च मध्यदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते॥२७॥
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि॥२८॥
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।
अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यति॥२९॥
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।
यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत्तु विचक्षणः॥३०॥
पीतो ह्यतिबहुः स्नेहो जनयेत् प्राणसंशयम्।
मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति॥३१॥
विष्टभ्य चापि जीर्यत्तं वारिणोष्णेन वामयेत्।
ततः स्नेहं पुनर्दद्याल्लघुकोष्ठाय देहिने।
जीर्णाजीर्णविशंकायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत्॥३२॥
तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा।
स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारतिक्लमाः॥३३॥

दिन के एक चौथाई भाग (एक प्रहर) में स्नेह की जो मात्रा जीर्ण हो जाती है, वह मात्रा अग्नि को बढ़ाती है, और थोड़े दोषवाले मनुष्य के लिये उत्तम है। स्नेह की जो मात्रा आधे दिन (दो प्रहर) में जीर्ण होती है, वह मात्रा वृष्य है, बृंहण करनेवाली और मध्य दोष में प्रशस्त है। स्नेह की जो मात्रा तीन प्रहर में जीर्ण होती है वह मात्रा स्नेहन करने में एवं बहुत दोषवाले पुरुष के लिये उत्तम है। जो मात्रा सारे दिन में (चार प्रहर में) जीर्ण होती है, ग्लानि, मूर्च्छा मद को उत्पन्न नहीं होने देती (या जिसके पीने से उत्पन्न ग्लानि आदि स्वयं नष्ट हो जाती है) स्नेह की मात्रा स्नेहन में उत्तम है। किसी भी प्रकार का विकार न किये स्नेह की जो मात्रा चौबीस घण्टे में (दिनरात) जीर्ण होती है, वह मात्रा कुष्ठ, उन्माद, विष, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करती है।

वक्तव्य—"अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्द्धाहं च प्रतीक्ष्यते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति॥"

वि० मन्तव्य—बुद्धिमान् चिकित्सक-रोगी की जठराग्नि का विचार करके स्नेह की प्रथम मात्रा (१ प्रहर में पचनेवाली) पिलावे क्योंकि अत्यधिक मात्रा में पीया गया स्नेह प्राण संकट उत्पन्न कर सकता है। मिथ्या आहार-विहार के कारण अथवा अधिक मात्रा में होने के कारण जिसका स्नेह नहीं पचता अथवा उदर में विष्टम्भ उत्पन्न करके विलम्ब से पचता है उसको उष्ण जल पिलाकर वमन करा देवे। इसके पश्चात् जब उसका उदर लघु-हल्का हो जाय तब पुनः उचित मात्रा में स्नेह पिलावे। यदि स्नेह के पचने या न पचने का सन्देह हो तो उष्ण जल पीना चाहिये। इस प्रकार उष्ण जल पीने से उद्गार शुद्ध हो जाता है और भोजन में रुचि हो जाती है। स्नेह पचते समय—प्रायः तृषा, दाह, भ्रम, शिथिलता, अरति तथा ग्लानि हो सकते हैं जो पच जाने पर स्वतः शान्त हो जाते हैं अथवा साधारण उचित उपचार से शान्त किये जा सकते हैं॥२५-३३॥

परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम्।
यवागूं पाययेच्छोष्णां कामं क्लिन्नाल्पतण्डुलाम्॥३४॥
देयौ यूषरसौ वाऽपि सुगन्धी स्नेहवर्जितौ।
कृतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते॥३५॥

स्नेह के जीर्ण हो जाने पर मनुष्य को गरम पानी से स्नान कराये। थोड़ी सी चावलों-कणियों को खूब गलाकर बनाई हुई यवागू को गरम एवं यथेच्छ पिलाये। सुगन्धी एवं स्नेह से रहित यूष एवं मांस रस देवे। या इनमें थोड़ा घी डालकर देवे। अथवा विलेपी देवे॥३४,३५॥

पिबेत्त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा।
सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः॥३६॥

स्नेह को तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, छै दिन, अथवा सात दिन पीये। सात दिन के पीछे स्नेह सात्म्य हो जाता है। (फिर आगे लाभ नहीं करता। आत्मा शब्द—शरीर के लिये है)।

"स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ॥"
चरक० सू० १३-५१॥३६॥

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा।
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत्॥३७॥

नाजुक प्रकृति, कृश, वृद्ध, बालक, स्नेह से द्वेष करनेवाले, प्यास से पीड़ित को ग्रीष्मकाल में स्नेह को भोजन के साथ मिलाकर देवे।

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा॥
चरक० सू० अ० १३-८२॥३७॥

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकः।
पीतमैकध्यमेतद्धि सद्यःस्नेहनमुच्यते॥३८॥
भृष्टा मांसरसे स्निग्धा यवागूः सूपकल्पिता।
प्रक्षुद्रा पीयमाना तु सद्यः स्नेहनमुच्यते॥३९॥
सर्पिष्मती पयःसिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते॥४०॥
पिप्पल्यो लवणं सर्पिस्तिलपिष्टं बराहजा।
वसा च पीतमैकध्यं सद्यः स्नेहनमुच्यते॥४१॥
शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम्।
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यः स्नेहनमुच्यते॥४२॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिकान्वितः।
पयो दधि सुरा चेति घृतमष्टमं भवेत्॥४३॥
सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यःस्नेहनमुत्तमम्।
राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद्घृतोत्तमम्॥४४॥

पिप्पली, लवण, (सैन्धव) घी-तैल-वसा मज्जा चारों स्नेह, दधि, मस्तु, इनको एक साथ मिलाकर पीने पर तुरन्त स्नेहन होता है। मांस रस में भूनकर भली प्रकार बनाई स्निग्ध यवागू को थोड़ी सी राब मिलाकर पीने से तुरन्त स्नेहन होता है। थोड़े से चावलों में दूध में बनाई, प्रचुर घी मिश्रित यवागू को गरम गरम सेवन करने पर स्नेहन होता है। पिप्पली, सेन्धा-नमक, घी, तिल की पिट्ठी, सुअर की वसा इनको एक साथ मिलाकर पीने पर तुरन्त स्नेहन होता है। दोहनी (जिसमें दूध दोहते हैं) में शर्करा, घी रखकर इसमें दूध निकाले। इस दूध को पीने से रूक्ष मनुष्य का तुरन्त स्नेहन होता है। जौ, बेर, कुलत्थी इनका क्वाथ, इसमें पिप्पली का प्रक्षेप मिलाकर, दूध, दही, सुरा और आठवाँ घी इनके साथ घृत को सिद्ध करे। यह घृत पीने पर तुरन्त स्नेहन करता है। राजाओं को या राजा के समान वैभवशालियों को यह घृत देना चाहिये।

वक्तव्य—"तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा। पिबे-त्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः॥१॥ धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः। नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफा-णितम्॥२॥ च० सू० अ० १३।८७।८८॥३८-४४॥

बलहीनेषु वृद्धेषु मृद्वग्निस्त्रीहतात्मसु।
अल्पदोषेषु योज्याः स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः॥४५॥

निर्बलों में, वृद्धों में, मृदु अग्निवालों में, स्त्री में क्षीण हुए पुरुषों में, थोड़े दोषवालों में, ऊपर कहे हुए योग भली प्रकार बरतने चाहियें॥४५॥

विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी तरुणज्वरी।
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः॥४६॥
छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः।
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः॥४७॥
अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिबेन्नरः।
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत्॥४८॥

स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः ।
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः ॥४९॥
गर्भाशयेऽवशेषाः स्यू रक्तक्लेदमलास्ततः ।
स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च ॥५०॥
दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत् ।

स्नेहपान का निषेध—अजीर्णरोगी, तरुण ज्वरवाला, दुर्बल, अरोचकरोगी, स्थूल, मूर्च्छा से पीड़ित, मदपीड़ित, छर्दि से पीड़ित, पिपासा से दुःखी, श्रान्त, मद्यपान के थकान से दुःखी, बस्ति जिसने ली है, विरेचन लिये, वमन किया हुआ, असमय में बादल आने पर मनुष्य स्नेहपान न करे। जिसने असमय पर प्रसव किया है, वह स्त्री स्नेहपान न करे। स्नेह पान करने से इनको नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। रोग कष्टसाध्य हो जाते हैं, अथवा असाध्य बन जाते हैं। यदि रक्त, क्लेद, मल ये गर्भाशय में रुक जायँ तो स्नेह को छोड़ देवे, पाचन और रूक्ष औषध सेवन करे। दस दिन के पीछे यथा योग्य स्नेह को बरते ॥४६-५०॥

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते ॥५१॥
उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ।
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥५२॥

स्नेह के अयोग में—पुरीष (मल) गाँठदार, रूक्ष होता है। अन्न कठिनाई से पचता है। छाती जलती है, वायु कोष्ठ से ऊपर आती है (डकार आते हैं)। वर्ण बदल जाता है, दुर्बल होता है, रूक्ष रहता है।

"पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः ।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥"
चरक० सू० अ० १३-५७ ॥५१,५२॥

सुस्निग्धा त्वग्विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता ।
ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम् ॥
सम्यक्स्निग्धस्य लिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च ॥५३॥

भली प्रकार की चिक्कण त्वचा, मल में ढीलापन, अग्नि की प्रदीप्ति, शरीर में कोमलता, ग्लानि, अङ्गों में हल्कापन, गुदा से स्नेह का आना, स्नेह से उद्वेग (जी मचलाना) ये सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं।

"वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मार्दवं स्निग्धता चांगे स्निग्धानामुपजायते ॥"
चरक अ० सू० १३-५८॥५३॥

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका ।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम् ॥५४॥

भोजन में द्वेष, मुख से स्राव, गुदा में दाह, प्रवाहिका, मल की अतिप्रवृत्ति, ये अतिस्निग्ध के लक्षण हैं।

"पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता ।
तन्द्रिररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥
चरक सू० अ० १३-५९ ॥५४॥

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम् ।
श्यामाककोरदूषान्नतक्रपिण्याकशक्तुभिः ॥५५॥

रूक्ष व्यक्ति का स्नेहन द्रव्यों से स्नेहन करे। अतिस्निग्ध का रूक्षण करे। रूक्षण के लिये—सांवक, कोरदूष, अन्न, तक्र, पिण्याक (खल) सत्तु आदि देवे।

'तक्रारिष्ट प्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम् ।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम् ॥"
चरक सू० अ० १३-७८ ॥५५॥

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः
प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः
स्नेहोपसेवी पुरुषो भवेत्तु ॥५६॥

स्नेह का नित्य सेवन करनेवाले पुरुष की जठराग्नि प्रबल रहती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है, रसादि धातु बल, वर्ण, सदा नूतन रहते हैं। इन्द्रियाँ दृढ़ रहती हैं, बुढ़ापा देर में आता है। आयु सौ साल की होती है ॥५६॥

स्नेहो हितो दुर्बलवह्निदेह-
सन्धुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य ।
बलान्वितौ भोजनदोषजातैः
प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ ॥५७॥

रोग से पीड़ित व्यक्ति की दुर्बल अग्नि, दुर्बल शरीर को बढ़ाने में स्नेह उत्तम है। स्नेहपान से बल प्राप्त किये हुए शरीर और अग्नि को भोजन दोष से उत्पन्न विकार भी एकदम से पीड़ित नहीं कर सकते ॥५७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्वेदावचारणीय चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में स्वेदविधि का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

चतुर्विधः स्वेदः; तद्यथा—तापस्वेदः, ऊष्मस्वेदः, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति; अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः ॥

स्वेद चार प्रकार का है, यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद। इन्हीं चार स्वेदों में अन्य सब (तेरह प्रकार के चरकोक्त) स्वेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। यथा—तापस्वेद में—जेन्ताक, कर्षू, कुटी, कूप, और होलाक का, ऊष्मस्वेद में—संकर, प्रस्तर, अश्म, घन, नाड़ी, कुम्भ और भूस्वेद इन छै का, द्रव स्वेद में—परिषेक और अवगाहन का समावेश है ॥३॥

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकन्दुककपालवालुकावस्त्रैः। प्रयुज्यते, शयानस्य चाङ्गतापो बहुशः खादिराङ्गारैरिति ॥

तापस्वेद—इनमें तापस्वेद हाथ, कांसी, कन्दुक, ठीकरा, रेत, वस्त्रों द्वारा किया जाता है। सोते हुये (लेटे हुये) के अंगों को खैर के अंगारों से बहुत बार गरम करके तापस्वेद दिया जाता है।

(कन्दूकम्-अपूपपाचनभाण्डम्-गोलवस्तु-तवा आदि)

वि० मन्तव्य—हाथ तपा-तपा कर, कांस्य पात्र को तपा २ कर, कन्दुक-रुई भरी पोट्टली, तकिया आदि को तपा कर, कपाल-मिट्टी के ठीकरों को तपा २ कर,- बालुका-तपे बालू की पोट्टली अथवा बालू की पोट्टली को तपा २ कर अथवा वस्त्र को तपा २ कर वेदना युक्त अवयव पर स्पर्श करना। तपे बालू पर चलना, बैठना, लेटना आदि। तपे बिस्तर पर लेटना, तपा तकिया लगाना आदि २। अंगारो को शय्या के नीचे रखना आदि २। स्वेद का विस्तृत वर्णन च० सू० अ० १४ में देखिये। सूखी रूखी वस्तुओं से जो स्वेदन किया जाता है वह ताप स्वेद कहलाता है ॥४॥

ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिच्येदम्लद्रव्यैर्वा, तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत्। मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्वाथपूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्। पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्या मुखमभिसन्धाय तस्मिंश्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्।

ऊष्मस्वेद के लिये—ठीकरा, पत्थर, ईंट, लोहपिण्ड इनको अग्नि में लाल गरम करके इनके ऊपर ठण्डे पानी या कांजी के छींटे देकर (जब तक सॉं सॉं आवाज आये तब तक) इनको गीले वस्त्र में लपेटकर अंगप्रदेश पर स्वेद देवे। मांसरस, दूध, दही, स्नेह, कांजी, एरण्ड आदि वातहर पत्रों के क्वाथ से भरे पात्र को गरम करके, उस पात्र को कम्बल आदि से ढाँप कर (जिस प्रकार कि आज कल चाय की केटली को ढाँपने की प्रथा है, जिससे वह गरम रहे) उसकी गरमी रोगी ले। अथवा इस घड़िया के पार्श्व में छेद करके उसमें अथवा इस घड़िया के मुख पर एक दूसरी हांडी (घड़िया) औंधी (उल्टी) रखकर-दोनों का मुख जोड़कर, ऊपर की हांडी में छेद करके उस में हाथी के शुण्ड के आकार की मुड़ी हुई नलिका लगाकर (जिससे कि वाष्प सीधा जोर से न आये, अपि तु मुड़कर आये) स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—ऊष्म-वाष्प या भाप से जो स्वेदन किया जाता है वह ऊष्म स्वेद कहलाता है। हस्तिशुण्डाकार नाड़ी या नाली वही है जिसके द्वारा अर्क निकाला जाता है। इनकी उपयोगिता तथा निर्माण विधि श्लो० ६-७ में देखिये ॥५॥

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥
सुखा सर्वाङ्गगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम् ।६।
व्यामार्धमात्रा त्रिवक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः।
स्वेदनार्थं हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका ॥७॥

भली प्रकार अभ्यंग (तैल का) किये, भारी गरम वस्त्र से ढाँपे हुए, आराम से बैठे, वात रोगी को हस्ति के शुण्ड के आकार की नाड़ी से स्वेद देवे। यह सब अंगों पर सुख से स्वेद देती है, मनुष्य को दुःख नहीं पहुँचाती। नाड़ी की लम्बाई आधा व्याम होनी चाहिये, तीन स्थान पर घुमाववाली (मुड़ी) और हाथी की सूंड के आकार की, किलञ्ज (जिसकी लड़कों की कलम बनती है, उसकी, या नड़सर, काश आदि की) बनी नाड़ी स्वेदन के लिये उत्तम है।

(व्याम—दोनों हाथों को कन्धे के समानान्तर सीधा फैलाने पर जो अन्तर बनता है वह व्याम है)। तीन स्थान पर मोड़ने से—बाष्प के साथ पानी नहीं आयेगा और भाप भी तेज नहीं होगी।

वि० मन्तव्य—कैलिञ्जी-किलिञ्ज कट अर्थात् चटाई का नाम है, कुश आदि की चटाई बनाकर और उसे मोड़कर बनाई नाली का नाम "कैलिञ्जी" है और वह हाथी की सूंड के समान, घड़े की ओर मोटी और स्वेदनीय मानव की ओर पतली होनी चाहिये। इसीका नाम हस्तिशुण्डिका नाली है॥

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युद्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥८॥
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः।

पुरुष की लम्बाई के बराबर भूमि को खोदकर उसको खैर की लकड़ियों से गरम करके, इस पर दूध, कांजी या पानी का सिंचन करके, वातघ्न पत्तों से इसको ढांपकर रोगी को लेटाकर स्वेद देवे ॥८॥

पूर्ववत् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम् ॥९॥

अथवा शिला पर खैर की लकड़ियाँ जलाकर, राख को हटाकर, पानी का सिंचन करके, वातहर, पत्रों से ढांपकर—इस पर रोगी को लेटाकर स्वेद देवे ॥९॥

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं स्वेदयेत् ॥१०॥

चार द्वारवाली कुटिया को बनाकर उसमें पूर्व की भाँति (शिल तैल, वाष्प स्वेद की भाँति), उसके अन्दर बैठकर, इसके चारों द्वारों पर चलते हुए अंगारे रखकर रोगी को स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—यह कुटी स्वेद का विधान है, जैसे बंगलों में अग्न्याधान बने रहते हैं, शीत कटिबन्ध के

देशों में घर घर बने रहते हैं वही सब इस सूत्र द्वारा बतलाया गया है। इसका विशद वर्णन च० सू० अ० १४ में इस प्रकार है—

भूगृहेषु च जेन्ताकेषु उष्ण गर्भगृहेषु च।
विधूमाऽङ्गारतप्तेषु स्वभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥२८॥
अनति-उत्सेध विस्तारां वृत्ताकारां अलोचनाम्।
घनभित्ति कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्।
प्रावाराऽजिनकौशेयकुथकम्बलगोलकैः।
हसन्तिकाभिः अंगारपूर्णाभिः तां च सर्वशः।
परिवार्य अन्तः आरोहेत् अभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥५४॥

पूर्ववत्—जैसा चि० अ० २९ के सू० १० में सोम-सेवन के लिये आगार-कुटी बनाने का विधान है तथा सू० अ० १६ में आगार बनाने का विधान है ॥१०॥

कोशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्, एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् ॥११॥

फलीवाले धान्यों (उड़द आदि) को भली प्रकार स्वेदन कर चटाई या इसीके समान किसी कम्बल आदि पर बिछा कर, लेटकर, ढाँपकर स्वेद देवे। इसी प्रकार धूली, गोबर, तुष, भूसा, तिलखली की उष्णिमा से स्वेद देवे ॥११॥

उपनाहस्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः साल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत् ॥१२॥

उपनाह स्वेद में—वातघ्नमूल (एरण्ड मूल आदि) द्रव्यों के कल्कों को कांजी में पीसकर प्रचुर मात्रा में नमक मिलाकर, तैल आदि से स्निग्ध बनाकर सुहाता हुआ गरम गरम लेप करके स्वेदन देवे। इसी प्रकार काकोल्यादि; एलादिगण, सुरसादिगण, तिल, अलसी, सरसों का कल्क, खिचड़ी, खीर, उत्कारिका (लपसी) वेशवार (कीमिया किया मांस) साल्वण (वातव्याधि में कहा) द्रव्यों का लेप करके सूक्ष्म वस्त्र से बाँध कर स्वेद देवे।

वक्तव्य—पित्तानुगत वायु में सुरसादि काकोल्यादि या एलादिगण से, कफानुगत वायु में तिल, अलसी, सरसों से शुद्ध-वायु में—कृशरा, वेशवार या साल्वण द्रव्यों से स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—उष्ण एवं स्निग्ध द्रव्य बाँधना-मोटा लेप लगाना "उपनाह" स्वेद कहलाता है। फोड़ा आदिपर जो तीसी की पुल्टिस बाँधी जाती है वह स्वेदन के लिये ही बाँधी जाती है। लेप लगाकर ऊपर से वस्त्र-पट्टी बाँधना चाहिये। द्रव्यों को वस्त्र में बाँधकर-पोटली बनाकर स्वेदन करना ऊष्मस्वेद कहलाता है ॥१२॥

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्काथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्, एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहेत, एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेदिति ॥१३॥

द्रवस्वेद—वातहर द्रव्यों के गरम क्वाथ से भरे कड़ाहे या द्रोणी (टब) में गोता लगाकर (बैठकर) स्वेद ले। इसी प्रकार दूध, मांसरस, यूष, तैल, कांजी, घी, वसा, मूत्रों में अवगाहन करे। इन्हीं द्रव्यों के सुहाते गरम कषायों से रोगी परिषेचन (स्नान) करे।

वि० मन्तव्य—किसी भी उष्ण द्रव में बैठना अथवा उससे स्नान करना अथवा पीड़ित अवयव पर परिषेचन करना-टकोर करना सब "द्रवस्वेद" कहलाता है। शीतकाल में उष्ण जल का स्नान भी द्रवस्वेद ही है। उक्त चारों प्रकार का स्वेद—चरक के शब्दों में अग्निगुण संश्रय है अर्थात् अग्नि के संयोग से किया जाता है ॥१३॥

तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्नः अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति ॥१४॥

इनमें तापस्वेद ऊष्मस्वेद ये विशेषरूप में कफनाशक हैं। उपनाहस्वेद वातनाशक है, किसी एक कफ या वायु से पित्त के मिले होने पर द्रवस्वेद देना चाहिये ॥१४॥

कफमेदोन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति ॥१५॥

निरग्निस्वेद—वायु के कफ और मेद से मिला होने पर (जैसे ऊरुस्तम्भ में)—वायु रहित निवास धूप, भारी गरम ओढ़ना, कुश्ती आदि बलकार्य, मुसाफरी, व्यायाम, भार उठाना, क्रोध, इनसे रोगी का स्वेद उत्पन्न करे।

वि० मन्तव्य—निवातनिवास आदि से जो स्वेद उत्पन्न किया जाता है वह निरग्निस्वेद अर्थात् अग्नि के संयोग के बिना किया जाता है यथा—शीतकाल में निवातघर में रहना, गुरु ओढ़ना—दुलाई, कम्बल आदि से शरीर ढकना, आदि २ सब स्वेद के लिये ही किया जाता है ॥१५॥

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ॥१६॥

कहा भी है—चार प्रकार का जो स्वेद कहा है, वह दो प्रकार से बरता जाता है। यथा-यह स्वेद सम्पूर्ण शरीर में या शरीर के किसी अंग पर किया जाता है ॥१६॥

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैव हि देहिनाम्।
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥१७॥
पश्चात् स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भानुपद्रवा।
सम्यक् प्रजाता काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता ॥

स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च भगन्दर्यर्शसस्तथा ।
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शेषाञ्छास्त्रे प्रचक्ष्महे ॥१९॥

जिन मनुष्यों को नस्य देना हो, बस्ति देनी हो, और जो शोधन के योग्य हों, उनको इन कार्यों से पहले स्वेदन देना चाहिये। शल्य निकालने के उपरान्त, उपद्रव रहित मूढगर्भा स्त्री, समय पर जिसने ठीक प्रकार प्रसव किया हो, इनको पीछे से स्वेद देना चाहिये। भगन्दर, अर्श और अश्मरी में रोगी को शस्त्र कर्म से पहले और पीछे स्वेद देना चाहिये। शेषों के लिये शास्त्र में कहेंगे ॥१७-१९॥

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे
स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित् ।
दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु
गच्छेद्भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥२०॥

स्वेद को जाननेवाला वैद्य बिना अभ्यंग (तैल अभ्यंग) के, शरीर का स्नेहन किये बिना कभी भी स्वेदन न देवे। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि बिना स्नेहन किया काष्ठ स्वेदन देने पर टूट जाता है, (ऐसे ही बिना स्नेहन किया शरीर स्वेद से नष्ट हो जायेगा) ॥२०॥

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः ।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं
प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैर्यान्त्यशेषम् ॥२१॥

धातुओं में स्थित, अपने स्थानों में स्थित और कोष्ठ शाखा-मर्म-अस्थि-सन्धि आदि मार्गों में छिपे हुए जो दोष हैं वे स्नेह से क्लिन्न बनकर स्वेद देने पर द्रव बनकर कोष्ठ में आकर शोधन द्रव्यों से (वमन, विरेचन से)—सम्पूर्ण रूप में बाहर निकल आते हैं ॥२१॥

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ।
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥२२॥

भली प्रकार दिया हुआ स्वेद—अग्नि की दीप्ति, कोमलता, त्वचा की निर्मलता, भोजन में रुचि, स्रोतों की निर्मलता को उत्पन्न करता है। निद्रा, तन्द्रा को नष्ट करता है जड़ बनी सन्धियों को शीघ्र ही क्रियाशील बनाता है ॥२२॥

स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं
शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य ।
सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेत-
न्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥२३॥
स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः
स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः ।
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च
कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम् ॥२४॥

भली प्रकार स्वेद होने पर पसीने का टपकना, रोग का नाश, शरीर में हल्कापन, शीत की चाह, कोमलता, रोगी के भली प्रकार से स्विन्न होने पर यह लक्षण होते हैं। ठीक प्रकार स्वेद न होने पर इनसे विपरीत लक्षण होते हैं। स्वेद के अत्यधिक होने पर—सन्धियों में पीड़ा, विदाह, छालों की उत्पत्ति, पित्त, रक्त का प्रकोप, मूर्छा, भ्रान्ति, दाह, प्यास, क्लम होता है। ऐसी अवस्था में तुरन्त शीत उपचार करना चाहिये ॥२३,२४॥

पाण्डुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः
क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः ।
तृट्च्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो
नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी ॥२५॥
स्वेदादेषां यान्ति देहा विनाशं
नो साध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः ।
स्वेदैः साध्यो दुर्बलोऽजीर्णभक्तः
स्यातां चेद्द्वौ स्वेदनीयौ ततस्तौ ॥२६॥

पाण्डुरोगी, प्रमेही, रक्तपित्तरोगी, क्षयरोगी, क्षाम (निर्बल), अजीर्णरोगी, उदररोगी, विष से पीड़ित, प्यास, वमन से दुःखी, गर्भवती, मद्यपान किया, अतीसाररोगी, इनको स्वेद नहीं देना चाहिये। स्वेद देने से ये मर जाते हैं, अथवा इनके रोग असाध्य हो जाते हैं। दुर्बल एवं अजीर्ण में भोजन किया व्यक्ति, यदि ये दो मनुष्य किसी स्वेद-साध्य रोग से पीड़ित हों तो इनको स्वेद दे सकते हैं ॥२५,२६॥

एतेषां स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान् ।
मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥२७॥
सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ॥२८॥
स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ।
सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नातमुष्णाम्बुभिः शनैः ॥२९॥
स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गं च निवातशरणस्थितम् ।
भोजयेदनभिष्यन्दि सर्वं चाचारमादिशेत् ॥३०॥

अस्वेद के अयोग्य इन व्यक्तियों को यदि कोई रोग स्वेद-साध्य हो तो इनको मृदु स्वेद देना चाहिये। हृदय, मुष्क और आँख पर भी मृदु स्वेद देना चाहिये। सब प्रकार का स्वेद वायुरहित स्थान में और अन्न के जीर्ण होने पर करना चाहिये। शरीर पर स्नेह का अभ्यंग करके और आँखों को शीतल वस्तुओं से ढांप कर स्वेद देवे। स्वेदन देते समय हृदय पर मणिमुक्ता आदि शीतल द्रव्यों से बार-बार स्पर्श करते रहना चाहिये। भली प्रकार स्वेदन हो जाने पर शरीर का मर्दन करके, गरम पानी से धीरे-धीरे स्नान कराके, भली प्रकार अभ्यंग करके, अंगों को वस्त्र से ढांपकर वायु रहित घर में बिठाये। अनभिष्यन्दि सब भोजन देवे—सब आचार-व्यवहार-

परहेज आदि के नियम बता देवे।

वक्तव्य—"आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥१॥ वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा। मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः॥ सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी। मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि। जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्॥ रात्रौ बद्धं दिवा मुंचेन्मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम्। विदाहपरिहारार्थं स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले॥ चरक सू० अ० १४-६-१४।

आचार—"उष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारीक्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णान्न न धारयेत्॥ व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमाऽऽतपौ। वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३१॥

—०—

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे वमन विरेचन साध्य-उपद्रव चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वमन एवं विरेचन का वर्णन किया गया है॥१,२॥

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः॥३॥

क्षीण हुए दोष बढ़ाने चाहिये, कुपित हुए दोष शान्त करने चाहिये, बढ़े हुए दोष निकालने चाहिये, समान रूप में स्थित दोषों की रक्षा करनी चाहिये, यह सिद्धान्त है।

वि० मन्तव्य—जैसे वातादि दोषों के बढ़ने पर विकार उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही उनके घटने (क्षीण होने) पर विकार उत्पन्न होते हैं। देखिये सु० सू० अ० १५॥३॥

प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्। तस्यात्तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय॥४॥

दोषों को शरीर से निकालने में मुख्यतः वमन और विरेचन बरते जाते हैं। इसलिये इनकी कही हुई विधि को समझो।

वि० मन्तव्य—वात, पित्त एवं कफ ही केवल वमन विरेचन में नहीं निकलते अपितु उनके द्वारा दूषित पुरीषादि मल भी निकलते हैं, और रसादि धातुओं का दूषित जलीयांश भी निकलता है॥४॥

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यन्दिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्निं बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च॥५॥

तीक्ष्ण अग्निवाले, बलवान्, बहुत दोषयुक्त, महान् रोग से पीड़ित और वमन सात्म्यवाले रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर और अभिष्यन्दी आहारों द्वारा दोषों को ढीला हुआ जानकर, कल इसको वमन पिलाऊँगा, ऐसा निश्चय करके इस रोगी को भरपेट भोजन करावे॥५॥

भवति चात्र—

पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते॥६॥

कहा भी है—स्नेहन और स्वेदन दिये रोगी के दोषों को कोमल, कफवर्धक नाना प्रकार के भोजनों से उत्क्लेशित करके दिया हुआ वमन भली प्रकार प्रवृत्त होता है॥६॥

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य, असात्म्यबीभत्सदुर्गन्धदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि, तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत, तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात् ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्त वामयेत्तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति॥७॥

फिर दूसरे दिन साधारण समय (न ठण्डे और न गरम) में—कोष्ठ की भिन्नता का विचार करके, जो ठीक हो, उस मात्रा में—वमन द्रव्य को कषाय, कल्क, चूर्ण, स्नेह इनमें से किसी एक रूप में पिलाये। असात्म्य (मन के अप्रिय), बीभत्स (घृणोत्पादक) दुर्गन्धवाले, देखने में अप्रिय वमन द्रव्य बनाये। विरेचन द्रव्य-मन के प्रिय, सुन्दर, सुगन्धवाले, प्रिय करके देवे। इसमें नाजुक प्रकृति, कृश, बालक, वृद्ध, डरपोक, इनको यदि वमन साध्य रोग हो जाये, तब दूध, दही, तक्र, यवागू, इनमें से कोई एक वस्तु गले तक (पेट भरकर) पिलाकर वमन देवे। औषध पी चुकने पर आग के सामने बैठकर हाथों से अग्नि को तापते हुए दो घड़ी प्रतीक्षा करे। अग्नि के संताप से पसीना उत्पन्न होने पर दोष ढीले बने हुए, अपने स्थानों से चलायमान होकर आमाशय की ओर जाते हुए जाने। फिर जी मचलाना (उबकाई) आरम्भ होने पर घुटनों के बल रोगी को बिठाकर विश्वस्त परिचारकों से माथा, पीठ, पार्श्व और गले से

पकड़वाकर, अँगुली से, या एरण्ड की नाल अथवा कमलनाल से गले को स्पर्श करते हुए-वमन कराये, जब तक कि भली प्रकार किये हुए वमन के लक्षण दिखाई न दें[1]।

वि० मन्तव्य—जानुमात्रासनोपविष्टं-जानुभर ऊँचे आसन (कुरसी) पर उपविष्ट-बैठे रोगी को भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-अस्मै जानुसमं असंबाधं सुप्रयुक्ताऽऽस्तरण-उत्तर प्रच्छद-उपधानं, सोपाश्रयं आसनं उपवेष्टुं प्रयच्छेत्। इसको बैठने के लिए आराम कुरसी देवे। च० सू० अ० १५ ॥७॥

भवतश्चात्र—

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं
कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः।
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च
हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते ॥८॥

कहा भी है–ठीक प्रकार से वमन न होने पर लाला (कफ) का गिरना, हृदय का (आमाशय प्रदेश का) साफ न होना, और कण्डु होती है। अतिशय वमन होने पर पित्त की अति प्रवृत्ति, मूर्च्छा और हृदय एवं गले में पीड़ा होती है ॥८॥

पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते
शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च
स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत् ॥९॥

भली प्रकार वमन होने पर पहले कफ, पीछे पित्त आता है। हृदय, कण्ठ और शिर-निर्मल बन जाते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, कफ निकल जाता है, इन लक्षणों से रोगी को भली प्रकार वमन हुआ जाने।

चरक में–"क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च, यस्यैति सम्यग् वमितः स दुष्टः। हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ, तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे। दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डु हृत्खा विशुद्धिः गुरुगात्रता च। तृण्मोह-मूर्च्छानिलकोपनिद्रा, बलार्तिहानिर्वमनेऽति च स्यात्।" ॥९॥

सम्यग्वान्तं चैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥

भली प्रकार वमन हुआ जानकर इस रोगी को स्नेहन, विरेचन और शमन धूमों में से किसी एक धूम को सामर्थ्य के अनुसार पिलाकर परहेजी-के आचार नियम समझा देवे ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेह-
मुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां
यूषैः रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु ॥११॥

कहा भी है–फिर अपराह्ण में (सायंकाल) गरम पानी से स्नान करके शरीर के निर्मल और शुद्ध हो जाने पर कुलत्थी, मूंग, अरहर, इनके यूष के साथ या जांगल पशु-पक्षियों के मांस रसों से इसको भोजन देवे ॥११॥

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥

वमन करनेवाले व्यक्ति को, कास, स्रोतों में मलवृद्धि, स्वरभेद, निन्द्रा, तन्द्रा, मुख की दुर्गन्धता, विषजन्य उपद्रव, कफ का स्राव, ग्रहणीरोग कभी नहीं होते ॥१२॥

छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा
यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ॥१३॥

जिस प्रकार वृक्ष के काटने पर जैसे पुष्प, फल, अंकुर एकदम से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वमन द्वारा कफ का शोधन होने से कफजन्य रोग भी शान्त हो जाते हैं ॥१३॥

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान् केवलवातरोगान् ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान्।
ऊर्ध्वास्रपित्तिक्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ॥

वमन का निषेध–तिमिररोग, ऊर्ध्ववातरोगी, गुल्म, उदर, प्लीहा, कृमिरोगी, थकान से पीड़ित, स्थूल (मोटे आदमी को), क्षतक्षीण, कृश, अतिवृद्ध, मूत्र रोग से पीड़ित, शुद्ध वातरोग से पीड़ित, स्वरभेद, अध्ययन में फँसे, भली प्रकार जिसे वमन में दुःख हो, दूषित (कठिन) कोष्ठ, प्यास से पीड़ित, बालकों को, ऊर्ध्वरक्तपित्त रोगी, भूखे, अतिरूक्ष, गर्भवती, उदावर्त्तरोगी और जिसे निरूह दिया गया है–इनको वमन न देवे।

ऊर्ध्ववायु का लक्षण—अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च। करोत्यनिशमुद्गारमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥ (विस्तार के लिये देखिये चरक० सिद्धि स्थान अ० २) ॥१४,१५॥

अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः ॥१६॥

वमन के अयोग्य पुरुषों में वमन देने से रोग कष्ट साध्य हो जाते हैं। अथवा असाध्य हो जाते हैं, इसलिये इनको वमन नहीं देना चाहिये ॥१६॥

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः।
अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना ॥१७॥

अपवाद—इन उपरोक्त रोगियों को भी अजीर्ण होने पर वमन देना चाहिये, और जो विष से पीड़ित हों उनको भी वमन देवे और जिनमें कफ अतिशय बढ़ा हो उनको भी वमन

---

१ वमनविधि–चरक के सूत्रस्थान (१५) उपकल्पनीय अध्याय में विस्तार से दी है, वह वहाँ देखनी चाहिये।

देवे। इनको वमन मुलैहठी के क्वाथ से (क्वाथ के साथ वमन द्रव्य मिलाकर) वमन देवे ॥१७॥

वाम्यास्तु-विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदर्बुदाविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतीनासकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति ॥१८॥

वमन के योग्य—विषदोष, शोषरोगी, स्तन्यदोष, (दूषित दूध), मदाग्नि, उन्माद, अपस्मार, श्लीपद, अर्बुद, विदारिका, मेद, प्रमेहरोग, ज्वर, अरुचि, अपची, आमातीसार, हृद्रोग, चित्तविभ्रम, विसर्प, विद्रधि, अजीर्ण, मुख प्रसेक (लालास्राव), जी मचलाना, श्वास, कास, पीनस, पूतीनासा, कण्ठपाक, ओष्ठपाक, मुखपाक, कर्णस्राव, अधिजिह्विका, उपजिह्विका, गुलशुण्डिका, अधोगामि रक्तपित्तरोगी, कफस्थानजन्य रोगों में और कफ रोगों से पीड़ित मनुष्यों को वमन देना चाहिये।[1] (ज्वर नवज्वर और विषम ज्वर में वमन देवे, डल्हण) ॥१८॥

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय च देयम्, अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति ॥१९॥

विरेचन भी स्नेहन, स्वेदन, किये और वमन कराये रोगी को देना चाहिये। क्योंकि वमन न किये हुए पुरुष में भली प्रकार विरेचन होने पर भी नीचे को आया हुआ कफ ग्रहणी (अग्नि) को ढांप लेता है, इससे भारीपन उत्पन्न होता है। अथवा प्रवाहिका उत्पन्न हो जाती है।

वक्तव्य—एकाहोपरतस्तद्वत् भुक्त्वाप्रच्छर्दनं पिबेत्।
स्नेहात्प्रस्कन्दनं जन्तुः त्रिरात्रोपरतः पिबेत्॥
वान्तं षडहसंसृष्टं पुनः संग्नेहितं क्रमात्।
उष्णं लघु त्र्यहं युक्तं षोडशेऽह्नि विरेचयेत्॥

चरक ॥१९॥

अथातुरं श्वो विरेचनं पाययिताऽस्मीति पूर्वाह्णे लघु भोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्। अथापरेऽहनि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत ॥२०॥

इस रोगी को कल विरेचन पिलाऊँगा, ऐसा मन में निश्चय करके, पूर्वार्द्ध में लघु (हल्का) भोजन देवे। से पीछे अनार के फल का रस या गरम पानी इसको पिलाये। फिर

1 विस्तार के लिये चरक सिद्धिस्थान अ० २ में देखिये।

दूसरे दिन कफधातु के नष्ट हो जाने पर (कफ के घट जानेपर), आतुरोपक्रमणीय सु० सू० अ० ३५ वां से रोगी की परीक्षा करके, इसको विरेचन औषध की मात्रा पीने के लिये देवे ॥२०॥

तत्र मृदुः, क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। यत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरेच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः, समदोषो मध्यमः, स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति। पीतौषधश्च तन्धनाः शय्याभ्याशे विरेच्यते ॥२१॥

कोष्ठ तीन प्रकार का है, मृदु, मध्यम और क्रूर। इनमें पित्त की अधिकतावाला कोष्ठ मृदु है, इसमें दूध से भी विरेचन हो जाता है। वायु और कफ की अधिकतावाला कोष्ठ क्रूर कोष्ठ है, इसमें कठिनाई से विरेचन होता है। समान दोषोंवाला कोष्ठ मध्यम कोष्ठ है, इसे साधारण कहते हैं। इनमें मृदु कोष्ठवाले के लिये मृदु मात्रा, क्रूर में तीक्ष्ण मात्रा, और मध्यम में मध्यम मात्रा बरतनी चाहिए। औषध को पीकर—औषध में मन को लगाकर, शय्या के समीप में ही विरेचन करता है। (जल्दी विरेचन होता है)।

वक्तव्य—द्वे पले ज्येष्ठमाख्यातं मध्यमं तु पलं भवेत्। पलार्धमुपयुञ्जीत कनीयस्तु विरेचनम् ॥२१॥

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान् धारयेद्बुधः।
निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत् ॥२२॥

विरेचन पीने पर बुद्धिमान् मनुष्य मल के वेग को न रोके। वायुरहित स्थान पर रहे, ठण्डे पानी का स्पर्श न करे, और बलात् प्रवाहण न करे ॥२२॥

यथा च वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति, एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति ॥२३॥

जिस प्रकार वमन औषध में क्रम से-प्रसेक (थूक), औषध कफ, पित्त और वायु क्रम से निकलते हैं, इसी प्रकार विरेचन में मूत्र, मल, पित्त, औषध, कफ, क्रम से निकलते हैं ॥२३॥

भवन्ति चात्र—

(स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो
दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः।)
हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाहकण्डू-
विण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरिक्ते।
मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः
शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम् ॥२४॥

कहा भी है—भली प्रकार विरेचन न होने पर-हृदय और उदर में मैलापन (भारीपन), जलन, कण्डू रहती है, वायु-मल, मूत्र का अवरोध रहता है। अति-

मात्रा में विरेचन होने पर मूर्च्छा, गुदभ्रंश, कफ का अतिस्राव, शूल का होना होता है ॥२४॥

गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु
नाभ्या लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं
सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत् ॥२५॥

पित्तस्थानगत वात मल, कफ और पित्त के निकल जाने पर नाभि प्रदेश पर हल्कापन, मन की प्रसन्नता, वायु के अनुलोम हो जाने पर (गुदा मार्ग से वायु लगने पर)—भली प्रकार विरेचन हुआ जाने ॥२५॥

"स्रोतो विशुद्धीन्द्रियसंप्रसादो, लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्। प्राप्तिश्च पिट्विड्त्तकफानिलानां सम्यग् विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण । चरक० सि० अ० १।१७।

मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं
न पाययेताहनि तत्र पेयाम् ।
क्षीणं कृषार्तं सुविरेचितं च
तन्वीं सुखोष्णां लघु पाययेच्च ॥२६॥

अग्निमान्द्य होने पर, क्षीण हुये, भली प्रकार विरेचन न होने पर उस दिन रोगी को पेया न पिलाये । क्षीण, प्यास से पीडित, भली प्रकार विरेचन हुये रोगी को पतली, हल्की, थोड़ी गरम पेया को पिलाये ॥२६॥

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
विरेचनं सम्यगुपायमानम् ॥२७॥

भली प्रकार लिया हुआ विरेचन बुद्धि की निर्मलता, इन्द्रियों में बल, धातुओं में स्थिरता, बल, अग्नि की प्रदीप्ति, वय का देर में पकना (बुढ़ापा देर में आना), करता है ॥२७॥

यथौदकानामुदकेऽपनीते
चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां
पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः ॥२८॥

जल में रहनेवाले मछली आदि चर, कमल आदि स्थावर, जिस प्रकार जल के हटा लेने पर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विरेचन से पित्त को निकाल देने पर पित्तजन्य उपद्रवों का नाश हो जाता है ॥२८॥

मन्दाग्न्यतिस्नेहितबालवृद्ध-
स्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः ।
श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो
गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक् ॥२९॥
नवप्रतिश्यायमदात्ययी च
नवज्वरी या च नवप्रसूता ।
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः
स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च ॥३०॥

विरेचन के अयोग्य—मन्दाग्नि, अतिशयस्नेह दिया, बालक, वृद्ध, स्थूल, क्षतक्षीण, भय से डरा, थका हुआ, प्यास से पीडित, अजीर्ण में भोजन किया, गर्भवती, अधोगामि रक्तपित्तरोगी, नूतन प्रतिश्याय का, मदात्यय रोगी, नवज्वरी, नूतनप्रसववती, शल्य से पीड़ित और जिसका स्नेहन आदि नहीं किया, इनको विरेचन नहीं देना चाहिये ॥२९,३०॥

अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान्
विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम् ।
विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशं—
मज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ॥३१॥

अपवाद—इनमें भी यदि पित्त की बहुत अधिकता हो तो, इनको भी धीरे धीरे विरेचन देवे । अविरेचनीय पुरुष मूर्ख से दिये हुए विरेचनों से नष्ट हो जाते हैं ॥३१॥

विरेच्यास्तु—ज्वरगरारुच्यर्शोऽर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधिपाण्डुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगन्दरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबन्धविसूचिकालसकमूत्राघातकुष्ठ-विस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यन्दशिरःकर्णाक्षिनासास्युगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधिपरीता इति ॥३२॥

विरेचन के योग्य पुरुष—ज्वर, गरविष, अरुचि, अर्श, अर्बुद, उदर, ग्रन्थि, विद्रधि, पाण्डुरोग, अपस्मार, हृद्रोग, वातरक्त, भगन्दर, वमन, योनिरोग, विसर्प, गुल्म, पक्वाशय के रोग, विबन्ध, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कुष्ठ, विस्फोट, प्रमेह, आनाह, शोफ, वृद्धि, शस्त्रक्षत, क्षार, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, अक्षिपाक, काच-तिमिर-अभिष्यन्द, शिरोरोग, कर्णपाक, अक्षिरोग, नासारोग, मुखरोग, गुदरोग, मेढ्रपाक, दाह, ऊर्ध्वरक्तपित्त, कृमिकोष्ठ में तथा पित्तस्थान गत अन्य दोषजनित रोगों में एवं पित्तरोग से पीड़ित व्यक्तियों को विरेचन देना चाहिये ॥३२॥

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम् ।
वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा ॥३३॥

विरेचन सर होने से (सरण शील होने से), सूक्ष्म होने से (सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचने से), तीक्ष्ण होने से, उष्ण होने से, विकासी होने से (धातुओं को शिथिल करने के कारण), तथा अपने स्वभाव से दोषों को अधोमार्ग से निकालता है । वमन-सर होने से, सूक्ष्म होने से, तीक्ष्ण होने से, विकासी होने से, इससे विपरीत अर्थात् मुखमार्ग से दोषों को निकालता है । यह स्वभाव से ही है ॥३३॥

वक्तव्य—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, यथा—"ऊर्ध्वानुलोमिकं यद्यत्तत्प्रभावप्रभावितम् (च० सू० अ० २६) । विरेचन और

वमन में गुणों की समानता होनेपर भी कार्य की भिन्नता का कारण स्वभाव (प्रभाव) ही है परन्तु चरक में–अग्निवाय्वात्मकत्वात् ऊर्ध्वभागप्रभावात् औषधस्य ऊर्ध्वं उद्भिद्यते। सलिलपृथिव्यात्मकत्वात् अधोभागप्रभावाच्च औषधस्य अधः प्रवर्त्तते। उभयतश्च उभयगुणत्वात्।

चरक० कल्प० अ० १ ॥३३॥

यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम्।
गुणोत्कर्षाद्व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥३४॥

पचता हुआ विरेचन दोष को लेकर नीचे (अधोमार्ग से) जाता है। वमन-विना पचे ही, अपने गुण की उत्कर्षता के कारण ऊपर को जाता है ॥३४॥

कहा भी है—

अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम्, निर्हरेद् ॥ चरक कल्प० ॥३४॥

मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतितीक्ष्णं विरेचनम्।
न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितम् ॥३५॥

मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति में, अग्नि के प्रदीप्त होने से, अतितीक्ष्ण विरेचन अतिशीघ्र बाहर निकल जाने के कारण दोषों को भली प्रकार नहीं निकालता ॥३५॥

पीतं यदौषधं प्रातर्भुक्तपाकसमे क्षणे।
पक्तिं गच्छति दोषांश्च निर्हरेत्तत् प्रशस्यते ॥३६॥

प्रातः पी हुई औषध आहार के पचने के समय तक (तीन-प्रहर तक) जीर्ण हो जाती है, और दोषों को निकालती है, वह प्रशस्त है ॥३६॥

दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः।
हरेत् प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत् प्रच्युतानपि ॥३७॥

दुर्बल व्यक्ति के प्रचुर एवं चलायमान हुए दोषों को थोड़ा थोड़ा करके बाहर निकाले। दोष यदि थोड़ी मात्रा में हो तो उनके चलायमान होने पर भी दुर्बल मनुष्य में वहीं इनको शान्त करे। (यथा–क्षय रोगी में–उसे विरेचन, वमन न देवे) ॥

हरेद्दोषांश्चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य वा।
चला ह्यपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम् ॥३८॥

बलवान् या दुर्बल व्यक्ति के पके हुए एवं चलायमान दोषों को शरीर से बाहर करे। क्योंकि इन दोषों की उपेक्षा करने पर ये दोष रोगी को देर तक पीड़ित करते हैं ॥३८॥

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः।
सन्धुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत् ॥३९॥

मन्दाग्नि एवं क्रूरकोष्ठवाले व्यक्ति की जाठराग्नि को यवक्षार, लवण मिश्रित घृतों से (षट्पलघृत आदि) प्रदीप्त करके, स्नेहन और स्वेदन देकर विरेचन दे ॥३९॥

स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात्।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम् ॥४०॥

स्नेहन और स्वेदन से स्निग्ध एवं स्विन्न शरीरों में औषधि द्वारा बलपूर्वक उत्क्लेशित हुआ दोष मार्गों में नहीं लीन होता, जिस प्रकार चिकने पात्र में पानी नहीं रहता।

वक्तव्य–"स विच्छिन्नः परिप्लवः स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावात् आमाशयमागत्य ॥च०॥४०॥

न चातिस्नेहपीतस्तु पिबेत् स्नेहविरेचनम्।
दोषाः प्रचलिताः स्थानाद्भूयः श्लिष्यन्ति वर्त्मसु ॥४१॥

अतिशय स्नेहपान होने पर स्निग्ध विरेचन नहीं पीना चाहिये। क्योंकि चलायमान हुये दोष फिर रास्तों में चिपक जाते हैं (स्नेह के कारण) ॥४१॥

विषाभिघातपिडकाशोफपाण्डुविसर्पिणः।
नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथा कुष्ठिप्रमेहिणः ॥४२॥

विषपान किये, चोट लगे, पिडका, शोफ, और पाण्डुरोगी, विसर्परोगी, कुष्ठ एवं प्रमेहरोगी को बहुत स्निग्ध किये बिना (रूक्ष अवस्था में ही) विरेचन देना चाहिये ॥४२॥

विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत्।
तेन दोषा हृतास्तस्य भवन्ति बलवर्धनाः ॥४३॥

स्नेहसात्म्य व्यक्ति को रूक्ष बनाकर, फिर से स्नेहन करके उसे विरेचन देना चाहिये। इस शोधन से निकाले हुए दोष इस रोगी के लिये बलवर्धक होते हैं। (दोषों के निकलने से बल अच्छी प्रकार बढ़ता है) ॥४३॥

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेतौषधं मृदु।
ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः ॥४४॥

जिस रोगी ने पहले कभी विरेचन औषध नहीं पी हो, उसे पहले मृदु औषध देवे। फिर कोष्ठ का ज्ञान हो जाने पर पुनः संशोधन करना चाहिये ॥४४॥

सुखं दृष्टफलं हृद्यमल्पमात्रं महागुणम्।
व्यापत्स्वल्पात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम् ॥४५॥

राजा या कोमल प्रकृति, मनुष्य सुख से पीने योग्य, जिसका फल देखा हुआ हो, मन के लिये प्रिय, थोड़ी मात्रा-वाली, अधिक गुणकारी, आपत्ति होने में थोड़ी हानि करने-वाली औषध पीये ॥४५॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारु शुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥४६॥

स्नेहन और स्वेदन किये बिना जो मनुष्य संशोधन पीता है, वह नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार शुष्क लकड़ी स्नेहन एवं स्वेदन किये बिना मोड़ने में टूट जाती है।

"शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथा न्यायं किं पुनर्जीवितो नरान् ॥

चरक० सू० अ० १४।५॥४६॥

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥४७॥

स्नेहन और स्वेदन से चलायमान हुये, कोष्ठ में पहुँचे हुये दोष स्निग्ध रसों से बाहर की ओर प्रेरित होकर वमन-विरेचन रूपी विशोधनों से सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वमन विरेचन व्यापत् चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—वमन एवं विरेचन का सेवन करने में जो कोई व्यापद्—आपद् या विपत्ति आ जाती हैं—खड़ी हो जाती हैं उनकी चिकित्सा इस अध्याय में कही गई है। ये व्यापद् चिकित्सक, रोगी, परिचारक अथवा औषध के दोष से होती हैं ॥१,२॥

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्याधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्; सामान्यमुभयोः—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं, हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलम्, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं, विबन्ध, अङ्गप्रग्रह इति ॥३॥

वैद्य और रोगी के कारण (इसी में औषध और परिचारक का अन्तर्भाव करना) वमन और विरेचन की व्यापत्ति (हानि-नुकसान) पन्द्रह प्रकार की होती है। यथा—इनमें वमन द्रव्य का नीचे जाना और विरेचन द्रव्य का ऊपर को जाना, यह अलग अलग है। शेष दोनों में सामान्य हानियाँ हैं, यथा—औषध का बचे रहना, औषध का पच जाना, दोष का थोड़ा निकालना, वातशूल, अयोग, अतियोग, जीवादान, आध्मान, परिकर्त्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, विबन्ध, अंगप्रग्रह (अंग का पकड़ा जाना) ॥३॥

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद्वमनमधो गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥४॥

इनमें भूख से पीड़ित या अतितीक्ष्ण अग्निवाले मृदुकोष्ठ व्यक्ति में रुका हुआ (जीर्ण हुआ) वमन अथवा भली प्रकार से वमन न होने पर वमन औषध विरेचन के समान सरत्व आदि गुणवाली होने के कारण नीचे अधो मार्ग में जाती है (विरेचन करती है)। इससे इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, दोष का उत्क्लेश होता है। इस अवस्था में रोगी को शीघ्र स्नेहन करके फिर पहले से अधिक तीक्ष्ण वामक औषध पिला कर वमन कराये ॥४॥

अपरिशुद्धामाशयस्योत्क्लिष्टश्लेष्मणः सदोषान्नस्य वाऽहृद्यमतिप्रभूतं वा विरेचनं पीतमूर्ध्वं गच्छति तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च, तत्राशुद्धामाशयमुल्बणश्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेत्, आमान्वये त्वामवत् संविधानम्, अहृद्येऽतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणयुक्तं च, अत ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्यौषधे न तृतीयं पाययेत्, ततस्त्वेनं मधुघृतफाणितयुक्तैर्लेहैर्विरेचयेत् ॥५॥

जिसका आमाशय शुद्ध (वमन से) नहीं हुआ, उसमें, अथवा बहुत बढ़े हुए कफवाले में, अन्न का पाचन पूर्ण न होने से, मन को अप्रिय या मात्रा में बहुत अधिक पिया हुआ विरेचन ऊपर की ओर आता है। इससे इच्छित फल नहीं होता, दोष का प्रकोप होता है। इसमें अशुद्ध आमाशयवाले एवं प्रचुर कफवाले रोगी को तुरन्त वमन करा के फिर अतिशय तीक्ष्ण विरेचन देवे। आम का योग होने पर आम की भाँति उपचार (लंघन-पाचन) करे। मन के लिये अप्रिय मात्रा में बहुत अधिक औषध की अवस्था में मन के लिये प्रिय और मात्रा में औषध देवे। इतने पर भी यदि औषध ऊपर की ओर जाये तो तीसरी बार विरेचन औषध न देवे। इस समय रोगी को मधु, घी, राब से युक्त लेहों से विरेचन देवे।

वि० मन्तव्य—उक्त दशाओं में अथच उक्त कारणों में से विरेचन औषध से विरेचन न होकर वमन हो जाता है परन्तु यदि आमाशय में कफ रहने से वमन हो गया हो तो पुनः विरेचन औषध से विरेचन हो जाता है परन्तु यदि तथापि वमन हो ही जाय तो फिर विरेचन औषध न देकर केवल मधुघृत एवं फाणित युक्त औषध (च्यवनप्राश आदि) से विरेचन करे। अनेकों की ऐसी प्रकृति होती है जिससे—विरेचन के औषध से वमन हो जाया करता है। यह भी एक व्यापद् ही है ॥५॥

दोषविग्रथितमल्पगौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा न स्रंसयति दोषान्, तत्र तृष्णा पार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गाराविशुद्धिश्च भवति; तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेदूर्ध्वभागिके, अधोभागिकेऽपि च सावशेषौषधमतिप्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तलक्षणमप्येवं वामयेत् ॥६॥

दोष से मिश्रित, मात्रा में थोड़ी औषध, पच जाने पर औषध दोषों को वमन या विरेचन रूप में बाहर नहीं करती। इससे प्यास, पार्श्वशूल, वमन, मूर्च्छा, पर्वभेद, जी मचलाना, बेचैनी, अथवा डकार की अशुद्धि होती है। इसमें वमन

औषध की अवस्था में गरल पानी से वमन कराये। विरेचन औषध में भी—औषध के शेष रह जाने पर, दोष के अतिशय चलायमान होने पर अतिशय बलवान् पुरुष को तथा भली प्रकार विरेचन न हुए लक्षण देखकर वमन कराये ॥६॥

क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति, तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्ह्रियमाणा व्याधिविभ्रमं बलविभ्रंशं चापादयन्ति, तमनल्पममन्दमौषधं च पाययेत् ॥७॥

क्रूर कोष्ठवाले पुरुष में या अतितीक्ष्ण अग्निवाले पुरुष में—थोड़ी औषध या थोड़े गुणवाली औषध भोजन की भाँति पच जाती है। इसमें उदीर्ण हुए दोष समय पर बाहर न निकालने पर रोग का विभ्रम (कोष्ठादि में क्षोभ), बल विभ्रंश (सन्धिविश्लेष आदि) को उत्पन्न कर देते हैं। इस रोगी को प्रचुर मात्रा में तीक्ष्ण औषध पिलाये।

वि० मन्तव्य—यह जीर्णौषधत्व नामक व्यापद् है ॥७॥

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तमल्पान दोषान् हन्ति, तत्र वमने दोषशेषो गौरवमुत्क्लेशं हृदयाविशुद्धिं व्याधिवृद्धिं च करोति, तत्र तं यथायोगं पाययित्वा वामयेद्दृढतरं; विरेचने तु गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोर्व्याधिवृद्धिं च करोति, तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद्दृढतरं, दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति ॥८॥

स्नेहन, स्वेदन दिये बिना अथवा थोड़े गुणवाली दी हुई औषध थोड़े दोषों को नष्ट करती है। इसमें वमन की अवस्था में दोष के रह जाने से भारीपन, जी मचलाना, हृदय की अविशुद्धि और रोग की वृद्धि होती है। इसमें रोगी को यथायोग्य औषध पिलाकर पहले से अधिक जोर से वमन कराये। विरेचन में गुदा में काटने की सी वेदना, आध्मान, शिर में भारीपन, वायु का बाहर न आना, रोग का बढ़ना होता है। इसमें रोगी को पुनः स्नेह और स्वेद देकर पहले से अधिक तीक्ष्ण विरेचन देवे। दृढ़ शरीरवाले एवं बहुत दोषवाले व्यक्ति में दोषों के चलायमान होने पर तीसरे दिन (विरेचन या वमन देने के तीसरे दिन) थोड़े गुणवाली औषध देवे।

वि० मन्तव्य—यह हीनदोषापहृतत्व नामक व्यापद् है ॥८॥

अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति, तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति, तं वातशूलमित्याचक्षते, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत् ॥९॥

बिना स्नेहन स्वेदन किये, या रूक्ष औषध के सेवन से अथवा ब्रह्मचर्यव्रत पालन न करने से वायु कुपित हो जाती है। इसमें कुपित वायु पार्श्व, श्रोणि, मन्या, मर्म (हृदय) में शूल, मूर्च्छा, भ्रम, मद, संज्ञानाश कर देती है। इस अवस्था को वातशूल कहते हैं। इसमें स्नेह का अभ्यंग करके उड़द आदि धान्यों से स्वेद देकर मुलैहठी के क्वाथ से सिद्ध किये तैल से अनुवासन देवे।

वि० मन्तव्य—यह वातशूल नामक व्यापद् है ॥९॥

स्नेहस्वेदाभ्यामविभावितशरीरेणाल्पमौषधमल्पगुणं वा पीतमूर्ध्वमधो वा नाभ्येति दोषांश्चोत्क्लेश्य तैः सह बलक्षयमापादयति, तत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति, तमयोगमित्याचक्षते; तमाशु वामयेन्मदनफललवणाम्बुभिर्विरेचयेत्तीक्ष्णतरैः कषायैश्च। दुर्वान्तस्य तु समुत्क्लिष्टा दोषा व्याप्य शरीरं कण्डूश्वयथुकुष्ठपिडकाज्वराङ्गमर्दनिस्तोदनानि कुर्वन्ति, ततस्तानशेषान्महौषधेनापहरेत्। अस्निग्धस्विन्नस्य दुर्विरिक्तस्याधोनाभेः स्तब्धपूर्णोदरता शूलं वातपुरीषसंगः कण्डूमण्डलप्रादुर्भावो वा भवति, तमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्तीक्ष्णेन। नातिप्रवर्तमाने तिष्ठति वा दुष्टसंशोधने तत्सन्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत्. पाणितापैश्च पार्श्वोदरमुपस्वेदयेत्, ततः प्रवर्तन्ते दोषाः। अनुप्रवृत्ते चाल्पदोषे जीर्णौषधं बहुदोषमहःशेषं बलं चावेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात्। अप्रवृत्तदोषं दशरात्रादूर्ध्वमुपसंस्कृतदेहं स्नेहस्वेदाभ्यां भूयः शोधयेत्। दुर्विरेच्यमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्। ह्रीभयलोभैर्वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजः श्रोत्रियाश्च भवन्ति, तस्मादेते दुर्विरेच्याः, बहुवातत्वात्; अत एव तानतिस्निग्धान् स्वेदोपपन्नान् शोधयेत् ॥१०॥

स्नेहन और स्वेदन किये हुये शरीरों में थोड़ी मात्रा में या थोड़े गुणवाली पी हुई औषध ऊपर या नीचे नहीं जाती (वमन या विरेचन नहीं करती)। अपितु दोषों को उत्क्लेशित करके उनके साथ में बलक्षय उत्पन्न कर देती है। इससे आध्मान, हृदयग्रह, तृष्णा, मूर्च्छा और दाह होता है। इस अवस्था को अयोग कहते हैं. इस रोगी को तुरन्त मैनफल और सैन्धव के कषाय से वमन कराये और अतितीक्ष्ण कषायों से विरेचन देवे। भली प्रकार वमन न होने पर अतिशय उत्क्लेशित हुए दोष शरीर में फैलकर कण्डु, शोथ, कुष्ठ, पिड़का, ज्वर, अंगमर्द, निस्तोद उत्पन्न करते हैं। इन सब दोषों को सम्पूर्ण रूप में औषध की बड़ी मात्रा से निकाले। स्नेहन स्वेदन किये बिना विरेचन लेने पर या भली प्रकार विरेचन न होने पर नाभि के नीचे उदर में जड़ता और भारीपन, शूल, वायु, मल का अवरोध, कण्डु, चकत्तों का उत्पन्न होना होता है। इसको आस्थापन (निरूह) देकर, फिर से स्नेह करके

स्नेह करके तीक्ष्ण विरेचन देवे। विरेचन के अन्दर रुक जाने पर या ठीक प्रकार से प्रवृत्त न होने पर, संशोधन के दूषित होने पर (क्रियाशील न होने पर) इसके तेज को बढ़ाने के लिये गरम पानी पिलाये। हाथों को आग पर गरम करके पार्श्व और उदर पर सेक करे। इससे दोष प्रवृत्त होते हैं। दोष के पीछे से प्रवृत्त होने पर, या थोड़ी मात्रा में प्रवृत्त होने पर, औषध के जीर्ण होने पर, दोष की प्रचुरता को देखकर यदि दिन शेष हो तो, रोगी बलवान् हो—तो इसको फिर औषध की मात्रा पिलाये। दोष के प्रवृत्त न होने पर दस दिन के पीछे स्नेहन और स्वेदन से शरीर को संस्कृत बनाकर फिर संशोधन देवे। जिसे कठिनाई से विरेचन होता हो, उसे, निरूह देकर—फिर स्नेहन करके विरेचन देवे। भय, लज्जा, लोभ से, उपस्थित वेगों को रोकने के स्वभाववाली प्रायः स्त्रियाँ, राजसेवक, वणिक् और श्रोत्रिय होते हैं। इसलिये इनको कठिनाई से विरेचन होता है। क्योंकि इनमें वायु की अधिकता रहती है। इसलिये इनको अतिशय स्नेहन देकर—स्वेद कराके फिर शोधन देवे।

"सदातुरा, श्रोत्रिय राजसेवकाः तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः॥ चरक सि० अ० १२-२५।

वि० मन्तव्य—यह "अयोग" (हीनयोग) नामक व्यापद् है ॥१०॥

स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रमतिमृदुकोष्ठस्य वाऽतितीक्ष्णमधिकं वा दत्तमौषधमतियोगं कुर्यात्। तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तं घृतेनाभ्यज्यावगाह्य शीतास्वप्सु शर्करामधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वं, विरेचनातियोगे कफस्यातिप्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य, तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तमतिशीताम्बुभिः परिषिच्यावगाह्य वा शीतैस्तण्डुलाम्बुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्, पिच्छाबस्तिं चास्मै दद्यात्, क्षीरसर्पिषा चैनमनुवासयेत्, प्रियङ्ग्वादिं चास्मै तण्डुलाम्बुना पातुं प्रयच्छेत्, क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत्॥

अतिमात्रा में स्नेहन और स्वेदन करने पर, मात्रा में अधिक औषध पीने से, अतिमृदु कोष्ठ व्यक्ति में अतितीक्ष्ण या अधिक मात्रा में दी हुई औषध अतियोग को उत्पन्न कर देती है। इसमें वमन का अतियोग होने पर पित्त की अतिप्रवृत्ति, बल की हानि, वायु का अतिशय कोप होता है। इसमें घी से अभ्यंग और शीतल जल से स्नान करके दोषों के अनुसार शर्करा मधुमिश्रित लेह चाटने को देवे। विरेचन के अतियोग में कफ की अतिशय प्रवृत्ति, और पीछे से रक्त मिश्रित मल या कफ आता है। इसमें भी बल की हानि और वायु का अतिशय प्रकोप होता है। इसमें रोगी को अतिशीतल जल में गोता लगवाकर या स्नान कराके, चावलों के अतिशीतल धोवन में मधु मिलाकर वमन कराये। पिच्छाबस्ति देवे। दूध से निकाले घी से अनुवासन दे। प्रियंगु आदि को कर्षमात्रा में चावल के पानी से पीने को देवे। दूध या मांसरस किसी एक से भोजन कराये।

वि० मन्तव्य—यह अतियोग (वमन विरेचन अधिक होना) नामक व्यापद् है ॥११॥

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमपसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञ्यमित्युपद्रवा भवन्ति; तमजासृक् चन्दनोशीराञ्जनलाजचूर्णैः सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्, फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुङ्गाभिर्वा वटादीनां पेयां सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा, पयसा जाङ्गलरसेन वा भोजयेत्, अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्; जिह्वामतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रघृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वाऽन्तः पीडयेत्, अन्तःप्रविष्टायामम्लमन्ये तस्य पुरस्तात् स्वादयेयुः, व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्, हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्, तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्॥१२॥

इसी अतियोग में वमन का अतियोग बहुत बढ़ जाने पर थूक में या वमन में रक्त आता है। इसमें जिह्वा आगे निकल आती है, या पीछे मुड़ जाती है, आँखें पलट जाती हैं, जवाड़ी बन्द हो जाती हैं, प्यास, हिक्का, ज्वर, विसंज्ञा ये उपद्रव होते हैं। इस रोगी को बकरी का रक्त—चन्दन, खस, सुरमा, लाजाओं का चूर्ण इनसे शर्करा के शर्बत में मन्थ (घोल) बनाकर पिलाये। अनार बिजौरे आदि फलों के रस में घी, मधु, शर्करा मिलाकर बरगद आदि वृक्षों के कोपलों से बनाई पेया को पिलाये। अथवा मल को बाँधनेवाले (कुटज, बिल्व आदि) द्रव्यों को दूध या जांगल मांस रस से अथवा मधु से देवे। अतिशय निकले रक्त की चिकित्सा विधि बरते। जीभ बहुत बाहर निकल आई हो तो इस पर मरिच आदि कटु द्रव्य, लवण का चूर्ण या तिल-द्राक्षा का लेप करके अन्दर को दबाये। अन्दर घुस जाने पर दूसरे मनुष्य इसके सामने खट्टे फलों को खायें। आँख के पलट जाने पर आँखों पर घी का अभ्यङ्ग करके दबाये। जवाड़ी बन्द हो जाने पर वात-कफ नाशक नस्य और स्वेद देवे। तृष्णा आदि में उनकी अपनी चिकित्सा करे। विसंज्ञा (संज्ञाहीन) होने पर वीणा, वेणु (बंसरी) या गीत की ध्वनि सुनावे ॥१२॥

विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति, ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति, तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्, निःसर्पितगुदस्य

गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत् क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत, वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत्, न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्, शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्, न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु ॥१३॥

विरेचन के अतियोग में चन्द्रिकावाला मल (जलरूप में) बाहर आता है, फिर मांस के धोने के समान मल आता है, और पीछे से शुद्ध रक्त आता है। फिर गुदा का बाहर आना, कम्पन और वमन के अतियोगवाले उपद्रव हो जाते हैं। इसकी भी चिकित्सा अतिशय निकले रक्त की भाँति करे। गुदा के बाहर निकलने पर गुदा पर अभ्यङ्ग करके, स्वेदन देकर अन्दर को दबाये अथवा क्षुद्र रोग में कही गुदभ्रंश की चिकित्सा करे। कम्पन में वातव्याधि की चिकित्सा करे। जिह्वानिःसरण आदि की चिकित्सा सू० १२ में कह दी है। शुद्ध रक्त के अतिमात्रा में प्रवृत्त होने पर गाम्भारीफल, बेर, दूर्वा, खस से सिद्ध किये दूध में घृत का मण्ड और सुरमा मिलाकर इसे अतिशीतल करके निरूह देवे। न्यग्रोधादि गण के कषाय, गन्ने का रस, घी, रक्त इनसे मिली बस्तियों से चिकित्सा करे। थूक में रक्त आने पर रक्त पित्त और रक्तातीसार की चिकित्सा करे। खान पान में न्यग्रोधादिगण का व्यवहार करे।

वि० मन्तव्य—सू० १२ तथा १३ में जीवादान नामक व्यापद् का वर्णन किया गया है। सू० १४ में रक्त की शुद्धि एवं अशुद्धि की पहचान बतलाई गई है। यदि शुद्ध रक्त जा रहा हो तो तत्काल रोकने का प्रयत्न करे अन्यथा रक्तपित्त, रक्तातिसार तथा रक्तार्श के समान व्यवस्था करे। कभी-कभी रक्तार्श आदि के रोगी को उष्णवीर्य विरेचन दे देने पर अर्श का रक्त चालू हो जाता है ऐसी दशा में उक्तविधि से जान लिया जाता है कि यह रक्त रक्तार्श का सञ्चित एवं दूषित रक्त है अथवा जीव शोणित है ॥१३॥

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्, यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं, सभक्तं च शुने दद्याच्छक्तुसंमिश्रं वा, स यद्युपभुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्, अन्यथा रक्तपित्तमिति ॥१४॥

शुद्ध रक्त और अशुद्ध रक्त की परीक्षा के लिये रक्त में रुई का फोया या कपड़े का टुकड़ा भिगोये। यदि गरम पानी से धोने पर भी कपड़े पर दाग बना रहता है, तो इसको शुद्ध रक्त जानना चाहिये। इस रक्त को भोजन में मिलाकर कुत्ते को देवे। अथवा सत्तु में मिलाकर दे। यदि कुत्ता इसे खा जाये तो इसको जीवरक्त (शुद्धरक्त) समझे, अन्यथा अशुद्ध रक्त समझे ॥१४॥

सशेषान्नेन बहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधमाध्मापयति, तत्रानिलमूत्रपुरीषसंगः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभंगो गुदबस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति, तं चाध्मानमित्याचक्षते, तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत् ॥१५॥

अन्न के शेष रह जाने पर (न पचने पर), बहुत दोषवाले पुरुष के, रूक्षप्रकृति, वातबहुल कोष्ठवाले पुरुष के वात एवं रूक्ष औषध पीने पर औषध आध्मान उत्पन्न करती है। इससे वायु-मूत्र मल का अवरोध होता है, पेट चढ़ जाता है (तनता है), पड़खे फटते हैं, गुदा और बस्ति में चुभने की सी दर्द, भोजन में अरुचि होती है। इसको आध्मान कहते हैं। इसमें रोगी को स्वेदन देकर, आनाह (अनुलोमन), वर्त्ति (गुदावर्त्ति), दीपन बस्ति से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—गुदवर्त्ति,—फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णालवणासर्षपैः। धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम् ॥ कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्। अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे ॥ अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम् ॥ च० सि० अ० ७।२३-२५।

वि० मन्तव्य—यह आध्मान नामक व्यापद् है ॥१५॥

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वाऽतितीक्ष्णोष्णातिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति, तत्र गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तनमनिलसंगो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति, तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत् ॥१६॥

निर्बल शरीर, अतिमृदुकोष्ठ, मन्दाग्नि अथवा रूक्षव्यक्ति अतितीक्ष्ण उष्ण अतिलवण या अतिरूक्ष औषध को जब पीता है, तब पी हुई औषध पित्त और वायु को दूषित करके परिकर्त्तिका रोग को उत्पन्न करती है। इसमें गुदा, नाभि, मेढ्र, और बस्ति शिर में दाह के साथ काटने के समान वेदना, वायु का अवरोध, वायु की गड़गड़ाहट और भोजन में अरुचि होती है। इसमें पिच्छाबस्ति को मधु, मुलैहठी, काले तिल का कल्क और घी के साथ देवे। शीतल जल से स्नान कर चुकने पर इसको दूध के साथ भोजन देकर, मुलैहठी से सिद्ध घृतमण्ड या तैल से अनुवासन देवे।

वि० मन्तव्य—यह परिकर्त्तिका नामक व्यापद् है इसमें गुद (गुदवलियों में), नाभि (अन्त्र में), मेढ्र (मूत्र मार्ग में) तथा बस्तिशिरस्—वृक्क एवं मूत्रवह

स्रोतों में परिकर्त्तन-खरोश पड़ जाते हैं। उसी के रोपणार्थ पिच्छा बस्ति का विधान है। यदि बस्ति की व्यवस्था न हो तो बिलगिरी, ईसबगोल आदि पिच्छिल द्रव्य खिला देवे।१६।

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति, ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति, तत्र दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः, तं परिस्रावमित्याचक्षते, तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेत्, उपशान्तदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत् ॥१७॥

क्रूरकोष्ठव्यक्ति को या अतिशय प्रचुर दोषवाले को दी हुई मृदु औषध दोषों को उत्क्लेशित करके सम्पूर्ण रूप में बाहर नहीं निकालती। इससे वे दोष परिस्राव उत्पन्न करते हैं। इससे दुर्बलता, पेट में गड़गड़ाहट, अरुचि, अंगों में शिथिलता होती है। वेदना के साथ पित्त और कफ बहते हैं। इसको परिस्राव कहते हैं। इसमें अजकर्ण (साल), धावड़ी, सांदन, ढाक, बला, इनके क्वाथ में मधु मिलाकर आस्थापन बस्ति देवे। दोष के शान्त होने पर स्नेहन देकर फिर से संशोधन देवे।

वि० मन्तव्य—यह परिस्राव नामक व्यापद् है। इसमें पुरीष रहित केवल पित्त एवं कफ का स्राव बार २ होता रहता है।

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वातवर्चं उदीरयति वेगाघातेन वा, तदा प्रवाहिका भवति, तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमाणः कफमुपविशति, तां परिस्रावविधानेनोपचरेत् ॥१८॥

अतिरूक्ष या अतिस्निग्ध पुरुष में बरती हुई औषध अनुपस्थित वायु और मल को प्रेरित करके अथवा मल को रोककर प्रवाहिका उत्पन्न करती है। इसमें वायु के साथ, दाह, शूल के साथ भारी, चिकना, श्वेत, काला, रक्त मिश्रित अथवा मात्रा में बहुत कफ प्रवाहण करने पर आता है। इसकी चिकित्सा परिस्राव विधि से करे।

वक्तव्य—"भेषजेनावचारितेनाप्तयोर्वा वातवर्चसोरुदीरणेन वेगाघातेन वा प्रवाहिका भवति।" यह पाठ रुचिकर है।

वि० मन्तव्य—यह प्रवाहिका नामक व्यापद् है। इसमें प्रवाहिका के सब लक्षण होते हैं देखिये उ० तं० अ० ४० का श्लो० १३८ १३९ तथा इसके आगे उसकी चिकित्सा-प्रवाहण अर्थात् काँखना-मल-प्रवृत्ति के लिये प्रयत्न करना-बल लगाना।

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते, उद्ताक्षो जिह्वां खादति, प्रताम्यत्यचेताश्च भवति, तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रायेण चैनं बस्तिभिरुपाचरेत् ॥१९॥

जो व्यक्ति ऊपर या नीचे की ओर प्रवृत्त औषध के वेग को मूर्खता से रोक देता है, उसमें दोष हृदय की ओर जाते हैं। इसमें हृदय के सन्ताप से वेदना के कारण अतिशय दुःखी होता हुआ दाँतों को दबाता है, आँखें बाहर आ जाती हैं, जीभ काटता है, मूर्च्छा आती है, बेभान हो जाता है। मूर्ख लोग इसकी चिकित्सा नहीं करते। इस पर घी का अभ्यंग करके उड़द आदि धान्यों से स्वेद देवे। मुलैहठी से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे। इसको तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवे, चावलों के पानी में मुलैहठी का कल्क मिलाकर वमन कराये। दोष की अधिकता के अनुसार बस्ति से इसकी चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—यह हृदयोपसर्पण नामक व्यापद् है। मूर्ख (जो इस व्यापद् का ज्ञाता नहीं है) चिकित्सक इस व्यापद् के उक्त भीषण लक्षणों को देखकर घबरा जाते हैं—असाध्य मानकर चिकित्सा से विरत हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान चिकित्सक इस दशा को वमनविरेचन की व्यापद् मात्र समझ कर उक्त उपचार करे। न गच्छेत् विभ्रमं तत्र च० सि० अ० ६।

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत, तस्य दोषाः स्रोतःस्ववलीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापाद्य विबध्यन्ते, तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति, तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत, अधोभागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवाम्लमूत्रसंसृष्टं विरेचनाय पाययेत्, आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्, यथादोषमाहारक्रमं च, उभयतोभागे तूपद्रवविशेषान् यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥२०॥

जिस पुरुष के दोष ऊपर या नीचे प्रवृत्त हुए हैं, वह मनुष्य जब शीतल घर, शीतल पानी या वायु का अथवा अन्य शीतल आहार-विहार का सेवन करता है, उसके दोष स्रोतों में विलीन होते हुए ठोसरूप बनकर वायु-मूत्र, मल को रोककर स्वयं रुक जाते हैं। इससे पेट का चढ़ना, दाह, ज्वर, तीव्र वेदना होती है। इसको तुरन्त वमन कराके जो ठीक समझे वह चिकित्सा करे। विरेचन की अवस्था में—अधोभागहर (विरेचन) द्रव्यों को सैन्धव, कांजी, मूत्र में मिलाकर विरेचन के लिये देवे। दोष के अनुसार आस्थापन और अनुवासन देवे। दोष के अनुसार ही आहार विधि बरते। वमन विरेचन दोनों की अवस्था में दोषों के अपने अनुसार उपद्रवों की चिकित्सा करे। (यूष-कफ में, दूध-पित्त में, मांस रस-वायु में देवे)।

वि० मन्तव्य—यह विबन्ध नामक व्यापद् है। इसके आगे "अङ्ग प्रग्रह" नामक व्यापद् का वर्णन होना चाहिये किसी भी प्रति में वह खोजने पर भी उपलब्ध नहीं हुआ और श्रीहाराणचन्द्रजी ने तो सू० ३ में गिनी गई व्यापदों में से अंगप्रग्रह नामक व्यापद् को निकाल ही दिया है। स्यात् इन उपलब्ध प्रतियों में उसके वर्णन को न पाकर आप ने ऐसा साहस कर डाला है और श्रीयादव शर्मा ने भी "अङ्गप्रग्रहः" इत्यंशं न पठति हाराणचन्द्रः। टिप्पणी लिख डाली है परन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि अंगप्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णनात्मक सूत्र (पाठ) नष्ट हो गया है, रहा अवश्य होगा क्योंकि च० सि० अ० ६ में गात्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णन पाया जाता है—

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्‌गात्रयोर्ग्रहः।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥२६॥
अयोगात् अतियोगात् च दश एता व्यापदः स्मृताः।
प्रेष्य (परिचारक) भैषज्यवैद्यानां वैगुण्यात् आतुरस्य च ॥

और विवरण में—गात्र-अङ्ग-ग्रह-प्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णन है—

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा।
रुद्धोऽति वाऽविशुद्धस्य गृह्णाति अङ्गानि मारुतः ॥७६॥
स्तम्भवेपथु निस्तोद सादो द्वेष्टन मन्थनैः।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत् ॥७७॥

और सु० चि० अ० ३६ के श्लो० ४४-४५ में अंगग्रह नामक व्यापद् का लक्षण एवं चिकित्सा लिखी गई है। इन सब कारणों से उक्त व्यापद् को व्यापदों की श्रेणि से निकाल देना उचित नहीं है ॥२०॥

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनं, यदधः परिस्रवणं स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वं शुष्कोद्गारा इति ॥२१॥

विरेचन में जो गुदपरिकर्त्तिका है, वही वमन में गले का कुरकुराना (क्षत-खरोश होना) है। विरेचन में जो परिस्राव है, वमन में वही कफ प्रसेक है। विरेचन में जो प्रवाहिका है, वमन में वही शुष्क उद्‌गार है ॥२१॥

भवति चात्र—

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दश पञ्च च तत्त्वतः।
एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः ॥२२॥

कहा भी है—

परमार्थ रूप से जो ये पन्द्रह व्यापदायें कही हैं, ये विरेक के अतियोग, मिथ्यायोग एवं अयोग के कारण उत्पन्न होती हैं।

वक्तव्य—विरेचन शब्द वमन और रेचन दोनों के लिये है। यथा—तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनशब्दं लभते॥ च० (२) आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावोहृद्‌गात्रयोर्ग्रहः। जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः। अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः। प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च। शुद्धोक्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमतिबाध्यते ॥

चरक० सि० अ० ६।२५-२६ ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नेत्रबस्ति प्रमाणप्रविभाग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—नेत्र-नली जो एक ओर से बस्ति में बाँध दी जाती है और दूसरी ओर से गुद, भग एवं मूत्रमार्ग में प्रविष्ट की जाती है। बस्ति—थैली जो मृग भैंस आदि का मूत्राशय लेकर उपयोग में लाया जाता है अथवा गाढ़े वस्त्र की थैली, आजकल तो रबड़ की भी बनाई जाती है, इसमें आधेय द्रव भरा जाता है। नेत्र एवं बस्ति के संयुक्त उपकरण का नाम भी बस्ति है और इसके द्वारा जो द्रव प्रयुक्त किया जाता है उसका नाम भी बस्ति है। इन सब संज्ञाओं को समझकर इस अध्याय का अध्ययन कीजिये! बस्ति को 'पिचकारी' कहते हैं। आजकल केवल कांच की पिचकारी भी बनाई जाती हैं। और पीतल आदि धातु की भी ॥१,२॥

तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककर्मकरत्वाद्बस्तेः; इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधनसंशमनसंग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहन्ति, वयः स्थापयति।

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥४॥

स्नेहादि कर्मों में आचार्य बस्ति को सबसे मुख्य मानते हैं। क्योंकि—बस्ति अनेक कार्यों को सिद्ध करती है, बस्ति नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग के कारण दोषों का संशोधन, संशमन, संग्रहण करती है, क्षीण शुक्र को शुक्रवान् बनाती है, कृश को पुष्ट-मोटा बनाती है, मोटे को पतला करती है, आँखों को तेजस्वी

करती है, वलि और पलित को मिटाती है, वय को स्थिर करती है। भलीप्रकार सेवन की हुई बस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्यता और दीर्घायु को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—"तस्माचिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके ॥ (२) बस्तिः वयःस्थापयिता सुखायुःबलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च। चरक सि० अ० १ ॥४॥

तथा ज्वरातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकाङ्गसर्वाङ्गरोगाध्मानोदरयोनिशूलशर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशोणितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्ग्रहहनुमन्याग्रहशर्कराश्मरीमूढगर्भप्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते ॥५॥

ज्वर, अतिसार, तिमिर, शिरोरोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकांगरोग, सर्वाङ्गरोग, आध्मान, उदर, योनिशूल, शर्करा, शूल, वृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वात-मूत्र-मल-उदावर्त्त, शुक्रनाश, आर्त्तवनाश, स्तन्यनाश, हृद्ग्रह, मन्याग्रह, हनुग्रह, शर्करा, अश्मरी, मूढगर्भ आदि रोगों में विशेषतः बस्ति बरती जाती है ॥५॥

भवति चात्र—

बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते।
संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा ॥६॥

कहा भी है—

वायु में, पित्त में, कफ में, रक्त में, दोषों के संसर्ग में और दोषों के सन्निपात में बस्ति ही उत्तम है ॥६॥

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुलद्व्यङ्गुलार्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि। तेषु चास्थापनद्रव्यप्रमाणमातुरहस्तसंमितेन प्रसृतेन संमितौ प्रसृतौ द्वौ चत्वारोऽष्टौ च विधेयाः ॥७॥

वर्षान्तरेषु नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि।
वयोबलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम् ॥८॥

इसमें एक साल के बच्चे के लिये छै अंगुल, आठ साल के लिये आठ अंगुल, और सोलह साल के लिये दस अंगुल लम्बी होनी चाहिये। इनकी मोटाई क्रमशः कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमांगुलि के बराबर, आगे इनमें कर्णिका डेढ अंगुल, दो अंगुल, एवं साढे तीन अंगुल, दूरी पर बनानी चाहिये। इनका प्रवेशस्थल क्रमशः कंकपक्षी, श्येन और मोर के पंख की नाड़ी के समान बनाना चाहिये। इनका स्रोत क्रमशः, मूंग, उड़द और मटर के जाने योग्य रखना चाहिये। इसमें आस्थापन द्रव्य की मात्रा रोगी के अपने हाथ के माप से दो अंजली, चार अंजली और आठ अञ्जली क्रमशः रखनी चाहिये। बीच के वर्षों में नेत्र और बस्ति का परिमाण रोगी के बल, वय और शरीर को देखकर उसके अनुसार बढ़ा लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में—नेत्र की लम्बाई और मोटाई का वर्णन है और नेत्र पर कर्णिका बनाई जाती है जिससे नेत्र गुद आदि में आवश्यकता से अधिक नहीं प्रविष्ट हो सकता। प्रवेशस्थल—नेत्र का प्रवेशस्थल वह है जो गुद आदि में प्रविष्ट किया जाता है यथा छ अंगुल का यदि नेत्र बनाया जाता है तो उसके अग्र से १½ अंगुल ऊपर कर्णिका बनाई जाती है और गुद में नेत्र का १½ अंगुल भाग ही प्रविष्ट किया जाता है यह १½ अंगुल भाग ही "प्रवेश" कहलाता है। इस प्रवेश की मोटाई कङ्क आदि पक्षियों के पंख की मूलनलिका के समान होनी चाहिये। और नेत्र का छिद्र मूंग आदि के जाने आने योग्य हो ॥७,८॥

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरीणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्, अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलास्थिमात्रछिद्रं, क्लिन्नकलायमात्रछिद्रमित्येके, सर्वाणि मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि। आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहितं द्वादशप्रसृताः। सप्ततेस्तूर्ध्वं नेत्रप्रमाणमेतदेव, द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत् ॥९॥

पच्चीस वर्ष के ऊपर नलिका बारह अंगुल लम्बी, मूल में अंगूठे की मोटाई के बराबर, आगे में कनिष्ठिका अंगुली की मोटाई के बराबर, आगे में तीन अंगुल की दूरी बनी कर्णिकावाली, गिध के पंख की नाड़ी के तुल्य जाने योग्य, बेर की गुठली के बराबर स्रोतवाली, अथवा गीला करके फुलाये मटर के प्रवेश योग्य स्रोतवाली होनी चाहिये। बस्ति को बाँधने के लिये सब नेत्रों के मूल में दो कर्णिकायें (गांठ) होनी चाहिये। आस्थापन द्रव्य का परिमाण बारह प्रसृत (अंजली) रखना चाहिये। सत्तर साल से आगे नेत्र का प्रमाण यही रखना चाहिये, परन्तु द्रव्य की मात्रा सोलह वर्ष के समान है।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में २५ वर्ष से ऊपर की वयस्वालों के लिये जो नेत्र बरता जाता है। उसकी लम्बाई आदि बतलाया गया है। नेत्र के मूल में दो अंगुल पर दो कर्णिका बस्ति-थैली को बाँधने के लिये बनाई जाती हैं इन पर बस्ति का मुख भाग बाँध दिया जाता है ॥९॥

मृदुर्बस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः।
तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हिंस्याद् बलायुषी ॥१०॥

बालक और वृद्ध में विशेषकर मृदु बस्ति बरतनी चाहिये। इनमें दी हुई तीक्ष्ण बस्ति इनके बल और आयु को नष्ट कर देती है।

वि० मन्तव्य—यहाँ बस्ति शब्द आधेय द्रव के लिये आया है ॥१०॥

(व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं मुद्गवाहिस्रोतः, व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत ॥११॥

व्रण नेत्र की लम्बाई आठ अंगुल, स्रोत मूंग के जाने योग्य व्रण को देखकर दोषों के अनुसार स्नेहकषाय बरते ॥११॥

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीन्यृजूनि गुटिकामुखानि च ॥१२॥

नेत्र-सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, लोह, पीतल, दाँत, सींग, मणि (कांच भी) वृक्ष की लकड़ी के बने, चिकने दृढ़ गाय की पूँछ के आकार के, (मूल में मोटे और आगे क्रमशः पतले हुए) सीधे और आगे गोल (गुटिकाकार) मुखवाले होने चाहिये। (आगे से तीखे नहीं) ॥१२॥

बस्तयश्च बन्ध्या मृदवो नातिबहला दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम् ॥१३॥

नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसंभवा।
बस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम् ॥१४॥

बस्तियाँ—बाँधने योग्य, कोमल, बहुत मोटी नहीं, मजबूत, प्रमाणवाली (प्रमाण के अनुसार-बच्चों में बच्चों की, युवाओं में युवाओं की), गाय-भैंस, सुअर, बकरी, भेड़ के मूत्राशय की होनी चाहिये।

नेत्र के न मिलने पर नडसर, बांस अथवा अस्थि की नलिका से काम चलाना चाहिये। बस्ति के अभाव में पतला चर्म, या मजबूत वस्त्र बरत लेना चाहिये।

चरक में-जारद्गवो माहिषहारिणौ वा स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वाऽपि। दृढस्तनुर्नष्टशिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः ॥ (२) बस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा ॥ चरक० सि० अ० ३-१०,११ ॥१३,१४॥

बस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्।
मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम् ॥१५॥
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्युब्जं तु विवृताननम्।
बद्ध्वा लोहेन तप्तेन चर्म स्रोतसि निर्दहेत् ॥१६॥
परिवर्त्य ततो बस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत्।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥१७॥

बस्ति—मांसादि से रहित, शुद्ध, भली प्रकार साफ की हुई, कोमल, न बड़ी और न कम, बार-बार स्नेह से मसली हुई लेकर नेत्र की जड़ में नीचे की ओर मुख रखकर-मुख को खुलाकर बाँधनी चाहिये। फिर गरम किये लोहे से चमड़े के छेद जला दे—। फिर बस्ति को उल्टाकर, बाँधकर सुरक्षित रख देवे। इस बस्ति से आस्थापनबस्ति और तैलबस्ति ठीक प्रकार से देवे ॥१५-१७॥

तत्र द्विविधो बस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च। आस्थापनं, निरूह इत्यनर्थान्तरं; तस्य विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनीं, युक्तरथः, सिद्धबस्तिरिति। स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद्वा निरूहः, वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनम्। माधुतैलिकविधानं च निरूहोपक्रमचिकित्सिते वक्ष्यामः। यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहबस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादात्र (प) कृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति ॥१८॥

निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः।
निरूहशोधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति ॥
अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम् ॥१९॥

बस्ति दो प्रकार की है—नैरूहिक और स्नैहिक। आस्थापन और निरूह ये नैरूहिक के पर्य्यायवाची हैं। इसी का भेद माधुतैलिक बस्ति है, इसके पर्याय यापना, युक्तरथ और सिद्धबस्ति हैं। दोषों को निकालने से अथवा शरीर का रोहण करने से निरूह कहलाती है। वय को या आयु को स्थिर रखने से आस्थापन कहलाती है। माधुतैलिक विधि को निरूहचिकित्सा में कहेंगे। यथा प्रमाण कही हुई बस्ति के परिमाण में से चतुर्थांश भाग निकालने पर स्नेहबस्ति का भेद अनुवासन होता है। शरीर के अन्दर रहने पर भी दूषित नहीं होती, या प्रतिदिन दी जाती है, इसलिये अनुवासन कहते हैं। इसी अनुवासन का भेद—आधे की भी आधी मात्रा लेने से—मात्राबस्ति होती है, इसमें परिहार की आवश्यकता नहीं है।

वक्तव्य—यापना बस्ति—"आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्त्तनं कुर्वन्तीति यापनावस्तयः ॥" चन्द्रपाणी, युक्तरथ-रथ में घोड़े जुड़े होने पर तुरन्त जो बिना किसी पूर्व तैय्यारी के दी जा सकती है, जिन में किसी तरह का परहेज नहीं वह युक्तरथ। बस्ति की मात्रा, "षट्पली भवेच्छ्रेष्ठा, मध्यमा त्रिफली भवेत्। कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने। चौबीस पल में से चतुर्थांश छै पल लेने से अनुवासन की मात्रा है (स्नेह मात्रा है)। इसका भी आधा का आधा लेने से १½ पल मात्रा बस्ति है। गयी के विचार से छै पल स्नेह बस्ति, तीन पल अनुवासन बस्ति, और १½ पल मात्रा बस्ति है, ऐसा मानते हैं। चरक में—"निरूह पादांशसमे न तैलम्—" २४ पल निरूह से छै पल स्नेह चतुर्थांश होता है। यह उत्तम मात्रा है ॥१८-१९॥

सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः।
तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहबस्तिर्विधीयते ॥२०॥

निरूह—शोधन द्रव्यों से बना होने के कारण लेखन करता है। स्नैहिक बस्ति बृंहण करती है।

निरुह से शोधित मार्गों में (धातुओं में) स्नेह भली प्रकार जाता है जिस प्रकार कि सब दोष रहित नालियों में बहता हुआ जल पहुँचता है। स्नेहवस्ति—सब दोषों को नाश करनेवाली, शरीर को जीवन देती है। इसलिये शुद्ध शरीर में स्नेहवस्ति दी जाती है॥

वि० मन्तव्य—निरूहणबस्ति उचित द्रव्यों के कषाय (क्वाथ), कोई क्षार तथा तैल मिलाकर दी जाती है अतः वह पुरीष को निकालती है फलतः मलाशय शुद्ध हो जाता है और उसके पश्चात् समय पर स्नेह बस्ति दी जाती है उससे शरीर का बृंहण (पुष्टि) होता है॥२०॥

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शःपाण्डुरोगभ्रमदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकण्ठशोषशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बाल वृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः॥

उन्माद, भय, शोक, प्यास, अरोचक, अजीर्ण, अर्श, पाण्डुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, वमन, कुष्ठ, मेह, उदर, स्थूलता, श्वास, कास, कण्ठशोष, शोफ से पीड़ित, उरःक्षत, क्षीण, सात मास तक की गर्भवती, दुर्बलाग्नि, सहन न करनेवाला, बालक, वृद्ध, इनको तथा वायुरोग के बिना दूसरे कारण से कृश हुए व्यक्तियों को न तो अनुवासन देना चाहिये और न आस्थापन देना चाहिये॥२१॥

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन॥२२॥

उदररोगी, प्रमेहरोगी, कुष्ठी, स्थूल मनुष्य इनको अवस्था पड़ने पर जरूर आस्थापन देना चाहिये, परन्तु अनुवासन किसी भी हालत में नहीं देना चाहिये॥

यथा उदररोग में—सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणः निरूहैः समुपाचरेत्॥
वा० चि० अ० १५॥२२॥

असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत्॥२३॥

इनमें अनुवासन देने से रोग असाध्य हो जाते हैं। असाध्यावस्था में भी अंगों का टूटना विशेष रूप में होता है॥

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः।
सम्यक्प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति॥२४॥
पक्वाशयात्बस्तिवीर्यं खैर्देहमनुसर्पति।
वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम्॥२५॥

भली प्रकार दी हुई बस्ति पक्वाशय, श्रोणि और नाभि के नीचे चारों ओर इन स्थानों पर ठहरती है। पक्वाशय से बस्ति की शक्ति शरीर के मार्गों से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में दिये पानी की शक्ति से—वृक्ष के स्रोतों द्वारा सारे वृक्ष में फैल जाती है॥

"मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमःस्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रः। काले महान्पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ चरक सि० अ० १॥२४,२५॥

स चापि सहसा बस्तिः केवलः समलोऽपि वा।
प्रत्येति वीर्यं त्वनिलैरपानाद्यैर्विर्नीयते॥२६॥

कई बार यह बस्ति अकेली या मल के साथ अपान, उदान आदि की शक्ति से तुरन्त वापिस आ जाती है, अथवा, ऊपर को चली जाती है, सब शरीर में पहुँच जाती है॥२६॥

वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात् (न)।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव॥२७॥
स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य सञ्चयान्।
उत्खानमूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः॥२८॥

पक्वाशय में स्थित बस्ति अपनी शक्ति से सिर से लेकर पैर तक के सब दोषों को ग्रहण कर लेती है। जिस प्रकार आकाश में स्थित भूमि के रसों को खींच लेता है। भली प्रकार दी हुइ यह बस्ति अपनी शक्ति से कटि-पीठ कोष्ठ में स्थित सचित दोषों को जड़ समेत उखाड़ देती है॥२७,२८॥

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः॥२९॥
वायोर्विषहते वेगं नान्या वस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः॥३०॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः॥३१॥

वायु, पित्त, कफ इन तीनों दोषों को कुपित करने में शक्तिमान् वायु ही है। इसलिये बढ़ी हुई वायु, जो वायु शरीर को हानि कर रही है, उसके वेग को बस्ति के बिना कोई भी क्रिया (चिकित्सा कर्म) सहन नहीं कर सकती है। जिस प्रकार वायु से ताड़ित समुद्र जल के (लहरों को) वेग को वेला ही सहन करती है। भली प्रकार सेवन की हुई बस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्यता, आयु की वृद्धि को करती है॥३१॥

वक्तव्य—शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥ विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यत् बस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित्॥
च० सि० अ० १-३८।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य यह है कि वायु की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय "बस्ति" है। कुपित वायु के वेग को बस्ति वैसे रोकती है जैसे समुद्र के ज्वार को बेला अर्थात् समुद्र का कूल-किनारा॥३१॥

अत ऊर्ध्वं व्यापदो वक्ष्यामः। तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः; अतिस्थूलं, कर्कशम, अवनतं, अणुभिन्नं, सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम, अस्रिमदित्येकादश नेत्रदोषाः, बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णतः, दुर्बद्धतेति पञ्च बस्तिदोषाः, अतिपीडितता, शिथिलपीडितता, भूयो भूयोऽवपीडनं, कालातिक्रम इति चत्वारः पीडनदोषाः, आमता, हीनता, अतिमात्रता, अतिशीतता, अत्युष्णता, अतितीक्ष्णता, अतिमृदुता, अतिस्निग्धता, अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता, अतिद्रवता इत्येकादश द्रव्यदोषाः; अवाक्शीर्षोच्छीर्षन्युब्जोत्तानसंकुचितदेहस्थितदक्षिणपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्त शय्यादोषाः; एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशद्व्यापदो वैद्यनिमित्ताः। आतुरनिमित्ताः पञ्चदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यन्ते। स्नेहस्त्वष्टभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैः अशनाभिभूतो मलव्यामिश्रो, दूरानुप्रविष्टो, अस्विन्नस्य, अनुष्णो, अल्पमुक्तवतो अल्पश्चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति। अयोगस्तूभयोः आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहो, अतियोगो जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति ॥३२॥

इसके आगे व्यापद (हानियाँ) कहते हैं। इनमें नेत्र का हिलना, घूम जाना, वाम या दक्षिण पार्श्व में दबना, अतिशय ऊपर को उठना, नीचे को दबना, तिरछा प्रविष्ट करना, ये छै दोष नेत्र प्रवेश के हैं। बहुत मोटा, कर्कश, झुका हुआ, बीच से फटा, पास में कर्णिकावाला, सुदूर कर्णिकावाला सूक्ष्ममुख, बृहन्मुख, बहुत लम्बा, बहुत छोटा, अस्रिमत् (टेढ़ा धारवाला) ये ग्यारह नेत्र दोष हैं। मोटा होना, छोटा होना, छेदवाला होना, स्नायु जालयुक्त होना, ठीक प्रकार से न बंधा होना ये पाँच बस्ति के दोष हैं। बहुत जोर से दबाना, धीरे दबाना, बार-बार दबाना, समय के अनुसार जल्दी या देर में देना ये चार पीड़न के दोष हैं। स्नेह का कच्चा रहना, कम होना, मात्रा में अधिक होना, बहुत ठण्ढा होना, बहुत गरम होना, बहुत तीक्ष्ण होना, बहुत कोमल होना, अतिस्निग्ध होना, बहुत रूक्ष होना, बहुत घट्ट होना, बहुत पतला होना, ये ग्यारह द्रव्य के दोष हैं। सिर को नीचे बहुत रखना, सिर को ऊँचा रखना, रोगी को पेट के भार मुख नीचे रखकर लेटाना, चित्त (पीठ के भार) लेटाना, शरीर को सिकोड़ कर स्थित-खड़ा करके या दक्षिणपार्श्व में लेटाकर बस्ति देना ये सात शय्या-लेटने के दोष हैं। ये चवालीस हानियाँ वैद्य की भूल का परिणाम हैं। रोगी की भूल से होनेवाली पन्द्रह हानियों को आतुरोपद्रव चिकित्सा में कहेंगे। दिया हुआ स्नेह आठ कारणों से वापिस नहीं आता। यथा—वातादि तीन दोषों के कारण, भोजन से रुका, मल से मिला, दूर पहुँचा हुआ, बिना स्वेद दिये, ठण्डा दिया स्नेह, थोड़ा भोजन करने पर, और मात्रा में थोड़ा होने से वापिस नहीं आता। ये हानियाँ वैद्य और रोगी दोनों के कारण होती हैं। निरूह और अनुवासन दोनों का अयोग-आध्मान, परिकर्त्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, अंगप्रग्रह, अतियोग और जीवादान—ये नौ हानियाँ वैद्य के कारण से होती हैं ॥३२॥

भवति चात्र—

षट्सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः।
तासां वक्ष्यामि विज्ञानं सिद्धिं च तदनन्तरम् ॥३३॥

कहा भी है—ये जो छिहत्तर हानियाँ संक्षेप में कही हैं, उनके लक्षण कहकर पीछे से उनकी चिकित्सा कहूँगा।

चरक में "विषममांसलच्छिद्रस्थूलजालकवातलाः। स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तीन्कर्मसु वर्जयेत् ॥ गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः। फेनिलच्युत्यधार्यत्वं बस्तेः स्युर्बस्तिदोषतः ॥ सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुत्क्षिप्तकम्पिताः। अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः। चरक सि० अ० ५।६,७-८ ॥३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिप्रमाण प्रविभागचिकित्सितं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नेत्र बस्ति व्यापत् चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में बस्ति देने में उत्पन्न व्यापदों का वर्णन किया गया है। ये व्यापद् नेत्र आदि के दोषों से उत्पन्न होती हैं। देखिये अध्याय ३५ का सू० ३२ ॥१,२॥

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते।
गुदे क्षतं रुजा वा स्यात्तत्र सद्यःक्षतक्रियाः ॥३॥
अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा।
विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्च सेचनम् ॥४॥
तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद्बस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते ॥
ऋजु नेत्रं विधेयंस्यात्तत्र सम्यग्विजानता ॥५॥

नेत्र के हिल जाने से या घूम जाने से गुदा में क्षत और वेदना होती है। इसमें सद्यः क्षत की चिकित्सा करे। नेत्र उपर को उठ जाने या नीचे हो जाने से गुदा में वेदना होती है। इसमें पित्तनाशक उपचार और स्नेहों से परिषेक करना चाहिये। नेत्र के तिरछा प्रविष्ट होने पर या पार्श्व में दब जाने से मुख के बन्द होने के कारण बस्ति भली प्रकार नहीं जाती।

इसमें जाननेवाला व्यक्ति नेत्र को सीधा रखकर प्रविष्ट करे ॥

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रेऽस्निमति घर्षणात् ।
गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं तस्य पूर्ववत् ॥६॥
आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः ।
अवसेको भवेद्बस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत् ॥७॥
प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात् ।
क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्बस्तिश्च पिच्छिलः ॥८॥
ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो बस्तिश्च पूर्ववत् ।
प्रत्यागच्छंस्ततः कुर्याद्रोगान् बस्तिविघातजान् ॥९॥
दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत् ।

नेत्र के अति मोटा, कर्कश या धारवाला होने के कारण रगड़ लगने से गुदा में क्षत और वेदना हो जाती है, इसमें सद्यःक्षत के समान उपचार करे। नेत्र में कर्णिका के बहुत पास होने से बस्ति देना निरर्थक है। और बस्ति के फटा (चीरा) होने से बस्ति चूती है, इसलिए इन दोषों को छोड़ देवे। कर्णिका के दूर होने पर गुदा मर्म के दबने से रक्त आता है। इसमें पित्तघ्न विधि करे और पिच्छल बस्ति देवे। प्रमाण से हीन एवं सूक्ष्मछेद होने से क्लेश होता है और बस्ति निरर्थक रहती है। वापिस आती हुई बस्ति के रुकने से मूत्राघात आदि रोगों को उत्पन्न करती है। नेत्र के लम्बा या बड़े स्रोतवाला होने से अतिशय जोर से दबाने की भाँति लक्षण (नासामुख से बस्ति का आना एवं गल पीडन आदि उपचार) तथा उपचार जानने चाहिये ॥६-९॥

प्रस्तीर्णे बहले चापि बस्तौ दुर्बद्धदोषवत् ॥१०॥
बस्तावल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याल्पा गुणा मताः ।
दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ॥११॥

बस्ति के स्नायु जाल से आवृत या मोटा होने पर ठीक प्रकार से न बँधे हुए के समान दोष होते हैं। बस्ति के छोटा होने से द्रव्य थोड़ा आता है, और गुण भी कम होता है। ठीक तरह न बाँधने पर-सूक्ष्म रूप में फटी होने से-फटे हुए नेत्र के समान बस्ति चूती है ॥१०,११॥

अतिपीड़ितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः ।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥१२॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥१३॥
शनैः प्रपीडितो बस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ।
न च संपादयत्यर्थं तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत् ॥१४॥
भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते ।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र बस्तयः ॥१५॥
कालातिक्रमणात् क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते ।
तत्र व्याधिबलघ्नं तु भूयो बस्तिं निधापयेत् ॥१६॥

अतिशय जोर से दबाई बस्ति वायु से प्रेरित होकर आमाशय की ओर जाकर मुख एवं नासा से बाहर आती है (यह असम्भव सा है-विचारणीय है)। इसमें तुरंत गले को दबाये, रोगी को हिलाये, (झकोरे)। तीक्ष्ण शिरोविरेचन, तीक्ष्ण कायविरेचन, शीतल परिषेक करे। धीरे से दबाई बस्ति पक्वाशय तक नहीं जाती; और इच्छित फल नहीं करती, इसलिये ठीक प्रकार से दबाये। बार-बार (रुक-रुककर) दबाने से वायु अन्दर जाकर पीड़ा उत्पन्न करती है, इससे रोगी को आध्मान, तीव्र वेदना होती है, यहाँ पर उनको अपने योग्य बस्तियाँ देवे। समय के बीत जानेपर बस्ति देने से क्लेश और रोग दोनों बढ़ जाते हैं। इसमें व्याधि बल को नष्ट करनेवाली बस्ति फिर से देवे ॥१२-१६॥

गुदोपदेहशोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि ।
तत्र संशोधनो बस्तिर्हितं चापि विरेचनम् ॥१७॥
हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१८॥
मूर्च्छां दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ ।
मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ ॥१९॥
तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः ।
गुदबस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः ॥२०॥
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः ।
तत्र सान्द्रे तनुं बस्तिं तनौ सान्द्रं च दापयेत् ॥२१॥
स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते ।
बस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत् ॥२२॥

अपक्व स्नेह गुदा में मलवृद्धि, शोफ उत्पन्न करता है। इसमें संशोधन बस्ति और विरेचन श्रेष्ठ है। हीन मात्रा में दी गई स्नेहबस्ति और निरूहबस्ति दोनों बहुत कार्य नहीं करती। अतिमात्रा में दी गई ये बस्तियाँ आनाह, क्लम, अतीसार उत्पन्न करती हैं। अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण बस्ति-मूर्च्छा, दाह, अतिसार और पित्त को करती हैं। मृदु और शीतल बस्ति वायु का विबन्ध और आध्मान करती हैं। इनमें हीन आदि दोषों में विरोधि चिकित्सा उत्तम है। यह सांद्र निरूह-की बस्ति गुदा में मल वृद्धि करती है या प्रवाहिका उत्पन्न कर देती है। पतली बस्ति थोड़ा गुण करती है। इसमें सान्द्र बस्ति के दोष में तनुबस्ति, तनुबस्ति के दोष में सांद्र बस्ति देवे। स्निग्ध बस्ति अतिशय जड़ता करती है। रूक्षबस्ति, स्तम्भ और आध्मान करती हैं। अति स्निग्ध में रूक्षबस्ति और रूक्ष में स्निग्ध बस्ति देवे।

वक्तव्य—प्रत्यनीक, हीनमात्रा में अधिक-मात्रा, अधिकमात्रा में हीनमात्रा, तीक्ष्ण में मृदु, मृदु में तीक्ष्ण, शीत में उष्ण और उष्ण में शीत बस्ति देवे ॥१७-२२॥

अतिपीडितवद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके ।
उच्छीर्षके समुन्नाहं बस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ॥२३॥
तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः ।
न्युब्जस्य बस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ॥२४॥

हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्ठमथापि च ।
उत्तानस्यावृते मार्गं बस्तिर्नान्तः प्रपद्यते ॥२५॥
नेत्रसंवेजनभ्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकुप्यति ।
देहे सङ्कुचिते दत्तः सक्थ्नोरप्युभयोस्तथा ॥२६॥
न सम्यगनिलाविष्टो बस्तिः प्रत्येति देहिनः ।
स्थितस्य बस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवाङ्मुखः ॥२७॥
न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः ।
नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः ॥२८॥
दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः ।
न्युब्जादीनां प्रदानं च बस्तेर्नैव प्रशस्यते ॥२९॥
पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत् ।

शिर को नीचा रखकर दी गई बस्ति अति पीड़न के समान दोषों को करती है। शिर को ऊँचा रखकर दी गई बस्ति मेहन को उन्नत (ऊँचा-स्तब्ध) कर देती है। इसमें भली प्रकार स्वेदन करके (मेहन पर) उत्तर बस्ति देना उत्तम है। मुख को नीचा करके दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती। विमार्ग में गई हुई हृदय और गुदा पर दबाव देती है, वायु कोष्ठ को दबाती है। चित्त लेटाकर दी गई बस्ति मार्ग में रुक जाने से अन्दर नहीं जाती। नेत्र के कम्पन से चलित वायु अन्दर कुपित होती है। शरीर को या दोनों सांथलों को संकुचित करके दी गई बस्ति वायु से भरी होने के कारण मनुष्य में से बाहर नहीं आती। खड़ाकर दी गई बस्ति तुरन्त ही वापिस लौट आती है। आशय का तर्पण नहीं करती, इसलिये व्यर्थ ही रहती है। दाहिने पार्श्व से लेटे व्यक्ति को दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती। क्योंकि पक्वाशय बाम पार्श्व की ओर रहता है। इसलिये मुख को नीचा आदि रखकर बस्ति देना उत्तम नहीं। पीछे से वायु का कोप होने पर उनकी अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥२३-२९॥

व्यापदः स्नेहबस्तेस्तु वक्ष्यन्ते तच्चिकित्सिते ॥३०॥

स्नेह बस्ति की हानियाँ और चिकित्सा अ० ३७ में कही जायँगी ॥३०॥

अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिताः ।
अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो बस्तिर्नैति प्रयोजितः ॥३१॥
विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते ।
तत्र तीक्ष्णो हितो बस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ॥३२॥
सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः ।
अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥३३॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः ।
तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥३४॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम् ।
तत्र तीक्ष्णतरो बस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम् ॥३५॥
अतितीक्ष्णोऽतिलवणो रूक्षो बस्तिः प्रयोजितः ।
सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥३६॥
नाभिबस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः ।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तस्य स्नेहश्च मधुरैः शृतः ॥३७॥
अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते ।
दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः ॥३८॥
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद्गुदे ।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र बस्तिः क्षीरघृतेन च ॥३९॥
प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात् सानुवासनात् ।
सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफामगुपवेश्यते ॥४०॥
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥४१॥
अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः ।
हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम् ॥४२॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाऽङ्गगौरवम् ।
सर्वदोषहरं बस्तिं शोधनं तत्र दापयेत् ॥४३॥
रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च ।
बस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥४४॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः ।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टा स्वेदाभ्यञ्जनबस्तयः ॥४५॥
अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽतिस्वेदितस्य च ।
अल्पदोषस्य वा बस्तिरतियोगाय कल्पते ॥४६॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम् ।
पिच्छाबस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः ॥४७॥
अतियोगात् परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत् ।
देयस्तत्र हितश्चाप्सु पिच्छाबस्तिः सशोणितः ॥४८॥
नवैता व्यापदो यास्तु निरूहं प्रत्युदाहृताः ।
स्नेहबस्तिष्वपि हि ता विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥४९॥
इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः ।
भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवन्ति हि ॥५०॥

अयोगजन्य जो हानियाँ हैं, उनको चिकित्सा के साथ कहूँगा। जो बस्ति गरम नहीं (शीत), थोड़ी औषधियोंवाली होने से हीन गुण बस्ति देने पर वापिस नहीं आती, वह विष्टम्भ और आध्मान करती है, इसको अयोग कहते हैं। इसमें तीक्ष्ण बस्ति और तीक्ष्ण विरेचन हितकारी है। अन्नशेष अजीर्ण में, भोजन करने पर, बहुत दोष में, बहुत भोजन किये हुए में स्नेहबस्ति, अति मात्रा में भोजन किये हुए को बहुत, थोड़ी गरम दी गई स्नेहबस्ति अथवा लवण एवं स्नेह रहित बहुत मात्रा में दी गई बस्ति, एवं बहुत मलवाले पुरुष में जल्दी शीघ्रता से दी गई बस्ति—आध्मान उत्पन्न कर देती है। इससे हृदय, कटि, पार्श्व, पीठ में अतिभयानक शूल होता है। इसमें पहले से अधिक तीक्ष्ण बस्ति और अनुवासन उत्तम है। अतितीक्ष्ण, अतिलवणवाली रूक्ष बस्ति देने पर पित्त युक्त वायु कुपित होती है और परिकर्त्तिका उत्पन्न होती है। इससे नाभि, बस्ति एवं गुद से—फटते हुए रोगी को प्रतीत होते हैं। इससे पिच्छा बस्ति तथा काकोल्यादि मधुरगण से पकाया स्नेह उत्तम है। अति अम्ल, लवण, तीक्ष्ण बस्ति परिस्राव उत्पन्न करती है। दुर्बलता और अङ्गों का टूटना रोगी को होता है। तब पित्त बहता है,

जिससे गुदा में दाह होता है। इसमें पिच्छा बस्ति या दूध से बनाये घी की बस्ति दे। तीक्ष्ण निरूह या अनुवासन से प्रवाहिका होती है। दाह और शूल के साथ कठिनाई से कफ मिश्रित रक्त मल में आता है। इसमें पिच्छाबस्ति उत्तम है, दूध से भोजन देवे। काकोल्यादि से सिद्ध घृत एवं तैल का अनुवासन दे। अति तीक्ष्ण निरूह या अनुवासन देते हुए वायु के अन्दर चले जाने पर वायु हृदय में पहुँचकर अंगों में पीड़ा करती है, दोषों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनायें, मद, मूर्च्छा, अंगों में भारीपन होता है। इसमें सब दोषों को नाश करनेवाली शोधन बस्ति देवे। रूक्ष मनुष्य में बहुत वायुवाले, एवं ठीक प्रकार न लेटे हुए पुरुष में दी गई बस्ति अंगग्रह (अंगों का पकड़ना) कर देती है। मृदु–अल्प औषधवाली बस्ति अंगों की शिथिलता, जड़ता, जम्भाई, ऐंठन, कम्पन, पर्वभेद करती है। इसमें स्वेद, अभ्यंग और बस्ति देवे—अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण, अतिशय अधिक, अतिशय स्वेद दिये हुए पुरुष को, अधिक औषधिवाली, या अल्पदोषवाले को दी गई बस्ति अतियोग उत्पन्न करती है। इसके लक्षण विरेचन के अतियोग के समान हैं। इसमें पिच्छाबस्ति का प्रयोग शीतल वस्तु सुखदायक है। अतियोग से विरेचन के अतियोग की भाँति रक्त आने लगे तब पिच्छा बस्ति में रक्त मिलाकर देना चाहिये। ये नौ हानियाँ जो निरूह के लिये कही हैं, उनको कुशल वैद्य स्नेह बस्ति में भी समझे। सब हानियाँ लक्षण और चिकित्सा के साथ कह दी हैं। वैद्य को ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे ये हानियाँ न हों ॥३६-५०॥

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरोढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥५१॥

भली प्रकार वमन होने के पन्द्रह दिन पीछे विरेचन देवे। विरेचन के सात दिन पीछे निरूहण देवे, निरूहण के तुरन्त पीछे अनुवासन दे ॥५१॥

चरक में–"संसृष्टभक्तं नवमेऽह्निसर्पिः तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा। दद्यात्त्र्यहान्ना निबुभुक्षिताय तैलाक्तगात्राय ततो निरूहम्॥ शय्या-वामाश्रये हि ग्रहणीगुदे च, तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः॥ लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात्सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्॥ उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथास्य देहम्॥ दत्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात्स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम्। ईषत्पदांगुष्ठयुगं च कर्षेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात्॥ स्नेहेन पार्ष्ण्यंगुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवास्तथार्त्ताः॥ तांश्चावमृज्यात्सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः॥ चरक० सि० अ० ३-२४ २९॥५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अनुवासन उत्तर बस्ति चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में अनुवासन बस्ति का विधान बतलाया गया है ॥१,२॥

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ॥३॥

विरेचन के सात दिन पीछे रोगी में बल आ जाने पर अन्न का भोजन लेने पर अनुवासन के योग्य हो जाने पर अनुवासन भली प्रकार देना चाहिये।

वक्तव्य—"अथ ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्॥ चरक० सू० अ० १५।७–सात दिन के पीछे रोगी स्वाभाविक भोजन पर आये ॥३॥

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम् ॥४॥

वय के अनुपात से निरूहों की जो मात्रा कही है, उसकी चौथाई मात्रा मनुष्यों के लिये स्नेह बस्ति में बरते।

वक्तव्य—षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत्। कनीयस्यर्धपलिका त्रिधा मात्राऽनुवासने॥ (२) निरूह पादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन॥ (३) निरूहमात्राप्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः। आद्वादशात्स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद्द्वादशतः परं स्युः॥ आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम्॥ चरक० सि० अ० ३।२८-३२॥४॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्।
एतैर्हि विहतः स्नेहो नैवान्तः प्रतिपद्यते ॥५॥
स्नेहबस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः।
स्नेहवीर्यं तथा दत्ते देहं चानुविसर्पति ॥६॥

वायु, मल, मूत्र का त्याग किये हुए पुरुष में बस्ति देनी चाहिये। क्योंकि इनसे रुका स्नेह अन्तर प्रविष्ट नहीं होता। बिना शोधन किये हुए पुरुष में स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिये। शुद्ध शरीर में स्नेहबस्ति स्नेह के वीर्य को देती है और सारे शरीर में फैलती है ॥५,६॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलानीह यथाक्रमम्।
पानान्वासननस्येषु यानि हन्युर्गदान् बहून् ॥७॥

इसके आगे उन तैलों को कहेंगे, जो उचित रूप में पान, नस्य, अनुवासन में बरतने से बहुत से रोगों को नष्ट करते हैं ॥७॥

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः।
शताह्वाकुष्ठयष्ट्याह्ववचाबिल्वहुताशनैः ॥८॥

सुपिष्टैर्द्विगुणक्षीरं तैलं तोयचतुर्गुणम् ।
पक्त्वा बस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम् ॥९॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ।
कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥१०॥

शटी (कचूर), पुष्करमूल, पिप्पली, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूट, मुलैहठी, वच, बिल्व, चित्रक इनको पीसकर, तैल से दुगना दूध, तैल से चौगुना पानी लेकर तैल सिद्ध करे। यह तैल बस्ति में देने पर मूढवायु का अनुलोमन करता है। अर्श, ग्रहणी रोग, आनाह-विषमज्वर, कटि, ऊरू-पीठ और कोष्ठ में स्थित वायु जन्य रोगों को नष्ट करता है ॥८-१०॥

वचापुष्करकुष्ठैलामदनामरसिन्धुजैः ।
काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥११॥
पाठाजीवकजीवन्तीभार्गीचन्दनकट्फलैः ।
सरलागुरुबिल्वाम्बुवाजिगन्धाग्निवृद्धिभिः ॥१२॥
विडङ्गारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकर्धिभिः ।
पिष्टैस्तैलं पचेत् क्षीरपञ्चमूलरसान्वितम् ॥१३॥
गुल्मानाहाग्निषङ्गार्शोग्रहणीमूत्रसङ्गिनाम् ।
अन्वासनविधौ युक्तं शस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥१४॥

बच, पुष्करमूल, कूट, इलायची, मैनफल, देवदारु, सैन्धव, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलैहठी, मेदा, महा मेदा, अमलतास, पाठा, जीवक, जीवन्ती, भार्गी, चन्दन, कट्फल, चीड़, अगरु, बिल्व, बालक, अश्वगन्धा, चित्रक वृद्धि, विडंग, अमलतास, कालीनिशोथ, निशोथ, पिप्पली, ऋद्धि, इनके कल्क से दूध और बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ में तैल सिद्ध करे। यह तैल वात रोगियों में अनुवासन रूप से बरतने पर गुल्म, आनाह, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्र अवरोध को नष्ट करता है।

वक्तव्य—अमलतास दो बार आने से दुगुनी लेनी चाहिये - धृते तैलश्च योगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते। तद्दातव्यमिहाचार्यैः भागतो द्विगुणं मतम् ॥११-१४॥

चित्रकातिविषापाठादन्तीबिल्ववचामिषैः ।
सरलांशुमतीरास्नानीलिनीचतुरङ्गुलैः ॥१५॥
चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः ।
जीवकर्षभवर्षाभूवस्तगन्धाशताह्वयैः ॥१६॥
रेण्वश्वगन्धामञ्जिष्ठाशटीपुष्करतस्करैः ।
सक्षीरं विपचेत्तैलं मारुतामयनाशनम् ॥१७॥
गृध्रसीखञ्जकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् ।
शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु नियोजितम् ॥१८॥

चित्रक, अतीस, पाठा, जमालगोटा, बिल्व, वच, सौंफ-चीड़, शालपर्णी, रास्ना, नील, अमलतास, चव्य, अजवायन, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा, देवदार, जीवक, ऋषभक, पुनर्नवा, अजगन्धा, सोया, रेणुका, अश्वगन्धा, मजीठ, कचूर, पुष्करमूल, चोरक, इनसे दूध के साथ तैल सिद्ध करे। यह तैल वायुनाशक गृध्रसी, खंज, कुब्ज, आढ्यवात, मूत्र, उदावर्त्त रोगियों के लिये बस्ति में देना उत्तम है ॥१५-१८॥

भूतिकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः ।
दशमूलसहाभार्गीषड्ग्रन्थामरदारुभिः ॥१९॥
बलानागबलामूर्वावाजिगन्धामृताद्वयैः ।
सहाचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥२०॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ।
जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरचतुर्गुणम् ॥२१॥
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरःस्थितान् ।
हन्याद्वातविकारांस्तु बस्तियोगैर्निषेवितम् ॥२२॥

भूतिक (कत्तृण या अजवायन), ऐरण्ड, पुनर्नवा, रास्ना, अड़ूसा, रोहिषघास, दशमूल, माषपर्णी, भार्गी, बच, देवदारु, बला, नागबला, मूर्वा, अश्वगन्धा, अमृताद्वय (गिलोय और हरड़) झिण्टी, शतावरी, सोंठ, कौआटूंटी, विदारी, जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलत्थी इनके क्वाथ में जीवनीयगण का कल्क प्रक्षेप देकर, तैल से चार गुण दूध में सिद्ध किया तैल जंघा, ऊरुत्रिक, पार्श्व, अंस, बाहु, मन्या, शिर में स्थित वात रोगों को बस्ति में देने से नष्ट करता है ॥१९-२२॥

जीवन्त्यतिबलामेदाकाकोलीद्वयजीवकैः ।
ऋषभातिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥२३॥
रास्नामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचन्दनैः ।
स्वयङ्गुप्ताशटीशृङ्गीकलसीसारिवाद्वयैः ॥२४॥
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु ।
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्धनम् ॥२५॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् ।
नस्ये पाने च संयुक्तमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥२६॥

जीवन्ती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पिप्पली, कौआटूंटी, वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलैहठी, चीड़, शतावरी, कौंच, कचूर, काकड़ाश्रृंगी, पृश्निपर्णी, सारिवा, कृष्णसारिवा इनके कल्क से घी और तैल से आठ गुणे दूध में घी और तैल (मिलित) सिद्ध करे। इसको अनुवासन में देने से शुक्र और अग्नि का बल बढ़ता है। यह बृंहण, वात पित्त नाशक, गुल्म आनाह नाशक है। नस्य और पीने में बरतने से जत्रु के ऊपर के रोगों को नष्ट करता है ॥२३-२६॥

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचन्दनैः ।
श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषाम्बुभिः ॥२७॥
तैलपादं पचेत् सर्पिः पयसाऽष्टगुणेन च ।
न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं बस्तिषु योजितम् ॥२८॥

दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन् ।
पित्तरक्तज्वराद्यांश्च हन्यात् पित्तकृतान् गदान् ॥२९॥

मुलेहठी, खस, गम्भारी, कुटकी, कमल, चन्दन, निशोथ, पद्माख, देवदाली, इन्द्रजौ, अतीस, वालक, इनका कल्प, तैल का चतुर्थांश घी और तैल से आठ गुणा दूध मिलाकर तैल को न्यग्रोधगण के क्वाथ के साथ सिद्ध करे। इस तैल का बस्ति में उपयोग करने पर दाह, रक्तप्रदर, वीसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्त, ज्वर आदि एवं पित्तजन्यरोग नष्ट होते हैं। (जीमूत, मुस्तक, श्यामा, प्रियंगु, डल्हण) ॥२९॥

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः ।
चन्दनद्वयभूनिम्बपद्मबीजकसेरुकैः ॥३०॥
पटोलकटुकारक्तागुन्द्रापर्पटवासकैः ।
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं तृणमूलरसेन च ॥३१॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम् ।
नस्येऽभ्यञ्जनपाने वा हन्यात् पित्तगदान् बहून् ॥३२॥

कमलनाल, कमल, कमलमूल (कन्द), सारिवा, कृष्ण-सारिवा, केसर, चन्दन, लालचन्दन, चिरायता, कमलगट्टा, कसेरू, पटोल, कुटकी, मजीठ, गुन्द्रा (पटेरन), पित्तपापड़ा, अडूसा, इनके कल्क से पञ्चतृण मूल के क्वाथ में दुगुना दूध मिलाकर सिद्ध किये तैल घृत बस्ति कर्म में बरते। नस्य अभ्यंग और पान में बरते। पित्तजन्य बहुत से रोगों को नष्ट करता है।

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः ।
निम्बारग्वधषड्ग्रन्थासप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥३३॥
गुडूचीन्द्रसुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः ।
तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम् ॥३४॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्तिषु योजितम् ।
स्थूलतालस्यकण्ड्वादीन् जयेत्कफकृतान् गदान् ॥३५॥
पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः ।
सरलागुरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुमैः ॥३६॥
मरिचैलाभयाकट्वीशटीग्रन्थिककट्फलैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा पक्वमेभिः समायुतम् ॥३७॥
बल्लीकण्टकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ।
हन्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥३८॥
विडंगोदीच्यसिन्धूत्थशटीपुष्करचित्रकैः ।
कट्फलातिविषाभार्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥३९॥
मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः ।
शताह्वानीलिनीरास्नाकलसीवृषरेणुभिः ॥४०॥
बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादन्तीचव्यनराधिपैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥४१॥
प्लीहोदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् ।
प्रमेहशर्करार्शांसि हन्यादाश्वनुवासनैः ॥४२॥

त्रिफला, अतीस, मूर्वा, त्रिवृत्त, चित्रक, अडूसा, नीम, अमलतास, वच, सतवन, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय, इन्द्रायण, पिप्पली कूट, सरसों, सोंठ इनको समान भाग लेकर इनके कल्क से सुरसादिगण के क्वाथ में पकाया तैल पान, अभ्यंग, गण्डूष, नस्य और बस्ति में बरतने से स्थूलता, आलस्य, कण्डू आदि कफजन्य रोगों को नष्ट करता है। पाठा, अजवायन, शार्ङ्गेष्टा (मजीठ), पिप्पली, गजपिप्पली, सोंठ, चीड़, अगरु, कालीयक, भार्गी, चव्य, देवदारु, मरिच, इलायची, हरड़, कटुकी, कचूर, वच, कट्फल इनके कल्क से, बल्लीपञ्चमूल (विदार्यादि पञ्चमूल) और कण्टक पञ्चमूल इनके क्वाथ में सिद्ध किया एरण्ड तैल या तिल तैल अनुवासन में देने से कफजन्य रोगों को नष्ट करता है। विडंग, खस, सैन्धव, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, कट्फल, अतीस, भार्गी, वच, कूट, देवदारु, मेदा, मैनफल, मुलेहठी, निशोथ, जलवेतस, सोंठ, सौंफ, नील, रास्ना, पृश्निपर्णी, अडूसा, रेणु (पर्पटक), बिल्व, अजवायन, पिप्पली, दन्ती, चव्य, अमलतास, इनके कल्क से, मुष्कक आदि के क्वाथ में सिद्ध किया तिल तैल या एरण्ड तैल प्लीहा, उदावर्त्त, वातरक्त, गुल्म, आनाह, कफरोग, प्रमेह, अर्श, शर्करा को अनुवासन में बरतने से शीघ्र नष्ट करता है।

वक्तव्य—शट्यादि, वचादि, चित्रकादि, भूतीकादि तैल प्रायः वातरोगों में, जीवन्त्यादि, मधुकादि, मृणालादि तैल प्रायः पित्त-रक्त रोगों में, त्रिफलादि, पाठादि तैल कफ रोगों में, विडंगादि तैल कफप्रधान वायु में, संसर्गसन्निपात में इनको यथायोग्य रूपमें मिलाकर बरते। बल्लीपञ्चमूल और कण्टकपंच-मूल सूत्रस्थान अध्याय अड़तीस में हैं ॥३३-४२॥

अशुद्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानुवासयेत् ॥४३॥

यदि रोगी शुद्ध वायु से ही पीड़ित हो तो उसका शोधन (विरेचन आदि) न भी हुआ हो तो उसे पूर्वाह्न में या दिन रात में सब समय अनुवासन देना चाहिये। (केवलेन-धातुक्षय-हेतुना, डल्हण) ॥४३॥

रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान् ।
दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ॥४४॥

रूक्ष एवं बहुत वायु पुरुष को पहले दो या तीन अनुवासन देकर, जब शरीर स्निग्ध बन जाये, तब पीछे से निरूह देवे ॥

अस्निग्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
स्नेहप्रगाढैर्मतिमान्निरूहैः समुपाचरेत् ॥४५॥

शुद्ध वायु से (किसी दूसरे दोष का संसर्ग न होने पर) अतिशय पीड़ित होने पर स्नेहन दिये रोगी को भी बुद्धिमान् वैद्य स्नेह प्रचुर निरूहों से चिकित्सा करे ॥४५॥

अथ सम्यङ्निरूढं तु वातादिष्वनुवासयेत् ।
बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रमम् ॥४६॥

भली प्रकार निरूहण हो जाने पर वातादि दोषों में क्रमशः बिल्वतैल, मुलैहठी के तैल, और मैनफल इनसे सिद्ध किये तैल से अनुवासन दे ॥

वक्तव्य—बिल्वतैल—बिल्वकल्क या क्वाथ से सिद्ध तैल अथवा—शाताह्वा फल बिल्वाख्यैः तैलं सिद्धसमीरणे । यष्ट्याह्व-तैल—भूतीकादि द्रव्य-जीवनीयगण से कहा हुआ । मैनफल—फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णा रास्ना, भूनिम्बदारुभिः—इनसे सिद्ध किया तैल बरते ॥४६॥

रात्रौ बस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः ।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥४७॥

रात्रि में बस्ति का प्रयोग न करे। क्योंकि आहार के विदाह से या समय की शीतलता के कारण रात्रि में दोषों का उत्क्लेश होता है। वह उत्क्लेश स्नेह की शक्ति से युक्त होकर आध्मान, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—"अविशुद्धे तु हृदये निशि क्लिन्नेषु धातुषु । विदग्धेऽन्नरसे स्रोतः सूपलिप्तेषु देहिनाम् ॥ व्यापारेभ्यो निवृत्तानां दोषोत्क्लेशो भवेदिति ॥४७॥

अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते ।
स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति ॥४८॥

दिन में दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, अग्नि के रस से युक्त होने पर, शरीर के स्रोतों के मुख खुले होने से स्नेह का ओज सारे शरीर में फैल जाता है ॥४८॥

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते ।
नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम् ॥४९॥
उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः ।
संभवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक् ॥५०॥

अपवाद—वात रोग से पीड़ित, रूक्ष शरीर मनुष्य में कफ के क्षीण होने पर और पित्त की अधिकता में ग्रीष्म ऋतु होने पर रात्रि में भी अनुवासन देना चाहिये। ग्रीष्म काल में या पित्त की अधिकता में दिन के समय अनुवासन देने पर दाह आदि रोग होते हैं। इसलिये-प्रदोप में रात्रि के प्रथम प्रहर में अनुवासन देवे ॥४९,५०॥

शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये ।
स्नेह्यो दिनान्ते पानोक्तान् दोषान् परिजिहीर्षता ॥५१॥

स्नेह पान में कहे हुए दोषों से बचने की इच्छावाला व्यक्ति शीतकाल और वसन्त में दिन के समय और ग्रीष्म, प्रावृट् एवं शरद ऋतु में दिन के अन्त में स्नेहन लेवे। (अनुवासन बस्ति ले)।

वक्तव्य—"शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो रात्रौ शरद् ग्रीष्मघनागमेषु । तानेव दोषान्परिरक्षता ये, स्नेहस्य पाने परिकीर्त्तिताः प्राक् ॥ चरक० सि० अ० १।२२ । देखिये—चरक० सूत्र० अ० १३।१६,२१ ॥५१॥

अहोरात्रस्य कालेषु सर्वष्वेवानिलाधिकम् ।
तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५२॥

दिन रात के सब समयों में वायु की अधिकता होने पर तीव्र वेदना होने से, अन्न पच गया हो तो—भोजन कराके अनुवासन देवे ॥५२॥

न चाभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथञ्चन ।
शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत् ॥५३॥

बिना भोजन दिये (खाली पेट) स्नेह कभी नहीं देना चाहिये। क्योंकि कोष्ठ के शुद्ध एवं खाली होने से स्नेह ऊपर की ओर जा सकता है ॥५३॥

सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम् ।
ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः ॥५४॥
न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ।
मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥५५॥
रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत् ।
युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५६॥
यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधि समीक्ष्य वा ।
यथोचितात् पादहीनं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५७॥

भोजन कराके हाथ धुलाते ही, रोगी को अनुवासन सदा देवे। अन्न की विदग्धावस्था में दिया गया स्नेह ज्वर कर देता है। अतिस्निग्ध भोजन खिलाकर अनुवासन न देवे। दो प्रकार से दिया हुआ स्नेह मद और मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। रूक्ष अन्न खाने पर बल और वर्ण घटता है। इसलिये थोड़े परिमाण में (मात्रा में) स्नेहभोजन में देकर अनुवासन देवे। मूंग आदि का यूष, दूध या मांसरस—जो रोग के अनुकूल हों, जो सात्म्य हों, उनको प्रतिदिन की भोजन की मात्रा से चतुर्थांश कम मात्रा में खिलाकर अनुवासन दे।

वक्तव्य—"पादहीनमुत्तममध्यममन्दाग्निविशेषेण पादेन, पादाभ्यां पादैर्वाहीनम् इति ज्ञेयम्। अर्धहीनं त्रिभागं वा भोजयित्वाऽनुवासयेत्। डल्हण—दो तरह के दिये स्नेह की हानि—"स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रति भुञ्जान एव च। स्नेह-मिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः ॥५४-५७॥

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः ।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः ॥५८॥
विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत् स्नेहबस्तिना ।
प्रणिधानविधानं तु निरूहे संप्रवक्ष्यते ॥५९॥

जिसको अनुवासन देना हो—उस रोगी को भली प्रकार स्नेह से अभ्यंग देकर, धीरे-धीरे गरम पानी से स्वेदन देवे। फिर शास्त्र विधि से भोजन कराके कुछ घुमाये। मल मूत्र का त्याग कर चुकने पर स्नेहबस्ति देवे। बस्ति की प्रणिधानविधि निरूह में कहेंगे।

वि० मन्तव्य—हाथ-पाँव के तलुवों तथा स्फिचों पर थपथपाने तथा शय्या को थोड़ा उठाकर पटकने से अनुवासन का स्नेह तत्काल नहीं निकलता यह स्वभाव है क्योंकि ऐसा करने पर पुरीष का वेग भी कुछ समय के लिये रुक जाता है। बात बहुत छोटी है परन्तु है बड़े महत्त्व की। पाठक इस पर गम्भीर विचार करें और अग्रिम श्लोक ६५ को देखकर समझें ॥५६॥

ततः प्रणिहितेनेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्।
प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति ॥६०॥
ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन् वारान्छनैः शनैः।
स्फिचोश्चैनं ततः शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत्ततः ॥६१॥
एवं प्रणिहिते बस्तौ मन्दायासोऽथ मन्दवाक्।
स्वास्तीर्णे शयने काममासीताचारिके रतः ॥६२॥

स्नेहबस्ति ले चुकने पर एक सौ मात्रा तक चित्त-पीठ के भार और हाथ पैर-सब अङ्गों को पसारकर रोगी लेटा रहे। इस प्रकार स्नेह का वीर्य सारे शरीर में फैल जाता है। हाथ-पैर के तलुवों पर धीरे-धीरे तीन-तीन बार थपथपाये। नितम्बों पर भी थपथपाये। शय्या की पांयत को तीन बार ऊँचा उठाकर इस प्रकार से बस्ति के देने पर रोगी थोड़ा परिश्रम करे और थोड़ा बोले। अपने बिस्तर पर आराम से पड़ा रहे और नियम पालन में दत्तचित्त रहे ॥६०-६२॥

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः।
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥६३॥
यस्यानुवासनो दत्तः सकृदन्वक्षमाव्रजेत्।
अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः ॥६४॥
सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः।
तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति ॥६५॥
विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने।
दाहक्लमप्रवाहार्तिकरश्चात्यनुवासनः ॥६६॥

स्नेह को सैन्धव नमक और सौंफ के साथ मिलाकर सुहाता हुआ गरम देना चाहिये, इससे सहसा सुखपूर्वक बाहर आता है। अति उष्णिमा के कारण, अतितीक्ष्ण होने से, वायु के दबाव के कारण, वायु के साथ जाने से, मात्रा में अधिक होने से, अथवा भारी होने से, औषध का साथ होने से जिस रोगी में दिया हुआ स्नेह एकदम तुरन्त बाहर आ जाता है, उसमें दूसरा स्नेह पहले से थोड़ी मात्रा में देवे, क्योंकि स्नेह यदि नहीं ठहरता तो रोगी स्निग्ध नहीं होता। स्नेह हीन दिया हुआ अनुवासन विष्टब्धता (वायु-मल मूत्र का अवरोध), दाह, क्लम, प्रवाहिका, परिकर्त्तिका, उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—"चूर्णमाषः पले स्नेहे सिन्धुजन्मशताह्वयोः ॥"

वि० मन्तव्य—स्नेह का मलाशय में कुछ समय (४-६ घण्टा) रुकना आवश्यक है जिससे उसका वीर्य शरीर में जा सके और उसके पश्चात् बचा-खुचा स्नेह निकल जाना भी आवश्यक है, यदि न निकले और कोई हानि भी न करे तो उसकी उपेक्षा कर देवे अर्थात् निकालने का कोई प्रयत्न न करे देखिये श्लोक ६८। परन्तु यथासाध्य अनुवासन के स्नेह में सैन्धव लवण तथा सोया का थोड़ा (२ ४ माशा) चूर्ण अवश्य मिला देना चाहिये और स्नेह को कुछ उष्ण करके प्रयुक्त करना चाहिये। ऐसा करने से वह सुखपूर्वक-किसी उपद्रव के बिना उचित समय पर लौट आता है। जैसे—आहार में लवण मिलाने से समय पर पुरीषोत्सर्ग हो जाता है और लवण एवं सोया से स्नेह का पाचन भी अधिक हो जाता है जैसे आहार का। और यदि स्नेह उक्त कारणों से तत्काल—बस्ति देते ही तुरन्त लौट आवे तो दुबारा थोड़ी मात्रा में स्नेहबस्ति देना चाहिये जो कुछ समय के लिये रुके, क्योंकि यदि स्नेह मलाशय में नहीं रुकता तो स्नेहन भी नहीं होता—अनुवासन का कोई लाभ नहीं होता। स्नेहहीनेऽनुवासने—हीन-न्यून मात्रा में स्नेह की बस्ति देने पर—वायु, पुरीष एवं मूत्र का अवरोध होता है और अत्यनुवासनः—अधिक मात्रा में स्नेह की बस्ति (देने पर)—दाह, क्लम, प्रवाहिका एवं अरति को उत्पन्न करती है ॥६३-६६॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।
ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ॥६७॥
जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः।
लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥६८॥
प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यनागरसाधितम्।
तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकाङ्क्षा च जायते ॥६९॥

जिस पुरुष में ओष एवं चोष (जलन और दाह) के बिना, वायु और मल के साथ स्नेह शीघ्र वापिस आ जाता है, उसे भलीप्रकार अनुवासन हुआ जाने। यदि रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो ता, स्नेह के वापिस आने पर, पहला भोजन पच जाने पर, सायंकाल में लघु भोजन यथेच्छ देवे। प्रातःकाल धनिया और सोंठ से सिद्ध गरम पानी देना चाहिये। इससे अग्नि प्रदीप्त होती है, और भोजन में रुचि होती है ॥६७-६९॥

स्नेहबस्तिक्रमेष्वेवं विधिमाहुर्मनीषिणः।
बुद्धिमानों ने स्नेह बस्ति क्रम में यह विधि कही है।
अनेन विधिना षड् वा सप्त वाऽष्टौ नवैव वा ॥७०॥
विधेया बस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम्।

इस विधि से छैं, सात, आठ या नौ बस्तियां (स्नेहबस्तियाँ) देवे, इनके बीच बीच में निरूह बस्ति देवे।

वक्तव्य—"त्रीन् पंचवाऽऽहुश्चतुरोऽथवड्वा वातादिकानामनुवासनीयान्। स्नेहान् प्रदायाऽऽशु भिषग्विदध्यात् स्रोतो-

विशुद्धयर्थमतो निरूहान् ॥ च० सि० अ० १-४६ ॥७०॥

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवङ्क्षणौ ॥७१॥
सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत् ।
जनयेद्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः ॥७२॥
रसं चतुर्थो रक्तं तु पञ्चमः स्नेहयेत्तथा ।
षष्ठस्तु स्नेहयेन्मांसं मेदः सप्तम एव च ॥७३॥
अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम् ।
एवं शुक्रगतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत् ॥७४॥

भली प्रकार दी हुई प्रथम बस्ति वंक्षण और बस्ति का स्नेहन करती है। द्वितीयबस्ति ऊपर के शरीर की (पक्वाशय से ऊपर की) वायु को शान्त करती है। तृतीय बस्ति बल और वर्ण को उत्पन्न करती है। चौथी बस्ति रस का और पाँचवी रक्त का स्नेहन करती है। छठी बस्ति मांस का और सातवीं मेद का स्नेहन करती है। आठवीं अस्थि का नवीं मज्जा का स्नेहन करती है। इस प्रकार अट्ठारह बस्तियाँ शुक्रगत रोगों को भली प्रकार से अच्छा करती हैं ॥

वक्तव्य—नौ स्नेहबस्ति, नौ निरूह बस्ति इस प्रकार अट्ठारह। "एक त्रीन् वा बलासे स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत्। पंच वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ॥ वाग्भटः ॥ त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि, कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक्स्नेह एकः परतश्च पंच ॥ काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः। योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः ॥
च० सि० अ० १ ४८ ॥७१-७४॥

अष्टादशाष्टदशकान् बस्तीनां यो निषेवते ।
यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च ॥७५॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवैस्तुल्योऽमरप्रभः ।
वीतपाप्मा श्रुतधरः सहस्रायुर्नरो भवेत् ॥७६॥

जो मनुष्य यथोक्त विधि से और परहेजी को पालते हुए अट्ठारह निरूह और अट्ठारह स्नेहबस्तियों को (परिवर्त्तन से) सेवन करता है, वह बल में हाथी के समान, वेग मे घोड़े के समान, कान्ति में देवताओं के समान, पाप रहित, सुनते ही धारण करनेवाला, हजार वर्ष की आयुवाला होता है॥७५ ७६॥

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात् पवनाद्भयम् ॥७७॥
तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः ।
नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥७८॥

स्नेहबस्ति और निरूहबस्ति अकेली ही का सेवन न करे। स्नेह से अग्नि का नाश और उत्क्लेश (मिचली) और निरूह से वायु के कुपित होने का भय है। इसलिये निरूह देने के पीछे अनुवासन और अनुवासन के पीछे निरूह देवे (दो निरूह या दो अनुवासन एक साथ न दे) इस प्रकार करने से न तो पित्त या कफ का उत्क्लेश होने का डर रहता है, और न वातकोप की आशंका रहती है।

चरक—"स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्। उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहात् निरूहात्पवनाद्भयम् ॥ तस्मात् निरूढः स्नेह्यः स्याद् निरूह्यश्चानुवासितः। स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत्।

वि० मन्तव्य—यद्यपि अकेली स्नेहबस्ति अथच अकेली निरूहण बस्ति का ही सेवन करना निषिद्ध-हानिकारक है, परन्तु रूक्ष के लिये अल्पमात्रा में स्नेहबस्ति तथा स्निग्ध के लिये अल्पमात्रा में निरूहणबस्ति हानिकारक नहीं होती। देखिये श्लो० ८०। सच यह है, कि—जैसे स्नेहयुक्त आहार के साथ २ रूक्ष आहार स्वास्थ्य के आवश्यक है, वैसे ही बस्ति कर्म में भी स्नेह के लिये साथ २ रूक्षण करना आवश्यक है ॥७७,७८॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने ।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्त्र्यहात् ॥७९॥

रूक्ष एवं बहुत वायुवाले व्यक्ति को वैद्य प्रतिदिन स्नेहबस्ति देवे। अन्य पुरुषों में अग्निमान्द्य के भय से तीन दिन के अन्तर से देवे ॥७९॥

स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः ।
तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥८०॥

रूक्ष पुरुषों में दीर्घकाल तक दिया अल्प स्नेह किसी प्रकार की हानि नहीं करता। इसी प्रकार स्निग्ध पुरुषों में थोड़ी मात्रा से दिया निरूह कोई हानि नहीं करता ॥८०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेहबस्तिजाः ।
बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः ॥८१॥
अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान् ।
कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः, स चापि न निवर्तते ॥८२॥
तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता ।
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः ॥८३॥
पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत् ।
दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता ॥८४॥
श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता ।
गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीतज्वरोऽरुचिः ॥८५॥

स्नेहबस्तिजन्य हानियों को इसके आगे कहूँगा। जब कोष्ठ में वायु आदि दोष बलवान् रहते हैं, तब अल्पवीर्यस्नेह को पराजित करके पृथग् २ उपद्रवों को स्नेह उत्पन्न करते हैं और वह स्नेह वापिस भी नहीं आता। इनमें वायु से स्नेह के पराजित होने पर मुख में कषाय रस, जम्भाई, वायु जनित भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनायें, कम्पन, विषमज्वर हो जाता है। स्नेहके

पित्त से अभिभूत होने पर मुख में कटुता होती है, दाह, प्यास, ज्वर, पसीना, नेत्र-मूत्र एवं अंगों में पीलापन होता है। स्नेह का कफ से पराजय होने पर मुख से लाला स्राव, मुख में मधुरता, भारीपन, वमन, कठिनाई से श्वास लेना, शीतपूर्वक ज्वर और अरुचि होती है।

वि० मन्तव्य—जैसे वमन, विरेचन तथा निरूहण बस्ति में वैद्य, रोगी, परिचारक एवं औषध के दोष से व्यापद् खड़ी हो जाती हैं वैसे ही स्नेह बस्ति (अनुवासन बस्ति) में भी व्यापद हो जाती हैं ॥८१-८५॥

तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे बस्तिं निधापयेत्।
यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च ॥८६॥

दोष से अभिभूत स्नेह में दोषों के अनुसार निरूहण बस्ति देवे और दोष शामक जो चिकित्सा हो, उसे दोषों के अनुसार बरते। (आम के सम्बन्ध से लंघन आदि) ॥८६॥

अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसंचरः ॥८७॥
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः।
तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते ॥८८॥
अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः।
तदाऽङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते ॥८९॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम्।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम् ॥९०॥
शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम्।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम् ॥९१॥
स्नेहगन्धि मुखं चापि कासश्वासावरोचकः।
अतिपीडितवत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा ॥९२॥

बहुत अधिक भोजन करने के कारण अन्न से तिरस्कृत स्नेह जब बाहर नहीं आता, तब आमाशय में भारीपन, शूल, वायु का रुकना, हृदय पीड़ा, मुख में विरसता, श्वास, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि होती है। इसमें अपतर्पण कराके पीछे से अग्निदीपन चिकित्सा करे। विरेचन-निरूह दिये बिना दिया गया स्नेह जब वापिस नहीं आता तब अंगों में शिथिलता, आध्मान, श्वास और शूल होता है। और पक्वाशय में भारीपन रहता है। इसमें निरूहण देवे। अथवा तीक्ष्ण औषधियों से बनाया तीक्ष्ण अनुवासन भी दे। विरेचन आदि से शुद्ध हुए व्यक्ति में स्नेह के दूर तक पहुँच जाने पर मल में स्नेह का आना, शरीर में, सब इन्द्रियों में मलवृद्धि, ग्लानि, मुख में स्नेह की गन्ध, कास, श्वास, अरोचक होता है। इसमें अतिपीड़न की भाँति (गला दबाना, झकोरना आदि) चिकित्सा करे और आस्थापन बस्ति देवे ॥८७-९२॥

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः संप्रयोजितः।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते ॥९३॥
विबन्धगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति।
तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम् ॥९४॥

स्वेदन एवं वमन विरेचन न दिये पुरुष में थोड़ा, शीतल और मृदु दिया गया स्नेह वापिस न आकर धीरे-धीरे, थोड़ा वापिस आता है। पक्वाशय में वायु का अवरोध, भारीपन, आध्मान, शूल होता है। इसमें अनुवासन के साथ आस्थापन शीघ्र देवे ॥९३,९४॥

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत् ॥९५॥
तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन बस्तिना।
(अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते) ॥९६॥

थोड़ा खाने पर दिया हुआ थोड़ा स्नेह मन्द गुण होने से वापिस नहीं आता, क्लम, उत्क्लेश और अतिशय बेचैनी उत्पन्न करता है। इसमें शोधनीय बस्ति से आस्थापन करना चाहिए। (शोधनीय स्नेहन से अनुवासन देवे) ॥९५,९६॥

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति।
कुर्याद्बस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत् ॥९७॥

दिन-रात—चौबीस घण्टे में भी वापिस नहीं हुआ स्नेह किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करता। अपितु बस्ति के गुणों को करता है, परन्तु पच जाने पर थोड़ा गुण करता है ॥९७॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहबस्तिरनिःसृतः।
सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥९८॥

बाहर न आई स्नेह बस्ति जिस पुरुष में किसी प्रकार का उपद्रव न करे, सम्पूर्णरूप में या थोड़े रूप में बाहर न आये, उसे रूक्षता के कारण रुका हुआ जानकर बुद्धिमान् वैद्य उसकी उपेक्षा कर दे ॥९८॥

अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत्।

चौबीस घण्टे के पीछे भी स्नेह वापिस न आये, तो संशोधनों से उसे निकाले।

स्नेहबस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥९९॥

स्नेह बस्ति के वापिस न आने पर दूसरी स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिए ॥९९॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वा सलक्षणचिकित्सिताः।

इस प्रकार से सब हानियाँ लक्षण और चिकित्सा के साथ कह दी हैं।

बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ॥१००॥
चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रमातुराङ्गुलसंमितम्।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥१०१॥

इसके आगे उत्तरबस्ति की विधि का व्याख्यान करेंगे। रोगी की अपनी अँगुलियों के माप से नेत्र का माप चौदह

अंगुल, अग्रभाग चमेली के फूल के वृन्त के समान, छेद सरसों के जाने योग्य होना चाहिये।

वक्तव्य—अंगुल्यान्यथ चत्वारि पंच षट् सप्त वा तथा। सप्तांगुलं परं नेत्रं प्रणिधेयं भिषग्विदा॥ हिंस्याद् बस्तिं नरं चेह प्रमाणादधिकं ततः॥

वि० मन्तव्य—उत्तर बस्ति वह है, जो मूत्रमार्ग तथा भग में दी जाती है ॥१००,१०१॥

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः।
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम् ॥१०२॥

उत्तरबस्ति में स्नेह की अधिक से अधिक मात्रा एक प्रकुंच (पल) भर है। यह मात्रा पच्चीस साल के लिये है। इससे छोटी आयु के लिये बुद्धि के अनुसार बना ले। (एक साल के लिये एक पल का पच्चीसवाँ भाग है) ॥१०२॥

निविष्टकर्णिकं मध्ये, नारीणां चतुरङ्गुले।
मूत्रस्रोतः परीणाहं मुद्गवाहि दशाङ्गुलम् ॥१०३॥
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः।

पुरुषों के नेत्र में कर्णिका मध्य भाग में रखनी चाहिये। स्त्रियों में नेत्र कर्णिका चार अंगुल की दूरी पर हो। मूत्र स्रोत के अनुसार मोटा, मूंग के जाने योग्य छिद्रवाला, और दस अंगुल लम्बा होना चाहिए। कई आचार्य मेहन के समान लम्बा नेत्र (कुछ अधिक बड़े छेद का) पसन्द करते हैं ॥१०३॥

तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम् ॥१०४॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमङ्गुलम्।
विधेयं चाङ्गुलं तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा ॥१०५॥

स्त्रियों के योनिमार्ग में नेत्र को चार अंगुल प्रविष्ट करे। मूत्र मार्ग में दो अंगुल। कन्याओं के मूत्र मार्ग में एक अंगुल प्रविष्ट करे। यह माप उनकी अपनी अँगुलियों से लेना चाहिये। (कन्या-अप्राप्त द्वादशवर्षा) ॥१०४,१०५॥

स्नेहस्य प्रसृतं चित्रं स्वाङ्गुलीमूलसंमितम्।
देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम् ॥१०६॥

उत्तर बस्ति में स्नेह का प्रसृत अपनी अंगुली मूल से माप कर लेवे। यह स्नेह की उत्तम मात्रा है। (स्त्रियों की उत्तर बस्ति में)। इससे कम मात्रा अपनी बुद्धि के अनुसार बना ले ॥१०६॥

औरभ्रः शौकरो वापि बस्तिराजश्च पूजितः।
तदलाभे प्रयुञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम् ॥१०७॥

मेढा, सुअर या बकरे की बस्ति (मूत्राशय) इसमें उत्तम है। इसके अभाव में पक्षियों का गलचर्म बरते। (इसके अप्राप्य होने पर मशक का पैर, अथवा कोमल चर्म बरते ॥१०७॥)

अस्यालाभे दृतेः पादो मृदुचर्म ततोऽपि वा।
अथातुरमुपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम् ॥१०८॥
यवागूं सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम्।
निषण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम् ॥१०९॥
स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मानवम्।
ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम् ॥११०॥
पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम्।
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्यादङ्गुलानि षट् ॥१११॥
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम्।
ततोऽवपीडयेद्बस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ॥११२॥
ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः।
भोजयेत् पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा ॥११३॥
अनेन विधिना दद्याद्बस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा।

विधि—रोग को स्नेहन और स्वेदन देकर—वायु-मूत्र-मल के त्याग करने से आशय के ढीला होने पर, घृत और दूध मिलित यवागू को यथाशक्ति पिलाकर; घुटनों के बराबर ऊंची चौकी पर, सहारा (तकिया) लगाकर बिठाये। गरम तैल से बस्ति शिर को भली प्रकार मलकर, इसके मूत्र नाल को प्रहर्षित (उत्तेजित) करके समान रूप में रखकर--प्रथम शलाका से मार्ग की परीक्षा करके, पीछे से घी से स्निग्ध किये नेत्र को धीरे-धीरे छै अंगुल प्रविष्ट करे। कई आचार्य मेहन के बराबर प्रविष्ट करने के लिये कहते हैं। फिर बस्ति को दबाये और धीरे से नेत्र को निकाल ले। फिर स्नेह के वापिस आने पर सायंकाल में बुद्धिमान् वैद्य दूध से, यूष से या मांस रस से मात्रा में भोजन देवे। इस विधि से तीन या चार बस्ति देवे।

वि० मन्तव्य—प्रहर्षितम्—(सुश्रुत), हृष्टे मेढ्रे (चरक) हृष्टे इति स्तब्धे (चक्रपाणि) तथा हृष्टे मेढ्रे स्थिते च ऋजौ (वाग्भट सू० अ० १६) इन तीनों आचार्यों के कथनानुसार प्रहर्षित अर्थात् हृष्टऋजु सीधे स्थित-खड़े मेढ्र—शिश्न में शलाका तथा उत्तर बस्ति का नेत्र देने का विधान किया गया है परन्तु हमारा विचार है कि इन प्रहर्षित आदि शब्दों के साथ "नञ्" होना चाहिये अर्थात् शिथिल मेढ्र में शलाका देवें क्योंकि प्रहर्षित मेढ्र की दण्डिका फूल जाने के कारण शलाका प्रवेश नहीं हो सकता। यहाँ तक कि इस दशा में मूत्र भी नहीं उतरता और क्रियात्मक रूप में भी देखा जाता है कि शिथिल शिश्न में ही शलाका प्रवेश आदि क्रिया की जाती है। पाठक गम्भीर विचार करें॥

चरक-पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छूलक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्। जातीपुष्पस्य वृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम् ॥ रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलम्। तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलं नयेत् ॥ यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा। स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा ॥ सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ। ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृतान्विते॥

शलाकयान्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत्। ततः शेफः प्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्॥ गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनुसेवनीम्। हिंस्याद् बस्तिगतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति॥ सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षन्नेत्रमेव च। प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत्। अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च॥

चरक० सि० अ० ६ ।५०-५७ ॥१०८-११३॥

ऊर्ध्वजान्वै स्त्रियै दद्यादुत्तानायै विचक्षणः ॥११४॥
सम्यक् प्रपीडयेद्यो न दद्यात् सुमृदुपीडितम्।
त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद्योनिमुखं प्रति ॥११५॥

स्त्री में उत्तर बस्ति देने के लिये उसे पीठ के भार उत्तान लेटाकर घुटनों को मोड़कर ऊँचा कराये। धीरे से बस्ति को दबाकर उत्तर बस्ति देते समय योनि को भली प्रकार दबाये। इसमें तीन कर्णिकावाले नेत्र को योनिमुख की ओर रखकर बस्ति देवे।

वि० मन्तव्य—विचक्षणः—"विचक्षणः" इत्यत्र केचित् 'समाहितः' इति पठन्ति कामसंकल्परहितेन अचलितचित्तप्रकृतिना इत्यर्थः—अर्थात् वैद्य विचक्षण-समाहित अर्थात् सावधान होकर बस्ति देवे, योनि दर्शन से कामातुर—विचलित चित्त न हो जाय। यह श्री डल्हण ने अर्थ किया है परन्तु हमारा विचार है कि स्त्रियों में बस्तिकर्म स्त्री-चिकित्सिका ही करे पुरुष नहीं। प्रतीत होता है कि डल्हण जी के समय में कोई नारी चिकित्सिका नहीं होती थी। सुश्रुत एवं पुनर्वसु के समय में प्रसव के लिये जब कि नारियों का अधिकार माना है तब बस्तिकर्म के लिये भी नारियों का अधिकार मानना उचित है।११४,११५।

गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु।

गर्भाशय के शोधन के लिये स्नेह की मात्रा दो गुनी (दो प्रसृत) लेनी चाहिये।

क्वाथप्रमाणं प्रसृतं, स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत् ॥११६॥
कन्येतरस्याः, कन्यायास्तद्वद्बस्तिप्रमाणकम्।

पुरुषों में क्वाथ की मात्रा एक प्रसृत, प्रसूता या प्रसवरहित बड़ी आयु की स्त्री में दो प्रसृत मात्रा, अप्रसूता या गर्भग्रहण के अयोग्य एवं कन्या में (बारह वर्ष से कम) पुरुष के समान स्नेह की मात्रा अपने हाथ के माप से एक प्रसृत, बस्ति के शोधन के लिये लेनी चाहिये ॥११६॥

अप्रत्यागच्छति भिषग् बस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥११७॥
भूयो बस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गणैः।
गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसंभृताम् ॥११८॥
प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारमथैषणीम्।
पीडयेद्वाऽप्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ॥११९॥
आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च।
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैन्धवाः ॥१२०॥
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु।
बस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ॥१२१॥
आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः।
कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनतारैः ॥१२२॥
अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत्।

उत्तर बस्ति के वापिस न आने पर वैद्य त्रिवृत आदि संशोधनीय द्रव्यों से मिली बस्ति को देवे। अथवा शोधन द्रव्यों से बनी गुद में वर्त्ति बरते। अथवा बस्तिद्वार (मूत्र मार्ग में) ऐषणी प्रविष्ट करे। अँगूठे को अन्दर रखकर बाँधी मुट्ठी से नाभि के नीचे जोर से दबाये। अमलतास के पत्ते, सम्भालु का स्वरस, गोमूत्र और सैन्धव इनको पीसकर-वय के अनुसार मूंग, इलायची का दाना, सरसों के बराबर वर्त्ति बनाकर शलाका की सहायता से मूत्र मार्ग में रक्खे, जिससे बस्ति आ जाये। घर का धुंवासा, कटेरी, पिप्पली, मैनफल, सैन्धव, इनसे शुक्त, गोमूत्र और सुरा में पीसकर बनाई वर्ति बरते। अनुवासन चिकित्सा में जो बस्ति लौटाने के विधान आदि कहा है, वह भी करे।

वक्तव्य—बस्तिर्मात्राशतादूर्ध्वं प्रत्यागच्छति। अनागच्छति वर्तिं पायौ नाले निदध्यात्॥ मूत्रमार्ग में बस्ति या मूत्र को लाने के लिये कर्पूर का कण भी रखते हैं। वर्त्ति को छाया में सुखाकर घी से चिकना करके मूत्रमार्ग में रखना चाहिये॥

शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकाम्बुना ॥१२३॥
दह्यमाने तदा बस्तौ दद्याद्बस्तिं विचक्षणः।
क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥१२४॥

बस्ति में यदि जलन होती हो तो, मुलैहठी के शीतल कषाय में शर्करा और मधु मिलाकर बस्ति देवे। अथवा न्यग्रोधादिगण के शीतल कषाय में दूध मिलाकर बस्ति देवे।

वि० मन्तव्य—यह बस्ति—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात (सुजाकगनोरिया में भी बहुत लाभ करती है बहुशोऽनुभूत है। २ तोला मुलैहठी को ४० तोला जल में अर्धावशिष्ट क्वाथ करे और स्वच्छ खण्ड या मिशरी २ तोला, मधु २ तोला मिलाकर उत्तर बस्ति देवे। प्रदर रोग में इसी की बस्ति भग में देवे॥

शुक्रं दुष्टं शोणितं चाङ्गनानां
पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम्।
मूत्राघातान्मूत्रदोषान् प्रवृद्धान्
योन्यव्याधिं संस्थितिं चापरायाः ॥१२५॥
शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीं च
शूलं बस्तौ वङ्क्षणे मेहने च।
घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान्
हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः ॥१२६॥

दूषित शुक्र को, स्त्रियों के दूषित आर्त्तव को, रज की अधिकता को, रजोनाश को, रजः कष्ट को, मूत्रघात को, बढ़े हुए मूत्र दोषों को, योनिव्याधि को, अपरा की रुकावट को, शुक्र के उत्सेक को, शर्करा को, अश्मरी को बस्ति-वंक्षण, मेहन

के शूल को, बस्ति जन्य अन्य भयानक रोगों को प्रमेहों को छोड़कर उत्तरवस्ति नष्ट करती है ।

वि० मन्तव्य—जो बस्ति कषाय, क्षार एवं स्नेह मिलाकर दी जाती है वह निरूहण और जो केवल स्नेह (एरण्ड तैल आदि) से दी जाती है वह अनुवासन कहलाती है और उत्तर बस्ति निरूहण भी होती है और अनुवासन भी। उत्तरबस्ति प्रमेह रोग में नहीं दी जाती शेष-शुक्रदोष एवं रजोविकार आदि, मूत्राशय एवं गर्भाशय के सभी विकारों में दी जाती है ॥

सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च ।
बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना ॥१२७॥

उत्तरवस्ति के सम्यग् योग के लक्षण, हानियाँ और उनकी चिकित्सा सब स्नेहवस्ति के समान है ॥१२७॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनुवासनोत्तरबस्ति-चिकित्सितं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निरूहक्रमचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे निरूह क्रम चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ।

वि० मन्तव्य—निरूहण बस्तियों द्वारा मलाशय का शोधन किया जाता है परन्तु उसके जो योग इस अध्याय में लिखे गये हैं उनके द्वारा वे सब कार्य होते हैं जो मुखमार्ग से औषध देने पर होते हैं। सच यह है कि शरीर में सर्वत्र वात, पित्त एवं कफ अपना २ कार्य सर्वदा करते हैं इसलिये मलाशय में भी पहुँचाई गई औषधियों का पाचन हो जाता है। यही नहीं, त्वचा पर लेपन, अभ्यङ्ग आदि के रूप में लगाई गई औषधियों का भी पाचन होता है इसलिये बस्तियों तथा लेप आदि में वे ही द्रव्य प्रयुक्त होते हैं जो खाने की औषधों—आहारों में प्रयुक्त होते हैं ॥१,२॥

अथानुवासितमास्थापयेत् ; स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टवहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधःसुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशप्रतिव्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चितदक्षिणसक्थिमितरप्रसारितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा, ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सव्यपाणि कनिष्ठिकानामिकाभ्यां बस्तेर्मुखार्धं सङ्कोच्य, मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृतास्यं कृत्वा, बस्तावौषधं प्रक्षिप्य, दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चानुसिक्तमनायतमबुद्बुदसंकुचितमवातमौषधासन्नमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिञ्चेत्, ततः सूत्रेणैवौषधान्ते द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात्, अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना बस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमांगुलिप्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्यांगुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तगुदाय प्रयच्छेदनुपृष्ठवंशं सममुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात् ॥३॥

बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ।
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम् ॥४॥

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात् । अथातुरमुपवेशयेदुत्कुटुकं बस्त्यागमनार्थम् । निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति ॥५॥

अनेन विधिना बस्तिं दद्याद् बस्तिविशारदः ।
द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः ॥६॥

अनुवासन दिये हुए व्यक्ति को आस्थापना (निरूह) बस्ति देनी चाहिये। इसके लिये रोगी को भली प्रकार स्नेहन और स्वेदन कराके, मलमूत्र का त्याग कराके, वायुरहित, पवित्र घर में मध्याह्न समय में—विस्तृत चौड़ी बिछाई नीचे (पैरों की ओर) भली प्रकार पकड़ने योग्य, कटि प्रदेश की ओर ऊँची बिना सिरहाने की शय्या पर रोगी को वामपार्श्व से लेटाये। रोगी की दक्षिण टांग सिकोड़कर वाम टांग फैलाकर—प्रसन्न मन, अन्न जीर्ण होने पर, मौन रखकर, शिथिल शरीर हुआ जानकर, बायें पैर के ऊपर बस्तिनेत्र को करके, दूसरे दक्षिण पैर के अंगूठे और अंगुली से बस्ति को कर्णिका के ऊपर दबाकर बायें हाथ की कनिष्ठका और अनामिका से बस्ति के मुख के आधे भाग को दबाकर, मध्यमा, प्रदेशिनी और अङ्गूठे से आधेमुख को खुला रखकर, वस्ति में औषध डाले। दक्षिण हाथ के अँगूठे से, प्रदेशिनी और मध्यमांगुली से, ठीक प्रकार से (ऊपर से न बहे ऐसा करे) रखते हुए, बहुत फैलाकर नहीं, बुलबुले रहित, बिना सिकोड़े, वायु के बिना (औषध डालकर वायु निकाले), औषधि के पास पकड़े। फिर वाम हाथ से इस को पकड़कर, दक्षिण हाथ से इसमें से थोड़ी औषधि निकाले। फिर औषध की समाप्ति पर धागे से दो तीन लपेटे देकर नेत्र पर बाँध देवे। फिर दक्षिण हाथ को चित्त-सीधा करके बस्ति को पकड़कर बायें हाथ की मध्यमांगुली और प्रदेशिनी से नेत्र को थामकर, अङ्गूठे से नेत्र का मुख बन्द रखकर, नेत्र के अग्रभाग पर घी लगाकर, घी से गुदा को स्निग्ध करके पृष्ठवंश के साथ साथ, समान, मुख को ऊपर रखकर, कणिका पर्यन्त नेत्र को रोगी अन्दर प्रविष्ट करे। वस्ति को बायें हाथ में थामकर दक्षिण हाथ से एक ही दबाव में दबाये। न तो जोर से दबाये और न धीरे दबाये, फिर नेत्र को निकालकर वस्ति देने से लेकर तीस मात्रा कालतक प्रतीक्षा

करे। फिर रोगी को खड़ा होने के लिये कहे। रोगी को ऊकडूं बिठाये, जिससे बस्ति बाहर आ जाये। निरूह के वापिस आने का समय मुहूर्त्त (दो घटिका) होता है। बस्ति को जाननेवाला वैद्य इस प्रकार से बस्ति को देवे। प्रयोजन की अपेक्षा से दो, तीन या चार बस्ति देवे।

वक्तव्य—मात्रा, "यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलं। निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्त्तिता ॥

(२) जानुमण्डलमावेष्ट्य दत्ते दक्षिणपाणिना। कृष्टनेत्रश्छटाशब्दं शतं तिष्ठेत वेगवान् ॥ यह समय बस्ति की प्रतीक्षा का कहा है। यह क्रूर कोष्ठ की अपेक्षा से है ॥३-६॥

सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवारयेत्।

भली प्रकार बस्ति देने के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर निरूह बस्ति देना बन्द कर देवे।

विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः ॥७॥
अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्।

कोमल प्रकृति पुरुषों में निरूह बस्ति कम मात्रा में देवे। भले ही कम बस्ति देवे, परन्तु अधिक मात्रा में कभी भी बस्ति न दे ॥७॥

यस्य स्याद्बस्तिरल्पोऽल्पवेगो हीनमलानिलः ॥८॥
दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान्।

जिसमें बस्ति कम हो, वेग अल्प हो, मल और वायु कम हों, उसे भली प्रकार निरूह नहीं हुआ जानना चाहिये। इसको मूत्र की पीड़ा, अरुचि, जड़ता रहती है ॥८॥

यान्येव प्राङ्मयोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते ॥९॥
तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता।

अतिविरेचन के जो लक्षण मैंने पहले कहे हैं, वे ही लक्षण बुद्धिमान् को अतिनिरूह में समझने चाहिये ॥९॥

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः ॥१०॥
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत्।

जिस रोगी में क्रमशः मल, पित्त, कफ और वायु निकलते हैं, शरीर में हल्कापन आता है उसे भली प्रकार से निरूह हुआ जानें।

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि। रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थिता च, बलं च तत्स्यात् सुनिरूढलिंगम्॥ चरक० सि० अ० १।४१।

चरक में—"बस्तिं ततः सव्यकरे निधाय सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्व्यलीकम्। अंगुष्ठमध्येन मुखं पिधाय नेत्राग्रसंस्थामपनीय वर्त्तिम् ॥ तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम्। समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ॥ सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानं। निकुञ्च्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम् ॥ स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धं शनैः मृदु ऋजु पृष्ठवंशम् ॥ अकम्पनावेपनलाघवादीन्पाण्योः गुणांश्चापि हि दर्शयंस्तम्। प्रपीड्य चैकग्रहणेन, दत्तं, नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ॥ च० सि० अ० ३॥१०॥

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातवन्तं तु भोजयेत् ॥११॥
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्।
सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः ॥१२॥
त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापि वा।
यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते ॥१३॥
अनन्तरं ततो युञ्ज्याद्यथास्वं स्नेहबस्तिना।

भली प्रकार निरूह हो जाने पर रोगी को स्नान कराके भोजन देवे। पित्तवाले को दूध से, कफवाले को यूष से और वायुवाले को मांस रस के साथ भोजन देवे। अथवा सबको ही विकार न करनेवाले जांगल मांस रस के साथ भोजन दे। भोजन की मात्रा, अग्नि एवं दोष के अनुसार प्रतिदिन के भोजन से ⅓ भाग कम या इससे भी कम हो। इसके पीछे दोषों के अनुसार स्नेह बस्ति देवे। चरक में—"रसेन वाते प्रतिभोजने स्यात्क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः ॥११-१३॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः ॥१४॥
आस्थापनस्नेहबस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्।

आस्थापन और स्नेहबस्ति के भली प्रकार देने पर सम्यग् अवधारण (विवेकबुद्धि) शक्ति, मन की प्रसन्नता, स्निग्धता और रोग की शान्ति होती है ॥१४॥

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते ॥१५॥
रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम्।

निरूह देने के दिन वायु के कोप का बहुत भय रहता है, इसलिये मांसरस से भात देवे और उसी दिन अनुवासन देवे॥

पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम् ॥१६॥
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहबस्तिर्विधीयते।

फिर अग्निबल को देखकर, वायु की गतिविधि जानकर, अन्न से कोष्ठ में सहारा हो जाने पर स्नेहबस्ति देनी चाहिये॥

अनायान्तं मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥१७॥
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्लसंयुतैः।

एक मुहूर्त्त प्रतीक्षा करने पर यदि निरूह, बस्ति वापिस नहीं आये, तब त्रिवृत्तादि शोधन एवं तीक्ष्ण निरूहों में यवक्षार, गोमूत्र, कांजी मिलाकर देवे, इनसे उसे बाहर करे ॥१७॥

विगुणानलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम् ॥१८॥
शूलारतिज्वरानाहान्मरणं वा प्रवर्तयेत्।

विपरीत गतिमान् वायु से रुका हुआ निरूह, देरतक रुक जाता है। इससे शूल, आनाह, बेचैनी, ज्वर या मृत्यु भी हो जाती है ॥१८॥

न तु भुक्तवतो देयमास्थापनमिति स्थितिः ॥१९॥
विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम् ।
कोपयेत् सर्वदोषान् वा तस्माद्द्यादभोजिते ॥२०॥

भोजन करने पर आस्थापन नहीं देना चाहिये, यह सिद्धान्त है। ऐसा न करने से या तो विसूचिका होती है, या भयानक वमन होता है। अथवा सब दोषों को निरूह कुपित कर देता है, इसलिये भोजन न किये हुए को निरूह देवे ॥

जीर्णान्नस्याशये दोषाः पुंसः प्रव्यक्तिमागताः ।
निःशेषाः सुखमायान्ति भोजनेनाप्रपीडिताः ॥२१॥
न वाऽऽस्थापनविक्षिप्तमन्नमग्निः प्रधावति ।
तस्मादास्थापनं देयं निराहाराय जानता ॥२२॥
आवस्थिकं क्रमं चापि बुद्ध्वा कार्यं निरूहणम् ।
मलेऽपकृष्टे दोषाणां बलवत्त्वं न विद्यते ॥२३॥

अन्न के जीर्ण होने पर आशय (पक्वाशय) में वातादिदोष स्पष्ट हुए होने से—भोजन के कारण से न दबे होने पर सम्पूर्ण रूप में शान्त हो सकते हैं। अथवा आस्थापन से विक्षिप्त बनी अग्नि अन्न की ओर नहीं दौड़ती। इसलिये जाननेवाला बिना भोजन किये हुए में आस्थापन देवे ॥

आवस्थिक (अवस्थानुसार) विधि को समझकर भी निरूह देना चाहिये। क्योंकि मल के निकल जाने पर दोषों का बल कम हो जाता है ॥२१-२३॥

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसास्तथा ।
लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचा ॥२४॥
एला त्रिकटुकं रास्ना सरलो देवदारु च ।
रजनी मधुकं हिङ्गु कुष्ठं संशोधनानि च ॥२५॥
कटुका शर्करा मुस्तमुशीरं चन्दनं शटी ।
मञ्जिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसाञ्जनम् ॥२६॥
बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजा यवाः ।
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ॥२७॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका ।
निरूहेषु यथालाभमेष वर्गो विधीयते ॥२८॥

दूध, अम्ल, मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मांसरस, लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसों, बच, इलायची, सोंठ, मरिच, पिप्पली, रास्ना, चीड़, देवदार, हल्दी, मुलैहठी, हींग, कूट और त्रिवृत्त आदि संशोधन, कुटकी, शर्करा, मुस्ता, खस, चन्दन, कचूर, मजीठ, मैनफल, चण्डा (गठोना), त्रायमाण, रसौंत, बिल्व का गूदा, अजवायन, प्रियंगु, इन्द्रजौ, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका इनमें से जो मिल सके उनका निरूहों में उपयोग करे ॥

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः ।
क्रुद्धेऽनिले चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥२९॥
सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां लवणं पुनः ।
क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥३०॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे कल्पना त्वियम् ॥३१॥

स्वस्थ अवस्था में क्वाथ के चार भाग और पाँचवाँ भाग स्नेह, वायु कोप में स्नेह चौथा भाग, पित्त में छठा भाग और कफ में स्नेह का आठवाँ भाग होना चाहिये। सब निरूहों में कल्क का आठवाँ भाग होना चाहिये। लवण, मधु, मूत्र, मैनफल, दूध, कांजी, मांसरस इनको बुद्धिमान् युक्ति से मिलाये।

वक्तव्य—मधुस्नेहनकल्काख्यकषाया वापतः क्रमात्। त्रीणि षड्द्वादशत्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् ॥ पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपंच चतुष्टयम्। षट्त्रीणि द्वे दशत्रीणि कफे चापि निरूहणम् ॥ चरक में—भागाः कषायस्य तु पंचपित्ते स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च। वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः ॥ चरक ॥२९-३१॥

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः ।
बस्तेः सुकल्पना प्रोक्ता तस्य दानं यथार्थकृत् ॥३२॥

कल्पनाविधि—कल्क, स्नेह, और कषाय ये सब मिलकर एक हो जायें, यह कल्पना वैद्यों ने बताई है। बस्ति की सुकल्पना बनाकर उसका देना यथार्थ फलदायक है।

वक्तव्य—न धावत्यौषधं पाणिं न तिष्ठत्यावलिप्य च। न करोति च सीमन्तं स निरूहः सुयोजितः ॥३२॥

दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम् ।
पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः ॥३३॥
सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम् ।
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान् ॥
गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च ।
यथा वा साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः समः ॥३५॥
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ।
कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत् ॥३६॥

प्रथम सैन्धव एक कर्ष मात्रा में डाले, मधु दो प्रसृत मिलाकर पात्र में इनको हाथ से खूब मथे। मथने पर तैल धीरे धीरे मिलता जाये। भली प्रकार मथे जाने पर मैनफल का कल्क इसमें मिलाये फिर पीछे से कहे हुए दूसरे कल्कों को बारीक पीसकर मिलाये। इस सब को अब एक बड़े गहरे पात्र में डालकर मन्थन दण्ड से मथे। अथवा जैसे ठीक समझे, वैसे मथे। यह न तो बहुत घट्ट होना चाहिये और न पतला, अपितु समान रहना चाहिये। दोषों की अवस्था देखकर मांसरस, दूध कांजी, मूत्र मिलाये। इसमें भली प्रकार छाना हुआ कषाय पाँच प्रसृत मिलाये।

वक्तव्य—अन्यत्र "माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्" यह क्रम कहा है। चरक में—पूर्वं हि योज्यं मधुसैन्ध-

वाभ्यां स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनुकल्कम्। विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तद्वस्तौ निदध्यात्मथितं खजेन ॥ "लवण का परिमाण मात्रा में रखना चाहिये, अन्यथा दाह और अतिसार करता है ॥३३-३६॥

अत ऊर्ध्वं द्वादशप्रसृतान् वक्ष्यामः—
दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥३७॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्।
संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥३८॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्।
एवं प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥३९॥
ज्येष्ठायाः खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम्।
अपह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत् प्रसृतिहापनम् ॥४०॥
यथावयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता।
सैन्धवादिद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः ॥४१॥

इसके आगे बारह प्रसृतवाले निरूहों को कहेंगे—प्रथम सैन्धव एक कर्ष, मधु दो प्रसृत (चार पल), इनको मिलाकर इसमें स्नेह तीन प्रसृत मिलाये। जब स्नेह मिलकर एक हो जाये तब इसमें कल्क एक प्रसृत मिलाये। मिलकर एक हो जाने पर कषाय चार प्रसृत मिलाये। पीछे से इसमें प्रक्षेप दो प्रसृत मिलाये। इस प्रकार बनाने से बस्ति बहरा प्रसृत की बनती है। यह मात्रा श्रेष्ठ बस्ति की उत्तम मात्रा है। घटाने में वैद्य इसमें एक एक प्रसृति वय के अनुसार घटाये। सिद्धि की सफलता चाहनेवाला वैद्य सैन्धव से लेकर कषाय पर्यन्त द्रव्यों में इसी अनुपात में कमी करे।

चरक में—निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः। आद्वादशात्स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्यु'। आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाणमतः परं षोडशवद् विधेयम् ॥ निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः ॥३७-४१॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते बस्तयोऽत्र विभागशः।
यथादोषं प्रयुक्ता ये हन्युर्नानाविधान् गदान् ॥४२॥

इसके आगे पृथग् रूप में बस्तियों को कहते हैं। ये बस्तियाँ रोग एवं दोष के अनुसार दी जाने पर नाना प्रकार के रोगों को नष्ट करती हैं ॥४२॥

शम्पाकोरुबुवर्षाभूवाजिगन्धानिशाच्छदैः।
पञ्चमूलीबलारास्नागुडूचासुरदारुभिः ॥४३॥
क्वथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः।
कल्कैर्मागधिकाम्भोदहपुषामिसिसैन्धवैः ॥४४॥
वत्साह्वयप्रियंगूग्रायष्ट्याह्वयरसाञ्जनैः।
दद्यादास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम् ॥४५॥
पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसङ्गिनाम्।
ग्रहणीमारुतार्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम् ॥४६॥

अमलतास, एरण्ड, पुनर्नवा, अजवायन, शटी, बृहत्पंचमूल, बला, रास्ना, गिलोय, देवदारु इन द्रव्यों को सोलह पल लेकर (चार मैनफल से एक पल बनता है)—एक सौ अट्ठाईस पल पानी में क्वाथ करके, छानकर बत्तीस पल बचाये। इसमें से आठ पल लेकर पिप्पली, मुस्ता, हाऊबेर, सौंफ, सैन्धव, इन्द्रजौ, प्रियंगु, मुलैहठी, वच, रसौत इनका कल्क मिलाये। मधु, लवण आदि से संस्कृत करके सुहाता हुआ गरम आस्थापन देवे। पीठ, ऊरू, त्रिकशूल, अश्मरी-मल-मूत्र-वायु के अवरोध, ग्रहणी, वायु-अर्श को नष्ट करता है, रक्त-मांस तथा बल देता है। (क्वाथ में से आठ पल ले, शेष क्वाथ को दूसरी या तीसरी बार के लिये रख लेवे-डल्हण) ॥४३-४६॥

गुडूचीत्रिफलारास्नादशमूलबलापलैः।
क्वथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियङ्गुघनसैन्धवैः ॥४७॥
शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठबिल्वजैः।
सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्धपलान्वितैः ॥४८॥
क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः।
समालोड्य च मूत्रेण दद्यादास्थापनं परम् ॥४९॥
तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्निप्राणवर्धनम्।
सर्वमारुतरोगघ्नं वयःस्थापनमुत्तमम् ॥५०॥

गिलोय, त्रिफला, रास्ना, दशमूल, बला ये सोलह द्रव्य, और मांस (इन द्रव्यों के बराबर) द्रव्य एक एक पल और मांस सोलह पल लेकर एक सौ छत्तीस पल पानी में क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर छानकर इसमें एक पुटक के लिए आठ पल लेकर, प्रियंगु, मुस्ता, सैन्धव, सौंफ, बच, पिप्पली, अजवायन, कूठ, बिल्व, इनका बारीक कल्क, और गुड़ एक एक अक्ष मिलाकर इसमें मैनफल आधा पल, मधु, घी, दूध, शुक्त, कांजी, मस्तु और मूत्र इन सबको घोलकर आस्थापन देवे। यह निरूह तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, अग्नि और प्राण को बढ़ाने में श्रेष्ठ है। सब वात रोगों को नष्ट करता है। वय को स्थिर रखने में उत्तम है ॥ ७-५०॥

कुशादिपञ्चमूलाब्दत्रिफलोत्पलवासकैः।
सारिवोशीरमञ्जिष्ठारास्नारेणुपरूषकैः ॥५१॥
पालिकैः क्वथितैः सम्यग् द्रव्यैरेभिश्च पेषितैः।
शृङ्गाटकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचन्दनैः ॥५२॥
विदारीमिसिमञ्जिष्ठाश्यामेन्द्रयवसिन्धुजैः।
फलपद्मकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः ॥५३॥
दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः।
दाहासृग्दरपित्तासृक्पित्तगुल्मज्वराञ्जयेत् ॥५४॥

कुश, काश, नल, दर्भ, इक्षु, मुस्ता, त्रिफला, नीलाकमल, अडूसा, सारिवा, खस, मजीठ, रास्ना, रेणु (पर्पटक), फालस

इनको एक-एक पल लेकर क्वाथ करे। इसमें सिंघाड़ा, कौंच, नागकेसर, अगरु, चन्दन, विदारी, सौंफ, मजीठ, निशोथ, इन्द्रजौ, सैन्धव, मैनफल, पद्माख, मुलैहठी इनका बारीक पिसा कल्क, मधु, दूध, घी इनको घोलकर बनाये आस्थापन को शीतल होने पर देवे। इसमें कांजी आदि खट्टे द्रव्य न मिलाये। यह दाह, रक्तप्रदर, पित्तरक्त, पित्तगुल्म और ज्वर को नष्ट करता है ॥५१-५४॥

रोध्रचन्दनमञ्जिष्ठारास्नानन्ताबलर्धिभिः।
सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः ॥५५॥
स्थिरादितृणमूलैश्च क्वाथः कर्षत्रयोन्मितः।
पिष्टैर्जीवककाकोलीयुगर्धिमधुकोत्पलैः ॥५६॥
प्रपौण्डरीकजीवन्तीमेदारेणुपरूषकैः।
अभीरुमिसिसिन्धूत्थवत्सकोशीरपद्मकैः ॥५७॥
कसेरुशर्करायुक्तः सर्पिर्मधुपयःप्लुतैः।
द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो बस्तिः सुशीतलः ॥५८॥
गुल्मासृग्दरहृत्पाण्डुरोगान् सविषमज्वरान्।
असृक्पित्तातिसारौ च हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥५९॥

लोध, चन्दन, मजीठ, रास्ना, सारिवा, बला, ऋद्धि, कालीसारिवा, अडूसा, गम्भारी, मेदा, मुलैहठी, पद्माख, लघुपंचमूल, पंचतृणमूल, प्रत्येक तीन कर्ष इनका क्वाथ, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, मुलैहठी, नीलकमल, प्रपौण्डरीक (कमल) जीवन्ती, मेदा, पर्पटक, फालसा, शतावरी, सैन्धव, इन्द्रजौ, खस, पद्माख, कसेरू, इनका कल्क, शर्करा तीनपल, घी, मधु, दूध में इनको घोलकर तीक्ष्ण एवं अम्ल द्रव्यों को छोड़कर बनाई शीतल बस्ति देने पर गुल्म (रक्त या पित्त गुल्म) रक्तप्रदर, हृदयरोग, पाण्डुरोग, विषमज्वर, रक्तपित्त, अतिसार और पित्तजन्य रोगों को नष्ट करती है ॥५५-५९॥

भद्रानिम्बकुलत्थार्ककोशातक्यमृतामरैः।
सारिवाबृहतीपाठामूर्वारग्वधवत्सकैः ॥६०॥
क्वाथः, कल्कस्तु कर्तव्यो वचामदनसर्षपैः।
सैन्धवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥६१॥
कटुतैलमधुक्षारमूत्रतैलाम्लसंयुतैः।
कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापाण्डुमेहिनाम् ॥६२॥
मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम्।
गलगण्डगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥६३॥

कट्फल, नीम, कुलत्थी, आक, तुरई, गिलोय, देवदारु, सारिवा, कटेरी, पाठा, मूर्वा, अमलतास, इन्द्रजौ इनका क्वाथ, बच, मैनफल, सरसों, सैन्धव, देवदारु, इलायची, कूट, पिप्पली, बिल्व, सोंठ, इनका कल्क, सरसों का तेल, मधु, यवक्षार, मूत्र, तैल, कांजी इनसे बनाया आस्थापन देने पर शीघ्र ही कामला, पाण्डु, प्रमेह को नष्ट करता है। मेदस्वी, अग्निमान्द्य रोगी, कफरोग से पीड़ित, भोजन में अरुचिवाले गलगण्ड, गर, ग्लानि, श्लीपद और उदररोगियों के लिये उत्तम है ॥६०-६३॥

दशमूलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः।
कथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैन्धवदारुभिः ॥६४॥
पाठामागधिकेन्द्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः।
कुर्यादास्थापनं सम्यङ्मूत्राम्लफलयोजितैः ॥६५॥
कफपाण्डुगदालस्यमूत्रमारुतसंगिनाम्।
आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मकृमिविकारिणाम् ॥६६॥

दशमूल, हल्दी, बिल्व, पटोल, त्रिफला, देवदारु, इनका क्वाथ, मुस्ता, सैन्धव, दारुहल्दी, पाठा, पिप्पली, इन्द्रजौ इनका कल्क, तैल, क्षार, मधु, मूत्र, खट्टे फल (बिजौरे का रस) मिलाकर बनाया आस्थापन कफ, पाण्डुरोग, आलस्य, मूत्रावरोध, वायुरोध, आम, आध्मान, अपची, कफगुल्म, कृमि रोगों को नष्ट करता है ॥६४-६६॥

वृषाश्मभेदवर्षाभूधान्यगन्धर्वहस्तकैः।
दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः ॥६७॥
कुलत्थबिल्वभूनिम्बैः क्वथितैः पलसंमितैः।
कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वषड्ग्रन्थामरसर्षपैः ॥६८॥
पिप्पलीमूलसिन्धूत्थयवानीमिसिवत्सकैः।
क्षौद्रेक्षुक्षीरगोमूत्रसर्पिस्तैलरसाप्लुतैः ॥६९॥
तूर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्टबहुरोगिणाम्।
गृध्रसीशर्कराष्ठीलातूनीगुल्मगदापहम् ॥७०॥

वासा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, धनिया, एरण्ड, दशमूल, बला, मूर्वा, जौ, बेर, शटी, कुलत्थी, बिल्व, चिरायता एक एक पल लेकर क्वाथ करे। मैनफल, मुलैहठी, वच, देवदारु, सरसों, पिप्पलीमूल, सैन्धव, अजवायन, सौंफ, इन्द्रजौ, इनको एक-एक पल लेकर इनका कल्क, मधु, ईख का रस, दूध, गोमूत्र, घी, तैल, मांसरस घोलकर बनाया आस्थापन दोषों के संसर्ग एवं सन्निपातजन्य रोगों में देना चाहिये। इससे गृध्रसी, शर्करा, अष्ठीला, तूनी, गुल्मरोग नष्ट होते हैं ॥६७-७०॥

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः।
त्रायमाणामृतारक्तापञ्चमूलीबिभीतकैः ॥७१॥
सबलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः।
यष्ट्याह्वमिसिसिन्धूत्थफलिनीन्द्रयवाह्वयैः ॥७२॥
रसाञ्जनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः।
युक्तो बस्तिः सुखोष्णोऽयं मांसशुक्रबलौजसाम् ॥७३॥
आयुषोऽग्नेश्च संस्कर्ता हन्ति चाशु गदानिमान्।
गुल्मासृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान् ॥७४॥
विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुण्डलीम्।
जानुजङ्घाशिरोबस्तिग्रहोदावर्तमारुतान् ॥७५॥
वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचीः।
रक्तपित्तकफोन्मादप्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान् ॥७६॥

रास्ना, अमलतास, पुनर्नवा, कुटकी, खस, मुस्ता, त्रायमाण, गिलोय, मजीठ, बृहत्पंचमूल, बहेड़ा, बला, एक-एक

पल लेकर क्वाथ करे। मैनफल, मुलैहठी, सौंफ, सैन्धव, प्रियंगु, इन्द्रजौ, रसौत, मांसरस, मधु, द्राक्षा, सौवीर (कांजी) इनको मिलाकर दी गई गरम सुहाती बस्ति मांस, शुक्र, बल, ओज, आयु, अग्नि को बढ़ाती है और गुल्म, रक्तप्रदर, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, उरःक्षत, क्षय, विषमज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुण्डलिका को नष्ट करती है। जानु-जंघा-शिर बस्ति का पकड़ा जाना, उदावर्त्त, वायु, वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला, कुक्षिशूल, उदर, अरुचि, रक्तपित्त, कफोन्माद, प्रमेह, आध्मान, हृद्ग्रह को नष्ट करती है।

वक्तव्य—यहाँ पर स्नेह नहीं कहा है, फिर भी मिलाना चाहिये। यथा—"स्नेहो गुडो मांसरसः पयांसि साम्लानि मूत्रं मधु सैन्धवं च। एते निरूहे विदुषा प्रयोज्याः क्वाथश्च कल्को मदनात् फलं च॥ हारीतः।७१-७६।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथाः सैन्धवत्रिवृतायुताः।
साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्बस्तयः कुपितेऽनिले॥

वायु के कुपित होने पर भद्रदार्व्यादि वातघ्न औषधियों के क्वाथ में सैन्धव, निशोथ, कांजी मिलाकर सुहाती हुई गरम बस्तियाँ देनी चाहिये ॥७७॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथाः काकोल्यादिसमायुताः।
विधेया बस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः॥७८॥

पित्त में न्यग्रोधादिगण के क्वाथ में काकोल्यादिगण का कल्क, घी, और शर्करा मिलाकर बस्तियाँ (शीतल) देनी चाहिये ॥७८॥

आरग्वधादिनिष्क्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे॥७९॥

कफ के कुपित होने पर आरग्वधादि गण के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण का प्रक्षेप देकर मधु और गोमूत्र मिलाकर सुहाती गरम बस्तियाँ देनी चाहिये ॥७९॥

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः।
क्षीरवृक्षकषायाढ्या बस्तयः शोणिते हिताः॥८०॥

रक्त में—न्यग्रोधादि वृक्षों के क्वाथ में शर्करा, ईख का रस, दूध, घी मिलाकर दी गई अतिशीतल बस्तियाँ उत्तम हैं ॥८०॥

शोधनद्रव्यनिष्क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैन्धवैः।
युक्ताः खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः॥८१॥

शोधन बस्तियाँ—वमन, विरेचन में कहे हुए शोधन द्रव्यों के क्वाथ में, इन्हीं द्रव्यों का कल्क, स्नेह, सैन्धव मिलाकर, मन्थनदण्ड से मथकर बनाई बस्ति शोधनबस्तियाँ हैं ॥८१॥

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः।
ऊषकादिप्रतीवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः॥८२॥

त्रिफला का क्वाथ, गोमूत्र, मधु, क्षार, इनके साथ ऊषकादिगण का प्रक्षेप देकर बनाई बस्तियाँ लेखन कही जाती हैं ॥८२॥

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः।
सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः॥८३॥

विदारीगन्धादि बृंहण द्रव्यों के क्वाथ में काकोल्यादि का प्रक्षेप देकर, मांसरस, घी मिलाकर बनाई गई बस्तियाँ बृंहण हैं ॥८३॥

चटकाण्डोच्चटाक्वाथाः सक्षीरघृतशर्कराः।
आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम्॥८४॥

चिड़ियों के अण्डे, उच्चटा (श्वेत घुँघची) का क्वाथ, इसमें दूध, घी, शर्करा और कौंच के फल का कल्क मिलाकर बनाई बस्तियाँ वाजीकर कही हैं ॥८४॥

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनाङ्कुराः।
क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छिलसंज्ञिताः॥८५॥
वाराहमाहिषौरभ्रबैडालैणेयकौक्कुटम्।
सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु॥८६॥

पिच्छाबस्ति—बेर, नागबला, लसूड़ा, सिम्बल, धामन इनके कोमल पत्ते, इनको तीन-तीन पल लेकर चौबीस पल दूध में चौगुना जल मिलाकर दूध मात्र शेष रक्खे। इसमें रुधिर मिलाकर बस्ति देवे। यह पिच्छिलबस्ति है। पिच्छिलबस्तियों में–सुअर, भैंस, मेढ़ा, बिल्ली, हरिण, मुर्गा अथवा बकरा इनको तुरन्त का ताजा रक्त पिच्छिलबस्तियों में मिलाना चाहिये॥

प्रियङ्ग्वादिगणक्वाथा अम्बष्ठाद्येन संयुताः।
सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो बस्तयः स्मृताः॥८७॥

प्रियंगु आदि द्रव्यों के गण के क्वाथ में अम्बष्ठादिगण का प्रक्षेप मिलाकर-मधु और घृत डालकर बनाई बस्तियाँ ग्राही हैं ॥८७॥

एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक् पृथक्।
समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेहबस्तयः॥८८॥

इन्हीं उपर्युक्त योगों में पृथक् पृथक् सिद्ध किये स्नेह या इनको मिलाकर इनसे सिद्ध किया स्नेह बस्तियों के रूप में भी भली प्रकार देना चाहिये ॥८८॥

वन्ध्यानां शतपाकेन शोधितानां यथाक्रमम्।
बलातैलेन देयाः स्युर्बस्तयस्त्रैवृतेन च॥८९॥

वन्ध्या स्त्रियों का वमन विरेचनादि से शोधन करके शतपाक किये बलातैल से या त्रैवृत स्नेह से (घी, तैल, वसा से) बस्ति देनी चाहिये। (त्रैवृत स्नेह महाव्याधि में, बलातैल मूढगर्भचिकित्सा में कहा है। डल्हण शतपाकतैल से अलग बस्ति मानता है, वातव्याधि में कहा शतपाकतैल बरतने को कहता है। परन्तु शतपाक, बलातैल उत्तम है) ॥८९॥

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं बस्तिं निधापयेत्।
मध्यमं मध्यसत्त्वस्य विपरीतस्य वै मृदुम्॥९०॥

उत्तम सत्त्ववाले मनुष्य में तीक्ष्णबस्ति देवे। मध्यमसत्त्ववाले में मध्यम और हीनसत्त्ववाले में मृदु बस्ति देवे ॥९०॥

एवं कालं बलं दोषं विकारं च विकारवित् ।
बस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य बस्तीन् प्रयोजयेत् ॥९१॥

इसी प्रकार समय, बल, दोष, रोग, बस्तिद्रव्य के बल को देखकर रोग को समझनेवाला वैद्य बस्तियाँ देवे ॥९१॥

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः ।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥९२॥

बुद्धिमान् पहले दोषों को उत्क्लेश करनेवाली बस्ति देवे, मध्य में दोषनाशक और अन्त में संशमनीय बस्ति देवे ॥९२॥

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा ।
हपुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥९३॥
शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च ।
सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥९४॥
प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम् ।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः परः ॥९५॥

एरण्डबीज, मुलैहठी, पिप्पली, सैन्धव, वच, हाऊबेर, मैनफल, इनके कल्कवाली बस्ति उत्क्लेशक कही है । सौंफ, मुलैहठी, इन्द्रजौ, मैनफल, कांजी, गोमूत्रवाली बस्ति दोषहर है । प्रियंगु, मुलैहठी, मुस्ता, रसौंत और दूधवाली बस्ति दोषों का शमन करती है ।९३-९५।

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि ।
नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि ॥९६॥
दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च ।
समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम् ॥९७॥
यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र नोच्यते ।
फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसंभवः ॥९८॥
योऽयस्त्वतः सुखेनैव निरूहक्रममिच्छता ।
यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता ॥९९॥

राजाओं या राजाओं के समान वैभवशाली बड़े पुरुषों के लिये, स्त्रियों के लिये, नाजुक प्रकृति एवं बालक तथा वृद्धों के दोषों को निकालने के लिये, बल-वर्ण को बढ़ाने के लिये संक्षेप में माधुतैलिक बस्तियों की विधि कहूँगा । इन बस्तियों में—सवारी, स्त्री-सेवन, भोजन आदि का कोई परहेज नहीं है । फल भी बहुत अधिक है और हानियों के होने की सम्भावना नहीं है । इसलिये निरूह विधि को चाहनेवाले सुखपूर्वक इनका व्यवहार कर सकते हैं । बुद्धिमान् जब चाहे, तब इनको बरत सकता है (इनमें शोधनविधि आवश्यक नहीं) ॥९६-९८॥

मधुतैले समे स्यातां क्वाथश्चैरण्डमूलजः ।
पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च ॥१००॥
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः ।
देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः ॥१०१॥

मधु और तैल परस्पर समान (चार प्रसृत, दो कर्ष), एरण्डमूल का क्वाथ भी चार प्रसृत और दो कर्ष, सौंफ आधा पल, सैन्धव एक कर्ष, मैनफल-एक संख्या में यह नौ प्रसृत बनाकर मन्थनदण्ड से मथकर—सुहाती गरम बस्ति वैद्य देवे । इनका नाम माधुतैलिक है । (गयी ने 'फलेनैकेन संयुक्तः' पाठ दिया है । इससे मांसरस, कांजी आदि मिलाते हैं) ॥१००,१०१॥

वचामधुकतैलं च क्वाथः सरससैन्धवः ।
पिप्पलीफलसंयुक्तो बस्तिर्युक्तरथः स्मृतः ॥१०२॥

बच, सैन्धव, पिप्पली, मुलैहठी, मैनफल प्रत्येक एक कर्ष, मधु और तैल चार प्रसृत, एरण्ड का क्वाथ चार प्रसृत, इनको मिलाकर बनाई बस्ति युक्तरथ है । (जब चाहे तब दे सकते हैं, रथ के तैयार जुड़ा होने पर भी दी जा सकती है) ॥१०२॥

सुरदारु वरा रास्ना शतपुष्पा वचा मधु ।
हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥१०३॥

देवदारु, त्रिफला, रास्ना, सौंफ, बच, मधु, हींग, सैन्धव से मिलाकर बनाई बस्ति दोषहर है ॥१०३॥

पञ्चमूलीकषायं च तैलं मागधिका मधु ।
बस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैन्धवः ॥१०४॥

बृहत्पञ्चमूल के कषाय में तैल, पिप्पली, मधु, सौंफ, सैन्धव मिलाकर बस्ति देवे ॥१०४॥

यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु ।
ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥१०५॥

जौ, बेर, कुलत्थी का क्वाथ, पिप्पली, मधु, सैंधव, मुलैहठी इनसे बनी बस्ति सिद्ध बस्ति है ॥१०५॥

मुस्तापाठामृतातिक्ताबलारास्नापुनर्नवाः ।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान् ॥१०६॥
पालिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम् ।
जलाढके पचेत् क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत् ॥१०७॥
क्षीरार्धाढकसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम् ।
पादेन जाङ्गलरसस्तथा मधुघृतं समम् ॥१०८॥
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः ।
कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः ॥१०९॥
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्रविबन्धनुत् ।
विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः ॥११०॥
बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः ।
यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः ॥१११॥

यापन बस्ति—मुस्ता, पाठा, गिलोय, कुटकी, बला, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास, खस, त्रायमाण, गोखरू, बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल प्रत्येक एक पल, मैनफल, संख्या में आठ लेकर एक आढ़क जल में क्वाथ करे । चौथाई शेष रहने पर छान ले । इसमें दूध आधा आढक मिलाकर फिर पकाये । दूध मात्र रह जाने पर इसमें चौथाई, जांगलपशु-पक्षियों का मांसरस, मधु, और घृत (छः पल), सौंफ, प्रियंगु, मुलैहठी, इन्द्रजौ, रसौत से प्रत्येक एक कर्ष कल्क रूप में और सैन्धव मिलाकर बस्ति देवे । यह वातरक्त, प्रमेह, शोफ, अर्श, गुल्म, मूत्रावरोध, विसर्प, ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त को नष्ट करती है । बलदायक,

जीवनदायी, वृष्य, चक्षुष्य, शूलनाशक है। यह मुस्तादिक यापन बस्ति सबमें श्रेष्ठ है ॥१०६-१११॥

अवेक्ष्य भेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित्।
बीजेनानेन शास्त्रज्ञः कुर्याद्बस्तिशतान्यपि ॥११२॥

रोग को समझनेवाला वैद्य बुद्धि से औषध और रोग को समझकर इस बीज रूप न्याय से सैकड़ों बस्तियों को बनाये। ('बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्कः-च०) ॥११२॥

अजीर्णे न प्रयुञ्जीत दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
आहाराचारिकं शेषमन्यत् कामं समाचरेत् ॥११३॥

अजीर्ण में बस्ति न देवे। बस्ति लेने पर दिन में न सोये। शेष आहार-आचार विधान का यथेच्छानुसार पालन करे॥

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।
माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्बस्तिरुच्यते ॥११४॥
रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥११५॥
बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ॥११६॥
सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाश्च ये नराः।
मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ॥११७॥

क्योंकि मधु और तैल इनमें मुख्यतः दिये जाते हैं, इसलिये वैद्य इनको 'माधुतैलिक कहते हैं। जुड़े हुए तैयार रथों के तैयार घोड़े, तथा हाथी के होने पर भी इनका उपयोग किया जा सकता है, इसलिये इनको युक्त रथ कहते हैं। सैकड़ों रोगों में इनसे बल, वर्ण और पुष्टि में सिद्धि मिलती है, इसलिये इनको सिद्धबस्ति कहते हैं। जो मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत करते हों, थोड़े दोषवाले हों; और जो नित्य स्निग्ध रहते हों, जो मृदु कोष्ठवाले हों, उनमें माधुतैलिक बस्तियाँ बरतनी चाहिये॥

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात्।
एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा ॥११८॥

∵ सिद्धबस्तियों के कोमल होने से, इसमें पादहीन होने से, वमनादि सम्पूर्णविधि का सेवन न करने से और केवल एक ही बस्ति दिये जाने के कारण सिद्ध बस्तियों में किसी प्रकार का परहेज नहीं रहता ॥११८॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निरूहक्रम-
चिकित्सितं नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथात आतुरोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे आतुरोपद्रवचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः।
निरूढस्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥३॥
सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तः प्रशाम्यति।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ॥४॥
स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धुक्षित इवानलः ॥५॥

स्नेहपान किये, वमन किये, विरेचन लिये, रक्तमोक्षण करवाये पुरुष की और निरूह लिये व्यक्ति की कायाग्नि मन्द हो जाती है। यह अग्नि अतिशय भारी अन्न के सेवन से शान्त हो जाती है जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि बड़ी २ बहुत सी लकड़ियों के डालने से बुझ जाती है। और यही अग्नि थोड़े, एवं लघु अन्न के सेवन से तीव्र हो जाती है, जिस प्रकार बाह्य अग्नि सूक्ष्म और थोड़ी लकड़ियों से बढ़ जाती है। इसी से कहा है:—

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण। महान्स्थिरः सर्वसहस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः॥ च० सि० अ० १ ॥१२॥३-५॥

हृतदोषप्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः।

दोषों के निकलने के अनुसार सदा आहार विधि कही है।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च, यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायाः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥ च० सि० अ० १।११॥

त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाढकम् ॥६॥
तत्रावरं प्रस्थमात्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे।

यहाँ पर तीन माप हैं। यथा—प्रस्थ, आधा आढक और आढक। इनमें प्रस्थ अवर माप, आधा आढक मध्य माप, और आढक उत्तम माप है। (प्रस्थ यहाँ पर साढ़े तेरह पल का लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—जिस परिमाण में विरेचन में दोष (पुरीष के अतिरिक्त द्रव) निकलें उसके अनुसार आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। उत्तम कोटि के विरेचन में एक आढक, मध्यम कोटि के विरेचन में आधा आढक और अवर कोटि के विरेचन में १ प्रस्थ दोष निकल जाना चाहिये। परन्तु कुछ आचार्यों का कथन है कि वह विरेचन उत्तम कोटि का माना जाता है जिसके अन्त में कफ का निःसरण हो भले ही एक ही विरेचन में कफ का निःसरण हो जाय (देखिये श्लो० १६) और कुछ आचार्यों का कथन है कि हीन कोटि के विरेचन में १०, मध्यम कोटि के विरेचन में २० और उत्तम कोटि के विरेचन में ३० वेग (वार विरेचन होना) माने जाते हैं। (द्रे० च०

सि० अ० १ श्लो० १४)। इन तीनों में कफान्त विरेचन का सिद्धान्त सर्वोत्तम प्रतीत होता है क्योंकि वह निर्विवाद है ॥६॥

प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतण्डुला ॥७॥
द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते।
विलेपीमुचितादूभक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः ॥८॥
दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्।
अस्निग्धलवणं स्वच्छमुद्गयूषयतं ततः ॥९॥
अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्।
ततस्तु कृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना ॥१०॥
त्रीनंशान् वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदु।
ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः ॥११॥
लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः।

प्रस्थविरेचन में थोड़े से चावलों से बनाई (अष्टांश तण्डुल) यवागू देनी चाहिये (यह यवागू पेया एक बार देनी चाहिये) और आधे आढक विरेचन में यवागू दो बार देनी चाहिये। एक आढक विरेचन में सिद्ध यवागू तीन बार (तीन समय) देनी चाहिये। अभ्यास किये रोज के भोजन से चौथाई भाग से बनाई विलेपी देवे। यह विलेपी अच्छी प्रकार गलायी कणियोंवाली एवं चावल रहित होनी चाहिये इसके उपरान्त बिना स्नेहन और लवण के स्वच्छ (पतले) मूंग के यूष के साथ अच्छी प्रकार गलाया हुआ भात, प्रतिदिन के भोजन की आधी मात्रा में देवे। इसके आगे कृतसंज्ञक यूष (स्नेह, नमक आदि से बघारे संस्कृत) जो कि मन को प्रिय एवं इन्द्रियों को जाग्रत करनेवाला हो, उस यूष के साथ नरम भात प्रतिदिन के भोजन का ¾ तीन चौथाई भाग रोगी को दे। इसके बाद चतुर वैद्य रोगी को भोजन, बटेर, हरिण, चित्रितहरिण आदि के भली प्रकार संस्कृत मांसरस के साथ खाने को देवे।

वक्तव्य—यवागू—"सिक्थकैरहितो मण्डो पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्था स्यात् विलेपी विरलद्रवा॥" कृतयूष—"अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं स्नेहलवणकटुकैः संस्कृतं कृतमिति॥" चरक में प्रथम तीन अन्न कालों में पेया, दूसरे तीन कालों में विलेपी, तीसरे तीन अन्न कालों में कृता-कृतयूष, चौथे तीन कालों में कृत-कृतरस, इस प्रकार बारह अन्न कालों में अर्थात् सातवें दिन साधारण भोजन पर आ जायेगा। इसके अतिरिक्त—"अथैनं सायाह्ने परे वाह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य च। एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथा विधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नानां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले। सप्तमे त्वन्नकाले तथा विधानामेवं शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्। एवमष्टमे नवमे चान्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेनापि सारवता भोजयेत् उष्णोदकानुपानम्। एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले। अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्॥" चरक सू० अ० १५ ॥७-११॥

हीनमध्योत्तमेष्वेषु विरेकेषु प्रकीर्तितः ॥१२॥
एकद्वित्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमस्त्वयम्।

एक प्रस्थ विरेचन हीनविरेचन है, इसमें पेया क्रम एक एक अन्न काल में देना चाहिये। आधा आढक विरेचन मध्यविरेचन है। इसमें पेयादिक्रम दो दो अन्न काल दे। आढक विरेचन उत्तमविरेचन है, इसमें पेयादिक्रम तीन तीन अन्नकाल तक देवे ॥१२॥

कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान् हीनविशोधितान् ॥१३॥
पेयाऽभिष्यन्दयेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

कफ-पित्त की अधिकतावाले, नित्य मद्यपान करनेवाले, ठीक प्रकार से जिनका शोधन नहीं हुआ उनमें पेया अभिष्यन्द (स्रोतों में कफ वृद्धि) उत्पन्न करती है। इसलिये इनमें तर्पणादिविधि बरते। (तर्पणलाजा के सत्तु से बनाया तर्पण दे) ॥१३॥

वेदनालाभनियमशोकवैचित्त्यहेतुभिः ॥१४॥
नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत्।

वेदना, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, उपवासादि नियम, शोक, उन्माद आदि मानसिक कारण से उपवास किये या कृश हुए पुरुषों को विरेचन दिये हुए की भाँति चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—लङ्घन के पश्चात् भी जब आहार देने का समय आवे तब-विरेचनोक्त विधि से पेया-विलेपी आदि की व्यवस्था करे ॥१४॥

आढकार्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने ॥१५॥
श्लेष्मान्तत्वाद्विरेकस्य न तामिच्छन्ति तद्विदः।
एको विरेकः श्लेष्मान्तो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ॥१६॥

आढक, आधा आढक और प्रस्थ यह मात्रा विरेचन के विषय में है। परन्तु विरेचन को समझनेवाले इसको नहीं मानते, क्योंकि कफ का आना ही विरेचन की उत्तमता है (विरेचन में पहले पित्त आता है, पित्त के निकलने के उपरान्त दूरस्थ आम रूपी कफ आता है)। कफ का आना ही एक (मुख्य) विरेचन है, दूसरे विरेचन की क्या बात ?॥

कहा भी है—"तस्मान्मतिमता नित्यमात्मानं परिरक्षता। पित्तान्तं वमनं स्थाप्यं कफान्तं च विरेचनम्॥" १५,१६॥

बलं यत्त्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा।
तत्रानुक्रममेकं तु बलस्थः सकृदाचरेत् ॥१७॥

द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन् वारान् दुर्बलस्तथा ।
केचिदेवं क्रमं प्राहुर्मन्दमध्योत्तमाग्निषु ॥१८॥

क्योंकि बल प्रवर, मध्य और अवर भेद से तीन प्रकार का कहा है, इसलिये आहार क्रम भी तीन प्रकार का है। बलवान् मनुष्य एक अनुक्रम को एक ही बार बरते। मध्यम बलवाला दो बार और दुर्बल मनुष्य तीन बार बरते। कई आचार्य इस विधि को मन्दाग्नि, मध्यमाग्नि और उत्तमाग्नि के विचार से मानते हैं ॥१७,१८॥

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्भजेत् ।
प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः ॥१९॥
स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम् ।
स्निग्धरूक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत्ततः ॥२०॥

पेयादि अन्न संसर्जन क्रम से बढ़ी हुई अग्नि में दोषों के कुपित होने के भय से प्रथम मधुर, तिक्त, स्निग्ध, अम्ल, लवण, कटु रस खाये। पीछे मधुर, अम्ल, लवण रसों को, फिर मधुर और तिक्त को, इसके बाद स्निग्ध, रूक्ष को अदल-बदलकर खाये। इससे आगे स्वस्थ की भाँति बरते।

कहा भी है—"दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः॥ अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत्॥ वृद्धवाग्भट्ट।" अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद् भिषक्॥ चरक।

वि० मन्तव्य—पेया विलेपी आदि आहार कल्पना का नाम "संसर्गक्रम" तथा "संसर्जन क्रम" है। इस क्रम से जठराग्नि का सन्धुक्षण होने पर प्राकृतिक आहार देना प्रारम्भ करे॥

केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम् ।
स सप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम् ॥२१॥

जिसने केवल स्नेह ही पीया हो अथवा केवल वमन ही किया हो, वह मनुष्य सात दिन केवल लघु भोजन ही करे ॥२१॥

कृतः सिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम् ।
स ना परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान् भवेत् ॥२२॥

जिसने सिरावेध कराया हो, जिसको विरेचन दिया गया हो, ऐसे मनुष्य एक मास तक या जब तक बलवान् न हों, क्रोध आदि को छोड़ देवें ॥२२॥

त्र्यहं त्र्यहं परिहरेदेकैकं बस्तिमातुरः ।
तृतीये तु परीहारे यथायोगं समाचरेत् ॥२३॥

रोगी एक एक अनुवासनवस्ति लेकर—तीन तीन दिन तक क्रोध आदि परहेज का पालन करे। तीसरे परहेज के पालने के उपरान्त जैसा ठीक जँचे, वैसा करे। (दूसरे कहते हैं कि अग्नि बल आदि का विचार करके चार-पाँच दिन के पीछे जब ठीक समझे तब अनुवासन दे।) ॥२३॥

तैलपूर्णामभृद्भाण्डसधर्माणो व्रणातुराः ।
स्निग्धशुद्धाक्षिरोगार्ता ज्वरातीसारिणश्च ये ॥२४॥

व्रणरोगी, स्निग्धशरीर, शुद्धशरीर, आँख के रोगी, ज्वर और अतिसाररोगी ये तैल से भरे पात्र की भाँति (जरा झटका लगने से गिरनेवाले) एवं मिट्टी के कच्चे बर्तन की भाँति (शीघ्र टूटनेवाले) होते हैं।

यथैव तरुणं पूर्णं तैलपात्रं तथैव च। गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः॥ शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेद्॥
चरक सि० अ० १२-४-५ ॥२४॥

क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान् ।
आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति ॥२५॥
मथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः ।
आक्षेपकं पक्षघातमङ्गप्रग्रहमेव च ॥२६॥
गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ ।
रुधिरं शुक्रवच्चापि सरजस्कं प्रवर्तते ॥२७॥
लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान् व्याधीन् कफात्मकान् ।
प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पाण्डुतां श्वयथुं ज्वरम् ॥२८॥
मोहं सदनमङ्गानामविपाकं तथाऽरुचिम् ।
तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनन्दति ॥२९॥
उच्चैः संभाषणाद्वायुःशिरस्यापादयेद्रुजम् ।
आन्ध्यं जाड्यमजिघ्रत्वं बाधिर्यं मूकतां तथा ॥३०॥
हनुमोक्षमधोमन्थमर्दितं च सुदारुणम् ।
नेत्रस्तम्भं निमेषं वा तृष्णां कासं प्रजागरम् ॥३१॥
लभते दन्तचालं च तांस्तांश्चान्यानुपद्रवान् ।
यानयानेन लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान् ॥३२॥
तथैवाङ्गग्रहं घोरमिन्द्रियाणां च विभ्रमम् ।
चिरासनात्तथा स्थानाच्छ्रोण्यां भवति वेदना ॥३३॥
अतिचङ्क्रमणाद्वायुर्जङ्घयोः कुरुते रुजः ।
सक्थिप्रशोषं शोफं वा पादहर्षमथापि वा ॥३४॥
शीतसंभोगतायानां सेवा मारुतवृद्धये ।
ततोऽङ्गमर्दविष्टम्भशूलाध्मानप्रवेपकाः ॥३५॥
वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात् ।
विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति ॥३६॥
असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसंशयम् ।
अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥३७॥

क्रोध करने पर कुपित हुआ पित्त, दाह, प्यास आदि पित्तजन्य उपद्रवों को करता है। परिश्रम करने से या सोचने से चित्त विभ्रम उत्पन्न होता है। स्त्री सेवन करने पर भयानक रोग, आक्षेपक, पक्षाघात, अंगों का जकड़ा जाना, गुह्यभाग में शोथ, भयानक कास, श्वास, नारी का शुक्र की

भाँति रक्त अथवा रज (आर्त्तव) आता है। दिन में सोने से कफजन्य रोग, प्लीहोदर, प्रतिश्याय, पाण्डु, शोथ, ज्वर, मोह, अङ्गों की शिथिलता, अविपाक, अरुचि होती है। जो रोगी सोना ही पसन्द करता है, वह तमोगुण से अभिभूत हो जाता है। ऊँचे बोलने से वायु शिर में दर्द उत्पन्न करती है, तथा अन्धापन, जड़ता, गन्धनाश, बधिरता, गूँगापन, जवाड़े का खुला रहना, अधिमन्थ, अर्दित, नेत्रस्तम्भ, निमेषस्तम्भ, तृष्णा, कास, निद्रानाश, दाँतों का हिलना और अन्य वातजन्य उपद्रव हो जाते हैं। सवारी पर सवारी करने से वमन, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, अङ्गों का पकड़ा जाना, इन्द्रियों का विभ्रम होता है। देर तक बैठे रहने से श्रोणि में वेदना होती है। बहुत चलने से वायु जंघाओं में वेदना करती है, टाँगों का सूखना, या शोफ अथवा पादहर्ष करती है। शीतलजल तथा चन्दन आदि शीतल वस्तुओं के भोग करने से वायु की वृद्धि होती है, अङ्गों का टूटना, विष्टम्भ, शूल, आध्मान, कम्पन होता है। वायु और धूप के सेवन से विवर्णता, ज्वर भी हो जाता है। विरुद्ध एवं अध्यशन से मृत्यु या भयानक रोग होता है। असात्म्य भोजन से बल और वर्ण नष्ट होते हैं। जो असंयमी मनुष्य पशु की भाँति प्रमाण से अधिक खाते हैं वे रोग समूह के कारण अजीर्ण के शिकार बनते हैं ॥२५-३७॥

व्यापदां कारणं वीक्ष्य व्यापत्स्वेतासु बुद्धिमान्।
प्रयतेतातुरारोग्ये प्रत्यनीकेन हेतुना ॥३८॥

बुद्धिमान् वैद्य रोगी के आरोग्य के लिये व्यापत्तियों के कारण को समझकर इन व्यापत्तियों में विपरीत हेतु से प्रयत्न करे। (इन कारणों से रोगी को बचाये) ॥३८॥

विरिक्तवान्तैर्हरिणैणलावकाः
शशश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः।
सषष्टिकाश्चैव पुराणशाल्य-
स्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम् ॥३९॥

वमन एवं विरेचन किये रोगी—हरिण, एण, बटेर, खरगोश, मोर, तीतर, साँठी, पुराने चावल, मूँग और जो लघु भक्ष्य हैं, उनका सेवन करे ॥३९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने आतुरोपद्रवचिकित्सितं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे धूमनस्य कवलग्रह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—धूम, नस्य तथा कवल के ग्रहण—सेवन द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है ॥१,२॥

धूमः पञ्चविधो भवति; तद्यथा—प्रायोगिकः, स्नैहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति ॥३॥

धूम पाँच प्रकार का है, यथा—प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासघ्न और वामनीय।

वि० मन्तव्य—प्रायोगिक धूम—जो प्रतिदिन स्वस्थों द्वारा पिया जाता है यथा—स्वस्थ वृत्त में भगवान् पुनर्वसु ने कहा है "धूमपः" च० सू० अ० ८। तथा च० सू० अ० ५ में श्लो० २०–२४ तथा २७–३६। स्नैहिक धूम जो स्नेहन के लिये पिया जाता है, वैरेचनिक धूम—जो शिरोविरेचन के लिये पिया जाता है, कासघ्न—जो कास श्वास एवं स्वरभेद आदि कण्ठ रोगों में पिया जाता है, वमनीय—जो वमन के लिये पिया जाता है, इसको पीने से वमन हो जाती है। यह चार धूम—रोगियों की रोगनिवृत्ति के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। और प्रायौगिक धूम—तत्र प्रयोगः = स्वस्थस्य सततोपयोगः तत्र साधुः प्रायौगिकः, सच श्लेष्माणं उत्क्लेशयति, उक्लिष्टं च अपकर्षति, शमयति वातं, स्नेहनविरेचनाभ्यां तुल्यत्वात् इति डल्हणाचार्यः। तथा स्वयं सुश्रुतः १४ तमे सूत्रे ॥३॥

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशाङ्गुलं शरकाण्डमंगुलिपरिणाहं क्षौमेणाष्टांगुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके, स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलुप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः, स्नैहिके, शिरोविरेचनद्रव्यैर्वैरेचने, बृहतीकण्टकारिकात्रिकटुकासमर्दहिङ्गिङ्गुदीत्वङ्मनःशिलाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासघ्ने, स्नायुचर्मखुरशृङ्गकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये ॥४॥

इसके लिये एलादिगण में से कूठ और तगर को छोड़कर शेष द्रव्यों को बारीक पीसकर बारह अंगुल लम्बे और अंगुली के समान मोटे सरकण्डे पर रेशम के वस्त्र को आठ अंगुल लपेटकर—इनका लेप कर दे। यह वर्ति प्रायोगिक धूम (प्रतिदिन बरतने के) लिये है। ऐरण्ड आदि स्नेहफल, देवदारु आदि की लकड़ी (का बुरादा) मोम, राल, गुग्गुलु आदि को स्नेह में मिलाकर स्नैहिक धूम में बरते। शिरोविरेचन द्रव्य (चिरचिटे के बीज, विडंग आदि) विरेचन धूम में बरते। बड़ी कटेरी, कटेरी, त्रिकटु, कसौंदी, हींग, हिंगोट, मैनसिल, गिलोय, काकड़ाश्रृंगी आदि और कासहर वस्तुयें कासघ्न धूम में बरते। स्नायु, चर्म, खुर, सींग, कैंकड़े की अस्थि, सूखी मछली, सूखा मांस, कृमि (केंचुआ) आदि वमन करनेवाले द्रव्यों को वामनीय धूप में बरते।

वि० मन्तव्य—चरक में क्षौम–रेशम वस्त्र से लपेटने का विधान नहीं है, होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि रेशम के धूम में दुर्गन्ध होती है ॥४॥

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्रद्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। धूमनेत्रं तु कनिष्ठिकापरिणाहमग्रे कलायमात्रस्रोतो मूलेऽङ्गुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोऽङ्गुलान्यष्टचत्वारिंशत् प्रायोगिके, द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशतिर्वैरेचने, षोडशाङ्गुलं कासघ्ने वामनीये च। एतेऽपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं व्रणधूपनार्थं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहिस्रोत इति ॥५॥

धूमनेत्र को बनाने के साधन बस्तिनेत्र के समान (स्वर्ण, चाँदी, लकड़ी आदि) हैं। धूमनेत्र आगे में कनिष्ठिका अँगुली के समान मोटा, मटर के जाने योग्य स्रोत का, मूल में अँगूठे के समान मोटाई का, धूमवर्त्ति के प्रवेश होने योग्य स्रोतवाला, अड़तालीस अंगुल लम्बाई का प्रयोगिक धूम के लिये होना चाहिये। स्नेहन के लिये बत्तीस अंगुल, विरेचन के लिये चौबीस, कासघ्न धूम में सोलह, और वमनीय में भी सोलह अँगुल होना चाहिये। इनका छेद बेर की गुठली के बराबर होता है। व्रणनेत्र की लम्बाई आठ अंगुल, व्रण में धूम देने के लिये, मटर के बराबर मोटाई और छेद कुलथी के जाने योग्य होता है।

वि० मन्तव्य—जो सज्जन कहा करते हैं कि हुक्का पीना भारतीयों ने मुसलमानों से सीखा है वे इस सूत्र में बतलाई गई धूमनेत्र (धूम पान की नलिका = हुक्का, कली तथा चिलम) के निर्माण की विधि पर ध्यान दें। और सू० ६ पर भी धूमनेत्र बनाने का प्रकार भगवान् पुनर्वसु ने भी च० सू० अ० ५ में बतलाया है। व्रण में धूम देना व्रण के ६० उपक्रमों में "व्रणधूपन" नाम से बतलाया है और श्लो० ८० में विधि कही है, देखिये चि० स्था० अ० १। च० चि० अ० १७ श्लो० ७६ में 'मल्लकसम्पुटे पाठ है, भाषाविशेषज्ञ मल्लक का अपभ्रंश "चलय–चिलय" मानते हैं ॥५॥

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत् ॥६॥

मुखेन तं पिबेत् पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत्।
मुखपीतं मुखेनैव वमेत् पीतं च नासया ॥७॥
मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत्।
तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ॥८॥

विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां, नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ ॥९॥

सुखपूर्वक बैठाकर, प्रसन्न चित्त, कमर को सीधा रखकर, नीचे को देखते हुए, बिना आलस्य के, स्नेह से भिगोई—एवं अग्नि से प्रदीप्त धूमवर्त्ति को नेत्र स्रोत में लगाकर धूम पीये। पहले धूम को मुख से पीये, फिर नासिकाओं से पीये। मुख से पीये धूम को तथा नासा से पीये धूम को मुख से ही निकाले। मुख से धूम को पीकर नासिका से कभी न निकाले। क्योंकि नासा से निकालने पर दृष्टि को हानि पहुँचती है। विशेषकर प्रायोगिक धूम को नासिका से लेवे। स्नैहिक धूम को मुख और नासा से, वैरेचनिक को नासा से, कासघ्न और वमनीय धूम को मुख से ही लेवे।

वि० मन्तव्य—प्रायोगिक धूम को नासा से पीने का विधान विचारणीय है ॥६-९॥

तत्र प्रायोगिके वर्त्तिं व्यपगतशरकाण्डां निवातातपशुष्कामङ्गारेष्ववदीप्य नेत्रमूलस्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेति ब्रूयात्; एवं स्नेहनं वैरेचनिकं च कुर्यादिति। इतरयोर्व्यपेतधूमाङ्गारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्तिं मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत, प्रशान्ते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोषविशुद्धेः; एष धूमपानोपायविधिः ॥१०॥

प्रायोगिक धूम में वर्त्ति को शरकण्डे में से निकालकर, वायुरहित—एवं छाया में सुखाकर अङ्गारों से जलाकर, नेत्रमूल स्रोत में रखकर धूम पी, ऐसा रोगी को कहे। स्नेहन और वैरेचनिक धूम में भी ऐसा ही करे। कासघ्न और वमनीय धूम में—वर्त्ति के जल जाने पर धूम रहित अङ्गारों में धरकर, वर्त्ति को दृढ़ एवं भली प्रकार धरे। शराव (चिलम) में रख देवें। इसके ऊपर दूसरा शराव, जिसके मूल में छेद हो, उसे रखकर (ढाँपकर) छेद में धूमनेत्र के मूल को लगाकर धूम पीये। धूम के शान्त हो जाने पर, बची हुई वर्त्ति को फिर से रखकर धूम पीये। जबतक कि दोष का शोधन न हो जाये। यह धूम पान की विधि है।

वि० मन्तव्य—शराव आजकल का चिलम है, च० चि० अ० १८ के श्लो० ६५-७५ में भी शरावसम्पुट का विधान है॥

तत्र शोकश्रमभयामर्षौष्ण्यविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्गारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीताल्पकफाश्च न धूममासेवेरन् ॥११॥

शोक, थकान, भय, क्रोध, गरमी, विष, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, प्यास, पाण्डुरोग, तालुशोष, वमन, शिरोऽभिघात, उद्गार, अपतर्पण, तिमिर, प्रमेह, उदर, आध्मान, ऊर्ध्ववात से पीड़ित, बालक वृद्ध, दुर्बल, विरेचन लिया, आस्थापन लिया, रात का जागा, गर्भवती, रूक्ष, क्षीण, उरःक्षत, मधु-घृत-दधि-

दूध-मछली मद्य-यवागु का पान किये, अल्पकफवाले व्यक्ति धूम पान न करें ॥११॥

अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम्।
घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥१२॥

बिना समय के किया हुआ धूमपान भ्रम, मूर्च्छा, शिरोरोग, घ्राण-नेत्र-आँख-जिह्वा, इनका नाश भयानक रूप में करता है ॥१२॥

आद्यास्तु त्रयो धूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः। तद्यथा—क्षुतदन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरुषितशस्त्रकर्मान्तेष्विति। तत्र विभागो-मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरुषितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः, स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषु वैरेचनिकः, दन्तप्रक्षालनस्य स्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषु प्रायोगिक इति ॥१३॥

इनमें पहले तीन धूमों का उपयोग बारह समयों में करना चाहिये—छींक लगने पर, दातुन करने पर, नस्य लेने पर, स्नान के पीछे, भोजन कर चुकने पर, दिन में सोकर, मैथुन के पीछे, वमन करके, मल-मूत्र त्यागकर, हँसनेपर, क्रोध करने के पीछे और शस्त्रकर्म के पीछे करे। इसमें स्नैहिकधूम—मल-मूत्र त्याग कर, छींक आनेपर, हँसनेपर, क्रोध करनेपर और मैथुन के पीछे बरतें। वैरेचनिक धूम—स्नान, वमन, और दिन में सोने के पीछे बरते। प्रायोगिक धूम—दातौन करने के पीछे, नस्य, स्नान, भोजन, शस्त्रकर्म के पीछे बरते ॥१३॥

तत्र स्नैहिको वातं शमयति, स्नेहादुपलेपाच्च; वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च, प्रायोगिकःश्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षति शमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति ॥

स्नैहिकधूम स्नेह एवं उपलेप (कफवृद्धि) से वायु का शमन करता है। वैरेचनिक धूम-रूक्ष तीक्ष्ण उष्ण एवं विशद होने के कारण कफ को उत्क्लेशित करके बाहर निकालता है। प्रायोगिकधूम स्नैहिक और वैरेचनिक धूम के समान होने से कफ को उत्क्लेशित करता है, और उत्क्लिष्ट कफ को बाहर निकालता है, एवं वायु को शान्त करता है ॥१४॥

भवति चात्र—

नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः ॥१५॥

तथा कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेदमुखास्रावक्षवथुवमथुक्रथतन्द्रानिद्राहनुमन्यास्तम्भाः पीनसशिरोरोगकर्णाक्षिशूला वातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवन्ति ॥१६॥

कहा भी है—

धूम के सेवन से मनुष्य की इन्द्रियाँ और मन निर्मल बन जाते हैं। केश, दाँत, दाढ़ी-मूंछ दृढ होते हैं। मुख सुगन्धित और विशद-साफ हो जाता है। इसी प्रकार कास, श्वास, अरोचक, मुख की दुर्गन्ध, स्वरभेद, मुख का स्राव, छींक आना, (वमन), क्रथ (घर्राटे भरना या अचानक श्वास का रुकना), थूक आना, तन्द्रा, निद्रा, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, पीनस, शिरोरोग, कर्णशूल, अक्षिशूल, वात, कफजन्य मुखरोग इसको नहीं होते ॥१५,१६॥

तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोगो रोगाप्रशमनः, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यान्यतियोगो जनयति ॥१७॥

धूमपान के योग, अयोग और अतियोग जानने चाहिये। इनमें सम्यग् योग—रोग की शान्ति होना, अयोग-रोग का शान्त न होना। तालु-गले में शुष्कता, जलन, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कानों में शब्द, दृष्टिरोग, नासारोग, दुर्बलता आदि को धूम का अतियोग उत्पन्न करता है ॥१७॥

प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोषदर्शनात्, तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वमनीयः, ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति ॥१८॥

प्रायोगिक धूम में तीन-तीन घूँट खींचे, अथवा मुख और नासिका से तीन या चार घूंट ले। स्नैहिक धूम को अश्रु आने तक पीये। वैरेचनिक धूम को दोष को निकालने तक पीये। तिल एवं तण्डुल की यवागू पिलाये हुए को वमनीय धूम पिलाये। कासघ्न धूम को ग्रासों के बीच बीच में दे ॥१८॥

व्रणधूमं शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्, धूमपानाद्वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति ॥

विधिरेष समासेन धूमस्याभिहितो मया।
नस्यस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं निरवशेषतः ॥२०॥

शराव सम्पुट से नेत्रद्वारा पहुँचाए हुए व्रण धूम को व्रण में देवे। व्रण पर धूम देने से वेदना की शान्ति, व्रण में निर्मलता और स्राव बन्द होता है। धूम की यह विधि संक्षेप में मैंने कह दी है। इसके आगे नस्य की विधि को सम्पूर्णरूप में कहूँगा।

वक्तव्य—धूमपान की विस्तृत विधि चरक सूत्र० अ० पाँचवें में दी है, वहाँ देखनी चाहिये। अतिधूमपान का उपचार—"तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम्। स्नैहिके धूमजे दोषे वायुपित्तानुगो यदि। शीतं तु रक्तपित्ते स्यात् श्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ॥" सम्यक् पीत के लक्षण—"हृत्कण्ठेन्द्रियशुद्धिश्च लघुत्वं शिरसः शमः। यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ॥"१९,२०॥

औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। तद्द्विविधम्—शिरोविरेचनं, स्नेहनं च।

तद्द्विविधमपि पञ्चधा। तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शो, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च, नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च, ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमितः॥

औषध को या औषधि से सिद्ध स्नेह को नासिकाओं से दिया जाने के कारण नस्य कहा जाता है। यह नस्य दो प्रकार का है, शिरोविरेचन और स्नेहन। यह दो प्रकार का नस्य भी पाँच प्रकार का है, यथा—नस्य, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड और प्रधमन। इनमें नस्य और शिरोविरेचन मुख्य हैं। नस्य का ही भेद प्रतिमर्श है, शिरोविरेचन के भेद-अवपीड़ और प्रधमन हैं। नस्य शब्द इन पाँचों के लिये प्रयुक्त होता है ॥२१॥

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः। तत्तु देयं वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्ष्वेडतिमिर-स्वरोपघातनासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजवलीपलित-प्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति ॥२२॥

इनमें जो स्नेहन शून्यशिरवाली (खाली शिर की प्रतीति) में स्नेहन के लिये, ग्रीवा और स्कन्ध में बल लाने के लिये, अथवा दृष्टि की निर्मलता के लिये दिया जाता है, उस स्नेह में खासकर नस्य शब्द बरता जाता है। यह नस्य (स्नेह) वात से पीड़ित शिर में, दाँत-केश-श्मश्रु के गिरने में, भयानक कर्णशूल में, कर्णक्ष्वेड़ में, तिमिर, स्वरभेद (स्वर बैठना), नासारोग, मुखशोष, अवबाहुक, असमय में झुर्रियाँ या बाल श्वेत हो जाने पर, वातपित्तजन्य भयानक कष्टदायक मुखरोगों में या दूसरे रोगों में वा पित्त नाशक द्रव्यों से सिद्ध-घी, तैल, वसा या मज्जा स्नेह से नस्य देना चाहिये ॥२२॥

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धावभेदकक्रिमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति ॥२३॥

शिरोविरेचन—कफ से भरे तालु, कण्ठ, शिर में, अरोचक में, शिर के भारीपन में, शूल में, पीनस में, अर्धावभेदक में, क्रमि में, प्रतिश्याय में, अपस्मार में, गन्ध के नाश में, अन्य ऊर्ध्वजत्रुगत कफजन्य रोगों में शिरोविरेचन द्रव्यों से अथवा इनसे सिद्ध स्नेह से शिरोविरेचन नस्य देना चाहिये ॥२३॥

तत्रैतद्द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणां, अपराह्णे वातरोगिणाम् ॥

यह दोनों प्रकार का नस्य बिना भोजन कराये, भोजन के समय पूर्वाह्ण में कफ रोगियों को देना चाहिये। पित्त रोगियों को मध्याह्न में और वातरोगियों को अपराह्ण में देना चाहिये ॥

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिने प्रसारितकरचरणाय किञ्चित् प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्नामितनासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति ॥२५॥

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा ॥२६॥
एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते।
ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसंभवः ॥२७॥

शिरोविरेचन के योग्य पुरुष को, मल-मूत्र का त्याग कराके थोड़ासा भोजन किये हुए, आकाश में बादल न होने पर, दातुन और धूमपान से मुख के स्रोतों को शुद्ध करके, हाथों को अग्नि पर गरम करके उनसे गला, कपोल, माथा इनको स्वेद देकर एवं मलकर, वायु-धूप और धूल से रहित घर में रोगी को पीठ के भार चित्त लेटाकर, हाथ-पैर को सीधा फैला कर, शिर को नीचे की ओर कुछ लटकाकर, आँखों को कपड़े से ढाँपकर, बायें हाथ की प्रदेशिनी अंगुली से नासा के अग्रभाग को कुछ ऊँचा करके, स्रोत के निर्मल (सींढ रहित) होने पर, गरम पानी से गरम किये स्नेह को दक्षिण हाथ से, सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, मिट्टी के पात्र या शुक्ति में रक्खे हुए स्नेह को शुक्ति या रुई के फोये से सुहाता हुआ गरम, स्नेह को न बहुत जल्दी न रुककर, एक समान धार से नासिका में इस प्रकार डाले कि स्नेह नेत्र तक न पहुँचे। स्नेह को डालते समय रोगी सिर को न हिलाये न क्रोध करे न बोले, न छींक ले और न हंसे। ऐसा करने से स्नेह ठीक प्रकार नहीं पहुँचता। उससे कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग, अक्षिरोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—(१) 'स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने, शरद्वसन्तयोः पूर्वाह्णे, ग्रीष्मेऽपराह्णे, वर्षास्वादित्यदर्शने, पञ्चकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव ॥" संग्रहे

(२) "प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा कुर्यात्तर्पणमेव वा।
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् ॥"
प्रलम्बशिरसः किञ्चित् किञ्चत् पादोन्नतस्य च।
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् ॥
अनवाक् शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते।
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुंगे च तिष्ठति ॥

अत एवं शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः।
संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ॥
हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम्।
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि नस्तः स्नेहं यथाविधि ॥
कृते च स्वेदयेद् भूयः आकर्षेच्च पुनः पुनः।
तत्स्नेहं श्लेष्मणा सार्धं तथा स्नेहो न तिष्ठति ॥
स्वेदेनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तः कर्मण्युपस्थितः।
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्त्यायते पुनः ॥
चरक सि० अ० ६।६८-१०४

(३) दत्तमात्रे नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुसुखं मर्दयेत्। शनैः शनैः च उच्छिङ्घयात् ॥

तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः, इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः ॥२८॥

स्नेह की मात्रा आठ बिन्दु है। प्रदेशिनी अंगुली के दो पर्व स्नेह में डुबोकर उनसे निकली आठ बूंद प्रथम मात्रा है। दूसरी मात्रा शुक्ति है, तीसरी मात्रा पाणिशुक्ति (६४ बूंद) है। ये तीन मात्रायें बल के अनुसार देनी चाहिये। (प्रथम मात्रा दोनों नासा में १६, मध्यम-३२, उत्तम ६४ है) ॥२८॥

स्नेहनस्यं नोपगिलेत्कथंचिदपि बुद्धिमान् ॥२९॥
श्रृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा।
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन् ॥३०॥

बुद्धिमान् मनुष्य स्नेह नस्य को किसी प्रकार भी न निगले। यह स्नेह नस्य श्रृंगाटक मर्म तक फैलकर मुख से निकल जाता है। कफ के उत्क्लेशित होने के भय से इसको वाम-दक्षिण पार्श्व में बिना रोके थूक देवे।

वक्तव्य—कहीं कहीं नासिका से स्नेह पान भी है, यथा—क्षीणं मांसं बलं यस्य वातार्त्तिश्चोर्ध्वजत्रुजा। सुदीप्ताग्निः स्नेहसात्म्यः स नस्यं नासया पिबेत् ॥ धातूंश्च तर्पयेद्देहे पीतं नस्यं तु नस्यतः ॥ (२) अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोः निष्ठीवेत्। एकपार्श्वष्ठीवने न सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग् व्याप्यायन्ते ॥

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत, भोजयेच्चैनमभिष्यन्दि, ततोऽस्याचारिकमादिशेत्, रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत् ॥३१॥

नस्य देने के उपरान्त फिर से गले, कपोल आदि पर स्वेद देकर धूम का सेवन करे। इसको अभिष्यन्दि भोजन देवे। इसके पीछे इसको आचारिक (नियम पालन) कर्म बताये। धूल, धूम, स्नेह, धूप, मद्य, द्रवपान, शिरः स्नान, बहुत सवारी, क्रोध आदि को छोड़ देवे ॥३१॥

तस्य योगातियोगायोगानामिदं विज्ञानं भवति ॥३२॥
लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नं प्रबोधनम्।
विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनःसुखम् ॥३३॥
कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः।
लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत् ॥३४॥
अयोगे वातवैगुण्यमिन्द्रियाणां च रूक्षता।
रोगाशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत् ॥३५॥

नस्य के योग, अतियोग, अयोग, के लक्षण ये हैं। नस्य के सम्यग् योग में शिर में लघुता, सुख से सोना, नींद आना और जागना, रोगों की शान्ति, इन्द्रियों की निर्मलता, मन का सुख होता है। शिर का अतिस्नेहन होने से-कफ का गिरना, शिर में भारीपन, इन्द्रियों का विभ्रम होता है। इसमें रूक्ष उपचार करे। अयोग में—वायु की विपरीतगति, इन्द्रियों की रूक्षता, रोग का शान्त न होना होता है, इसमें पुनः नस्य देना चाहिये ॥३२-३५॥

चत्वारो बिन्दवः षड् वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम्।
शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत् ॥३६॥

शिरोविरेचन स्नेह की मात्रा चार, छै या आठ बूंद (प्रतिनासापुट के लिये) है, इनको बल के अनुसार बरतना चाहिये ॥३६॥

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः।
शुद्ध (द्धि) हीनातिसंज्ञानि विशेषाच्छास्त्रचिन्तकैः ॥३७॥
लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥३८॥
कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम ॥३९॥
मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते ॥४०॥
हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत्।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् ॥४१॥
(एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः।
एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते ॥४२॥
मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः।
द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता) ॥४३॥

शास्त्रचिन्तकों ने प्रयोग की दृष्टि से नस्य के तीन लक्षण शुद्ध, हीन और अतियोग रूप से कहे हैं। शुद्धि के लक्षण—शिर में लघुता, स्रोतों की निर्मलता, रोग की शान्ति, मन और इन्द्रियों की निर्मलता, यह शिर की शुद्धि का लक्षण है। हीन शुद्धि में स्रोतों में कण्डू, मल (कफ) वृद्धि, भारीपन, कफ का बहना, शिर का हीन शोधन होने पर ये लक्षण होते हैं। शिर का अतिविरेचन (शोधन) होने पर मस्तुलुङ्ग का आना, वात की वृद्धि, इन्द्रियविभ्रम, शिर में रिक्तता होती है।

शिर का हीन और अतिशोधन होने पर (क्रमशः) कफघ्न और वातनाशक चिकित्सा करे। भली प्रकार से शिर का शोधन होने पर घी का नस्य देना चाहिये। (एक दिन के अन्तर से, दो दिन के अन्तर से या सात दिन के पीछे, अथवा एक्कीस दिन के पीछे बार-बार जब तक ठीक समझे नस्य देवे। वायु का अधिक प्रकोप होने पर या जिसे वायु का रोग हो, उसे दो समय नस्य देना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—मारुतेना....विजानता ।४३। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध स्यात् इस प्रकार होना चाहिये—

मारुतेनाऽभिभूतिः स्यात् अत्यन्तं यस्य देहिनः।

अर्थात् जिस मानव की वायु द्वारा अत्यन्त अभिभूति (अभिभव-पीड़न) हो रही हो उसको दिन में दो बार नस्य देना चाहिये ॥३७-४३॥

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यण्णसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यतममवपिष्यावपीड्य च, शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च विदध्यात् ॥४४॥

अवपीड़ नस्य शिरोविरेचन की भांति अभिष्यण्ण (मेद-कफ से भरे शिरवाले), सर्पदष्ट, मूर्छित पुरुषों को देना चाहिए। इसके लिये पिप्पली, विडंग आदि शिरोविरेचन द्रव्यों मे से किसी एक को पीसकर, दबाकर, निचोड़कर देना चाहिये, और शर्करा, इक्षुरस, दूध, घी, मांसरस में से किसी एक को क्षीण हुए एवं रक्तपित्त रोगियो में देना चाहिए।

वि० मन्तव्य—अवपीड नामक नस्य-यह शिरोविरेचन नस्य के दो विकल्पों (भेदों) में एक है। देखिये सू० २१। इसकी विधि श्रीशार्ङ्गधराचार्य के शब्दों से–शा० सं० उ० खं०अ०८।

कल्कीकृतात् औषधात् यः पीडितो निःसृतो रसः।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥१२॥

अर्थात्—नकछिकनी आदि तीक्ष्ण द्रव्य का कल्क करके निचोड़कर जो रस निकाला जाता है वह "अवपीड़" नस्य कहलाता है ॥४४॥

कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम्।
शृताः स्नेहाः शिरःशुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः ॥

कृश, दुर्बल, भीरु, कोमलप्रकृति तथा स्त्रियों के शिर के शोधन के लिये सिद्ध किये स्नेह तथा उन द्रव्यों का कल्क हितकारी है ॥४५॥

चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत् ॥४६॥

मानसिक विकार, कृमि और विष से पीड़ित रोगियों में चूर्ण को नाक में फूंके।

वक्तव्य—नाड़ीषडंगुलायामा द्विमुखी च तया धमेत्। त्रिश्चूर्णं मुच्चटीमात्रमेष प्रधमने विधिः ॥ शुक्तिप्रमाणं जिघ्रेद्वा बद्धं सूक्ष्मेण वाससा ॥ (मुच्चटी-चुटकीभर)।

वि० मन्तव्य—प्रधमन नस्य भी शिरोविरेचन नस्य का एक विकल्प है। यह-चूर्ण रूप में-सूखा चूर्णित द्रव्य नाक में डाला जाता है जिसे "सुंघनी" कहते हैं। इसे चुटकी भर कर, नासा पुट में डाला जाता है अथवा नाली में भर वैद्य, रोगी की नासा में फूंकता है अथवा वस्त्र में चूर्ण की पोटली बनाकर सूंघा जाता है ॥४६॥

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तवस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति, अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत् ॥४७॥

नस्य के लिये अयोग्य—भोजन करके, अपतर्पण किया (लंघन किया), अतिशय तरुण, प्रतिश्याय रोगी, गर्भवती, स्नेह-मद्य पानी द्रव पीये हुये, अजीर्णरोगी, वस्ति लिया, क्रुद्ध, गर से पीड़ित, प्यास से पीड़ित, शोक से परितप्त, थका हुआ, बालक, वृद्ध, मलमूत्र आदि वेग को रोके हुए, शिरसमेत स्नान की इच्छावाला व्यक्ति, बादल आने पर या ठीक ऋतु न होने पर, नस्य और धूम छोड़ देवे ॥४७॥

तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्णसहसाप्रदानादतिप्रविलम्बितशिरस उच्छिङ्घतो विचलतोऽभ्यवहरतो वा प्रतिषिद्धप्रदानाच्च व्यापदो भवन्ति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयाश्च ॥४८॥

इसमें हीनमात्रा में, अतिमात्रा में, अतिशीत, अतिउष्ण, सहसा देने से, शिर को बहुत नीचा करके देने पर, छींक लेते हुए, हिलते हुए, खाते हुए, निषेध की अवस्थाओं में स्नेह देने पर हानियां होती हैं। ये हानियां दोषजन्य तृष्णा, उद्गार आदि हैं और क्षयजन्य हैं ॥४८॥

भवतश्चात्र—

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥४९॥

कहा भी है—नस्य में और शिरोविरेचन में दो प्रकार की हानियां होती हैं। इनमें स्नेह नस्य में दोषोत्क्लेशजन्य और शिरोविरेचन में क्षयजन्य (दोषक्षयजन्य) हानियां होती हैं ॥४९॥

दोषोत्क्लेशनिमित्तास्तु जयेच्छमनशोधनैः।
अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् ॥५०॥

दोषोत्क्लेशजन्य हानियों की चिकित्सा शोधन और शमन से करे। क्षयजन्य हानियों की चिकित्सा उनके अपने दोषों के अनुसार बृंहण विधि से करे ॥५०॥

तेषु प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः तद्यथा—तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन, गृहान्निर्गच्छता, व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन, सायं चेति ॥५१॥

प्रतिमर्श नस्य का उपयोग चौदह समय में करना चाहिये। यथा–प्रातः बिस्तर से उठने पर, दाँतों को साफ करके, घर से बाहर निकलते समय, व्यायाम मैथुन मुसाफरी से थका होने पर, मूत्र-मल कवल और अंजन के पीछे, भोजन करके, वमन करके, दिन में सोकर उठने पर और सायंकाल प्रतिमर्श नस्य लेना चाहिये ॥५१॥

तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति, प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चापादयति, गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजोधूमो वा न बाधते, व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवितः श्रममुपहन्ति, मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति, कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति, भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति, वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति, दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति, सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति ॥५२॥

इनमें प्रातःकाल बिस्तर से उठकर सेवन किया प्रतिमर्श नस्य रात्रि में एकत्रित हुए, नासास्रोत में आये हुए मल को नष्ट करता है और मन की प्रसन्नता करता है। दाँतों को साफ करके लिया प्रतिमर्श नस्य दाँतों को दृढ़ एवं मुख में सुगन्ध उत्पन्न करता है। घर से बाहर जाते समय सेवन किया प्रतिमर्श नासास्रोतों को क्लिन्न रखने से धूल या धुएँ का प्रभाव नहीं होने देता। व्यायाम, मैथुन या मुसाफरी से थके हुए होने पर सेवन किया नस्य थकान को मिटाता है। मूत्रमल त्याग के पीछे सेवन किया दृष्टि के भारीपन को दूर करता है। कवल के पीछे लिया दृष्टि को निर्मल करता है। भोजन करके सेवन किया स्रोतों की निर्मलता और हल्कापन उत्पन्न करता है। वमन के पीछे सेवन किया प्रतिमर्श नस्य स्रोतों में लगे कफ को हटाकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। दिन में सोकर उठने पर लिया नस्य निद्राशेष का भारीपन और मल को दूरकर चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करता है। सायंकाल लिया नस्य सुखपूर्वक नींद और जाग लाता है॥

ईषदुच्छिङ्घतः स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते।
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥५३॥

नाक में नस्य रूप से डाला स्नेह थोड़ा सा सुड़कने पर जब मुख में आ जाता है, उतना प्रतिमर्श का प्रमाण जाने, उसे प्रतिमर्श की मात्रा समझे।

वक्तव्य—"प्रमाणं प्रतिमर्शस्य विन्दुद्वितयमिष्यते। विन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते ॥ निहितो यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते ॥" विधान—सप्तवर्षमुपादाय नस्य कर्म चतुर्विधम्। प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते। धूमोऽथ द्वादशे वर्षे कवलः पञ्चमे मतः ॥ दोषव्याधिबलाधस्थां वीक्ष्य चैतान् प्रयोजयेत् ॥५३॥

नस्येन रोगाः शाम्यन्ति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च ॥५४॥
हनुदन्तशिरग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम्।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवम् ॥५५॥

नस्य से मनुष्य के, जत्रु से ऊपर के रोग शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों में निर्मलता और मुख में सुगन्धिता होती है। हनु, दन्त, शिर, ग्रीवा, त्रिक, बाहु और छाती में बल आता है। वलीपलित, गंजापन, व्यंग भी उत्पन्न नहीं होते॥५४,५५॥

तैलं कफे सवाते स्यात् केवले पवने वसाम्।
दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते ॥५६॥
चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः।
श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते ॥५७॥

वायुयुक्त कफ में तैल, शुद्ध वायु में वसा, पित्त में घी और वायुमिश्रित पित्त में मज्जा का नस्य देना चाहिये। चार प्रकार के स्नेह की यह विधि है। कफस्थान का अविरोधि होने से इन चारों में तैल का ही उपयोग होता है।

वि० मन्तव्य—यद्यपि नस्य में चारों प्रकार के स्नेहों का दोषानुसार प्रयोग हो सकता है तथापि शिर कफ का स्थान है और तैल कफ का विरोधी–वर्द्धक–प्रकोपक नहीं है अतः यथासम्भव तैल का ही प्रयोग करना चाहिये ॥५६,५७॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कवलग्रहणे विधिम्।
चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपणौ ॥५८॥
स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते, स्वादुशीतैः प्रसादनः।
पित्ते, कट्वम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे ॥५९॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे।
चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽयं प्रकीर्तितः ॥६०॥

इसके आगे कवल ग्रहण की विधि को कहूँगा। कवल चार प्रकार का है—स्नेही, प्रसादी, शोधन और रोपण। वायु में स्निग्ध, उष्ण द्रव्यों से स्नैहिक कवल, पित्त में मधुर-शीतल द्रव्यों से प्रसादन कवल, कफ में--कटु, अम्ल, लवण, रूक्ष और उष्ण द्रव्यों से शोधन कवल, व्रण में--कषाय, तिक्त, मधुर, कटु और उष्णद्रव्यों से रोपण कवल बरते। चार प्रकार के कवल में यह भेद कह दिया है।

वि० मन्तव्य—रोपण कवल—व्रण के ६० उपक्रमों में कवल धारण भी एक उपक्रम है परन्तु यह मुख के ही व्रणों में प्रयुक्त होता है। मुख के व्रणों के लिये देखिये मुखरोग निदान।

तत्र त्रिकटुकवचासर्षपहरीतकीकल्कमालोड्य तैलशुक्तसुरामूत्रक्षारमधूनामन्यतमेन सलवणमभिप्रतप्तमुपस्विन्नमृदितमलकपोलललाटप्रदेशो धारयेत् ॥६१॥

इसमें—त्रिकटु, वच, सरसों, हरड़ इनका कल्क तैल, शुक्त, सुरा, गोमूत्र, क्षार, मधु इनमें से किसी एक में घोलकर, थोड़ा सा नमक मिलाये। गला, कपोल, ललाट भाग पर गरम किये हाथों से सेक करके, इनको मलकर कवल को मुख में धारण करे॥६१॥

मुखं संचार्यते या तु मात्रा स (सा) कवलः स्मृतः।
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः ॥६२॥

जो मात्रा मुख में सुखपूर्वक एक तरफ से दूसरी तरफ घुमाई जा सकती है, वह कवल कहा है। और जो मात्रा मुख में फेरी न जा सके उसे गण्डूष कहते हैं ॥६२॥

तावच्च धारयितव्योऽनन्यमनसोन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः, पुनश्चान्यो गृहीतव्य इति ॥६३॥

ये गण्डूष और कवल मुख में, एकाग्रमन से, शरीर को सीधा रखकर तब तक धारण करने चाहिये, जब तक कि गल्ले दोष से न भर जायें, नासा से और आँखों से पानी न आये। फिर छोड़कर दूसरा कवल धारण करना चाहिये ॥६३॥

एवं स्नेहपयःक्षौद्ररसमूत्राम्लसंभृताः।
कषायोष्णोदकाभ्यां च कवला दोषतो हिताः ॥६४॥

इस प्रकार स्नेह, दूध, मधु, रस, मूत्र, अम्ल (कांजी) से पूर्ण, कषाय एवं गरम पानी इनके कवल दोष के विचार से बरतने चाहिये। (रस-ईख का रस, अथवा मांस रस) ॥६४॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम् ॥६५॥
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषतृष्णारुचिक्लमाः ॥६६॥
शोधनीये विशेषेण भवन्त्येव न संशयः।

रोग का घटना, प्रसन्नता, निर्मलता, मुख में हल्कापन, इन्द्रियों की निर्मलता होना ये कवल में शुद्धि के लक्षण हैं। हीनयोग में–जड़ता, कफ का उत्क्लेश, रसज्ञान की अप्रतीति होती है। अतियोग में–मुख में पाक, शोष, प्यास, अरुचि, क्लम होता है। प्रायः करके शोधनीय कवलों मे ये लक्षण होते हैं ॥६५,६६॥

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ॥६७॥
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो दाहनाशनः।
कवलस्य विधिर्ह्येष समासेन प्रकीर्तितः ॥६८॥

तिल, नीलाकमल, घी, शर्करा दूध और मधु इनका कवल जले हुए मुख के दाह को नष्ट करता है। कवल की यह विधि संक्षेप से कह दी है।

वि० मन्तव्य—चूना आदि क्षार द्वारा मुख की श्लैष्मिक कला में क्षत हो जाते हैं उसकी ही यह चिकित्सा है ।६७,६८।

विभज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम्।
कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम् ॥६९॥
अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्।

औषध का बुद्धिपूर्वक विभाग करके, कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र (मधु), और चूर्ण (वस्त्र में छना) इन चार रूपों में प्रतिसारण करे। दोषों के अनुसार औषध को इनमें से किसी एक रूप में लेकर अंगुली के अग्रभाग से मुख रोगियों में घिसे।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारण–मञ्जन–वह द्रव्य जो मुख में लगाया जाय। भगवान् सुश्रुत ने प्रतिसारण ४ प्रकार का माना है परन्तु श्री वाग्भट तथा शार्ङ्गधराचार्य ने तीन ही प्रकार का माना है यथा—(१) कल्कः (२) रसक्रिया (३) चूर्णः त्रिविधं प्रतिसारणम्। वा० सू० अ० २। और (१) कल्को (२) अवलेहः (३) चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम्। शा० उ० खं० अ० १०। भगवान् सुश्रुत ने केवल मधु को भी चौथा प्रतिसारण मान लिया है। सचमुच मधु उत्तम कोटि का प्रतिसारण है, विशेषतः मुखपाक आदि में ।६९॥

तस्मिन् योगमयोगं च कवलोक्तं विभावयेत् ॥७०॥
तानेव शमयेद् व्याधीन् कवलो यानपोहति।
दोषघ्नमनभिष्यन्दि भोजयेत्च तथा नरम् ॥७१॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां चतुर्थं चिकित्सास्थानं समाप्तम् ॥४॥

प्रतिसारण के हीनयोग और अतियोग को कवल की भांति समझना चाहिये। जिन रोगों को कवल अच्छा करता है, प्रतिसारण भी उनको अच्छा करता है। रोगी को दोषनाशक और अनभिष्यन्दि भोजन खाने को देवे ॥७०,७१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अन्नपान रक्षाकल्प का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—कल्पस्थान–अगदतन्त्र ही है, देखिये सू० स्था० अ० १ का सू० ७ और उसका विवरण ७।६। और "अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात्" सू० स्था० अ० ३ का श्लो० २८। विष चिकित्सा की कल्पना इस तन्त्र में की गई है अतः इसका नाम कल्पस्थान है। विधि भेद से संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। १—अमृत-जिनके सेवन से प्राणी "मृत" नहीं होता और प्रसाद–प्रसन्नता का अनुभव करता है और २—विष-जिनसे "मृत" हो जाता है और विषाद का अनुभव करता है ॥१,२॥

धन्वन्तरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः।
सुश्रुतप्रभृतीञ्छिष्यान्छशासाहतशासनः ॥३॥

तप और धर्म को धारण करनेवालों में श्रेष्ठ एवं जिसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकता ऐसे काशिपति दिवोदास ने सुश्रुत आदि शिष्यों को कहा ॥३॥

रिपवो विक्रमाक्रान्ता ये च स्वे कृत्यतां गताः।
सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् ॥४॥
विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः।
स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित्सुभगेच्छया ॥
विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः।
तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥६॥

विक्रम से जीते हुए शत्रु, और जो अपने लोग शत्रु हो गये हैं, वे लोग अपने क्रोधरूपी जहर को छोड़ने के लिये मौका ढूँढ़ते रहते हैं। ये दूषित मनवाले व्यक्ति निपुण राजा को विषों से मार देते हैं। अथवा कभी सौभाग्य की इच्छा से स्त्रियाँ नानाप्रकार के योगों को दे देती हैं। अथवा विष कन्या के उपयोग से मनुष्य तुरन्त प्राण खो बैठता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह निरन्तर राजा की विष से रक्षा करे।

वक्तव्य—पर्वतेश्वर को चाणक्य ने विषकन्या के उपयोग से मारा था। विषकन्या बनाने के लिये कन्या को बचपन से ही थोड़ा थोड़ा विष देना आरम्भ करते हैं। धीरे धीरे इस विष की मात्रा बढ़ाते जाते हैं। अन्त में यह मात्रा इतनी हो जाती है, जो कि दूसरे के लिए घातक होती है। यह विष कन्या के सब शरीर में फैल जाता है। चुम्बन या सम्भोग आदि से दूसरे पुरुष में भी आ जाता है। इसी से कहा है, "हन्ति स्पृशन्ति स्वेदेन, गम्यमाना च मैथुने। पक्वं वृन्तादिव फलं प्रशातयति मेहनम् ॥" जूं आदि इसके शरीर पर तुरन्त मर जाती है, यह इसकी पहिचान है।

वि० मन्तव्य—विष कन्या–ज्योतिःशास्त्रानुसार वह कन्या भी विषकन्या कही जाती है जिसको ग्रहों के कारण वैधव्य योग होता है। देखिये बृहत्–जातकालङ्कार भुवन दीप अ० १६। उपदंश आदि योनिरोगों से पीड़ित स्त्री भी विषकन्या कही जा सकती है, और ऐसे पुरुष भी विषपुरुष कहे जा सकते हैं। नृपति—नृपति अर्थात् राजा शब्द उपलक्षण है, अन्यजनों नरनारियों पर भी इस प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं। जब कभी ऐसा सन्देह हो कि कोई ऐसा प्रयोग करना चाहता है, तब सबको अपनी रक्षा के लिये सावधान रहना चाहिये ॥४-६॥

यस्माच्च चेतोऽनित्यत्वमश्ववत् प्रथितं नृणाम्।
न विश्वस्यात्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित् ॥७॥

क्योंकि मनुष्यों का चित्त घोड़े की भाँति सदा चंचल रहता है, इसलिये राजा को चाहिये कि वह किसी का कभी विश्वास न करे।

वक्तव्य—वैद्य का विश्वास उसे करना चाहिये। इसी से पहले कहा है कि "विसृजत्यात्मनात्मानम् ॥' गीता में कहा है—"चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" ॥७॥

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं संततोत्थितम्।
अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम् ॥८॥
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमायालस्यविवर्जितम्।
जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम् ॥९॥
मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्।
पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षं व्यसनवर्जितम् ॥१०॥
पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्।
महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम् ॥११॥

वैद्य की योग्यता—कुलीन, धार्मिक स्नेह रखनेवाला, धन-साधनों से युक्त, निरन्तर ध्यान देनेवाला, लालच रहित, धूर्तता रहित, श्रद्धालु, कृतज्ञ, देखने में सुन्दर, क्रोध-

कठोरता मत्सरता माया और आलस्य से रहित जितेन्द्रिय, क्षमाशील, पवित्रस्वभाव, शील-दया से युक्त, मेधावी, न थकने वाला, अनुरक्त, हितेच्छु, वक्ता, दक्ष-चतुर, निपुण, कुशल, व्यसन रहित, तथा तत्त्वाधिगत शास्त्र आदि पूर्वोक्त, गुणयुक्त, सदा अगद (विषनाशकयोग) पास में रखनेवाले । वैद्य विद्या को जाननेवालों से पूजित वैद्य को राजा रसोई में रक्खे ।

वि० मन्तव्य—इस वैद्य की देखरेख में भोजन का निर्माण हो ॥११॥

प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभाण्डं महच्छुचि ।
सजालकं गवाक्षाढ्यमाप्तवर्गनिषेवितम् ॥१२॥
विकक्षसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम् ।
परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम् ॥१३॥

रसोई कैसी हो ! प्रशस्तदिशा (आग्नेयकोण) और प्रशस्तदेश में बनाई हुई, पवित्र वर्त्तनोंवाली, बड़ी, शुद्ध (साफ सुथरी), जालीवाली, धुँआ जाने के लिये प्रचुर वातायनों की, विश्वस्त पुरुषों से युक्त, लकड़ी आदि के लिये अलग-अलग भागवाली, छत पर चंदोआ, लगी हुई, अग्निपूजा की हुई, देखे-भाले स्त्री पुरुषोंवाली रसोई होनी चाहिये ।

प्रशस्त देश—"दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचार-मनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलेमूषल वर्चः-इत्यादि ॥ चरक ॥१२,१३॥

तत्राध्यक्षं नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम् ।
शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः ॥१४॥
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः ।
स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः ॥१५॥
तस्य चाज्ञाविधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः ।

वहाँ पर रसोई में रसोई का अधिकारी वैद्य गुणों से युक्त मनुष्य को बनाये ।

भृत्य कैसे हों—काम करनेवाले-पवित्र, कुलीन, चतुर, नम्र, देखने में सुन्दर, भिन्न-भिन्न कामों को करनेवाले, निर्मल, शुद्ध मन के, केश और नख कटाये हुये, दृढ़-मजबूत, स्नान किये, चंचलता रहित, संयमी, सिर को लपेटे, संयत (कसे हुये ढीले-ढाले नहीं) तथा आज्ञा को माननेवाले होने चाहिये ।

वि० मन्तव्य—अध्यक्ष—यह महानस का अध्यक्ष अर्थात् प्रबन्धक है सब परिकर्मियों-कर्मचारियों का अधिष्ठाता है । इन परिकर्मियों में भोजन की सामग्री जुटानेवाले, काटने-पीसनेवाले, भोजन पकानेवाले तथा परोसनेवाले सब हैं । कभी बड़े-बड़े होटलों में जाकर देखिये । स्थिराः—स्थायी भृत्य जो उसी एक कार्य में जीवन लगा देनेवाले । दृढं संयमिनः—कमर कसे—पेटी बाँधे हुए । कृतोष्णीषाः—शिर पर उष्णीष पगड़ी बाँधे हुए । सुसंयताः—लोलता आदि दोष रहित । रसोई घर में—रसोई बनानेवालों एवं प्रबन्धकों का वही भोजन होता है जो नृपति—गृहपति एवं घरवालों का होता है । राजपरिवारों में एवं बड़े घरों में ऐसा ही होता है और होना भी चाहिये । इस दशा में वे कर्मचारी स्वयं अन्नादि में विषमिश्रण नहीं करते यदि करते हैं तो उस अन्न को स्वयं खाने में हिचकते हैं । वैद्य एवं महानसाध्यक्ष को साथ बिठाकर भोजन करना चाहिये (न अभक्त, अशिष्ट, अशुचि, क्षुधित परिचरः) तथा अन्नों का थोड़ा-थोड़ा अंश अग्नि में डालना चाहिये (न अदत्त्वा-अग्नये) तथा प्रतिकूल-शत्रुता रखनेवालों द्वारा उपस्थित अन्न खाना चाहिये (न प्रतिकूलोपहितं) च० सू० अ० ८ ॥१४,१५॥

आहारस्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः ॥१६॥
तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत् ।

क्योंकि मनुष्य का जीवन आहार के आश्रय ही स्थित है, इसलिये वैद्य रसोई में सदा सावधान रहे ॥१६॥

माहानसिकवोढारः सौपौदनिकपौपिकाः ॥१७॥
भवेयुर्वैद्यवशगा ये चाप्यन्येऽत्र केचन ।

रसोई में काम करनेवाले, पिट्ठी पीसनेवाले, दाल-भात-रोटी आदि बनानेवाले, और जो भी रसोई में काम करनेवाले हों वे सब वैद्य के अधीन रहने चाहिये ॥१७॥

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः ॥१८॥
विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ।'
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च ॥१९॥
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत् ।
स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत् ॥२०॥
वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते ।
क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि ॥२१॥
आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ।
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः ॥२२॥
वर्तते विपरीतं तु विषदाता विचेतनः ।

विषदाता की पहिचान—मनुष्यों के इशारों को समझने-वाला बुद्धमान् मनुष्य वाणी, चेष्टा, मुख की भावभंगी आदि से विष देनेवाले मनुष्यों को पहचान ले और निम्नलिखित लक्षणों से यथा-विष देनेवाला मनुष्य पूछने पर उत्तर नहीं देता, बोलने की इच्छा करता हुआ भी घबड़ा जाता है । व्यर्थ की बातें बहुत करता है, इधर उधर की मिली जुली बातें करता है, मूर्ख की तरह बात करता है । अंगुलियों को चटकाता है, भूमि को कुरेदता है, बिना कारण के हंसता है । यह मनुष्य काँपता है, डरकर इधर-उधर या एक दूसरे की ओर देखता है । शरीर से कृश, विवर्णमुख (मुख का रंग पलटा हुआ) नखों से कुछ तोड़ता रहता है । बार-बार हाथों से बालों को

धूता रहता है। न जाने के मार्गों से भागना चाहता है, बार-बार मुड़कर देखता है। विपरीत चेष्टायें करता है, संज्ञारहित बेभान बन जाता है ॥१८-२२॥

केचिद्भयात् पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया ॥२३॥
असतामपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मात् परीक्षणं कार्यं भृत्यानामादृतैर्नृपैः ॥२४॥

कभी कभी राजा के डर से, जल्दी या राजा की आज्ञा से—सज्जन मनुष्य भी असाधु पुरुषों जैसी चेष्टायें कर बैठते हैं। इसलिये इनकी परीक्षा आदर के साथ-सावधानी से करनी चाहिये ॥२३,२४॥

अन्ने पाने दन्तकाष्ठ तथाऽभ्यङ्गेऽवलेखने।
उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने ॥२५॥
स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च।
पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् ॥२६॥
विषजुष्टेषु चान्येषु नस्यधूमाञ्जनादिषु।
लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनन्तरम् ॥२७॥

विष देने के साधन—अन्न (भोजन), पेयवस्तु, दातुन, अभ्यंग, अवलेखन (कंघी आदि), उबटन, स्नान का जल (कषाय) परिषेक, चन्दन आदि लेप, माला, वस्त्र, शय्या, कवच, आभूषण, जूता आदि, आसन आदि, हाथी घोड़े की पीठ, विषैले नस्य, धूम, अञ्जन आदि में विष देते हैं। इनके लक्षण कहकर पीछे चिकित्सा को कहेंगे।

वक्तव्य—औरंगजेब ने—जयसिंह के पुत्र को विषैली पोशाक पहनाकर ही मारा था। (दुर्गादास नाटक।) ॥२५-२७॥

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः ॥२८॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥२९॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति।
चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ॥३०॥
दृष्ट्वाऽन्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः।
कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ॥३१॥
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके।
हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥३२॥
पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः।
सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राजा तान् मृगपक्षिणः ॥३३॥
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा।

राजा के विषैले भोजन में से दी हुई बलि को मक्खी कौवे आदि जो खाते हैं, वे वहीं मर जाते हैं। विषैले अन्न से अग्नि में चट-चट शब्द बहुत होता है। आग का रंग मोर की गर्दन के समान हो जाता है, इसका तेज असह्य होता है। ज्वाला फटी हुई अलग-अलग, धूम में तीक्ष्णता रहती है, जल्दी बुझ जाती है। विषैले अन्न से चकोर की आँख की लाली तुरन्त जाती रहती है। विषैले अन्न को देखकर जीव-जीवक तुरन्त मर जाता है। कोयल का स्वर बदल जाता है, क्रौञ्च को मद चढ़ जाता है। मोर हृष्ट एवं उद्विग्न होता है, तोता और मैना चिल्लाते हैं। हंस जोर से शब्द करता है, भृंगराज कूजता है। पृषत (चित्तल हरिण) आँसू बहाता है, बन्दर का मल निकल आता है। इसलिये राजा पशु पक्षियों को घर में पाले। इनसे घर की शोभा होने के साथ साथ अपनी भी सदा रक्षा होती है।

वक्तव्य—प्रत्येक धातु की ज्वाला का रंग भिन्न-भिन्न होता है। इसीलिये आधुनिक रसायनशास्त्रों में कुछ धातुओं को हम अग्नि की परीक्षा से भी पहचान लेते हैं।

पक्षियों को घर में पालने का वर्णन मृच्छकटिक में दिया है। यथा—

"आश्चर्यं भोः इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिषण्णान्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरम्परा। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्विकिरण संतप्त पक्षोत्क्षेपैः विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिशिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लकाः इव इतस्ततः संचरन्ति गृहं सारसाः। आश्चर्यं भोः, प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं नन्दनवनमिव मे गृहं प्रतिभासते।"

मेघदूत में कालिदास ने मेघ को रात में आराम लेने के लिये जो घर बताया है—उसके लिये कहा है—"तां कस्यांश्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्। नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः॥" बाण ने अपने घर का वर्णन करते हुए—तोतों द्वारा अशुद्ध पाठ करते हुए विद्यार्थियों को टोकने का वर्णन किया है यथा—जगुर्गृहे यस्य समस्तवाङ्मयैः सांसारिकैः पञ्जरवर्त्तिभिः शुकैः। निगृह्यमाणाः बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥ यूनानी लोगों की मान्यता है कि जिस घर में कबूतर पाले जाते हैं, वहाँ पर क्षत आदि रोग नहीं होते। पक्षाघातवाले रोगियों को ये लोग परों की वायु दिलाते हैं ॥२८-३३॥

उपक्षिप्तस्य चान्नस्य बाष्पेणोर्ध्वं प्रसर्पता ॥३४॥

हृत्पीडा भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते ।
तत्र नस्याञ्जने कुष्ठं लामज्जं नलदं मधु ॥३५॥
कुर्याच्छिरीषरजनीचन्दनैश्च प्रलेपनम् ।
हृदि चन्दनलेपस्तु तथा सुखमवाप्नुयात् ॥३६॥

विषैले अन्न को खाने के लिये थाली में परोसने पर उसके बाष्पों के ऊपर जाने से हृदय में पीड़ा, नेत्र की भ्रान्ति और शिर में वेदना होती है । इसमें नस्य और अंजन के लिये कूठ, खस, जटामांसी, मधु, बरते । शिरीष, हल्दी और चन्दन का लेप करे । हृदय पर चन्दन का लेप करे इससे सुख मिलता है ॥

पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशातं करोति च ।
अत्र प्रलेपः श्यामेन्द्रगोपासोमोत्पलानि च ॥३७॥

हाथों में लगा विषैला अन्न हाथों में जलन, नखों का गिरना उत्पन्न करता है । इसमें–प्रियंगु, अनन्तमूल, कट्फल और कमल का लेप करे (डल्हण ने सोम का अर्थ गिलोय, श्यामा और श्यामलता दिया है) ॥३७॥

स चेत् प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते ।
अष्ठीलावत्ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी ॥३८॥
तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात् प्रसिच्यते ।
तत्र बाष्पेरितं कर्म यच्च स्याद्दान्तकाष्ठिकम् ॥३९॥

यदि मनुष्य मोह या आलस्य के कारण इस अन्न को खा जाता है, तो जीव अष्ठीला (पत्थर या लोहे की भाँति सख्त) की भाँति कड़ी एवं रस को नहीं पहचानती । इसमें चुभने की दर्द और जलन होती है, तथा मुख से कफ झरता है । इसमें बाष्प में कही तथा दातुन के लिये कही चिकित्सा करे ॥३८,३९॥

मूर्च्छां छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू ।
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम् ॥४०॥
तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः ।
छर्दनं दध्युदश्विद्भ्यामथवा तण्डुलाम्बुना ॥४१॥

आमाशय में पहुँचा विष-मूर्च्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, जलन, कम्पन, और इन्द्रियों में विकार करता है । इसमें तुरन्त मैनफल, कड़ुवी तुम्बी, कड़ुवी तुरई, इनके फलों से वमन कराये । दधि तक्र से या चावलों के पानी से वमन कराये । (एल्ब्युमन का पानी, अण्डे से बनाकर आजकल देते हैं) ॥

दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रियवैकृतम् ।
आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम् ।४२।
विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम् ।
दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः ॥४३॥

पक्वाशय में पहुँचा विष दाह, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, इन्द्रियों में विकार, आध्मान, पाण्डुता, कृशता उत्पन्न करता है । नीलिनीफल का विरेचन घी के साथ देना चाहिये । दूषित विषारि अगद को दही या मधु से पीये ॥४२,४३॥

द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षारमद्योदकादिषु ।
भवन्ति विविधाः राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च ॥४४॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः ।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा ॥४५॥

दूध, मद्य, पानी आदि सब तरलद्रवों में विष के कारण नानाप्रकार की रेखायें आती हैं, और बुलबुले उत्पन्न होते हैं । इनमें प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता यदि दिखाई देता भी है, तो वह जुड़ा हुआ (दो का), छेदवाला, पतला या विकृत आकार का होता है ।

वाग्भट ने—"नीलाराजीरसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते । श्यावा पीताऽसिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा ॥ कालीमद्याम्भसोः क्षौद्रे, हरित्तैलेऽरुणोपमा" ॥४४,४५॥

शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च ।
सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च ॥४६॥
गन्धवर्णरसैर्हीनाः सर्वे भक्ष्याः फलानि च ।
पक्वान्याशु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च ।४७।

शाक, दाल, अन्न और मांस ये विष से युक्त होने पर क्लिन्न, बेस्वाद, तुरन्त के बने हुए भी बासी से लगते हैं, इनकी गन्ध जाती रहती है । सब भक्ष्य गन्ध, वर्ण, रस से हीन बन जाते हैं । पके हुए फल विष के योग से शीघ्र सड़ जाते हैं और कच्चे फल शीघ्र पक जाते हैं ॥४६,४७॥

विशीर्यते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे ।
जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥४८॥
अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः ।
सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्तव्यं प्रतिसारणम् ॥४९॥
अथवाऽङ्कोठमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा ।
शिरीषमाषका वाऽपि सक्षौद्राः प्रतिसारणम् ॥५०॥

दातुन में विष का संचार होने पर दातुन की कूची झड़ने लगती है । जिह्वा, ओठ, दाँत और मसूड़े सूज जाते हैं । इसमें शोफ पर पाछना लगाकर, धाय के फूल, हरड़, जामुन की गुठली इनको मधु में मिलाकर मले । अथवा अंकोठ की मूल, या सप्तपर्ण की छाल, शिरीष के बीज, इनका मधु के साथ प्रतिसारण-घर्षण करे ॥४८-५०॥

जिह्वानिर्लेखकवलौ दन्तकाष्ठवदादिशेत् ।

जिह्वा निर्लेखन (जीभी) और कवल के विष से दूषित होने पर दातुन की भाँति चिकित्सा करे ।

पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः ।५१।
स्फोटजन्यरुजास्रावत्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः ।
दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ॥५२॥
तत्र शीताम्बुसिक्तस्य कर्तव्यमनुलेपनम् ।
चन्दनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ॥५३॥

सोमवल्कश्चामृता श्वेता पद्मं कालीयकं त्वचम् ।
कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च युज्यते ॥५४॥

विषैला अभ्यंग—पिच्छिल, गाढ़ा, विवर्ण हो जाता है। इसके लगाने से छाले उत्पन्न हो जाते हैं, पीड़ा, स्राव, त्वचा का पकना, पसीना, ज्वर और त्वचा का फटना होता है। इसमें शीतल जल से स्नान कराके चन्दन, तगर, कूठ, खस, बांस के पत्ते, गिलोय अमृता, अपराजिता (कोयल), कालीयक काष्ठ, दालचीनी इनको कैथ के रस और गोमूत्र के साथ शरीर पर लेप करे और इसको पीये। (अमृता-हरड़, डल्हण ने अमृतासंग लेकर तुत्थ लिया है। श्वेत से श्वेतस्यन्द दिया है। श्वेता-श्वेतवच के लिये भी है) ॥५१-५४॥

उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने ।
शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्गलक्षणैः ॥५५॥

उत्सादन, परिषेक, कषाय, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र और कवचों में विष का योग होने पर अभ्यंग के समान लक्षण और चिकित्सा है ॥५५॥

केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः ।
ग्रन्थिजन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टेऽवलेखने ॥५६॥
प्रलेपो बहुशस्तत्र भाविताः कृष्णमृत्तिकाः ।
ऋष्यपित्तघृतश्यामापालिन्दीतण्डुलीयकैः ॥५७॥
गोमयस्वरसो वाऽपि हितो वा मालतीरसः ।
रसो मूषिकपर्ण्या वा धूमो वाऽगारसंभवः ॥५८॥

कंघी आदि के विष से युक्त होने पर बालों का गिरना, शिर में पीड़ा, रोमकूपों से रक्त का आना, शिर में गांठें (फुंसियाँ) उत्पन्न हो जाती हैं। इसमें काली मिट्टी को ऋष्य (रीछ या नीलाण्ड मृग) के पित्त, घृत श्यामा (प्रियंगु), निशोथ, तण्डुलीयक (चौलाई) इनसे कई बार भावित करके लगाये, गोबर का स्वरस या चमेली का रस शिर पर बरते, मूर्षिकपर्णी का रस या घर धुंवासा बरते ॥५६-५८॥

शिरोऽभ्यङ्गः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च ।
स्रजश्च विषसंसृष्टाः साधयेदवलेखनात् ॥५९॥

शिर का अभ्यंग (तेल आदि), शिरस्त्राण (लोहे का टोप) स्नान का जल, पगड़ी मालायें—इनके विष से युक्त होने पर कंघी के समान लक्षण एवं चिकित्सा समझे ॥५९॥

मुखालेपे मुखं श्यावं युक्तमभ्यङ्गलक्षणैः ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः कण्टकैश्चोपचीयते ॥६०॥
तत्र क्षौद्रघृतं पानं प्रलेपश्चन्दनं घृतम् ।
पयस्या मधुकं फञ्जी बन्धुजीवः पुनर्नवा ॥६१॥

मुख के आलेप के विष से युक्त होने पर मुख श्याववर्ण, विषैले अभ्यंग के समान लक्षणोंवाला हो जाता है। पद्मिनी कण्टक के समान कांटों (फुन्सियों) से भर जाता है। इसमें मधुघृत का पानी, चन्दन—घी विदारी, मुलैहठी, भार्गी, दुपहरिया पुनर्नवा इनका लेप करे ॥६०,६१॥

अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां कालास्रावोऽक्षिरक्तता ।
स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसंभवः ॥६२॥
तत्राभ्यङ्गवदेवेष्टा यातृवाहनयोः क्रिया ।

हाथी, घोड़े आदि की पीठ पर विष लगाने से हाथी आदि रोगी हो जाते हैं, मुख से लाला गिरती है, आँखें लाल हो जाती हैं। बैठनेवाले के नितम्ब, गुदा, मेहन और मुष्क पर छाले उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें अभ्यंग के समान चिकित्सा मनुष्य और वाहन की करे ॥६२॥

शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः ॥६३॥
नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम् ।
तत्र दुग्धैर्गवादीनां सर्पिः सातिविषैः शृतम् ॥६४॥
पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समदयन्तिकम् ।

नस्य और धूम में विष होने से—नाक से रक्त आता है, सिर में दर्द, कफ का स्राव और इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं। इसमें गाय आदि के दूध से, अति विष के कल्क द्वारा सिद्ध किया घृत पीने में और नस्य में बरते। कटभी (श्वेत वच, डल्हण के मत से) और मेंहदी के कल्क से सिद्ध घृत उत्तम है। कोई अतीस, मेंहदी श्वेतबच (या कोयल) तीनों का कल्क बरतते हैं ॥६३,६४॥

गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत् ॥६५॥
जिघ्रतश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने ।
यत्र बाष्पेरितं कर्म मुखालेपे च यत् स्मृतम् ॥६६॥

विषैले पुष्पों में गन्ध का नष्ट होना, विवर्णता, मुरझाना होता है। सुंघनेवाले के शिर में पीड़ा और आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसमें विषैले बाष्पों की भाँति एवं मुखालेप की भाँति चिकित्सा करे ॥६५,६६॥

कर्णतैलगते श्रोत्रवैगुण्यं शोफवेदने ।
कर्णस्रावश्च तत्राशु कर्तव्यं प्रतिपूरणम् ॥६७॥
स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः ।
सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते ॥६८॥

कान के तैल के विषैला होने पर—सुनाई न देना, शोफ, वेदना, कर्णस्राव होता है। इसमें तुरन्त ही शतावरी का स्वरस, घी, मधु मिलाकर डाले। कट्फल का शीतल रस भी उत्तम है॥

अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः ।
अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च ॥६९॥
तत्र सद्यो घृतं पेयं तर्पणं च समागधम् ।
अञ्जनं मेषशृङ्गस्य निर्यासो वरुणस्य च ॥७०॥
मुष्ककस्याजकर्णस्य फेनो गोपित्तसंयुतः ।
कपित्थमेषशृङ्गयोश्च पुष्पं भल्लातकस्य वा ॥७१॥
एकैकं कारयेत् पुष्पं बन्धूकाङ्कोठयोरपि ।

विषैले अंजन से आँसू, गीध का आना, जलन, वेदना, दृष्टिभ्रम और अन्धापन भी हो जाता है। इसमें तुरन्त घृत का पान करे। पिप्पली से मिला तर्पण पिये। मेषशृंगी का या बरणे के गोंद का अंजन करे। मुष्कक, अजकर्ण (साल), समुद्रफेन, इनको गाय के पित्त में मिलाकर अंजन करे। कैथ, मेषशृङ्गी या भिलावे के फूल अथवा दुपहरिया, अंकोठ इनके फूल इनमें से किसी एक से अंजन करे।

वक्तव्य—पिप्पली कल्क से सिद्ध घृत का तर्पण पीये। अथवा तर्पण—अक्षितर्पण करे घृत से आंख का तर्पण॥

शोफः स्रावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च ॥७२॥
भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम्।
उपानत्पादपीठानि पादुकावत् प्रसाधयेत्॥७३॥

विषैले जूते—खड़ाऊँ आदि से—पांव में सूजन, स्राव, पांवों का सोना, छाले उत्पन्न होना, होता है। जूते, आसन के लक्षण चिकित्सा पादुका की भाँति है ॥७२,७३॥

भूषणानि हतार्चींषि न विभान्ति यथा पुरा।
स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः ॥७४॥
पादुकाभूषणेषूक्तमभ्यङ्गविधिमाचरेत्।

विष के कारण आभूषण तेज रहित हो जाते हैं, पहले की भाँति नहीं चमकते। जिस स्थान पर धारण किये जाते हैं, वहाँ पर जलन, पकना, अवदारण—उत्पन्न कर देते हैं। पादुका और आभूषणों में अभ्यंग विधि बरते ॥७४॥

विषोपसर्गो बाष्पादिभूषणान्तो य ईरितः ॥७५॥
समीक्ष्योपद्रवांस्तस्य विदधीत चिकित्सितम्।
महासुगन्धिमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ॥७६॥
पानालेपननस्येषु विदधीताञ्जनेषु च।
विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात् प्रच्छर्दनानि च ॥७७॥
सिराश्च व्यधयेत् क्षिप्रं प्राप्तं विस्रावणं यदि।
मूषिकाऽजरुहा वाऽपि हस्ते बद्धा तु भूपतेः ॥७८॥
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम्।

बाष्प से आरम्भ करके भूषण पर्यन्त यह जो विष के उपद्रव कहे हैं, इन उपद्रवों को देखकर इनकी चिकित्सा करे। महासुगन्धि अगद जिसे कहूँगा उसे वैद्य पान, आलेपन, नस्य और अंजन आदि में बरते। तीक्ष्ण वमन और विरेचन देवे। यदि योग्य हो तो सिरावेध करके तुरन्त रक्तमोक्षण करे। राजा के हाथ में बांधी मूषिका, अजरुहा औषधि, विषैले सब अन्न को विषरहित बना देती है ॥७५-७८॥

हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः ॥७९॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृताख्यं च बुद्धिमान्।
सर्पिर्दधि पयः क्षौद्रं पिबेद्वा शीतलं जलम् ॥८०॥
मयूरान्नकुलान् गोधाः पृषतान् हरिणानपि।
सततं भक्षयेच्चापि रसांस्तेषां पिबेदपि ॥८१॥

बुद्धिमान् नृपति मित्रों के बीच में बैठा हुआ हृदय की सदा रक्षा करे। अजेय घृत, अमृत घृत को पीये। घी, दधि, दूध, मधु या शीतल जल पीये। मोर, नेवला, गोह, चित्तल हरिण या हिरणों को निरन्तर खाये इनके मांसरसों को पीये[1]।

वक्तव्य—हृदयावरण—"सूक्ष्मताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्। शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ हेमसर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति। हेमपस्य सज्जत्यंगे न हि पद्मेऽम्बुवद् विषम्" ॥७९-८१॥

गोधानकुलमांसेषु हरिणस्य च बुद्धिमान्।
दद्यात् सुपिष्टां पालिन्दीं मधुकं शर्करां तथा ॥८२॥
शर्करातिविषे देये मायूरे समहौषधे।
पार्षते चापि देयाः स्युः पिप्पल्यः समहौषधाः ॥८३॥
सक्षौद्रः सघृतश्चैव शिम्बीयूषो हितः सदा।
विषघ्नादि च सेवेत भक्ष्यभोज्यानि बुद्धिमान् ॥८४॥

गोह, नेवला और हरिण के मांसों में, त्रिवृत्त, मुलैहठी, शर्करा को बारीक पीसकर देवे। मोर के मांस शर्करा, अतीस और सोंठ दे। पृषत (चित्तल) के मांस में पिप्पली और सोंठ देवे। घी और मधु के साथ शिम्बी (सेम की फली) का यूष सदा देना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य विषघ्न द्रव्यों के साथ भक्ष्य और भोजनों का सेवन करे ॥८२-८४॥

पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसाम्बुभिः।
छर्दयेद्गुप्तहृदयो भक्षितं यदि वै विषम् ॥८५॥

यदि रोगी ने विषपान किया हो तो विषघ्न वस्तुओं से हृदय को ढांपकर, पिप्पली, मुलैहठी, मधु, शर्करा, ईख का रस, जल, इनसे वमन करे ॥८५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽन्नपानरक्षाकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्थावरविषविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—स्थावर विष-जो वृक्ष, लता आदि स्थावरों से प्राप्त होती-उनमें उत्पन्न होती है। जङ्गम विष जो जङ्गमों-सर्प आदि प्राणियों में पाई जाती है, उत्पन्न होती है ॥१,२॥

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥३॥

---

1. 'आदौ हृदयं रक्ष्यं' तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम्। मज्जानं मधुघृतगैरिकमथगोमयरसं वा। इक्षुसुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं बलम्। छागादीनां वाभस्ममुदं वा पिबेदाशु॥ चरक

स्थावर और जंगम भेद से विष दो प्रकार का है। इसमें स्थावर विष के दस आश्रय स्थान हैं, और जंगम के अधिष्ठान सोलह हैं।

वक्तव्य—"कृत्रिम विष भी मानते हैं, यथा—दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे।" संयोगं द्विविधं प्रोक्तं तृतीयं विषमुच्यते। गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्।" निर्विष द्रव्यों से बना गरविष, यथा मधु और घृत समान मात्रा में। सविष द्रव्यों से बना कृत्रिमविष, यथा दालचिकना ॥३॥

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥४॥

मूल, पत्र, फल, पुष्प, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु, और कन्द ये दस स्थावर विष के अधिष्ठान हैं ॥४॥

तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादशफलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दननाराचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि, कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्म (भस्म) हरितालं च द्वे धातुविषे, कालकूटवत्सनाभसर्षपपालककर्दमकवैराटकमुस्तकश्रृङ्गीविषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि, इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति ॥५॥

इनमें—क्लीतक, कनेर, गुंजा, सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा, विजया ये आठ मूल विष हैं। विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु, करम्भ और महाकरम्भ ये पांच पत्र विष हैं। कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन, सारपाक ये बारह फलविष हैं। वेत्र, कादम्ब, वल्लीज, करम्भ और महाकरम्भ ये पाँच पुष्प विष हैं। अंत्रपाचक, कर्त्तरी, सौरीयक, करघाट, करम्भ, नन्दन, नाराचक ये सात त्वक्सार और निर्यास विष हैं। कुमुदघ्नी, स्नुही, जालक्षीरी ये तीन क्षीर विष हैं। फेनाश्म (भस्म) और हरताल ये दो धातुविष हैं। कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्ताक, श्रृंगीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष, कर्कटक ये तेरह कन्द विष हैं। इस प्रकार से पचपन स्थावरविष हैं। (फेनाश्म से कोई संखिया मानते हैं)।

वि० मन्तव्य—इन सब विषों में केवल वत्सनाभ (वच्छनाग), शिङ्गिक (सिंगिया), हरिताल नामक विषों को चिकित्सक समाज जानता है और औषधों में प्रयुक्त करता है। क्लीतक—मुलैठी, विजया—भांग, कनेर, गुञ्जा, स्नुही—सेहुण्ड का दूध भी परिचित पदार्थ हैं। शेष विषों को वनवासी भले ही जानते हों। मुलैठी—वामक है, सेहुण्ड का दूध विरेचक है इस प्रकार ये तत्काल बाहर निकल जाते हैं। भाँग भी वामक है॥

चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते।
षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु ॥६॥

अवान्तरभेद—वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो, सर्षप के छै अवान्तर भेद हैं और सब एक एक हैं ॥६॥

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च।
जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु ॥७॥
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च।
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च ॥८॥
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि।
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवा ॥९॥
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता।
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ॥१०॥
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत्।

मूलविष से ऐंठन, प्रलाप और मूर्च्छा होती है। पत्रविष से जम्भाई, अङ्गों में ऐंठन, श्वास होता है। फलविष से मुष्क में शोफ, दाह और अन्न में द्वेष रहता है। पुष्पविष से वमन, आध्मान और मोह (मूर्च्छा) होती है। त्वक्, सार, निर्यास इन विषों के सेवन से मुख में दुर्गन्धि, कठोरता, शिर में दर्द, कफ का स्राव होता है। दूध विष से झाग आना, अतीसार और जिह्वा में भारीपन होता है। धातुविष से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा तालु में दाह होता है। प्रायः ये विष दिन, पन्द्रह दिन, मास आदि समय में मारते हैं ॥७–१०॥

कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥११॥
स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तम्भ एव च।
ग्रीवास्तम्भो वत्सनाभे पातविण्मूत्रनेत्रता ॥१२॥
सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च।
ग्रीवादौर्बल्यवाक्सङ्गौ पालकेऽनुमताविह ॥१३॥
प्रसेकः कर्दमाख्येन विड्भेदो नेत्रपीतता।
वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते ॥१४॥
गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु।
श्रृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविवृद्धयः ॥१५॥
पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे।
वैवर्ण्यं मूलकैश्छर्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः ॥१६॥
चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै।
महाविषेण हृदये ग्रन्थिमूलोद्गमो भृशम् ॥१७॥
टेनोत्पतकर्कट्यूर्ध्वं हसन् दन्तान् दशत्यपि।

कन्दविष तीक्ष्ण विष होते हैं उनको विस्तार से कहूँगा, यथा—कालकूट से स्पर्श का अज्ञान, कम्पन और जड़ता होती है। वत्सनाभ से ग्रीवास्तम्भ, मल-मूत्र और आँख में पीलापन, सर्षपविष से वायु की विपरीतता, आनाह और गाठों की उत्पत्ति होती है। पालक से—ग्रीवा की दुर्बलता, वाणी का अवरोध

होता है। कर्दम से–मुख से पानी आना, अतीसार, आँखों में पीलापन होता है। वैराटक से अङ्गों का दुखना और शिरोरोग होता है। मुस्तक से शरीर में स्तम्भ, कम्पन, शृङ्गीविष से— अङ्गों में शिथिलता, दाह, उदर में वृद्धि। पुण्डरीक से आँखों में सुर्खी, उदर में वृद्धि। मूलक से विवर्णता, वमन, हिक्का, शोफ, मूढत्व, हालाहल से–देर में श्वास आता है, मनुष्य का रंग काला पड़ जाता है। महाविष से हृदय में ग्रन्थि और महान् शूल होता है। कर्कटक विष में मनुष्य ऊपर को कूदता है। हंसता हुआ दन्तों को काटता है ॥११-१८॥

कन्दजान्युग्रवीर्याणि प्रत्युक्तानि त्रयोदश ॥१८॥
सर्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः।

उग्रवीर्यवाले तेरह कन्द विष जो कहे हैं, इन सबको निम्न दस गुणों से कुशल मनुष्यों द्वारा पहचानना चाहिये ॥१८॥

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशुव्यवायि च ॥१९॥
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम्।
तद्रौक्ष्यात् कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम्।
मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धान् छिनत्ति च।
शरीरावयवान् सौक्ष्म्यात् प्रविशेद्विकरोति च ॥२१॥
आशुत्वादाशु तद्धन्ति व्यवायात् प्रकृतिं भजेत्।
क्षपयेच्च विकासित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि ॥२२॥
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात्।
दुर्हरं चाविपाकित्वात्तस्मात् क्लेशयते चिरम् ॥२३॥

विष के दस गुण—विष रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु और अपाकी है। रूक्ष होने से विष वायु को, उष्ण होने से रक्त के साथ पित्त को कुपित करता है। तीक्ष्ण होने से बुद्धि को मोहित करता है एवं मर्म बन्धनों को काट देता है। सूक्ष्म होने से शरीरावयवों में प्रवेश करके विकार उत्पन्न करता है। आशु होने से शीघ्र मारता है, व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विकाशी होने से दोष, धातु और मलों को नष्ट करता है। विशद होने से कहीं पर भी चिपकता (रुकता) नहीं। लघु होने से दुश्चिकित्स्य है। अविपाकी होने से कठिनाई से निकाला जाता है, इसलिये देर तक मनुष्य को दुःख होता है।

वक्तव्य—लघुरूक्षमाशुविशदं व्यवायी तीक्ष्णं विकासी सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ विष और मद्य के गुण समान हैं। आगे और गाय के दूध के गुण समान हैं। इसलिये जहाँ विष ओज को नष्ट करता है। वहाँ गाय का दूध ओज का बढ़ाता है, क्योंकि विष और ओज के गुण परस्पर विपरीत हैं। यथा—"गुरुशीतं मृदुश्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ गाय का दूध—स्वादुशीतं मृदुस्निग्धं बहलश्लक्ष्णपिच्छिलम्। गुरुमन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ तदेवं गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्॥ मद्य के गुण—लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवायाशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ हन्त्याशु हि विषं किञ्चिद् किञ्चिद्रोगाय कल्पते। यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो गदः॥ चरक चि० अ० २४ ॥१९-२३॥

स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम्।
सद्यो व्यापादयेत्तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम् ॥२४॥
यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा
देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥२५॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं
विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्
कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥

स्थावर, जंगम या कृत्रिम जो भी विष तुरन्त आदमी को मार देता है, उसको दसगुणोंवाला जानना चाहिये। स्थावर, जंगम, या कृत्रिम जो कि शरीर से सम्पूर्ण रूप में बाहर नहीं निकलता, अपितु पचकर या विषघ्न औषधियों से नष्ट होकर, अथवा दावानल, वायु, धूप से सूख जाने के कारण, या अपने स्वभाव से ही गुणों में कुछ कम गुण का हो जाता है, उस विष की दूषीविष संज्ञा हो जाती है। यह दूषीविष वीर्य (शक्ति) के कम होने से मनुष्य को जान से नहीं मारता, अपितु कफ से आवृत होने से बहुत वर्षों तक बना रहता है। (इसी तरह के विष को slow poison कहते हैं) ॥२४-२६॥

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो
भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ॥२७॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥
स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु
यात्याशु, पूर्वं शृणु तत्र रूपम् ॥२९॥

दूषीविष से पीड़ित मनुष्य को अतीसार रहता है, रंग बदल जाता है। मुख में दुर्गन्धि एवं विरसता, प्यास रहती है। मूर्च्छा होती है, वमन होता है, आवाज अस्पष्ट हो जाती

हैं। उदास रहता है, दूष्योदर के लक्षणों से पीड़ित रहता है। दूषीविष आमाशय में हो तो कफवात के लक्षण रहते हैं, पक्वाशय में होने से वायु-पित्त के लक्षण होते हैं। रोगी के शिर के बाल, शरीर के रोम झड़ जाते हैं, पर कटे हुए पक्षी की भाँति गंजा दीखता हैं। रसादि धातुओं में स्थित दूषित दूषीविष धातुजन्य रोगों को करता है। शीत, वायु और बादल के आने पर यह कुपित होता है।

वक्तव्य—तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वाद् संक्लेदंगुडवद्गतम्। सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये॥ चरक चि० अ० २३-७-८ ॥२७-२६॥

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च
विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दः।

दूषीविष के पूर्वरूप-निद्रा आना, भारीपन, जम्भाई, सन्धियों, का ढीलापन, रोमांचता, अंगों का टूटना होता है॥

ततः करोत्यन्नमदाविपाका-
वरोचकं मण्डलकोठमोहान् ॥३०॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं
दकोदरं छर्दिमथातिसारम्।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा
कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा ॥३१॥
उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥३२॥

इसके आगे अन्न के कारण मद (हर्षक्षय या घेन आना), अविपाक, अरोचक, चकत्ते और कोठों की उत्पत्ति, धातुक्षय, हाथ, पैर, मुख में शोथ, उदर में जलवृद्धि, वमन, अतीसार, विवर्णता, मूर्च्छा, विषमज्वर, बढ़ी हुई प्रबल प्यास उत्पन्न करता है। कोई विष उन्माद, कोई आनाह, कोई शुक्रनाश, कोई विष भर्राई हुई आवाज, कोई कुष्ठ इस प्रकार विष बहुत से-नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥३०-३२॥

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।
यस्माद्दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥३३॥

यह विष देश (आनूप), काल (शीतल-बादली आना), अन्न (सुरा, तिल आदि), दिन में सोने से बार-बार धातुओं को दूषित करता है, इसलिये इस विष को दूषीविष कहते हैं। (व्यायाम, मैथुन, क्रोध आदि भी इसको बढ़ाते हैं, उनका अन्न में समावेश करना चाहिये) ॥३३॥

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम्।
श्यावा जिह्वा भवेत्स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते॥
द्वितीये वेपथुः सादो दाहः कण्ठरुजस्तथा।
विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥३५॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्।
दुर्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्यलोचने ॥३६॥
पक्वामाशययोस्तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम्।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥३७॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥३८॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं चाप्यतिसार्यते।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे ॥३९॥

स्थावर विष के खाने पर इसके प्रथम वेग में मनुष्यों की जीभ श्याववर्ण, जड़ हो जाती है, रोगी को मूर्च्छा और श्वास होता है। दूसरे वेग में कम्पन, शिथिलता, दाह, गले में दर्द होता है। आमाशय में पहुँचने पर विष हृदय में वेदना करता है। तीसरे वेग में तालुशोष, आमाशय में तीव्रशूल, एवं आँखें बुरे वर्ण की हरी, सूजी हो जाती हैं। चौथे वेग में पक्वाशय और आमाशय में तोद, हिचकी, कास, आँतों में गड़गड़ाहट, और शिर में भारीपन होता है। पाँचवें वेग में कफ का स्राव, विवर्णता, पर्वों का टूटना, सब दोषों का प्रकोप और पक्वाशय में वेदना होती है। छठे वेग में बुद्धि और प्राणों का नाश, और अतिशय अतिसार होता है। सातवें वेग में स्कन्ध, पीठ और कटि टूट जाते हैं और श्वास रुक जाता है (मर जाता है)।

वि० मन्तव्य—विष की लहर का नाम वेग है। भाँग पीने पर भी वेग का कुछ २ अनुभव होता है ॥३४-३९॥

प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेचितम्।
अगदं मधुसर्पिभ्यां पाययेत समायुतम् ॥४०॥
द्वितीये पूर्ववद्वान्तं पाययेत्तु विरेचनम्।
तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथाऽञ्जनम् ॥४१॥
चतुर्थे स्नेहसंमिश्रं पाययेतागदं भिषक्।
पञ्चमे क्षौद्रमधुककक्वाथयुक्तं प्रदापयेत् ॥४२॥
षष्ठेऽतीसारवत् सिद्धिरवपीडश्च सप्तमे।
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत् ॥४३॥

चिकित्सा—विष के प्रथमवेग में रोगी को वमन कराके शीतल जल से परिषेक कराये। मधु और घी से भली प्रकार मिलाकर अगद पिलाये। विष के दूसरे वेग में पूर्व की भाँति वमन करके तीव्र विरेचन देवे। तीसरे वेग में अगद पिलाना, नस्य और अंजन दे। चौथे वेग में वैद्य स्नेह से मिला अगद पिलाये। पाँचवें वेग में मधु एवं मुलेहठी के क्वाथ में मिला अगद देवे। छठे में अतिसार की भाँति चिकित्सा करे और अवपीडन नस्य देवे। सातवें वेग में सिर पर काकपद के आकार का पच्छ लगा रक्त मिश्रित मांस रख देवे। अवपीडन भी देवे।

वि० मन्तव्य—अगद-विषतन्त्र में अथवा विषनाशक औषध का नाम "अगद" है जैसे दूषीविषारि अगद ॥४०-४३॥

वेगान्तरे त्वन्यतमे कृते कर्मणि शीतलाम् ।
यवागूं सघृतक्षौद्रामिमां दद्याद्विषापहाम् ॥४४॥
कोषातक्योऽग्निकः पाठासूर्यवल्ल्यमृताभयाः ।
शिरीषः किणिही शेलुर्गिर्याह्वा रजनीद्वयम् ॥४५॥
पुनर्नवे हरेणुश्च त्रिकटुः सारिवे बला ।
एषां यवागूर्निष्क्वाथे कृता हन्ति विषद्वयम् ॥४६॥

प्रथम वेग से लेकर अगले वेगों में किये जानेवाले कर्मों में शीतल उपचार, विषनाशक, घी और मधुमिश्रित निम्न-यवागू रोगी को देवे। यवागू—कडुई तुरई, चित्रक, पाठा, सूर्यवल्ली, गिलोय, हरड़, शिरीष, चिरचिटा, लसूड़ा, कोयल, हल्दी, दारुहल्दी, पुनर्नवा, लालपुनर्नवा, हरेणु, त्रिकटु, सारिवा, काली सारिवा, और बला इनके क्वाथ में बनाई यवागू स्थावर, जंगम दोनों विषों को नष्ट करती है ॥४४-४६॥

मधुकं तगरं कुष्ठं भद्रदारुहरेणवः ।
पुन्नागैलैलवालूनि नागपुष्पोत्पलं सिता ॥४७॥
विडङ्गं चन्दनं पत्रं प्रियङ्गुर्ध्यामकं तथा ।
हरिद्रे द्वे बृहत्यौ च सारिवे च स्थिरा सहा ॥४८॥
कल्कैरेषां घृतं सिद्धमजेयमिति विश्रुतम् ।
विषाणि हन्ति सर्वाणि शीघ्रमेवाजितं क्वचित् ॥४९॥

अजेय घृत—मुलेहठी, तगर, कूठ, देवदारु, हरेणु, नागकेसर, इलायची, एलवालुक, लाल नागकेसर, कमल, सिता (श्वेतवच या शर्करा), वायविडंग, चन्दन, तेजपत्र, प्रियंगु, कत्तृण, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ीकटेरी, सारिवा, काली सारिवा, शालपर्णी, मुद्‌गपर्णी, इनके कल्क से सिद्ध किया घृत अजेय (कभी भी जीता नहीं गया) नाम से प्रसिद्ध है। यह घृत सब विषों को शीघ्र नष्ट करता है, कहीं भी विष द्वारा जीता नहीं गया है ॥४७-४९॥

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वं चाधश्च शोधितम् ।
पाययेतागदं नित्यमिमं दूषीविषापहम् ॥५०॥
पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी शावरः परिपेलवम् ।
सुवर्चिका ससूक्ष्मैला तोयं कनकगैरिकम् ॥५१॥
क्षौद्रयुक्तोऽगदो ह्येष दूषीविषमपोहति ।
नाम्ना दूषीविषारिस्तु न चान्यत्रापि वार्यते ॥५२॥

दूषी विष के रोगी को भली प्रकार स्वेदन देकर वमन विरेचन से शोधन दे। उसे नित्य दूषीविष नाशक निम्न अगद को पिलाये। दूषीविषारि अगद—पिप्पली, कत्तृण, जटामांसी, शावर, लोध, केवड़ीमोथा, सुवर्चिका (हुलहुल), छोटी इलायची, स्वर्णगैरिक, इनको मधु में मिलाकर देवे। दूषीविषारि नाम का यह अगद दूषीविष को नष्ट करता है, और अन्य विषों में भी बरता जा सकता है ॥५०-५२॥

ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये ।
शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि च ॥५३॥
उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः ।
यथास्वं तेषु कुर्वीत विषघ्नैरौषधैः क्रियाम् ॥५४॥

उपद्रवचिकित्सा—ज्वर, दाह, हिक्का, आनाह, शुक्रक्षय, शोफ, अतीसार, मूर्च्छा, हृदयरोग, उन्माद, कम्पन और, जो दूसरे उपद्रव हों, उनमें उनकी अपनी चिकित्सा विषघ्न औषधियों से बरते ॥५३,५४॥

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥५५॥

संयमी पुरुष में तुरन्त का विष साध्य है। एक वर्ष का पुराना विष याप्य है। क्षीण हुए एवं अहित सेवी पुरुष में दूषीविष असाध्य होता है ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने स्थावरविषविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

—०—

तृतीयोऽध्यायः

अथातो जङ्गमविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे जंगमविषविज्ञानीयकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में जंगम विषों का वर्णन किया गया है परन्तु श्लो० ६ से लेकर आगे जो तृण आदि के दूषित करने का वर्णन है वह स्थावर विषों द्वारा भी किया जाता है ॥१,२॥

जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश ।
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥३॥

तत्र, दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशर्धिततुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति ॥४॥

जंगम विष के सोलह स्थान जो संक्षेप में कहे थे, उनको अब यहाँ विस्तार से कहेंगे। उनमें—दृष्टि, निःश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्त्तव, मुख, सन्दंश, विशर्धित, तुण्ड, अस्थि, पित्त, शूक, शव ये सोलह स्थान हैं। (विशर्धित-गुदा से किया कुत्सित शब्द)। वृद्धवाग्भट्ट में—"दृष्टिनिश्वासस्पर्शदंष्ट्रामुखनखास्थिमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तवलालाशूकपित्तशोणितशवानि" ॥४॥

तत्र, दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः भौमास्तु दंष्ट्राविषा मार्जारश्ववानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकपचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः, चिपिटपिच्चटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः लूता लालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तवविषाः वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिका-

श्चाल (र) विषा:, चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्धितमूत्रपुरीषविषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः, विषहतास्थिसर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि, शकुलीमत्स्य रक्तराजिवरकी (टी) मत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटोशतपदीशूकवलभिकाशृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः; कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः, शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः ॥५॥

इनमें दृष्टि, निश्वास में विषवाले दिव्य सर्प हैं। भूमि के सांप दंष्ट्राविषवाले हैं। बिल्ली, कुत्ता, बन्दर, मकर, मण्डूक, पाकमत्स्य, गोह, शम्बूक, प्रचालक, ग्रहगोधिका (छिपकली), पशु, कीड़े, तथा दूसरे दंष्ट्रा एवं नख विषवाले हैं। चिपट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्च, कीट, कौण्डिन्यक, ये इनके मल मूत्र में हैं। चूहों के शुक्र में विष है। लूता (मकड़ी) के लाला, मूत्र, मल, मुख, संदेश, नख शुक्र और आर्त्तव में विष है। बिच्छू, विश्वम्भर, वरटी, राजीवमत्स्य, उच्चिटिंग (विषकपरा), समुद्रवृश्चिक, इनके आर (पूंछ में स्थित कांटा) में विष है। चित्रशिर, सराव, कुदर्शित, दारुकारि, मेदक, सारिमुखा इनके मुखसन्दंश, विशर्धित, मूत्र और मल में विष है। मक्खी, कणभ और जोंक इनके मुख सन्दंश में विष है। विष से मरे की अस्थि, सांप का कण्टक (दांत), वरटी, मछली की अस्थि, ये अस्थि विष हैं। शकुलीमत्स्य, रक्तराजी, वरटी, मत्स्य ये पित्तविषवाले हैं। सूक्ष्मतुण्ड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी (कानखजूरा), शूक, बलभीका, शृंगी, भ्रमर इनके शूक और तुण्ड में विष है। कीड़े और सांप इनके मृत देह शव विष हैं। शेष जो नहीं कहे उनको मुख सन्दंश विष में गिनना चाहिये।

वक्तव्य—चूहे के काटने से भी विष होता है, इसी को आजकल (Rat Bite Fever) के नाम से कहते हैं। और-बैल आदि को मारने के लिये बाँस की पतली लकड़ी (पैनी) के अगले भाग में आधा इंच लम्बी लगाई पतली-तेज कील होती है। इसे बैल में चुभोते हैं। इसकी भाँति होने से बिच्छू के दंश को 'आर' शब्द से कहा है। वृद्धवाग्भट्ट ने तुण्ड विशर्धित के स्थान पर स्पर्श और रक्त पढ़ा है ॥५॥

भवन्ति चात्र—

राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बु-
मार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
संदूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान्
विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान् ॥६॥

इसमें श्लोक भी हैं—शत्रु देश में प्रविष्ट राजा के तृण (पशुओं के घास, भूसा आदि), जल, रास्ते, अन्न, वायु को शत्रु विष से दूषित कर देते हैं। शत्रुओं से अति दूषित किये इनको निम्न लक्षणों से जान कर इनका शोधन करे ॥६॥

दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि
फेनान्वितं राजिभिरावृतं च।
मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा
मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति ॥७॥
मज्जन्ति ये चात्र नराश्वनागा-
स्ते छर्दिमोहज्वरदाहशोफान्।
ऋ (ग) च्छन्ति तेषामपहृत्य दोषान्
दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत ॥८॥

विष से दूषित जल—पिच्छिल, तेजगन्धवाला, झागदार और रेखाओं से युक्त होता है। मेढक, मछली, मर जाते हैं। पक्षी और कछुए आदि किनारे पर रहनेवाले पागल हो जाते हैं। इस जल में मनुष्य, घोड़े, हाथी, जो भी स्नान करते हैं, उनको वमन, मोह, ज्वर, दाह और शोफ होता है। उनके दोषों को दूर करके, दूषित जल को, शुद्ध करने का यत्न करे॥

इसके लिये—

धवाश्वकर्णासनपारिभद्रान्
सपाटलान् सिद्धकमोक्षकौ च।
दग्ध्वा सराजद्रुमसोमवल्कां-
स्तद्भस्म शीतं वितरेत् सरःसु ॥९॥
भस्माञ्जलिं चापि घटे निधाय
विशोधयेदीप्सितमेवमम्भः।

धावड़ी, अश्वकर्ण, असन (विजयसार), पारिभद्र (फरहद), पाटल, सिद्धक, (निर्गुण्डी या सिम्बल), मोक्षक (मोखा), अमलतास, सोमवल्क (विटखदिर की छाल) इनको जलाकर इनकी ठण्डी भस्म को जल में छिड़क देवे। इस राख की अंजली घड़े में डालकर इच्छित पीने के पानी का शोधन करे[1]।

वि० मन्तव्य—जल की शुद्धि के लिये जो भस्म का प्रयोग बतलाया है वह क्षार का प्रयोग है। आजकल जो पुटास परमेङ्गनेट का प्रयोग होता है उसका यही बीज है। उक्त लालद्रव्य भी क्षार ही है। जिन कूपों का जल विकृत हो जाता है इनमें उक्त भस्म डालने पर वही लाभ होता है जो पुटास परमेङ्गनेट डालने पर होता है ॥९॥

क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु
शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा ॥१०॥
स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन
गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा।

१ मेरे मित्र श्री निरंजन गलियारा ने बतलाया है कि बर्मा में इन्सीन, तमाई की तरफ बर्मी लोग तालावों में एक लकड़ी का चूर्ण पानी पर छिड़क देते हैं। सवेरे मछलियां मरी हुई पानी के ऊपर उनको मिल जाती हैं।

तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च
विशीर्यते रोमनखं तथैव ॥११॥
तत्राप्यनन्तां सह सर्वगन्धैः
पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य मार्गम् ।
सिञ्चेत् पयोभिः सुमृदन्वितैस्तं
विडङ्गपाठाकटभीजलैर्वा ॥१२॥

विष से दूषित भूमि प्रदेश का, शिलापृष्ठ को, तीर्थ (घाट आदि) को, ईरिण (ऊपर भूमि मैदान) को गाय-बैल, घोड़े हाथी, ऊँट, गधे, और मनुष्य शरीरके जिस जिस अंग से छूते हैं, वह अंग सूज जाता है, वहाँ पर जलन होती है, रोम और नख गिर जाते हैं। इसके लिये अनन्ता (सारिवा) को एलादिगण के साथ सुरा में पीसकर दूध एवं काली मिट्टी या वर्ल्मीक मृत्तिका मिलाकर इससे छिड़काव करे। अथवा वायविडंग, पाठा, कटभी (अपराजिता) इनके कषाय से परिषेक करे ॥

तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु
सीदन्ति मूर्च्छन्ति वमन्ति चान्ये ।
विड्भेदमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते
तेषां चिकित्सां प्रणयेद्यथोक्ताम् ॥१३॥
विषापहैर्वाऽप्यगदैर्विलिप्य
वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत ।
तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः
सर्वैश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः ॥१४॥
पित्तेन युक्तः कपिलान्वयेन
वाद्यप्रलेपो विहितः प्रशस्तः ।
वाद्यस्य शब्देन हि यान्ति नाशं
विषाणि घोराण्यपि यानि सन्ति ॥१५॥

घास-भूसा आदि एवं भोजन-गेहूँ आदि के विष से दूषित हो जाने पर जो इनका उपयोग करते हैं वे शिथिल हो जाते हैं, मूर्च्छित होते हैं, कइयों को वमन होती है, किसी को अतिसार होता है, और कोई मर भी जाते हैं। उनमें निम्न चिकित्सा करे। विषनाशक या अन्य अगदों से नाना प्रकार के वाद्यों पर लेप करके इनको बजाये। चाँदी, पारा, सुवर्ण, सारिवा, इन सब के बराबर कुरुविन्द (रत्न या शाण का पत्थर, डल्हण के मत से मुस्ता भी), इनको कपिलवर्ण की गाय के पित्त के साथ मिलाकर बाजों पर लेप करना उत्तम है। क्योंकि वाद्य के शब्द से घोर विष भी नष्ट हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—वाद्य-ढोल आदि-शब्द या ध्वनि से वातावरण फट जाता है फलतः जहाँ तक शब्द जाता है वहाँ तक विषनाशक औषध की धूलि पहुँच जाती है और विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है ॥१३-१५॥

धूमेऽनिले वा विषसंप्रयुक्ते
खगाः श्रमार्ताः प्रपतन्ति भूमौ ।
कासप्रतिश्यायशिरोरुजश्च
भवन्ति तीव्रा नयनामयाश्च ॥१६॥
लाक्षाहरिद्रातिविषाभयाब्द-
हरेणुकैलादलवक्रकुष्ठम् ।
प्रियङ्गुकां चाप्यनले निधाय
धूमानिलौ चापि विशोधयेत ॥१७॥

धूम या वायु के विष से युक्त होने पर पक्षी-श्रम से थककर भूमि पर गिर जाते हैं। कास, श्वास, प्रतिश्याय, शिरोरोग, और आंख के रोग हो जाते हैं। इसमें लाख, हल्दी, अतीस, हरड़, मोथा, हरेणु, इलायची, तमालपत्र, तगर, कूठ, प्रियंगु इनको अग्नि में डालकर इनसे धूम और वायु का शोधन करे[1]।

वि० मन्तव्य—विषैला धूम (गैस) तथा वायु जहाँ फैल जाता है अथवा फैला दिया जाता है। जैसे—प्रथम महासमर (सन् १९१४-१८) में गैसों का प्रयोग किया गया था और उसके द्वारा "इन्फ्लुएञ्जा" नामक ज्वर जनपदोद्ध्वंस-मरक महामारी के रूप में फैला था। इस ज्वर के भी प्रधान लक्षण कास, प्रतिश्याय एवं शिरोवेदना ही थे ॥१६,१७॥

प्रजामिमामात्मयोनेर्ब्रह्मणः सृजतः किल ।
अकरोदसुरो विघ्नं कैटभो नाम दर्पितः ॥१८॥
तस्य क्रुद्धस्य वै वक्त्राद्ब्रह्मणस्तेजसो निधेः ।
क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निपपातातिदारुणः ॥१९॥
स तं ददाह गर्जन्तमन्तकाभं महाबलम् ।
ततोऽसुरं घातयित्वा तत्तेजोऽवर्धताद्भुतम् ॥२०॥
ततो विषादो देवानामभवत्तं निरीक्ष्य वै ।
विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते ॥२१॥
ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं क्रोधमीश्वरः ।
विन्यस्तवान् स भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥२२॥

स्वयम्भू ब्रह्मा के इस सृष्टि को बनाते समय कैटभ नाम के राक्षस ने अभिमान में आकर विघ्न उपस्थित किया। उस समय तेजः पुञ्ज ब्रह्मा के क्रुद्ध होने से उनके मुख से क्रोध शरीर-रूप धारण करके अतिदारुण रूप से गिरा। इस क्रोधरूपी पुरुष ने उस यम के समान महाबलवान्, एवं गरजते हुए राक्षस को मार डाला। उस राक्षस को मारकर यह तेज विचित्ररूप में बढ़ने लगा। इसको देखकर देवताओं को बहुत विषाद (दुःख) हुआ। विषाद उत्पन्न करने के कारण इसको विष कहते हैं। फिर शेष प्रजाओं को बनाकर ब्रह्मा ने उस क्रोध को स्थावर और जंगम भूतों में रख दिया।

---

१ विगत यूरोपिय महायुद्ध में सिपाहियों के टोप पर एवं बटनों पर ऐसे पदार्थ लगा दिये जाते थे कि जिनका रंग विषैले गैस से बदल जाता था। रंग बदलता देखकर सिपाही तुरन्त वायु से बचने का रक्षायंत्र (मस्क) बरतता था।

जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ।
जंगमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत् ॥ चरक ।

वि० मन्तव्य—यह विष की प्राथमिक उत्पत्ति का प्रकार है और यह अगद तन्त्र–विषशास्त्रवालों का कथन है या विचार है या अनुमान है। जैसे मानव की सृष्टि के विषय में मानव शास्त्र का ॥१८-२२॥

यथाऽव्यक्तरसं तोयमन्तरीक्षान्महीगतम् ।
तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं नियच्छति ॥२३॥
एवमेव विषं यद्यद्द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते ।
स्वभावादेव तं तस्य रसं समनुवर्तते ॥२४॥

जिस प्रकार अव्यक्तरसवाला जल आकाश से बरसकर भूमि पर गिरकर उन उन प्रदेशों के रसों को ले लेता है, इसी प्रकार विष भी जिस द्रव्य का आश्रय लेता है, प्रकृति से वह उसी द्रव्य के रसवाला बन जाता है। (वैसे विष अव्यक्त रस है) ॥२३,२४॥

विषे यस्माद्गुणाः सर्वे तीक्ष्णा प्रायेण सन्ति हि ।
विषं सर्वमतो ज्ञेयं सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२५॥
ते तु वृत्तिं प्रकुपिता जहति स्वां विषार्दिताः ।
नोपयाति विषं पाकमतः प्राणान् रुणद्धि च ॥२६॥
श्लेष्मणाऽवृतमार्गत्वादुच्छ्वासोऽस्य निरुध्यते ।
विसंज्ञः सति जीवेऽपि तस्मात्तिष्ठति मानवः ॥२७॥

क्योंकि विष में प्रायः सब गुण तीक्ष्ण रूप में रहते हैं इसलिये विष को सब दोषों का प्रकोपक जानना चाहिये। ये वातादि दोष प्रकुपित होकर विष से पीड़ित होने के कारण अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। इसलिये विष का पाचन नहीं होता, और प्राणों का घातक बन जाता है कफ से मार्ग के आवृत्त होने के कारण इसका उच्छ्वास रुक जाता है। इसलिये जीते हुए भी मनुष्य संज्ञारहित बना रहता है।

वि० मन्तव्य—यद्यपि रूक्ष एवं उष्ण आदि गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु विष द्रव्य में तीव्र होते हैं, इसीलिये यह द्रव्य "विष" कहलाता है। वृत्ति—वायु—प्रस्पन्दन आदि को, पित्त–पाचन एवं रसरञ्जन आदि को और कफ सन्धिश्लेष कर्म को। विष अपाकी–न पचनेवाला होता है (क० अ० २–श्लो० २०) अतः प्राण की गति को रोक देता है, कफ द्वारा प्राण के मार्ग रुक जाने से श्वास प्रश्वास की क्रिया रुक जाती है—रुक-रुक कर बहुत ही सूक्ष्म होकर चलती है। तात्पर्य यह है कि विषपीड़ित के श्वास की गति को रुकी देखकर ही उसे मृत नहीं समझ लेना चाहिये अपितु—इसी अध्याय के श्लो० ४०–४४ के अनुसार यदि लक्षण देखे जायँ तब "मृत" समझना चाहिये अन्यथा विष नाशक उपचार तत्परता के साथ करते रहना चाहिये ॥२५-२७॥

शुक्रवत् सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम् ।
क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव ॥२८॥
तेषां बडिशवद्दंष्ट्रास्तासु सज्जति चागतम् ।
अनुद्वृत्ता विषं तस्मान्न मुञ्चन्ति च भोगिनः ॥२९॥

सब साँपों में विष शुक्र की भाँति सारे शरीर में फैला रहता है। जिस प्रकार विषय की इच्छा से अंगों के मथने पर शुक्र बाहर आता है, इसी प्रकार क्रुद्ध होने पर विष सम्पूर्ण अंगों से बाहर आता है। यह आया हुआ विष उनकी बडिश (मछली पकड़ने का काँटा) के समान दंष्ट्रा में (थैली में) रुक जाता है। इसलिये बिना चाह के साँप विष को नहीं छोड़ते, (इच्छा करने पर ही साँप जहर निकालता है)।

चरक—सर्पदंष्ट्रा चतस्रस्तु तासां वामाधराः सिराः । पीतावामोत्तरादंष्ट्रा रक्तश्यावाधरोत्तरा ॥ यन्मात्रः पतते बिन्दुः गोवालात्सलिलोद्धृतात् । वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्याद्दहः विषम् ।

वि० मन्तव्य—सर्प का मांस खाया भी जाता है। सुना है चीन जापान आदि देशों में यह मछली के समान प्रयुक्त होता है और च० चि० अ० ८ में वर्मिशब्देन च उरगान् ॥५१॥ सर्प का मांस खाने का विधान भी है। प्रतीत होता है, कि जैसे शरीर में व्याप्त शुक्र धातु शुक्र के रूप में नहीं पाया जाता वैसे ही विष भी सर्प के शरीर में व्याप्त विषरूप में नहीं पाया जाता वह उनके दंश में आकर ही विषरूप धारण करता है। यह भी सुना जाता है, कि सर्प का शिर काटकर शेष शरीर का मांस निर्विष होने के कारण खा लिया जाता है। अनुद्वृत्ता-अननुयोजिताः अनुच्छलिता इति यावत्, कर्षणकृत परावृत्त्या हि दंष्ट्राणां अधोमुखता इति (डल्लन टीका)। अर्थात् सर्प काटकर दंष्ट्रा फँसे दन्तों को निकालने के लिये उछलकर एकबार उलटा होता है, उल्टा होते ही दन्तों का मुख नीचे की ओर हो जाता है फलतः क्षत में विष चू जाता है। कभी-कभी काटने पर विष का प्रभाव नहीं होता क्योंकि सर्प उलटे बिना ही दन्त निकालकर भाग जाता है। यह सब सर्प विशेषज्ञ सपेरों से सुना है ॥२८,२९॥

यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम् ।
अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥३०॥
मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम् ।
अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥३१॥
कीटैर्दंष्टानुग्रविषैः सर्पवत् समुपाचरेत् ।

चूंकि विष अतिशय उष्ण, और तीक्ष्ण कहा है, इसलिये सब विषोंमें शीतल परिषेक करना चाहिये। कीटों का विष मन्द, न बहुत उष्ण और न बहुत वातकफवाला होता है इसलिये कीटों के विष में स्वेद निषिद्ध नहीं हैं। उग्रविषवाले कीटों के दंश की चिकित्सा सर्पों की भाँति करे ॥३०,३१॥

स्वभावादेव तिष्ठेत्तु प्रहारादंशयोर्विषम् ॥३२॥
व्याप्य सावयवं देहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः ।
लौल्याद्विषान्वितं मांसं यः खादेन्मृतमात्रयोः ॥३३॥
यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेऽपि वा ।
अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्यं मृतमात्रयोः ॥३४॥
मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जितम् ।

स्वभाव से ही विष दंश किये स्थान पर रहता है। विषैले शस्त्र से मारे, और सांप के काटने पर विष अङ्ग समेत सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। मरे हुए प्राणी का विषयुक्त मांस लोभ के कारण जो कोई खाता है, वह प्राणी विष के अनुसार रोग से पीड़ित होता है या मर जाता है। इसलिये विषैले बाण से मरे या सांप के काटने से मरे हुए प्राणी का मांस नहीं खाना चाहिये। यदि खाना ही हो तो प्रहार और दंश के स्थान को छोड़कर तुरन्त एक मुहूर्त्त के अन्दर ले लेना चाहिये॥

सवातं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ॥३५॥
आध्मातोऽत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः ।
उद्वमत्यथ फेनं च विषपीतं तमादिशेत् ॥३६॥
न चास्य हृदयं वह्निर्विषजुष्टं दहत्यपि ।
तद्धि स्थानं चेतनायाः स्वभावाद्व्याप्य तिष्ठति॥३७॥

वायु के साथ घर के धुंवासे के समान रंग का काला मल जिसे आता हो, आध्मान हो, आंसुओं का जल बहुत गरम हों, विवर्ण हो, शिथिलता आ गई हो, वमन आती हो, झाग आती हो, उस रोगी को विष पान किया समझे। इस रोगी के विष से युक्त हृदय को आग में न जलाये। क्योंकि हृदय चेतना का स्थान है, विष स्वभाव से ही उसमें व्याप्त करके रहता है। (पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति, दष्टविद्धयोः दंशदेशे स्यात्—चरक) ॥३५-३७॥

अश्वत्थदेवायतनश्मशान-
वल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया
ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः ॥३८॥

पीपल, मन्दिर, श्मशान, वल्मीक, सन्ध्याकाल, चौराह, भरणी नक्षत्र में, मघा नक्षत्र में और मर्म स्थानों पर काटे हुए मनुष्यों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, ये असाध्य हैं ॥३८॥

दर्वीकराणां विषमाशुघाति
सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।
अजीर्णपित्तातपपीडितेषु
बालप्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु ॥३९॥
वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु
रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु ।

दर्वीकर सांपों का विष शीघ्र मारक होता है। सभी विष उष्णकाल में दुगुने बढ़ते हैं। अजीर्णरोगी, पित्तरोगी, धूप से पीड़ित, बालक, प्रमेहरोगी, गर्भवती, वृद्ध, रोगी, क्षीण, भूखे, रूक्ष प्रकृति, और भीरुओं में एवं बादलों के आने पर सब विषों का जोर बढ़ता है ॥३९॥

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति
राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥४०॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।
जिह्वा सिता यस्य च केशशातो
नासावभङ्गश्च सकण्ठभङ्गः ॥४१॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे
हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्रा-
द्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥४२॥
दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य
तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु ।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा
हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥४३॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च
जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात् ॥४४॥

असाध्य—शस्त्र से काटने पर जिसका रक्त नहीं निकलता, लता (वेत) आदि से मारने पर जिसके शरीर पर रेखायें नहीं उठती, शीतल जल से जिसको रोमांच नहीं होता, विष से पीड़ित उस मनुष्य को छोड़ देना चाहिये। जिसकी जीभ श्वेत हो गई हो, बाल झड़ने लगें, नासा बैठ गई हो, आवाज रुक गई हो, रक्त काला हो, दंश में लाल शोथ हो, जबाड़ी स्थिर हो गई हो (बन्द रहे, खुले नहीं), वह भी असाध्य है। मुख से जमा हुआ घट्ट कफ निकले, मुख, नाक, गुद, मूत्रमार्ग से रक्त जाता हो दंशस्थान पर सब दांतों का पूरा पूरा निशान हो, उसको भी वैद्य छोड़ देवे। जो रोगी पागल हो, अति उपद्रवों से पीड़ित हो, स्वर कमजोर हो गया हो अथवा रोगी के शरीर का रंग बदल गया हो, मृत्यु के लक्षण निश्चित रूप में आ गये हों, जिसमें लहर न आये, वह रोगी मरेगा ही, उसकी चिकित्सा न करे ॥४०-४४॥

वक्तव्य—नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभंगविक्षेपाः। शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात् ॥ क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिंगानि ॥ च० चि० अ० २३-३३-३४।

मनुष्य के शरीर में मरने पर जो परिवर्त्तन होते हैं, यथा, राईगर मोरटिस, सिराओं का संकोच, रक्त संचार का बन्द होना उसके कारण, ही वेंत आदि से मारने पर रेखायें नहीं उठतीं, जलाने पर छाला नहीं होता, छाले में पानी नहीं होता।

ये पहिचानें—निश्चित मृत्यु का चिह्न हैं। विस्तार न्यायवैद्यक-विषतंत्र में देखिये ॥४०-४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने जङ्गमविषविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः सर्पदष्टविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः॥१।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्पदष्टविज्ञानीयकल्प का व्याख्यान करेंगे– जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

धन्वन्तरिं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥३॥

महाबुद्धिमान्, सब शास्त्रों में निपुण धन्वन्तरि भगवान् के पैरों को स्पर्श करके सुश्रुत ने पूछा ॥३॥

सर्पसंख्यां विभागं च दष्टलक्षणमेव च ।
ज्ञानं च विषवेगानां भगवन् ! वक्तुमर्हसि ॥४॥

हे भगवन् ! सर्पों की संख्या उनके भेद, उनके काटने के लक्षणों को विष के वेगों का ज्ञान आप के कहने योग्य है, इसलिये कहें ॥४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः ।
असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः ॥५॥
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः ।
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च ॥६॥
ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही ।
क्रुद्धा निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ॥७॥
नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया ।
ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान् ॥८॥
तेषां सङ्ख्यां प्रवक्ष्यामि तथावदनुपूर्वशः ।

सुश्रुत के इन वचनों को सुनकर वैद्यों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने कहा । वासुकि जिन में श्रेष्ठ है, ऐसे तक्षकादि सांप असंख्य हैं । ये पृथ्वी को धारण करनेवाले, नागेन्द्र, होमाग्नि के समान तेजस्वी हैं । और जो निरन्तर गरजते हैं, बरसते हैं, तपते हैं, समुद्र, पर्वत, द्वीप समेत पृथ्वी जिनसे धारण की हुई हैं, जो क्रुद्ध होकर निःश्वास—दृष्टि मात्र से सम्पूर्ण जगत् को नष्ट कर सकते हैं, उनके लिये नमस्कार है, उनसे चिकित्सा में कोई सम्बन्ध नहीं है । जो कि दंष्ट्रा विषवाले पृथ्वी के सांप हैं, जो मनुष्यों को काटते हैं, उनकी संख्या को ठीक प्रकार क्रम से कहता हूँ[१] ।

१—सांपों का नाम, वर्णन महाभारत आदिपर्व में विस्तार से दिया हैं, वहां देखें । या Indian Snakes नामक अंग्रेजी पुस्तक में देखें ।

वि० मन्तव्य—हमारा अनुमान ही नहीं, विश्वास है कि भूतकाल में अन्य शास्त्रों, दर्शनों या वादों के समान सर्पशास्त्र भी रहा होगा जिसमें यह प्रतिपादित या सिद्ध किया गया होगा कि सर्प ही सब कुछ हैं यथा ईश्वरवाद में ईश्वर, शक्तिवाद में शक्ति, सौरसम्प्रदाय में सूर्य, गणपति संप्रदाय में गणेश ही सब कुछ माना जाता है । आज भी सर्प सम्प्रदाय के जन पाये जाते हैं जिनको "सपेरा" कहते हैं और सर्प को देव मानकर पूजा भी होती है, उसे मारना भी उचित नहीं समझा जाता, यत्र तत्र उसके मन्दिर भी हैं, उत्तर प्रदेश में नागपञ्चमी तथा पञ्जाब में भाद्रपद कृष्ण ८ तथा शुक्ला नवमी को पूजा होती है और कश्मीर में अमरनाथ की यात्रा में जो छड़ी चलती है वह सर्प पूजा का ही प्रकार है । और पुराणों में जिस शेष नाग का वर्णन है वह भी सर्प ही है, वह इतना विराट्-ब्रह्म-बृहत्-बड़ा है कि विष्णु भगवान् भी उसी पर शयन करते हैं और इतना बड़ा भूमण्डल भी उसके सहस्र संख्यक फणाओं में एक फण पर धूलिकण के समान अत्यन्त सूक्ष्म कण है। अन्य न जाने कितने कण हैं आदि आदि । यही सब "ससागर.......जगत्" कहकर भगवान् धन्वन्तरि ने उन सर्पों को प्रणाम किया है। तात्पर्य यह है कि सर्पवादियों का ईश्वर सर्प ही है । सर्पों को देवयोनि का प्राणी भी माना है यही कारण है कि सर्प, सर्पिणी, नपुंसक सर्प, गर्भिणी तथा सूतिका सर्पिणी आदि के लक्षण दष्ट प्राणी में उत्पन्न हो जाते है देखिये इसी अध्याय का सूत्र ३८ ॥५-८॥

अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा ॥९॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ।
निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः ॥१०॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ।
तेषु दर्वीकरा ज्ञया विंशतिः षट् च पन्नगाः॥११॥
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश ।
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा ॥१२॥
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः ।

ऐसे सांप अस्सी हैं। इनका भेद पांच प्रकार का है । यथा- दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज । ये फिर आकार दृष्टि से तीन प्रकार के हैं यथा—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान् । इनमें दर्वीकर सांप छब्बीस, मण्डली बाईस, राजिमान दस, निर्विष बारह, वैकरञ्ज तीन हैं । चित्रितमण्डलि-राजिमान-वैकरञ्जों से उत्पन्न सांप सात हैं (मण्डलि से चार, राजिमान से तीन) ।

वक्तव्य—दर्वी-कड़छी, कर-फण, कड़छी के समान फण (शिर) वाले, फनियर । मण्डलि–गोल-गोल मण्डलवाले । राजिमान्-राजि-रेखा-धारीवाले । निर्विष–थोड़े विषवाले ।

वि० मन्तव्य—वैकरञ्ज नामक सर्प—संकीर्ण जात अर्थात् वर्णसंकर हैं। भिन्न जाति की सर्पिणी में भिन्न जाति के सर्प से उत्पन्न हैं। और वैकरञ्जों से उत्पन्न सर्प विचित्र विचित्र मण्डलों तथा राजियोंवाले होते हैं ॥९-१२॥

पादाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा ॥१३॥
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः ॥

पैर से छूने पर, स्वभाव से दुष्ट, क्रुद्ध हुए, ग्रास (भोजन) की इच्छा से, ये अतिशय क्रोधी, भीम दर्शनवाले सांप काटते हैं। इनका काटना तीन प्रकार का है ॥१३॥ यथा—

सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम् ॥
सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः ॥१४॥
पदानि यत्र दन्तानामेकं द्वे वा बहूनि वा।
निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्धृत्य करोति हि ॥१५॥
चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च।
सङ्क्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तत् सर्पितं भिषक् ।१६
राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा।
विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत् ॥१७॥
अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य देहिनः।
पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः ॥१८॥
सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः।
कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत् ॥१९॥

सर्पित, रदित और तीसरा निर्विष काटना। सांप के काटने के समझनेवाले कुछ व्यक्ति सर्पाङ्गाभिहत (सांप का छू जाना) भी गिनते हैं। जहाँ पर एक, दो या बहुत से दन्तों के चिह्न गहरे गये, थोड़े रक्तवाले होते हैं, जिन चिह्नों को सांप उलटकर करता है, चंचुमालक युक्त, विकार उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म, शोफयुक्त होते हैं, उनको वैद्य सर्पित दंश समझे। जहाँ पर रेखायें सुर्ख या नीली या पीली अथवा श्वेत हों, उसे रदित जानना, यह अल्पविष होता है। जहाँ पर सूजन थोड़ा हो, रक्त थोड़ा दूषित हो, रोगी स्वस्थ रहे, वहाँ पर एक चिह्न या बहुत चिह्न होने पर भी वैद्य इसको निर्विष समझे। डरपोक व्यक्ति में सांप के छूने मात्र से कुपित हुई वायु किसी में सूजन उत्पन्न कर देती है, इसको सर्पाङ्गाभिहत कहते हैं।

वक्तव्य—साँप की दाढ़ ऊपर में दो, प्रत्येक पार्श्व में एक होती है। यह दाढ़ औरों से लम्बी होती है। इनका अग्रभाग कुछ झुका एवं नोकदार होता है। यही विषैला दांत होता है। इसके पीछे एक थैली रहती है। थैली का मुख इस दांत में खुलता है। नीचे की तरफ थैली ऊपर के जबाड़े में रहती है। इसलिये दांत के निशान व्रण के दोनों ओर (०( )०) एक-एक होते हैं। यदि व्रण के दोनों ओर दो दो निशान हों तो वह उतना विषैला नहीं होता। सर्पाङ्गाभिहत को चरक में—"दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद् विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥ ग्लानिर्मोहोऽतीसारो वा प्येतच्छङ्काविषं मतम् ॥१४-१६॥

व्याधितोद्विग्नदष्टानि ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु।
तथाऽतिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ॥२०॥
सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते।
विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न क्रमते विषम् ॥२१॥

रोगी या उद्विग्न (घबराये) हुये सांप से काटे हुए पुरुषों में विष थोड़ा चढ़ता है। इसी प्रकार अति वृद्ध, बालक के काटने पर भी थोड़ा विष चढ़ता है। गरुड़, देवता, ब्रह्मर्षि, यक्ष, सिद्धों से सेवित एवं विषघ्न औषधियोंयुक्त स्थान में विष का संचार नहीं होता ॥२०,२१॥

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः।
ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥२२॥
मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः।
ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥२३॥
स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः ॥२४॥

चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक, अंकुश का चिह्न धारण करनेवाले, फणवाले और शीघ्रगामी सांप दर्वीकर हैं। नानाप्रकार के मण्डलों से चित्रित, चपड़े, धीमे चलनेवाले, अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाले सांप मण्डली हैं। चिकनी, नानाप्रकार के वर्णों की, तिरछी एवं ऊपर पड़ी रेखाओं से चित्रित जो शोभित होते हैं, वे साँप राजिमान् हैं ॥२१-२४॥

मुक्तारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः।
सुगन्धयः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥२५॥
क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः।
सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां यथाऽम्बुजम् ॥२६॥
कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा।
धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥२७॥
महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः।
भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्तिताः ॥२८॥

जो साँप मोती, चाँदी की प्रभा के या जो कपिल वर्ण होते हैं, सुगन्धित होते हैं, सुवर्ण की कान्ति के होते हैं, वे साँप ब्राह्मण जाति के हैं। जो साँप स्निग्धवर्ण, अतिशयक्रोधी, सूर्य, चन्द्र की आकृति के या छत्र के चिह्नवाले अथवा कमल के चिह्नवाले हैं, वे क्षत्रिय जाति के हैं। काले, वज्र के समान लाल वर्ण के धूम्रवर्ण या पारावत (घरेलू कबूतर) केसे होते हैं वे साँप वैश्य जाति के हैं, भैंस, चीता के वर्ण के, कठोर त्वचा के, नानाप्रकार के चितकबरे रंगों के जो होते हैं, वे साँप शूद्र जाति के हैं।

वक्तव्य— भारतीय संस्कृति में सब विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र इसी रूप में किया गया है। अभ्रक, वज्र आदि को भी, विष को भी उन्होंने इसी रूप में विभक्त किया है। गीता में भी कहा है "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" ॥

कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु ।
पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥२९॥
अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम् ।
ज्ञेयौ दोषैश्च दम्पत्योर्विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥३०॥

सब फणियर (दर्वीकर) साँप वायु को कुपित करते हैं। मण्डलि साँप पित्त को और राजिमान् साँप कफ को कुपित करते हैं। असमानवर्ण माता-पिता की संतान दो दोषों के (संसर्ग रूप में) लक्षणों को उत्पन्न करनेवाली होती है॥२९,३०॥

रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति हि
शेषेषूक्ता मण्डलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः ॥३१॥

इसमें और भेदों को कहते हैं—रात के पिछले भाग में राजिमान् सर्प घूमते हैं। शेष रात्रि में (रात्रि के पहले दूसरे, तीसरे पहर में) मण्डलि साँप, दिन में दर्वीकर साँप घूमते हैं॥

दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा ।
राजिमन्तो वयोमध्ये जायन्ते मृत्युहेतवः ॥३२॥

दर्वीकर साँप तरुणावस्था में, मण्डलि साँप वृद्धावस्था में, राजिमान् साँप मध्यवय में मृत्यु के कारण होते हैं ॥३२॥

नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः ।
वृद्धा मुक्तत्वचो भीता सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृता ॥३३॥

नेवले से घबराये, बालक, जल के वेग से ताड़ित, कृश, वृद्ध, केंचुली उतारे, डरे हुए साँप अल्प विषवाले कहे हैं॥

चरक में—"वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाःस्मृताः॥"॥३३

तत्र, दर्वीकराः—कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासर्पः, शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, खण्डफणः, ककुदः पद्मो, महापद्मो, दुर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रूकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिरा, अलगर्द, आशीविष इति (१),

मण्डलिनस्तु—आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डलः चित्रमण्डलः, पृषती, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको; गोनसो, वृद्धगोनसः पनसो, महापनसो, वेणुपत्रकः, शिशुको, मदनः, पालिन्दिरः, पिङ्गलः, तन्तुकः, पुष्पपाण्डुः, षडङ्गो, अग्निको, बभ्रुः, कषायः, कलुषः पारावतो, हस्ताभरणः, चित्रकः एणीपद इति (२);

राजिमन्तस्तु—पुण्डरीको राजिचित्रो, अङ्गुलराजिः, बिन्दुराजिः, कर्दमकः, तृणशोषकः, सर्षपकः, श्वेतहनुः, दर्भपुष्पश्चक्रको गोधूमकः, किक्किसाद इति (३),

निर्विषास्तु—गलगोली, शूकपत्रो, अजगरो, दिव्यको, वर्षाहिकः, पुष्पशकली, ज्योतीरथः, क्षीरिकापुष्पको, अहिपताको, अन्धाहिको, गौराहिको, वृक्षेशय इति (४),

वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः, तद्यथा—माकुलिः, पोटगलः, स्निग्धराजिरिति। तत्र, कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः, कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके (५);

इनमें (दर्वीकर साँप)—कृष्णसर्प, महाकृष्ण, कृष्णोदर, श्वेतकपोत, महाकपोत, बलाहक, महासर्प, शंखकपाल, लोहिताक्ष, गवेधुक, परिसर्प, खण्डफणा, ककुद, पद्म, महापद्म, दर्भपुष्प, दधिमुख, पुण्डरीक, भ्रकुटीमुख, विष्किर, पुष्पाभिकीर्ण, गिरिसर्प, ऋजुसर्प, श्वेतोदर, महाशिर, अलगर्द आशीविष। (मण्डलि सर्प)—आदर्शमण्डल, श्वेतमण्डल, रक्तमण्डल, चित्रमण्डल, पृषत, रोध्रपुष्प, मिलिन्दक, गोनस, वृद्धगोनस, पनस, महापनस, वेणुपत्रक, शिशुक, मदन, पालिन्दिर, पिंगल, तन्तुक, पुष्पपाण्डु, षडङ्ग, अग्निक, बभ्रु, कषाय, कलुष, पारावत, हस्ताभरण, चित्रक, एणीपाद। राजिमान् सर्प—पुण्डरीक, राजिचित्र, अंगुलराजि, बिन्दुराजि, कदमक, तृणशोषक, सर्षपक, श्वेतहनु, दर्भपुष्प, चित्रक, गोधूमक, किक्किसाद। निर्विषसर्प—गलगोली, शूकपत्रक, अजगर, दिव्यक, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतिरथ, क्षीरिका पुष्पक, अहिपताक, अन्धाहिक, वृक्षेशय। वैकरञ्जसाँप—दर्वीकर आदि तीनों प्रकार के सर्पों में विपरीत जाति से उत्पन्न साँप यथा—माकुली, पोटगल, स्निग्धराजी। इनमें काले साँप द्वारा गोनस में विपरीत जाति से या विपरीतता से माकुली उत्पन्न होता है। पोटगल साँप राजिमान् साँप से गोनस में या विपरीतता से उत्पन्न होता है। स्निग्धराजी साँप कृष्ण सर्प से राजिमान् में विपरीतता से उत्पन्न होता है। इनसे पहला साँप पिता की भाँति तेजस्वी होता है, और शेष दो माता के समान तेजस्वी होते हैं।

वक्तव्य—गोह को भी सर्प जाति में गिना है। साँप की जीभ बीच में चीरी होने से इसको द्विजिह्व कहा जाता है। गोह की जीभ भी इसी प्रकार बीच से चिरी होती है, यह भी द्विजिह्व होने से सर्प में गिनी है ॥१-५॥

त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकपोटगलपुष्पाभिकीर्णदर्भपुष्पवेल्लितकाः सप्त; तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत्, शेषा मण्डलिवत्, एवमेतेषां सर्पाणामशीतिर्व्याख्याता ॥३४॥

तीनों वैकरञ्ज साँपों के भेद सात हैं, यथा—दिव्येलक, रोध्रपुष्पक, राजिचित्रक, कपोटगल, पुष्पाभिकीर्ण,

दर्भपुष्प, वेल्लतिक। इनमें पहले तीन का विष राजिमान् साँपों की भाँति, शेषों का विष मण्डलि के समान होता है। इस प्रकार से अस्सी साँपों का व्याख्यान हो गया ॥३४॥

तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः, सूक्ष्मनेत्रजिह्वास्यशिरसः स्त्रियः, उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥३५॥

इनमें बड़ी नेत्र, जिह्वा मुख और शिरवाले पुरुष जाति हैं। सूक्ष्मनेत्र-जिह्वा-मुख और शिरवाले स्त्री जाति हैं। दोनों जाति के लक्षणवाले, मन्द विष एवं क्रोध रहित नपुंसक हैं ॥३५॥

तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः। किं कारणं? विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति, न चावकाशोऽस्ति वाक्समूहमुपसर्तुं प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्वत्र त्रैविध्यं भवति, तस्मात् त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः, एतद्ध्यातुरहितमसंमोहकरं च, अपि चात्रैव सर्वसर्पव्यञ्जनावरोधः ॥३६॥

सब साँपों के दष्टलक्षणों को सामान्यरूप में कहेंगे। क्योंकि—विष तीक्ष्ण तलवार की भाँति, बिजली, अग्नि के तुल्य शीघ्र व्यापक शील है, मुहूर्त्तभर (क्षणभर) की उपेक्षा करने से रोगी को मार देता है। वाणी से कहने का भी समय नहीं रहता। प्रत्येक सर्प से काटने पर भी तीन प्रकार के लक्षण होते हैं। इसलिये तीन प्रकार से ही कहेंगे। ये कहे लक्षण रोगी के हितकारी और वैद्य को किसी प्रकार का भ्रम नहीं होने देते। इन्हीं लक्षणों में सब साँपों के लक्षण आ जाते हैं ॥३६॥

तत्र, दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्वरावसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनागमनं स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति, मण्डलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्ध्वमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति, राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामंशशोफः सान्द्रकफसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः कण्ठे श्वयथुर्घुर्घुरकं उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥३७॥

इनमें—दर्वीकर विष से त्वचा, नख, आँख, दाँत, मुख, मूत्र, मल और दंश स्थान काले पड़ जाते हैं। रूक्षता, शिर में भारीपन, सन्धियों में वेदना, कटि-पीठ-ग्रीवा में दुर्बलता, जम्भाई आना, कम्पन, स्वर का बैठना, गले में घर्घराहट, जड़ता, सूखे उद्‌गार, कास, श्वास, हिक्का, वायु का ऊपर को जाना, शूल, ऐंठन, प्यास, लाला स्राव, झाग का आना, स्रोतों का बन्द होना और वातजन्य नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं। मण्डलि विष से त्वचा, नख, मल, मूत्र आदि पीले हो जाते हैं। शीत की चाह, परिधूपन (सर्वांग-सन्ताप), दाह, प्यास, मद, मूर्च्छा, ज्वर, रक्त का ऊर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग से आना, मांस का विदीर्ण होना, सूजन, दंश का सड़ना, पीले रूपों को देखना, विष का जल्दी कुपित होना, और पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदनायें (ओष-चोष आदि) होती हैं। राजिमान् सर्प से त्वचा, नख आदि श्वेत हो जाते हैं, शीतपूर्वक ज्वर, रोम हर्ष, अङ्गों में जड़ता, दंश के चारों ओर सूजन, घट्ट कफ का मुख से गिरना, बार-बार वमन, आँखों में कण्डू गले में सूजन, घर्घराहट, श्वास का रुकना, अन्धेरा आना, और कफजन्य नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं ॥३७॥

पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति, गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति, ग्रासार्थिनाऽन्नं काङ्क्षति, वृद्धेन चिरान्मन्दाश्च वेगाः, बालेनाशु मृदवश्च, निर्विषेणाविषलिङ्गं, अन्धाहिकेनान्धत्वमित्येके, ग्रसनात् अजगरः शरीरप्राणहरो न विषात्। तत्र सद्यःप्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राशनिहत इव भूमौ, स्रस्ताङ्गः स्वपिति ॥३८॥

पुरुष साँप से काटा रोगी ऊपर को देखता है, स्त्री साँप से काटा रोगी नीचे देखता है, माथे में सिरायें ऊभर आती है, नपुंसक साँप से काटा रोगी तिरछा (पार्श्व में) देखता है। गर्भवती से काटे हुए मनुष्य का मुख पाण्डुवर्ण एवं सूजा (शोथ) होता है। सूतिका (प्रसव की हुई) सर्पिणी से काटे हुए मनुष्य को उदरशूल होता है, रक्तयुक्त मूत्र आता है, उपजिह्विका रोग हो जाता है। ग्रासार्थि साँप से काटा मनुष्य अन्न की चाह करता है। वृद्ध साँप से काटने पर विष का वेग मन्द रहता है, और देर में चढ़ता है। बालक साँप से काटने पर विष जल्दी चढ़ता है, परन्तु मन्द रहता है। निर्विष साँप के काटने पर विष के लक्षण नहीं होते। अन्धे साँप से काटने पर मनुष्य अन्धा हो जाता है, ऐसा कई मानते हैं। अजगर साँप निगलने से प्राणनाशक होता है, विष से नहीं होता। परन्तु इनमें प्राणहर साँप से काटा हुआ मनुष्य-शस्त्र या बिजली से मारे हुए मनुष्य की भाँति तुरन्त जमीन पर गिर पड़ता है, अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, सो जाता है।

वि० मन्तव्य—इन लक्षणों से प्रतीत होता है कि सर्प का

अन्यान्य भूतों के समान आवेश होता है भूत विद्या नामक तन्त्र (सू० स्था० अ० १।४) में नाग भी गिना गया है और नाग सर्प का नाम है तथा उत्तर तन्त्र अ० ६ श्लोक १३ में—भुजङ्गमेन जुष्टः लिखा है और इस रोगी की सब चेष्टायें सर्प के समान लिखी हैं ॥३८॥

तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति। तत्र दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं कृष्णतामुपैति, तेन कार्ष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाङ्गे भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाङ्गे भवन्ति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च; चतुर्थं कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति, तेन तन्द्राप्रसेकसन्धिविश्लेषा भवन्ति; पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति; षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणीं चात्यर्थं दूषयति, तेन गात्राणां गौरवमतीसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति, सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चात्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति, तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गः सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति। मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं पीततापरिदाहौ दंशे श्वयथुश्च भवति, तृतीये मेदो दूषयति तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशक्लेदः स्वेदश्च, चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति, पञ्चमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति। षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत्। राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति, द्वितीये मांसं दूषयति तेन पाण्डुताऽत्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दंशक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति, चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवं चापादयति, पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरं च करोति, षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति ॥३९॥

सब प्रकार के साँपों के विष के सात वेग होते हैं। यथा—दर्वीकर साँपों के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है, यह दूषित रक्त काला पड़ जाता है। इससे अंगों में कालापन और चिऊँटियों के रेंगने की प्रतीति होती है। विष दूसरे वेग में मांस को दूषित करता है, इससे अतिशय कृष्णता सूजन और अंग में गाँठे उत्पन्न हो जाती हैं। तीसरे वेग में विष मेद को दूषित करता है, इससे दंश स्थान सड़ता है, शिर में भारीपन, पसीना, आँखों से न दीखना होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ में पहुँचकर कफ प्रधान दोषों को दूषित करता है, इससे तन्द्रा, कफ का मुख से गिरना, सन्धियों में ढीलापन होता है। पाँचवें में विष अस्थियों में प्रविष्ट होता है, प्राण और अग्नि को दूषित करता है, इससे पर्वों का टूटना, हिक्का और दाह होता है। छठे में विष मज्जा में पहुँचता है और ग्रहणी (पित्तधरा कला) को अतिशय दूषित करता है। इससे शरीर के अङ्गों में भारीपन, अतिसार, हृदय में पीड़ा, और मूर्च्छा होती है। सातवें वेग में विष शुक्र में पहुँच जाता है, व्यान वायु को अतिशय कुपित करता है, कफ को सूक्ष्म स्रोतों से निकालता है। इससे घट्ट कफ मुख से निकलता है, कटि-पीठ टूट जाती है, सब चेष्टायें रुक जाती हैं। लाला और पसीना बहुत आता है, उच्छ्वास (श्वास) रुक जाता है।

मण्डलि साँप के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है, यह दूषित रक्त पीला हो जाता है। इससे जलन, अङ्गों में पीलापन हो जाता है। दूसरे वेग में मांस को दूषित करता है इससे अतिशय पीलापन, जलन और दंश में सूजन होती है। तीसरे वेग में मेद को दूषित करता है, इससे दर्वीकर साँप की भाँति आँखों से न दिखाई देना, तृष्णा, दंश का सड़ना पसीना होता है। चौथे में विष कोष्ठ में पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है। पाँचवें में विष सब अंगों में दाह करता है। छठे और सातवें वेग के लक्षण दर्वीकर के समान हैं।

राजिमान्सर्प के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है। यह दूषित रक्त पाण्डुवर्ण (श्वेत) हो जाता है, इससे रोमहर्ष, अंगों में श्वेत वर्ण हो जाता है। दूसरे वेग में विष मांस को दूषित करता है, इससे अतिशय पाण्डुता, जड़ता और शिरः सूजन होती है। तीसरे में विष मेद को दूषित करता है, इससे अन्धापन, दंश का सड़ना, पसीना, नाक और आँख से स्राव होता है। चौथे में विष कोष्ठ में पहुँचकर मन्यास्तम्भ और शिर में भारीपन उत्पन्न करता है। पाँचवें में वाणी का अवरोध और शीतज्वर करता है। छठे और सातवें वेग के लक्षण दर्वीकर साँप की भाँति हैं ॥३९॥

भवन्ति चात्र—

धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः संपरिकीर्तिताः।
तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम् ॥४०॥

धातुओं के बीच बीच में जो सात कलायें कही हैं, उनमें से एक एक को अतिक्रमण करके विष, वेग को उत्पन्न करता है ॥

वक्तव्य—रस और रक्त के बीच की कला का अतिक्रमण करने से प्रथम वेग, रक्त और मांस की कला का अतिक्रमण करने से दूसरा वेग, मांस और मेद की कला का अतिक्रमण करने से तीसरा वेग, इसी तरह से आगे। डल्हण ने—मेद और कफ की कला का अतिक्रम करने से चौथा, कफ और पुरीष की बीच की कला का अतिक्रमण करने से पाँचवाँ, पुरीष और पित्त की कला का अतिक्रमण

करने से छठा, पित्त और शुक्र की कला का अतिक्रमण करने से सातवाँ वेग माना है। पुरीषधरा कला ही अस्थिधरा कला है, पित्तधरा कला ही मज्जधरा कला है ॥४०॥

येनान्तरेण तु कलां कालकल्पं भिनत्ति हि।
समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगान्तरं स्मृतम् ॥४१॥

वायु से प्रेरित हुआ विष जितने समय में कला को पार करता है, उतने समय को वेगान्तर कहा है ॥४१॥

शूनाङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः।
लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि ॥४२॥
तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते।
चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून् ॥४३॥
केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तं चैतेषु तद्विदः।
ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम् ॥४४॥
द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति।
केचिदेकं विहङ्गेषु विषवेगमुशन्ति हि।
मार्जारनकुलादीनां विषं याति प्रवर्तते ॥४५॥

विष के प्रथम वेग में पशु दुःखी होकर शोक करता है, अंग सूज जाता है। दूसरे वेग में अंग काला पड़ जाता है, मुख से लालास्राव होता है, हृदय में वेदना होती है। तीसरे में शिर में दर्द, कण्ठ और ग्रीवा टूट जाते हैं। चौथे वेग में काँपता है, मूढ हो जाता है, दाँतों को काटता हुआ प्राणों को छोड़ देता है। कई आचार्य पशुओं में तीन ही वेग मानते हैं। विष के प्रथम वेग में पक्षी चिन्ता करता है, मूर्च्छित हो जाता है। इसके आगे दूसरे वेग में बेचैन बन जाता है। तीसरे वेग में मर जाता है। कई आचार्य पक्षियों में विष का एक ही वेग मानते हैं। बिल्ली, नेवले आदि में साँप का विष नहीं चढ़ता ॥४२-४५॥

वक्तव्य—चरक में भी पशुओं में चार और पक्षिओं में तीन वेग माने हैं। यथा—"चतुष्पदादीनां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः ॥च० चि० अ० २३। चरक में विष के वेग आठ माने हैं, यथा—अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशति उपक्रमम् ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषविज्ञानीयं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः सर्पदष्टविषचिकित्सितं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्पदष्टविषचिकित्सितकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले ॥३॥
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥४॥

सभी साँपों में सबसे प्रथम, हाथ-पैर (शाखाओं) में काटे हुए मनुष्य में दंशस्थान से चार अंगुल ऊपर में एक 'अरिष्टा' बांधनी चाहिये। यह अरिष्टा कपड़े की लीर, चमड़े, वृक्ष की अन्तः छाल अथवा अन्य किसी कोमल वस्तु (रबड़ की नली, रबड़ आदि) से बाँधनी चाहिये। अरिष्टा से रोका हुआ विष ऊपर नहीं चढ़ता ॥

चरक में विष के लिये—दंशात्तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषक् बद्ध्वा। निष्पीडयेद्भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्ज वा॥ अरिष्टा द्विविधा-मंत्रेण रज्ज्वादिभिर्वा विषोपरिबन्धः॥ इसके सिवाय चौबीस उपक्रम कहे हैं। यथा—मंत्रारिष्टोत्कर्त्तननिष्पीडन-चूषणाग्निपरिषेकाः। अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि॥ हृदयावरणाञ्जननस्य धूमलेहौषधप्रशमनानि। प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञास्थापनं लेपः॥ मृतसंजीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः॥ च० चि० अ० २३।३८॥ ३, ४॥

दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ॥५॥

जहाँ पर अरिष्टा बाँधी नहीं जा सके, वहाँ पर दंश को काटकर स्थान अग्नि से जला देवे। आचूषण (चूसना), छेदन और दाह यह सब में विधेय हैं। (इसमें मण्डलि साँप में दाह का निषेध है, चूंकि वह पित्त का प्रकोपक है) ॥५॥

प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्।
स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्टो वाऽपि हि तत्क्षणम् ॥६॥

मुख को वस्त्रों से भरकर चूषण करना उत्तम है। अथवा उसी साँप को तुरन्त काट ले, या मिट्टी के ढेले को तुरन्त काटे। (चरक में-तं दंशं वा चूषयेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन)।

वि० मन्तव्य—तत्काल सर्प को दष्ट मानव द्वारा काटना-सर्वसाधारण के लिये असम्भव है और भाग जाने पर दुष्कर भी है, परन्तु सपेरे ऐसा कर सकते हैं उनके लिये यह सब सम्भव है ॥ ६ ॥

अथ मण्डलिना दष्टं न कथंचन दाहयेत्।
स पित्तबाहुल्यविषाद्दंशो दाहाद्विसर्पते ॥७॥

मण्डलि साँप से काटे हुए व्यक्ति में भूलकर भी दाह न करे। क्योंकि वह दंश पित्त की अधिकता के कारण दाह से फैलता है ॥७॥

अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मंत्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता ॥८॥

मंत्र को जाननेवाला वैद्य अरिष्टा को भी मंत्रों से बाँधे। इस प्रकार रज्जु आदि से बाँधी अरिष्टा विष को रोकती है। (मंत्र के बिना भी बाँधी अरिष्टा विष को रोकती हैं)।

वि० मन्तव्य—अरिष्टा-पट्टी इतनी कसकर बांधनी चाहिये जिससे सिरा में रक्त का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाय। जब रक्त रुक जाता है, तो रक्त में मिला विष भी शरीर में नहीं पहुँच पाता। शरीर में विष फैलने-चढ़ने के पूर्व ही अरिष्टा बाँधने से लाभ होता है, और दाह भी तथा आचूषण भी इसी दशा में लाभप्रद होते हैं। और मन्त्रों का प्रयोग तो आरोग्य लाभ पर्यन्त किया जाता है। आचूषण यथा सम्भव मुख से करना ही नहीं चाहिये अपितु सिंगी अथवा तुम्बी द्वारा करे और अंगुली अंगूठा आदि पर भी नलिका से आचूषण करे॥

देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः।
भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ॥९॥
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥१०॥

किसी सत्यवादी, तपस्वी, देवर्षि और ब्रह्मर्षियों से कहे हुए मंत्र व्यर्थ नहीं होते। ये मंत्र भयानक विष को भी शीघ्र नष्ट कर देते हैं। सत्य परायण, ज्ञानी एवं तपस्वी तथा तेजस्वी ऋषियों के मंत्रों से विष जितनी जल्दी नष्ट होता है, उतनी जल्दी औषधियों से दूर नहीं होता॥९, १०॥

मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना।
मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥११॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः।
पूजयेन्मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः ॥१२॥

स्त्री, मांस और मधु (मद्य) का सेवन छोड़कर मंत्र को सीखना चाहिये। मंत्र सीखते समय आहार अल्प करना चाहिये, पवित्र (मन-शरीर से) रहना चाहिये, कुशा के बिस्तर पर सोना चाहिये। गन्ध, माला, उपहार और बलि से देवताओं का पूजन मंत्र सिद्धि के लिये तथा जप एवं होम से यत्नपूर्वक करना चाहिये।

वक्तव्य—मधु शब्द मद्य के लिये यहाँ है। मधु मद्य का भेद है, यथा मद्यवर्ग में चरक—"रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्तावरोधि च। विबन्धघ्नं कफघ्नं च मधुलध्वल्पमारुतम् ॥
चरक० सू० अ० २७। १८६ ॥११,१२॥

मन्त्रास्त्वविधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः।
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः ॥१३॥

विना विधि के या स्वर अथवा वर्ण से हीन प्रयुक्त मंत्र सफलता नहीं देते, इसलिये अगद उपचार बरतना चाहिये।

वक्तव्य—महाभाष्य में व्याकरण पढ़ने का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि असुर लोग हे अरयः यह शुद्ध न कहने से (हेलया-हेलया कहते हुए) देवताओं से पराजित हुए। इसलिये शुद्ध उच्चारण के लिये व्याकरण पढ़े ॥१३॥

समन्ततः सिरा दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्।
शाखाग्रे वा ललाटे वा व्यध्यास्ता विसृते विषे ॥१४॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया ॥१५॥
समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत्।
चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् ॥१६॥

कुशल वैद्य दंश के चारों ओर सिराओं का वेधन करे। विष के फैल जाने पर सिराओं को हाथ पैर के अग्रभाग में अथवा माथे पर वेधन करे। रक्त के निकलने से सम्पूर्ण विष भी निकल जाता है। इसलिये रक्त का विस्रावण करे, क्योंकि यही इसकी श्रेष्ठ चिकित्सा है। दंश के चारों ओर पाछकर अगदों से लेप करे। चन्दन और खस मिले पानी से परिषेक करे।

वि० मन्तव्य—सिरावेध से रक्त के साथ साथ विष भी निकल जाता है परन्तु शेष विष का शमन अगदों द्वारा भी करना चाहिये ॥१४-१६॥

पाययेतागदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः।
तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका ॥१७॥
कोविदारशिरीषार्ककटभीर्वाऽपि भक्षयेत्।

अगदों को दूध, मधु और घी में मिलाकर पिलाये। अगदों के अभाव में काली मिट्टी या बम्बी की मिट्टी को दूध, घी, मधु के साथ पिलाये। कचनार, शिरीष, आक, कोयल (अपराजिता) इनको खाये ॥१७॥

न पिबेत्तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च ॥१८॥
द्रवमन्यत्तु यत्किञ्चित् पीत्वा, पीत्वा तदुद्वमेत्।
प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्ह्रियते विषम् ॥१९॥

तैल, कुलत्थी का यूष, मद्य या कांजी को न पीये। इनके सिवाय कोई दूसरा द्रव पीपीकर बार बार वमन करे। क्योंकि प्रायः वमन से विष सुखपूर्वक निकल जाता है ॥१८, १९॥

फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत्।
द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक् ॥२०॥
नस्यकर्माञ्जने युञ्ज्यात्तृतीये विषनाशने।
वान्तं चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत् ॥२१॥
शीतोपचारं कृत्वाऽऽदौ भिषक् पञ्चमषष्ठयोः।
पाययेच्छोधनं तीक्ष्णं यवागूं चापि कीर्तिताम् ॥२२॥
सप्तमे त्ववपीडेन शिरस्तीक्ष्णेन शोधयेत्।
तीक्ष्णमेवाञ्जनं दद्यात् तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्ध्नि च ॥२३॥
कृत्वा काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्।

दर्वीकर सांपों के प्रथम विष वेग में रक्त को निकाले। विष के दूसरे वेग में मधु और घी के साथ अगद को वैद्य

पिलाये। तीसरे वेग में विषनाशक नस्य कर्म और अंजन करे। चौथे वेग में रोगी को वमन करा के स्थावर विष में कही यवागू पीने को देवे। पांचवें और छठे वेग में प्रथम शीतल उपचार करे। फिर तीक्ष्ण विरेचन देकर पूर्वोक्त यवागू पिलाये। सातवें वेग में तीक्ष्ण अवपीडन नस्य से शिर का शोधन करे, तीक्ष्ण ही अंजन देवे और तीक्ष्ण शस्त्र से शिर पर काकपद बनाकर उसमें रक्त मिश्रित मांस या ताजा चर्म धर देवे, (जिससे विष इसमें आ जाये)।

वक्तव्य—यह किंवदन्ती है कि रोगी की गुदा पर मुर्गे की गुदा रक्खे। विष से मुर्गा मर जायेगा, फिर दूसरा मुर्गा रक्खे, तीसरा रक्खे, इस प्रकार जब तक मुर्गे मरते जायें, तब तक रक्खे। इस तरह करने से विष निकल जाता है ॥२०-२३॥

पूर्व मण्डलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत् ॥२४॥
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत च।
वामयित्वा यवागूं च पूर्वोक्तामथ दापयेत् ॥२५॥
तृतीये शोधितं तीक्ष्णैर्यवागूं पाययेद्धिताम्।
चतुर्थे पञ्चमे चापि दर्वीकरवदाचरेत् ॥२६॥
काकोल्यादिर्हितः षष्ठे पेयश्च मधुरोऽगदः।
हितोऽवपीडे त्वगदः सप्तमे विषनाशनः ॥२७॥

मण्डलि सांप के प्रथम वेग में दर्वीकर सांपों की भांति चिकित्सा करे। दूसरे में अगद को घी मधु के साथ पिलाये। पीछे से पूर्वोक्त यवागू को पिलाये। तीसरे में तीक्ष्ण विरेचनों से शोधन होने पर यवागू को पिलाये। चौथे और पांचवें वेग में भी दर्वीकर के समान चिकित्सा करे। छठे वेग में काकोल्यादि मधुर गण या अगद पिलाये। सातवें वेग में विषनाशक अगद अवपीडन में उत्तम है ॥२४-२७॥

पूर्वे राजिमतां वेगेऽलाबुभिः शोणितं हरेत्।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं पाययेत च ॥२८॥
वान्तं द्वितीये त्वगदं पाययेद्विषनाशनम्।
तृतीयादिषु त्रिष्वेवं विधिर्दर्वीकरो हितः ॥२९॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडश्च सप्तमे।

राजिमान् सांपों के प्रथम वेग में तुम्बी से रक्त निकाले। मधु और घी से मिश्रित अगद पीने को देवे। दूसरे वेग में वमन कराके विष नाशक अगद देवे। तीसरे आदि वेगों में दर्वीकर सांपों के समान उपचार बरते। छठे वेग में तीक्ष्ण अंजन और सातवें में अवपीडन, नष्टसंज्ञा उपचार करे।२८,२९।

गर्भिणीबालवृद्धानां सिराव्यधनवर्जितम् ॥३०॥
विषार्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु।

विष से पीड़ित गर्भवती, बालक या वृद्ध में सिरा वेधन करना निषिद्ध है। इनमें कहे हुए उपचार कोमल रूप में बरते॥

रक्तावसेकाञ्जनानि नरतुल्यान्यजाविके ॥३१॥
त्रिगुणं महिषे सोष्ट्रे गवाश्वे द्विगुणं तु तत्।
चतुर्गुणं तु नागानां,

बकरी और भेड़ में रक्तावसेचन, अंजन, मनुष्य के समान हैं। भैंस और ऊंट में तीन गुने, गाय और घोड़े में दो गुने, हाथियों में चार गुनी मात्रा में बरते ॥३१॥

केवलं सर्वपक्षिणाम् ॥३२॥
परिषेकान् प्रदेहांश्च सुशीतानवचारयेत्।
माषकं त्वञ्जनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम् ॥
पाने चतुर्गुणं पथ्यं वमनेऽष्टगुणं पुनः ॥३३॥

पक्षियों में सम्पूर्ण परिषेक और प्रदेह अतिशीतल द्रव्यों से करे। अंजन में मात्रा एक माशा, नस्य में दुगुनी, पीने में चार गुणी और वमन में आठ गुनी मात्रा पथ्य है।

वक्तव्य—विष में सदा उत्तम मात्रा का उपयोग होता है। यथा—अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यती। सा च कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ (२) गुल्मोदावर्त्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितैः। उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा॥ कल्क, मोदक, चूर्ण की बड़ी मात्रा एक पल है। वमन द्रव्य की श्रेष्ठ मात्रा तीन पल है। क्वाथ की मात्रा चार पल है॥

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविषवेगबलाबलम्।
प्रधार्य निपुणं बुद्ध्या ततः कर्म समाचरेत् ॥३४॥

देश, प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, वेग, बल, अबल को निपुण बुद्धि से विचारकर पीछे से कार्य करे ॥३४॥

वेगानुपूर्व्या कर्मोक्तमिदं विषविनाशनम्।
कर्मावस्थाविशेषेण विषयोरुभयोः शृणु ॥३५॥

वेगों के अनुक्रम से यह विष नाशक चिकित्सा कह दी है। अवस्था विशेष से स्थावर और जंगम दोनों विषों की चिकित्सा सुनो ॥३५॥

विवर्णे कठिने शूने सरुजेऽङ्गे विषान्विते।
तूर्णं विस्रावणं कार्यमुक्तेन विधिना ततः ॥३६॥

विषान्वित अंग में विवर्णता, काठिन्य, सूजन या पीड़ा होने पर तुरन्त कही हुई विधि से रक्तमोक्षण करना चाहिये॥

क्षुधार्तमनिलप्रायं तद्विषार्तं समाहितः।
पाययेत रसं सर्पिः शुक्तं क्षौद्रं तथा दधि ॥३७॥

फिर भूख लगने पर, वायु की अधिकता होने पर विष रोगी को सावधानी से मांसरस, दही, मधु, घी या शुक्त (तक्र-कांजी) पिलाये ॥३७॥

तृड्दाहघर्मसंमोहे पैत्तं पैत्तविषातुरम्।
शीतैः संवाहनस्नानप्रदेहैः समुपाचरेत् ॥३८॥

पैत्तिकविष से पीड़ित पित्तप्रकृति को प्यास, दाह, ग्रीष्म काल होने पर अथवा मूर्च्छा आने पर शीतल द्रव्यों से संवाहन (मणि, रत्न, कांसी का स्पर्श), स्नान एवं प्रलेप लगाये ॥३८॥

शीते शीतप्रसेकार्तं श्लैष्मिकं कफकृद्विषम् ।
वामयेद्वमनैस्तीक्ष्णैस्तथा मूर्च्छामदान्वितम् ॥३९॥

शीतकाल में, शीत प्रसेक से पीड़ित कफ प्रकृति में कफ-कारक विष हो तो उसे तीक्ष्ण वमनों से वमन कराये। मूर्च्छा मदवाले को भी वमन कराये ॥३९॥

कोष्ठदाहरुजाध्मानमूत्रसङ्गरुगन्वितम् ।
विरेचयेच्छकृद्वायुसङ्गपित्तातुरं नरम् ॥४०॥

कोष्ठ में दाह, पीड़ा, आध्मान, मूत्रावरोध की पीड़ावाले, मल-वायु के अवरोधवाले, पित्तप्रकृति मनुष्य को विरेचन देवे ॥

शूनाक्षिकूटं निद्रार्तं विवर्णाविललोचनम् ।
विवर्णं चापि पश्यन्तमञ्जनैः समुपाचरेत् ॥४१॥

पलकों के नीचे जिसमें सूजन आ गई हो, नींद से पीड़ित आंखें विवर्ण और मैली हो गई हों तथा नाना प्रकार के वर्ण जो देखता हो, उसकी अंजनों से चिकित्सा करे ॥ १॥

शिरोरुग्गौरवालस्यहनुस्तम्भगलग्रहे ।
शिरो विरेचयेत् क्षिप्रं मन्यास्तम्भे च दारुणे ॥४२॥
नष्टसंज्ञं विवृत्ताक्षं भग्नग्रीवं विरेचनैः ।
चूर्णैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैर्विषार्तं समुपाचरेत् ॥४३॥
ताडयेच्च सिराः क्षिप्रं तस्य शाखाललाटजाः ।
तास्वप्रसिच्यमानासु मूर्ध्नि, शस्त्रेण शस्त्रवित् ॥४४॥
कुर्यात् काकपदाकारं व्रणमेवं स्रवन्ति ताः ।
सरक्तं चर्म मांसं वा निक्षिपेच्चास्य मूर्धनि ॥४५॥
चर्मवृक्षकषायं वा कल्कं वा कुशलो भिषक् ।
वादयेच्चागदैर्लिप्त्वा दुन्दुभींस्तस्य पार्श्वयोः ॥४६॥
लब्धसंज्ञं पुनश्चैनमूर्ध्वं चाधश्च शोधयेत् ।
निःशेषं निर्हरेच्चैवं विषं परमदुर्जयम् ॥४७॥
अल्पमप्यवशिष्टं हि भूयो वेगाय कल्पते ।
कुर्याद्वा सादवैवर्ण्यज्वरकासशिरोरुजः ॥४८॥
शोफशोषप्रतिश्यायतिमिरारुचिपीनसान् ।
तेषु चापि यथादोषं प्रतिकर्म प्रयोजयेत् ॥४९॥
विषार्तोपद्रवांश्चापि यथास्वं समुपाचरेत् ।

शिर में वेदना, भारीपन, आलस्य, हनुस्तम्भ, गलग्रह, या भयानक मन्यास्तम्भ होने पर तुरन्त शिरोविरेचन देवे। संज्ञा नष्ट होने पर आँखें बाहर (या खुली) आ गई हों, ग्रीवा लटक गई हो, उस विषवाले रोगी को तीक्ष्ण प्रधमन चूर्णों से शिरो-विरेचन देवे। शाखा और ललाट में जानेवाली सिराओं पर तुरन्त ताड़न (वेधन) करे। उनसे यदि रक्त न आये तो शास्त्र को समझनेवाला वैद्य तुरन्त शस्त्र से शिरपर काकपद का चिह्न बनाये। इस प्रकार व्रण करने से उनमें से रक्त बहने लगता है। काकपद व्रण में रक्तवाला चर्म या मांस सिर में रख देवे। अथवा चर्म वृक्ष (चामेर। इचैली-गुजराती नाम-इससे चमड़ा रंगते हैं) के कषाय या कल्क को वहाँ रख देवे। रोगी के पास में दुन्दुभि को अगदों से लेपकर बजाये। चेतना आने पर इसे फिर वमन विरेचन देवे। अतिशय दुर्जन्य विष को सम्पूर्णरूप में निकाल देवे। क्योंकि थोड़ा भी बचा विष फिर वेग उत्पन्न करता है। अथवा शिथिलता, विवर्णता, ज्वर, कास, शिरोरोग उत्पन्न करता है। शोफ, शोष, प्रतिश्याय, तिमिर, अरुचि, पीनस करता है। इनमें भी दोष के अनुसार चिकित्सा करे। विष से पीड़ित व्यक्ति के उपद्रवों की भी चिकित्सा उसके अपने दोषों के अनुसार करनी चाहिये ॥४२-४९॥

अथारिष्टां विमुच्याशु प्रच्छयित्वाऽङ्कितं तया ॥५०॥
दद्यात्तत्र विषं स्कन्नं भूयो वेगाय कल्पते ।

अरिष्टा को खोलकर दंश स्थान पर पाछकर वहाँ तुरन्त अगदों से लेप करे। क्योंकि वहाँ पर जमा (रुका) विष फिर वेग उत्पन्न कर देता है ॥५०॥

एवमौषधिभिर्मन्त्रैः क्रियायोगैश्च यत्नतः ॥५१॥
विषे हृतगुणे देहाद्यदा दोषः प्रकुप्यति ।
तदा पवनमुद्वृत्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत् ॥५२॥
तैलमत्स्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैर्विषहरायुतैः ।
पित्तज्वरहरैः पित्तं कषायस्नेहबस्तिभिः ॥५३॥
कफमारग्वधाद्येन सक्षौद्रेण गणेन तु ।
श्लेष्मघ्नैरगदैश्चैव तिक्तै रूक्षैश्च भोजनैः ॥५४॥

इस प्रकार औषधियों से, मंत्रों से, चिकित्सा के उपचार से शरीर में विष के निकाल देने पर यदि दोष प्रकुपित होता है, तब कुपित (दूसरे स्थान पर गई) वायु की स्नेहन, वमन, आदि से चिकित्सा करे। इसमें तैल, मछली, कुलत्थी, खटाई (कांजी) को छोड़कर विषनाशक वस्तुओं के साथ स्नेहन, वमन कराये। पित्त को पित्तज्वर नाशक कषाय, स्नेह, बस्ति से शान्त करे। कफ को आरग्वधादिगण में मधु मिलाकर देने से, कफनाशक अगदों से, रूक्ष और तिक्त भोजनों से शान्त करे ॥५१-५४॥

वृक्षप्रपातविषमपतितं मृतमम्भसि ।
उद्बद्धं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत् ॥५५॥

वृक्ष से, प्रपात (नदी तट या झरने से), विषम (ऊंचे) स्थान से गिरे, जल में डूबकर मरे, फांसी लगाकर मरे मनुष्य की चिकित्सा तुरन्त नष्ट संज्ञा (बेहोश हुए) विधि से करे[1] ॥

गाढं बद्धेऽरिष्टया प्रच्छिते वा
तीक्ष्णैर्लेपैस्तद्विधैर्वाऽवशिष्टैः ।
शूने गात्रे क्लिन्नमत्यर्थपूति
ज्ञेयं मांसं तद्विषात् पूति कष्टम् ॥५६॥

---

१ इनकी चिकित्सा न्याय वैद्यक में देखिये ।

अरिष्टा को बहुत कसकर बांधने से, पाछने से, तीक्ष्ण लेपों से इसी प्रकार के अन्य कारणों के बचे रहने से, शरीर में सूजन आजाने पर मांस गल जाता है, और इसमें बहुत सडांद होती है। यह विष के कारण सड़ता है, कष्ट साध्य होता है ॥

सद्यो विद्धं निःस्रवेत् कृष्णरक्तं
पाकं यायाद्दह्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति
शीर्णं मांसं यात्यजस्रं क्षताच्च ॥५७॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च
यस्य स्युस्तं दिग्धविद्धं व्यवस्येत्।

विषैले बाण आदि से वेधन होने पर तुरन्त काला रक्त निकलता है। पक जाता है, बार-बार इसमें जलन होती है। बार-बार पकता भी है। क्षत (व्रण) में से निरन्तर काला, सड़ा, दुर्गन्धवाला मांस निरन्तर गिरता (झड़ता) रहता है। रोगी को प्यास, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह और ज्वर होता है, जिसमें ये लक्षण हों, उसे विषयुक्त वस्तु से विद्ध हुआ जाने। (भ्रान्तिः—वस्तूनामन्यथा प्रतीतिः) ॥५७॥

पूर्वोद्दिष्टं लक्षणं सर्वमेत-
ज्जुष्टं यस्यालं विषेण व्रणाः स्युः ॥५८॥
लूतादष्टा दिग्धविद्धा विषैर्वा
जुष्टाः प्रायस्ते व्रणाः पूतिमांसाः।

जिस मनुष्य में शत्रु से अवचारित विष के कारण ये व्रण विशेष रूप में होते हैं, उसमें ये सब पूर्वोक्त लक्षण मिलते हैं। क्योंकि जो व्रण मकड़ी के काटने से, विषैले बाण आदि शस्त्र से या विष से होते हैं, वे ही प्रायः सड़े मांसवाले होते हैं ।५८।

तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य
वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्यं ॥५९॥
हृत्वा दोषान् क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च-
सम्यक् सिञ्चेत् क्षीरिणां त्वक्कषायैः।
अन्तर्वस्त्रं दापयेच्च प्रदेहान्
शीतैर्द्रव्यैराज्ययुक्तैर्विषघ्नैः ॥६०॥

इन व्रणों में से युक्ति से सड़े मांसों को निकाल कर, जलौकाओं से रक्त को निकाले। वमन, विरेचन से दोषों को तुरन्त जल्दी से निकालकर बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की त्वचा के कषाय से सेचन करे। पित्त विसर्पोक्त शीतल वीर्य एवं स्पर्शवाले द्रव्यों को तथा विषनाशक द्रव्यों को घी में मिलाकर इनसे वस्त्र को लपेटकर व्रण के अन्दर देवे। इनसे बने प्रदेह लगाये। (घी-शतधौत घृत ले) ॥५९,६०॥

भिन्ने त्वस्थ्ना दुष्टजातेन कार्यः
पूर्वो मार्गः पैत्तिके यो विषे च।

अस्थि विष के कारण से उत्पन्न व्रण में पूर्वोक्त चिकित्सा करे। पैत्तिक विष की भी चिकित्सा करे।

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे
रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः ॥६१॥
कटुत्रिकं चैव सुचूर्णितानि
शृंगे निदध्यान्मधुसंयुतानि।
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः
पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः ॥६२॥
अवार्यवीर्यो विषवेगहन्ता
महागदो नाम महाप्रभावः।

महागद—निशोथ, कलिहारी, मुलैहठी, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, अमलतास, पांचों नमक, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) इन सब का बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग के पात्र में रक्खे। यह अगद-पान, अभ्यंग, अंजन और नस्य में प्रयोग करने पर विष को नष्ट करता है। इसकी शक्ति अपराजित है, विषवेग को नष्ट करने में अद्वितीय है, महाप्रभावशाली यह महागद है ॥६१,६२॥

विडंगपाठात्रिफलाजमोदा-
हिङ्गूनि वक्रं त्रिकटूनि चैव ॥६३॥
सर्वश्च वर्गो लवणः सुसूक्ष्मः
सचित्रकः क्षौद्रयुतो निधेयः।
शृङ्गे गवां शृङ्गमयेन चैव
प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च ॥६४॥
एषोऽगदः स्थावरजङ्गमानां
जेता विषाणामजितो हि नाम्ना।

अजित अगद—विडंग, पाठा, त्रिफला, अजवायन, हींग, तगर, त्रिकटु, सब नमक और चित्रक इन सब का बारीक चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर गाय के सींग में रखकर सींग के ढक्कन से ही ढांप दे। पन्द्रह दिन के पीछे, यह अजित अगद स्थावर और जंगम विषों को नष्ट करनेवाला हो जाता है। इसका नाम अजित अगद है ॥६३,६४॥

प्रपौण्डरीकं सुरदारु मुस्ता
कालानुसार्या कटुरोहणी च ॥६५॥
स्थौणेयकध्यामकगुग्गुलूनि
पुन्नागतालीशसुवर्चिकाश्च।
कुटन्नटैलासितसिन्धुवाराः
शैलेयकुष्ठे तगरं प्रियङ्गुः ॥६६॥
रोध्रं जलं काञ्चनगैरिकं च
समागधं चन्दनसैन्धवं च।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि कृत्वा
शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥६७॥

एषोऽगदस्तार्क्ष्य इति प्रदिष्टो
विषं विहन्यादपि तक्षकस्य ।

तार्क्ष्य अगद—प्रपौण्डरीक, देवदारु, मुस्ता, कालानुसारी, कुटकी, स्थौणेयक, कत्तृण, गुग्गुलु, नागकेसर, इलायची, श्वेत निर्गुण्डी, तालीशपत्र, सुवर्च्चिका (हुलहुल), श्योनाक, शिलारस, कुष्ठ, तगर, प्रियंगु, लोध, बालक, स्वर्ण गैरिक, पिप्पली, चन्दन, सैन्धव, इनका बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग में रख देवे। इस अगद का नाम तार्क्ष्य अगद है, यह अगद तक्षक के विष को भी नष्ट कर देता है ॥६५-६७॥

मांसीहरेणुत्रिफलामुरङ्गी-
रक्तालतायष्टिकपद्मकानि ॥६८॥
विडङ्गतालीशसुगन्धिकैला-
त्वक्कुष्ठपत्राणि सचन्दनानि ।
भार्गी पटोलं किणिही सपाठा
मृगादनी कर्कटिका पुरश्च ॥६९॥
पालिन्द्यशोकौ क्रमुकं सुरस्याः
प्रसूनमारुष्करजं च पुष्पम् ।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि शृङ्गे
न्यसेत् सपित्तानि समाक्षिकाणि ॥७०॥
वराहगोधाशिखिशल्लकीनां
मार्जारजं पार्षतनाकुले च ।
यस्यागदोऽयं सुकृतो गृहे स्या-
न्नाम्नर्षभो नाम नरर्षभस्य ॥७१॥
न तत्र सर्पाः कुत एव कीटा-
स्त्यजन्ति वीर्याणि विषाणि चैव ।
एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा
नानद्यमाना विषमाशु हन्युः ॥७२॥
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो
विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति ।

ऋषभ अगद—जटामांसी, हरेणु, त्रिफला, शोभांजन, मंजीठ, लता (प्रियंगु), मुलैहठी, पद्माख, विडंग, तालीशपत्र, सर्पगन्धा, इलायची, दालचीनी, कूठ, तेजपत्र, चन्दन, भार्गी परवल, चिरचिठा, पाठा, इन्द्रायण, कर्कटिका (कर्कटशृङ्गी), गुग्गुल, निशोथ, अशोक, सुपारी, तुलसी के फूल, इनका बारीक चूर्ण करके पित्त और मधु के साथ मिलाकर सींग में रख देवे। पित्त—सुअर, गोह, मोर, सेह, बिल्ली, चित्तलहरिण, नेवले का लेना चाहिये। जिस भाग्यवान् राजा के घर में यह ऋषभ अगद रहता है, वहाँ पर न तो सर्प न कीट वीर्य (शक्ति) या विष का त्याग नहीं करते। इस अगद से लेप किये भेरी और नगाड़े बजाने पर विष को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। इस अगद से लिप्त पताकाओं को देखकर विष से पीड़ित मनुष्य तुरन्त निरोग हो जाते हैं ॥६८-७२॥

लाक्षा हरेणुर्नलदं प्रियङ्गुः
शिग्रु द्वयं यष्टिकपृथ्विकाश्च ॥७३॥
चूर्णीकृतोऽयं रजनीविमिश्रो
सर्पिर्मधुभ्यां सहितो निधेयः ।
शृङ्गे गवां पूर्ववदापिधान-
स्ततः प्रयोज्योऽञ्जननस्यपानैः ॥७४॥
संजीवनो नाम गतासुकल्पा-
नेषोऽगदो जीवयतीह मर्त्यान् ।

संजीवन अगद—लाक्षा, हरेणु, जटामांसी, प्रियंगु, मीठा सहजन, कड़ुआ सहजन, मुलैहठी, बड़ी इलायची, हल्दी इनका चूर्ण करके घी और मधु में मिलाकर गाय के सींग में ढांपकर रख देना चाहिये। पन्द्रह दिन पीछे अंजन, नस्य, पान में बरता हुआ संजीवन अगद मृत तुल्य मनुष्यों को भी जीवित कर देता है ॥७३,७४॥

श्लेष्मातकीकट्फलमातुलुङ्ग्यः
श्वेता गिरिह्वा किणिही सिता च ॥७५॥
सतण्डुलीयोऽगद एष मुख्यो
विषेषु दर्वीकरराजिलानाम् ।

लसूड़ा, कट्फल, बिजौरा, कोयल श्वेत, चिरचिटा, शर्करा (सिता—श्वेतवच भी) इनको चौलाई से मिलाकर बनाया अगद, दर्वीकर और राजिमान् सर्पों के विषों में मुख्य है ।७५।

द्राक्षा सुगन्धा नगवृत्तिका च
श्वेता समङ्गा समभागयुक्ता ॥७६॥
देयो द्विभागः सुरसाच्छदस्य
कपित्थबिल्वादपि दाडिमाच्च ।
तथाऽर्धभागः सितसिन्धुवारा-
दङ्कोठमूलादपि गैरिकाच्च ॥७७॥
एषोऽगदः क्षौद्रयुतो निहन्ति
विशेषतो मण्डलिनां विषाणि ।

द्राक्षा, सर्पगन्धा, नगवृत्तिका (शल्लकी, अथवा नगमृत्तिका पाठ में पहाड़ की मिट्टी) श्वेत कोयल, मजीठ ये प्रत्येक समान भाग, तुलसी के पत्ते, कैथ बिल्व, अनार के पत्र-ये प्रत्येक दो दो भाग, श्वेत निर्गुण्डी, अंकोठ मूल और गेरु ये आधा आधा भाग मिलाये। इसमें मधु मिलाकर बनाया यह अगद मण्डलि सांपों के विष को विशेष रूप में नष्ट करता है ॥७६, ७७॥

वंशत्वगार्द्राऽऽमलकं कपित्थं
कटुत्रिकं हैमवती सकुष्ठा ॥७८॥
करञ्जबीजं तगरं शिरीष-
पुष्पं च गोपित्तयुतं निहन्ति ।
विषाणि लूतोन्दुरपन्नगानां
कीटं च लेपाञ्जननस्यपानैः ॥७९॥
पुरीषमूत्रानिलगर्भसङ्गा-
न्निहन्ति वर्त्यञ्जननाभिलेपैः ।

काचार्मकोथान् पटलांश्च घोरान्
पुष्पं च हन्त्यञ्जननस्ययोगैः ॥८०॥

गीले बाँस की छाल, आँवला, कैथ, सोंठ, मरिच, पीपल, वच, कूठ, करंज के बीज, तगर, शिरीष के फूल, इनको गाय के पित्त में मिलाये। इसका लेप, अंजन और नस्य करने पर मकड़ी, चूहे, साँप और कीटों का विष नष्ट हो जाता है। वर्त्ति, अंजन, नाभिलेप से यह मल-मूत्र-वायु के तथा गर्भ के अवरोध को नष्ट करता है। आँख के काच, अर्म, सडांद, पटल के भयानक रोगों को और पुष्प को यह अंजन एवं नस्य में बरतने से नष्ट करता है ॥७८-८०॥

समूलपुष्पाङ्कुरवल्कबीजात्
क्वाथः शिरीषात् त्रिकटुप्रगाढः।
सलावणः क्षौद्रयुतोऽथ पीतो
विशेषतः कीटविषं निहन्ति ॥८१॥

शिरीष के मूल, फूल, कोमल पत्ते, छाल, बीज, इनका क्वाथ करके उसमें प्रचुर मात्रा में सोंठ, मरिच, पीपल, मधु और लवण मिलाकर पीने से, यह क्वाथ कीट विषों को विशेष करके नष्ट करता है ॥८१॥

कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम्।
मालती नागपुष्पं च सर्वाणि मधुराणि च ॥८२॥
कपित्थरसपिष्टोऽयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः।
विषं हन्त्यगदः सर्वं मूषकाणां विशेषतः ॥८३॥

कूठ, त्रिकटु, दारुहल्दी, मुलैहठी, सैन्धव, सौवर्चल, चमेली, नागकेसर, काकोल्यादि मधुरगण इनको कैथ के रस के साथ पीसकर शर्करा और मधु में मिलाकर बरतने से यह अगद सब विषों को विशेषकर चूहों के विषों को नष्ट करता है ॥

सोमराजीफलं पुष्पं कटभी सिन्धुवारकः।
चोरको वरुणः कुष्ठं सर्पगन्धा ससप्तला ॥८४॥
पुनर्नवा शिरीषस्य पुष्पमारग्वधार्कजम्।
श्यामाऽम्बष्ठाविडङ्गानि तथाऽऽम्राश्मन्तकानि च ॥
भूमी कुरबकश्चैव गण एकसरः स्मृतः।
एकशो द्वित्रिशो वाऽपि प्रयोक्तव्यो विषापहः ॥८६॥

बावची, बावची का फूल, श्वेतकोयल, निर्गुण्डी, चोरक, वरणा, कूठ, सर्पगन्धा, सप्तला (यवतिक्ता), पुनर्नवा, शिरीष का फूल, अमलतास का फूल, आक का फूल, निशोथ, पाठा, विडंग, आम, अश्मन्तक, वल्मीक की काली मिट्टी, कुरबक (लाल कटसरैया)—इस समूह का नाम एकसर गण है। ये औषध समूह अकेले अकेले या दो दो या तीन तीन मिलाकर बरतने पर भी विष नाशक हैं ॥८४-८६॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातो दुन्दुभिस्वनीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे दुन्दुभिस्वनीय कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

धवाश्वकर्णशिरीषतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारिभद्रकाम्रोदुम्बरकरहाटकार्जुनककुभसर्जकपीतनश्लेष्मातकाङ्कोठामलकप्रग्रहकुटजशमीकपित्थाश्मन्तकार्कचिरबिल्वमहावृक्षारुष्करारलुमधुकमधुशिग्रुशाकगोजीमूर्वाभूर्जतिल्वकेक्षुरकगोपघोण्टारिमेदानां भस्मान्याहृत्य गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, दद्याच्चात्र पिप्पलीमूलतण्डुलीयकवराङ्गचोचमञ्जिष्ठाकरञ्जिकाहस्तिपिप्पलीमरिचविडंगगृहधूमानन्तासोमसरलाबाह्लीकगुहाकोशाम्रश्वेतसर्षपवरुणलवणप्लक्षनिचुलकवञ्जुलवकालवर्धमानपुत्रश्रेणीसप्तपर्णटुण्टुकैलवालुकनागदन्त्यतिविषाभयाभद्रदारुकुष्ठहरिद्रावचाचूर्णानि लोहानां च समभागानि, ततः क्षारवदागतपाकमवतार्य लोहकुम्भे निदध्यात् ॥३॥

धावड़ी, अश्वकर्ण, शिरीष, साँदन, ढाक, नीम, पाटला, फरहद, आम, गूलर, मैनफल, अर्जुन, ककुभ, सज (राल), कपीतन (पारस पीपल) लसूड़ा, अंकोठ, आँवला, करंज, कूडा, शमी, कैथ, अश्मन्तक, आक, नाटाकरंज, सेहुण्ड, भिलावा, श्योनाक, मुलैहठी, मीठा सहजन, सागौन, गाजवाँ, मूर्वा, भूजपत्र, तिल्वक, तालमखाना, गोपघण्टा (झनझनिया), अरिमेद (विट्खदिर), इनकी भस्म को लेकर गोमूत्र में क्षार विधि से इक्कीस बार नितारकर पकाये। पकाते समय इनमें—पिप्पलीमूल, चौलाई, दालचीनी, चोच (तज—मोटे छिलके की) मंजीठ, करंज, गजपिप्पली, मरिच, विडंग, घर का धुँवासा, सारिवा, कटफल, चीड़, जलबेतस, वेंत, केसर, सालपर्णी, कोशाम्र, श्वेतसरसों, वरणा, नमक, पिलखन, तगर, हरताल, एरण्ड, द्रवन्ती, (मोगलइ एरण्ड), सप्तपर्ण, श्योनाक, एलवालुक, नागदन्ती (इन्द्रवारुणी या बड़ा जमालगोटा), अतीस, हरड़, देवदारु, कूठ, हल्दी वच इनको चूर्ण और लोहा-ताम्र आदि के चूर्ण जो मिल सके, वे मिलाकर क्षार की भाँति पकाये। जब क्षार की भाँति बन जाये तो उतारकर लोहे के घड़े में रख देवे ॥३॥

अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद्दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते ॥४॥
एष क्षारागदो नाम शर्करास्वश्मरीषु च।
अर्शःसु वातगुल्मेषु कासशूलोदरेषु च ॥५॥
अजीर्णे ग्रहणीदोषे भक्तद्वेषे च दारुणे।
शोफे सर्वसरे चापि देयः श्वासे च दारुणे ॥६॥
सदा सर्वविषार्तानां सर्वथैवोपयुज्यते।
एष तक्षकमुख्यानामपि दर्पाङ्कुशोऽगदः ॥७॥

इस अगद से दुन्दुभि, पताका, तोरण पर लेप करे। इनके सुनने, दर्शन, और स्पर्श करने पर विष से मुक्त हो जाता है। यह क्षार अगद शर्करा, अश्मरी, अर्श, वातगुल्म, कास, शूल, उदर, अजीर्ण, ग्रहणीरोग, और भोजन की भयानक अरुचि में; शोफ में; सर्वसर शोफ में; भयानक श्वास में उत्तम है। सब प्रकार के विषों से पीड़ित पुरुषों में पान, नस्य, अभ्यंग आदि सब में बरता जाता है। तक्षक जिनमें मुख्य है, ऐसे सर्पों के दर्प के लिये यह अगद अंकुश रूप में है ॥४-७॥

विडङ्गत्रिफलादन्तीभद्रदारुहरेणवः।
तालीशपत्रमञ्जिष्ठाकेशरोत्पलपद्मकम् ॥८॥
दाडिमं मालतीपुष्पं रजन्यौ सारिवे स्थिरे।
प्रियङ्गुस्तगरं कुष्ठं बृहत्यौ चैलवालुकम् ॥९॥
सचन्दनगवाक्षीभिरेतैः सिद्धं विषापहम्।
सर्पिः कल्याणकं ह्येतद्ग्रहापस्मारनाशनम् ॥१०॥
पाण्ड्वामयगरश्वासमन्दाग्निज्वरकासनुत्।
शोषिणामल्पशुक्राणां बन्ध्यानां च प्रशस्यते ॥११॥

कल्याणकघृत—विडंग, त्रिफला, दन्ती, देवदारु, हरेणु, तालीशपत्र, मंजीठ, केशर, उत्पल (कमल), पद्माख, दाडिमी, चमेली के फूल, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, काली सारिवा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, प्रियंगु, तगर, कूठ, बड़ी कटेरी, कटेरी, ऐलवालुक, चन्दन, इन्द्रायण इनसे सिद्ध किया यह कल्याणकघृत विषनाशक, ग्रहनाशक, एवं अपस्मार नाशक है। पाण्डुरोग, गर, श्वास, मन्दाग्नि, ज्वर, कास नाशक है। शोषरोगी, अल्पशुक्रवाले और वन्ध्याओं के लिये उत्तम है॥

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य च माषकान्।
श्वेते द्वे काकमाचीं च गवां मूत्रेण पेषयेत् ॥१२॥
सर्पिरेतैस्तु संसिद्धं विषसंशमनं परम्।
अमृतं नाम विख्यातमपि संजीवयेन्मृतम् ॥१३॥

अपामार्ग (चिरचिटे) के बीज, शिरीष के बीज, श्वेत और नीलीश्वेता (अपराजिता–कोयल), मकोय इनको गोमूत्र से पीसे। इनसे सिद्ध किया (गोमूत्र में) घृत विष के नाश करने में श्रेष्ठ है। इस घृत का नाम अमृत घृत है, यह मृत मनुष्य को भी जीवित करता है ॥१३॥

चन्दनागुरुणी कुष्ठं तगरं तिलपर्णिकम्।
प्रपौण्डरीकं नलदं सरलं देवदारु च ॥१४॥
भद्रश्रियं यवफलां भार्गी नीलीं सुगन्धिकाम्।
कालेयकं पद्मकं च मधुकं नागरं जटाम् ॥१५॥
पुन्नागैलैलवालूनि गैरिकं ध्यामकं बलाम्।
तोयं सर्जरसं मांसीं शतपुष्पां हरेणुकाम् ॥१६॥
तालीशपत्रं क्षुद्रैलां प्रियंगुं सकुटन्नटाम्।
शिलापुष्पं सशैलेयं पत्रं कालानुसारिवाम् ॥१७॥
कटुत्रिकं शीतशिवं काश्मर्यं कटुरोहिणीम्।
सोमराजीमतिविषां पृथ्विकामिन्द्रवारुणीम् ॥१८॥
उशीरं वरुणं मुस्तं कुस्तुम्बुरु नखं तथा।
श्वेते हरिद्रे स्थौणेयं लाक्षां च लवणानि च ॥१९॥
कुमुदोत्पलपद्मानि पुष्पं चापि तथाऽर्कजम्।
चम्पकाशोककुसुममस्तिलवकप्रसवानि च ॥२०॥
पाटलीशाल्मलीशैलुशिरीषाणां तथैव च।
कुसुमं तृणमूल्याश्च सुरभीसिन्धुवारजम् ॥२१॥
धवाश्वकर्णपार्थानां पुष्पाणि तिनिशस्य च।
गुग्गुलं कुङ्कुमं बिम्बीं सर्पाक्षीं गन्धनाकुलीम् ॥२२॥
एतत् संभृत्य संभारं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
गोपित्तमधुसर्पिर्भिर्युक्तं शृङ्गे निधापयेत् ॥२३॥
भग्नस्कन्धं विवृत्ताक्षं मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्।
अनेनागदमुख्येन मनुष्यं पुनराहरेत् ॥२४॥
एषोऽग्निकल्पं दुर्वारं क्रुद्धस्यामिततेजसः।
विषं नागपतेर्हन्यात् प्रसभं वासुकेरपि ॥२५॥
महासुगन्धिनामाऽयं पञ्चाशीत्यङ्गसंयुतः।
राजाऽगदानां सर्वेषां राज्ञो हस्ते भवेत् सदा ॥२६॥
स्नातानुलिप्तस्तु नृपो भवेत् सर्वजनप्रियः।
भ्राजिष्णुतां च लभते शत्रुमध्यगतोऽपि सन् ॥२७॥

महासुगन्धि अगद—चन्दन, अगरु, कुष्ठ, तगर, हुलहुल, प्रपौण्डरीक, उशीरमेद, चीड़, देवदारु, श्वेत चन्दन, यवफला, भार्गी, नीली, सर्वगन्धा, कालेयक (पीलाचन्दन), पद्माख, मुलैठी, सोंठ, जटामांसी, नागकेसर, इलायची, ऐलवालुक गेरू, कत्तृण, बला, बालक, राल, छैलछड़ीला, सौंफ, हरेणु, तालीशपत्र, छोटी इलायची, प्रियंगु, केवड़ी मोथा, शिला (मैनसिल), पुष्प (पुष्प कासीस), शिलारस, तेजपत्र, कालानुसारिवा, त्रिकटु, शितशिव (कर्पूर), गम्भारी, कुटकी, बावची, अतीस, मोटा जीरा, इन्द्रायण, खस, वरणा, मुस्ता, धनिया, नख, श्वेत और नीली अपराजिता, हल्दी, दारुहल्दी, स्थौणेय, लाख, पाँचों नमक, कुमुद, उत्पल, नीलाकमल, आक का फूल, चम्पक और अशोक के फूल, तिल्वक के फूल, पाटली-सिम्बल-लसूड़ा शिरीष इनके भी फूल, केवड़ा, सुरभी (रास्ना या शल्लकी) और निर्गुण्डी के फल, धव, अश्वकर्ण, अर्जुन और साँदन के पत्ते, गुग्गुलु, केसर, कन्दूरी, सर्पाक्षी, गन्धनाकुली (सुगन्ध मूल, रास्ना), इन सबको एकत्रित करके इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को गाय के पित्त, मधु और घी में मिलाकर गाय के सींग में रख देवे। कन्धे गिर जाने पर, आँखें खुली रह जाने पर, मृत्यु के पंजे में फँसे हुए मनुष्य को भी इस मुख्य अगद से वापिस खींच लाये। यह अगद अग्नि के समान अप्रतिहतशक्ति क्रुद्ध के समान महान् तेजस्वी, सर्पों के राजा वासुकी के विष को नष्ट कर देता है। इसका नाम महासुगन्धि है, इसमें पचासी औषधियाँ हैं। यह सब अगदों का राजा है। राजा को सदा हाथ में धारण करना चाहिये। स्नान करके इसका लेप करने से राजा सब

जनों का प्रिय होता है। शत्रुओं के बीच में फंसा हुआ भी तेजस्वी रहता है ॥२७॥

उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यो विषार्तानां विजानता।
मुक्त्वा कीटविषं तद्धि शीतेनाभिप्रवर्धते ॥२८॥

विष से पीड़ित व्यक्तियों में उष्ण को छोड़कर सब विधि बरतनी चाहिये। कीटविष में उष्ण विधि बरते, क्योंकि यह कीटविष शीत से बढ़ता है ॥२८॥

अन्नपानविधावुक्तमुपधार्य शुभाशुभम्।
शुभं देयं विषार्तेभ्यो विरुद्धेभ्यश्च वारयेत् ॥२९॥
फाणितं शिग्रुसौवीरमजीर्णाध्यशनं तथा।
वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम् ॥३०॥
दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायामं क्रोधमातपम्।
सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः ॥३१॥

अन्नपान विधि में कहा हुआ हित-अहित विचार करके विषपीड़ित व्यक्तियों को हितकारी अन्न दे। और विरोधि हानिकारक वस्तुओं से रोके। राब, सुहाजन, कांजी, अजीर्ण, अध्यशन, एवं संक्षेप से नवधान्यादिगण इनसे बचाये। दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम, क्रोध, धूप, सुरा, तिल, कुलत्थी इनको विष से पीड़ित व्यक्ति छोड़ देवे ॥२९-३१॥

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाङ्क्षं समसूत्रजिह्वम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ३२

अविष मनुष्य—स्वभाव में स्थित वातादि दोष, होने पर रसादि धातु और मल अपने स्वभाव में आने पर, अन्न की रुचि होने पर, मन के साथ उचितरूप में रस को ग्रहण करनेवाली जिह्वा के होने पर, वर्ण-इन्द्रिय-चित्त और चेष्टा के प्रसन्न (स्वाभाविक) हो जाने पर, वैद्य मनुष्य को विषरहित जाने ॥

वक्तव्य—विषयुक्त मनुष्य के लक्षण—प्रवृद्धदोषंविकृतिस्थधातुमनन्नकाङ्क्षं क्षतसूत्रजिह्वम्। विरुद्धवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेत् सविषं मनुष्यम् ॥ समसूत्रजिह्वम् के स्थान पर "सममूत्रविट्कम्" पाठ हैं वह ठीक है, मल मूत्र ठीक रूप में हों।

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने दुन्दुभिस्वनीयकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो मूषिककल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूषिक कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वतरि ने कहा था ॥१,२॥

पूर्वं शुक्रविषा उक्ता मूषिका ये समासतः।
नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध मे ॥३॥
लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिरश्चिक्कि (कि) रस्तथा।
छुच्छुन्दरोऽलसश्चैव कषायदशनोऽपि च ॥४॥
कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा।
कोकिलोऽरुणसंज्ञश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः ॥५॥
श्वेतेन महता सार्धं कपिलेनाखुना तथा।
मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥६॥

शुक्रविषवाले जो चूहे पहिले संक्षेप में कहे हैं, वे अट्ठारह हैं। उनके नाम, लक्षण और औषध मुझसे सुनो! लालन, पुत्रक, कृष्ण, हंसिर, चिक्किर, छुछुन्दर, अलस, कषाय दशन, कुलिंग, अजित, चपल, कपिल, कोकिल, अरुण, महाकृष्ण, उन्दुर, महाश्वेत, कपिल, कपोताभ-ये अट्ठारह चूहे हैं।

वि० मन्तव्य—लालन-स्यात् लालन नामक चूहे वे हैं जो पालतू होते हैं। पुत्रक-स्यात् वे हैं जो बहुत छोटे छोटे होते हैं। यह अन्य चूहों की अपेक्षा छोटे रहते हैं। छुच्छुन्दर-इसी नाम से प्रसिद्ध है, इससे अप्रिय गन्ध आती है। महाकृष्ण-इसे पञ्जाब में "घीस" कहते हैं। यह मिट्टी बहुत खोदता है रात्रिभर में ढेर लगा देता है। चपल-बहुत चञ्चल होता है। महाश्वेत-खरगोश जितना बड़ा होता है, किसी २ बड़े घरों में पाला जाता है और श्वेत वर्ण का, कोमल बालोंवाला, लाल आंखों वाला होता है ॥३-६॥

शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति वा।
नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥७॥

इन चूहों का शुक्र जहां पर गिर जाता है, शुक्रवाली वस्तु का जहां स्पर्श होता है तथा इनके नख, दांत आदि से उस अंग में रक्त दूषित हो जाता है।

तन्त्रान्तर में—"शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वाक्षिपन्तीह मूषिका पञ्चधा विषम्।

वि० मन्तव्य—चूहे-प्रधानतः शुक्र विष होते हैं परन्तु इनके नख एवं दन्त में भी विष होता है, कुछ चूहे निर्विष भी होते हैं। श्री डल्लन ने किसी तन्त्र का वचन उद्धृत किया है-यथा—"गर्भिण्या मूषिकया दष्टे अम्लादिदोहदः ऋतुमत्या दष्टे रक्त मेहनं आध्मानं रतिशीलता च" इत्यादि अर्थात् गर्भवती चूही द्वारा काटने पर अम्ल आदि द्रव्यों के सेवन की अभिलाषा, ऋतुमती—रजस्वला चूही द्वारा काटने पर मूत्र में रक्त जाना (नारी का रजस्वला होना) अफरा तथा मैथुन की इच्छा होना आदि २ ॥७॥

जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च।
पीडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥८॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाऽङ्गसदनं ज्वरः।
दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम् ॥९॥
दष्टरूपं समासोक्तमेतद्व्यासमतः शृणु।

इनके काटने से, गांठें, सूजन, कर्णिका (उभार), मण्डल (चकत्ते), फुन्सियां उत्पन्न होना, भयानक विसर्प, किटिभ, पर्वभेद, तीव्रपीड़ा, मूर्च्छा, अङ्गों की शिथिलता, ज्वर, दुर्बलता,

अरुचि, श्वास, वमन, लोमहर्ष ये संक्षेप में लक्षण होते हैं। विस्तार से सुनो।

वि० मन्तव्य—ग्रन्थयः—श्लैष्मिक ग्रन्थियों का शोथ शोफ-दष्ट स्थान पर शोथ अथवा व्रणशोथ की उत्पत्ति। कर्णिका कमल के बीज कोश का सा शोथ। लक्षणों पर ध्यान देने से "प्लेग" जिसको "ग्रन्थिक ज्वर" कहते हैं, का आभास होता है। यद्यपि एलोपेथी का कथन है कि चूहों का विष-पिस्सुओं द्वारा मानव पर आक्रान्त होता है। जो कुछ होता है तो मूसा का ही विष। प्लेग में ५० प्रतिशत वंक्षण सन्धि की ग्रन्थि का शोथ होता है इस ग्रन्थि का नाम लोहिताक्ष मर्म है यथा "ऊरुमूले लोहिताक्षं च" सु० शा० अ० ६-२४। मर्मस्थल का शोथ होने के कारण ही प्लेग इतनी भीषण होती है। यह ग्रन्थिक ज्वर कभी २ मरक के रूप में फैलकर जनपद का विद्ध्वंस कर देता है ॥८,६॥

लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते ॥१०॥
तण्डुलीयककल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।

लालन चूहे के कारण लालास्राव, हिचकी, वमन होती है। इसमें चौलाई के कल्क को मधु के साथ चाटे ॥१०॥

पुत्रकेणाङ्गसादश्च पाण्डुवर्णश्च जायते ॥११॥
चायते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः।
शिरीषेङ्गुदकल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥१२॥

पुत्रक चूहे से अंगों में शिथिलता, पीलापन, चूहे के बच्चे के समान गांठों से अंग भर जाता है। इसमें शिरस और हिंगोट का कल्क मधु के साथ चाटे ॥११,१२॥

कृष्णेन दंशे शोफोऽसृक्छर्दिः प्रायश्च दुर्दिने।
शिरीषफलकुष्ठं तु पिबेत् किंशुकभस्मना ॥१३॥

कृष्ण चूहे से काटने पर शोफ और प्रायः करके बादल आने पर रक्त का वमन होता है। इसमें शिरीष के फल और कूठ को ढाक के फूल की भस्म के पानी में घोलकर उसके साथ पिये ॥१३॥

हंसिरेणान्नविद्वेषो जृम्भा रोम्णां च हर्षणम्।
पिबेदारग्वधादिं तु सुवान्तस्तत्र मानवः ॥१४॥

हंसिर चूहे से अन्न में विद्वेष, जम्भाई आना, रोमांच होता है। इसमें भली प्रकार वमन करके आरग्वधादि गण को पिये॥

चिकि (क्वि) रेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमिस्तथा।
जालिनीमदनाङ्कोठकषायैर्वामयेत्तु तम् ॥१५॥
यवनालर्षभीक्षारं बृहत्योश्चात्र दापयेत्।

चिक्किर से शिर में वेदना, शोफ, हिक्का, वमन होता है। इसमें कड़ुईतोरी, मैनफल, अंकोठ, इनके कषाय से वमन कराये। इसमें जौ के नाल (यवक्षार), कौंच और बड़ी कटेरी का क्षार मिला देवे ॥१५॥

छुच्छुन्दरेण तृट् छर्दिर्ज्वरो दौर्बल्यमेव च ॥१६॥
ग्रीवास्तम्भः पृष्ठशोफो गन्धाज्ञानं विसूचिका।
चव्यं हरीतकी शुण्ठी विडङ्गं पिप्पली मधु ॥१७॥
अङ्कोठबीजं च तथा पिबेदत्र विषापहम्।

छुछुन्दर से प्यास, वमन, ज्वर, दुर्बलता, ग्रीवास्तम्भ, पीठ में सूजन, गन्ध का ज्ञान न होना, विसूचिका, होती है। इसमें चव्य, हरड़, सोंठ, वायविडंग, पिप्पली, अंकोठ के बीज, और मधु पिये। यह विष नाशक है ॥१६,१७॥

ग्रीवास्तम्भोऽलसेनोर्ध्ववायुर्दंशे रुजाः ज्वरः ॥१८॥
महागदं ससर्पिष्कं लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।
निद्रा कषायदन्तेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च ॥१९॥
क्षौद्रोपेताः शिरीषस्य लिह्यात् सारफलत्वचः।
कुलिङ्गेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमण्डले ॥२०॥
सहे ससिन्धुवारे च लिह्यात्तत्र समाक्षिके।

अलस से ग्रीवास्तम्भ ऊर्ध्ववायु, दंश में वेदना, ज्वर होता है। इसमें घी और मधु के साथ महागद को चाटे। कषायदन्त चूहे से नींद का आना, हृदयशोष, कृशता, होती है। इसमें शिरस के सार, फल, छाल को मधु के साथ चाटे। कुलिंग चूहे से वेदना सूजन एवं दंश स्थान पर रेखायें होती हैं। इसमें मुद्गपर्णी, माषपर्णी, सिन्धुवार को मधु के साथ चाटे।

अजितेनाङ्गकृष्णत्वं छर्दिर्मूर्च्छा च हृद्ग्रहः ॥२१॥
स्नुक्क्षीरपिष्टां पालिन्दीं मञ्जिष्ठां मधुना लिहेत्।

अजित से अङ्ग में कालापन, वमन, मूर्च्छा, हृद्ग्रह होता है। इसमें थोरके दूध में निशोथ, मजीठ को पीसकर मधु से चाटे ॥२१॥

चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया ॥२२॥
क्षौद्रेण त्रिफलां लिह्याद्भद्रकाष्ठजटान्विताम्।

चपल से वमन, मूर्च्छा और प्यास होती है। इसमें त्रिफला, देवदारु, जटामांसी को मधु के साथ चाटे ॥२२॥

कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमः सतृट् ॥२३॥
लिह्यान्मधुयुतां श्वेतां श्वेतां चापि पुनर्नवाम्।
ग्रन्थयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः ॥२४॥
वर्षाभूनीलिनीक्वाथकल्कसिद्धं घृतं पिबेत्।

कपिल से व्रण में सड़ना, ज्वर, गांठों का उत्पन्न होना और प्यास होती है। इसमें श्वेत कोयल और श्वेत पुनर्नवा को चाटे। कोकिल से गांठें, तीव्रज्वर, भयानक दाह होता है। इनमें पुनर्नवा, नीलिनी इसके क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत पीये ॥२३,२४॥

अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान् ॥२५॥
महाकृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च।

महता कपिलेनासृक् कपोतेन चतुष्टयम् ॥२६॥
भवन्ति चैषां दंशेषु ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः।
पिडकोपचयश्चोग्रः शोफश्च भृशदारुणः ॥२७॥
दधिक्षीरघृतप्रस्थास्त्रयः प्रत्येकशो मताः।
करञ्जारग्वधव्योषबृहत्यंशुमतीस्थिराः ॥२८॥
निष्क्वाथ्य चैषां क्वाथस्य चतुर्थोंऽशः पुनर्भवेत्।
त्रिवृद्गोज्यमृतावक्रसर्पगन्धाः समृत्तिकाः ॥२९॥
कपित्थदाडिमत्वक् च श्लक्ष्णपिष्टाः प्रदापयेत्।
तत् सर्वमेकतः कृत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥३०॥
पञ्चानामरुणादीनां विषमेतद्व्यपोहति।
काकादनीकाकमाच्योः स्वरसेष्वथवा कृतम् ॥३१॥
सिराश्च स्रावयेत् प्राप्ताः कुर्यात् संशोधनानि च।

अरुण से कुपितवायु वातजन्य रोगों को करती है। महाकृष्ण से पित्त और महाश्वेत से कफ कुपित होता है। महा कपिल से रक्त और कपोत से चारों दोष कुपित होते हैं। इसके दंशस्थान में ग्रन्थियाँ, चकत्ते, कर्णिकायें होती हैं। भयानक फुन्सियों की वृद्धि और अतिशय शोफ होता है। इसके लिये—दही, दूध और घी प्रत्येक एक-एक प्रस्थ, करंज, अमलतास, मरिच, पिप्पली, कटेरी, पृश्नपर्णी, शालपर्णी इनका क्वाथ करे। इस क्वाथ में क्वाथ का चौथाई—निशोथ, गाजवां गिलोय, तगर, सर्पगन्धा, काली मिट्टी, कैथ की छाल और अनार की छाल बारीक पीसकर पिलाये। इन सबको मृदु अग्नि से पकाये। अरुण आदि पांचों चूहों के विष को यह नष्ट करता है। अथवा ककादनी (सफेद घेऊँची) और मकोय के स्वरस में घृत को सिद्ध करे। मर्मस्थान की सिराओं को छोड़कर योग्य स्थानों पर सिरामोक्षण करे, वमन-विरेचन आदि संशोधन देवे॥

सर्वेषां च विधिः कार्यो मूषिकाणां विषेष्वयम् ॥३२॥

सब मूषिकाओं के विष में यह विधि (सिरावेधन, संशोधन) करनी चाहिये ॥३२॥

दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत्।
शिरीषरजनीकुष्ठकुङ्कुमैरमृतायुतैः ॥३३॥

अग्नि में गरम किये घी से दंश को जलाये, पाछकर दंश में से रक्त निकाले। दंश पर शिरीष, हल्दी, कुष्ठ, केसर और गिलोय इनसे लेप करे ॥३३॥

छर्दनं जालिनीक्वाथैः शुकाख्याङ्कोठयोरपि।
शुकाख्याकोषवत्योश्च मूलं मदन एव च ॥३४॥

जालिनी (कड़ुई तुरई जिससे पैर रगड़ते हैं), शुकाख्य (शिरीष या श्योनाक) और अंकोठ इनके क्वाथ से वमन कराये ॥३४॥

देवदालीफलं चैव दध्ना पीत्वा विषं वमेत्।
सर्वमूषिकदष्टानामेष योगः सुखावहः ॥३५॥
फलं वचा देवदाली कुष्ठं गोमूत्रपेषितम्।
पूर्वकल्पेन योज्याः स्युः सर्वोन्दुरुविषच्छिदः ॥३६॥

शिरीष, कड़ुई तुरई, इनकी जड़, मैनफल, कुकड़लता का फल इनको दही के साथ पीकर वमन करे। सब चूहों के दंश में यह योग सुखदायक है। मैनफल, वच, कुकड़लता, कूठ इनको गोमूत्र में पीसकर दही के साथ पीना चाहिये। सब चूहों के विष को नष्ट करता है ॥३५,३६॥

विरेचने त्रिवृद्दन्तीत्रिफलाकल्क इष्यते।
शिरोविरेचने सारः शिरीषस्य फलानि च ॥३७॥
हितस्त्रिकटुकाव्यश्च गोमयस्वरसोऽञ्जने।

विरेचन के लिये निशोथ, दन्ती (जमालगोटा) और त्रिफला का कल्क बरता जाता है। शिरोविरेचन के लिये शिरस का सार भाग (मध्य भाग), और फल बरते। सोंठ, मरिच, पीपल मिलाकर गोबर के स्वरस का अंजन करे ॥३७॥

कपित्थगोमयरसौ लिह्यान्माक्षिकसंयुतौ ॥३८॥
रसाञ्जनहरिद्रेन्द्रयवकट्वीषु वा कृतम्।
प्रातः वातिविषं कल्कं लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ॥३९॥
तण्डुलीयकमूलेषु सर्पिः सिद्धं पिबेन्नर।
आस्फोतमूलसिद्धं वा पञ्चकापित्थमेव वा ॥४०॥

कैथ का स्वरस या गोबर के रस को मधु के साथ चाटे। रसौत, हल्दी, इन्द्रजौ, कटुरोहिणी इनके कल्क को मधु के साथ खाये। अतीस के कल्क को मधु के साथ प्रातःकाल खाये। चौलाई के मूल से सिद्ध किया घृत पीये। सारिवा के मूल में या कैथ के पत्ते, फल, मूल, पुष्प और छाल इनके कषाय और क्वाथ में सिद्ध घृत पीये ॥३८-४०॥

मूषिकाणां विषं प्रायः कुप्यत्यभ्रेष्वनिर्हृतम्।
तत्राप्येष विधिः कार्यो यश्च दूषीविषापहः ॥४१॥

न निकला हुआ चूहों का विष प्रायः करके बादल आनेपर कुपित होता है। वहाँ पर यही वमन विरेचन, शिरोविरेचन आदि विधि और दूषीविष नाशक उपचार बरतना चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्लेग के ४-५ प्रकोपों में देखा गया कि बादल छाने पर इस रोग से अधिक मानव आक्रान्त होते हैं और माघ, फागुन, एवं चैत्र में जब २ प्लेग का प्रकोप अधिक बढ़ा तब २ बादल, वर्षा, बून्दाबान्दी आदि अवश्य हुए थे॥

स्थिराणां रुजतां वाऽपि व्रणानां कर्णिकां भिषक्।
पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ॥४२॥

स्थिर (न भरनेवाले) अथवा भरते हुए व्रणों की कर्णिका को वैद्य चीरकर दोष के अनुसार एवं व्रण की अवस्थानुसार चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—प्लेग की कर्णिका फोड़ा के समान पकती फूटती है, कभी २ चीरा भी लगाना पड़ता है इस दशा में सब

उपचार-व्रण शोथ एवं व्रण के समान ही किये जाते हैं ॥४२॥

श्वश्रृगालतरक्षृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥४३॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अत्यर्थबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥४४॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु।
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ॥४५॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः।

कुत्ता, गीदड़, तरक्षु (लकड़ मकड़), रीछ, व्याघ्र आदि में कफ से दूषित वायु जब संज्ञावह स्रोतों का आश्रय करके संज्ञा को नष्ट कर देती है, तब पशुकी पूँछ, हनु और कन्धे बहुत ढीले हो जाते हैं (उसका इनपर वश नहीं रहता), मुख से बहुत लाला बहती है, पशु अन्धा, बहरा हो जाता है, वह एक दूसरे की ओर भागता है। उस पागल विषवाले, दंष्ट्रि पशु के काटने से दंश में सुप्तता (बे भान पन) आ जाती है, और काले रंग का रक्त बहुत बहता है। प्रायः करके विषयुक्त शस्त्र से मारे के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—कुत्ता, सियार आदि उन्मत्त-पागल हो जाते हैं, यह उन्हीं का वर्णन है। "अत्यन्तवधिरोऽन्धश्च" के स्थान में "अव्यक्तबधिरान्धश्च" पाठान्तर है, और यही समीचीन भी है क्योंकि—उन्मत्त कुत्ता पूर्णरूप से न बधिर ही होता है और न अन्ध ही होता है, कुछ २ कभी २ सुनता भी है, हल्ला होने पर भाग जाता है, और देखता भी है, लाठी आदि देखकर भाग जाता है। वस्तुतः यह उन्मत्त हो जाता है। ऐसे कुत्ता आदि का विष मानव नहीं पशुओं पर भी प्रभाव डालता है और इस विष से मानव एवं पशु भी उन्मत्त हो जाते हैं और काटने लगते हैं। तथा उन्हीं की सी चेष्टाएँ करने लगते हैं ॥४३-४५॥

यन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ॥४६॥
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति।

जिस प्राणी से काटा गया हो, यदि उसी प्राणी के समान चेष्टा और शब्द का रोगी बार-बार अनुकरण करता हो, एवं अपनी क्रियायें नष्ट हो गई हों, तो वह मनुष्य मर जाता है ॥४६॥

दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ॥४७॥
अप्सु वा यदि वाऽऽदर्शेऽरिष्टं तस्य विनिर्दिशेत्।

जिस पशु से मनुष्य काटा गया है, उसी पशु के रूप को यदि रोगी, जल में आईने (दर्पण) में देखता है, उसका अरिष्ट मृत्यु लक्षण समझे (वह मरेगा)।

वि० मन्तव्य—इस दंश के पूर्व यदि चिकित्सा हो जाती है तब कोई विकार नहीं होता ॥४७॥

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम् ४८
जलत्रासं तु विद्यात्तं रिष्टं तदपि कीर्तितम्।

जो मनुष्य बिना कारण के सहसा ही जल को देखकर या छूकर डर जाता है, उसको भी रिष्ट-मृत्यु सूचक लक्षण जानना। इस अवस्था को जलत्रास कहते हैं।

वि० मन्तव्य—जलत्रास-पागल कुत्ता आदि द्वारा काटने पर प्रातः जलत्रास हो जाता है। और यह दशा असाध्य है परन्तु यदि वैसे ही जलत्रास हो जाता है तो उसकी चिकित्सा हो सकती है (डल्हणाचार्य) ॥४८॥

अदष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति ॥४९॥
प्रसुप्तोऽथोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति।

अथवा दंष्ट्रि पशु से बिना काटे भी जिसमें जल त्रास के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, वह भी अच्छा नहीं होता। सोकर पीछे उठने पर जलत्रास हो, या स्वस्थ अवस्था में जलत्रास हो तो वह भी असाध्य है ॥

वक्तव्य—बिना पशु के काटे भी जलत्रास होता है। यथा-बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलं प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाऽधिष्ठितो नरः। जाग्रत् सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जन्तमिव मन्यते। सलिले त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः। श्लेष्मघ्नं तत्र कर्त्तव्यं शोधनं शमनानि च॥ आहारस्य विधानेन यावत् स प्रकृतिं व्रजेत् ॥४९॥

दंशं विस्राव्य तैर्दष्टे सर्पिषा परिदाहितम् ॥५०॥
प्रदिह्यादगदैः सर्पिः पुराणं पाययेत च।
अर्कक्षीरयुक्तं ह्यस्य दद्याच्चापि विशोधनम् ॥५१॥
श्वेतां पुनर्नवां चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम्।
पललं तिलतैलं च रूपिकायाः पयो गुडः ॥५२॥
निहन्ति विषमालर्कं मेघवृन्दमिवानिलः।

इन पशुओं के काटने पर दंश को दबाकर रक्त निकालकर घी से जलाये। अगदों से दंश पर लेप करे और पुराना घृत पिलाये। आक के दूध से मिला विरेचन इसको देवे। धतूरे के साथ श्वेत कोयला और पुनर्नवा को दे! पलल (तिलकल्क), तिल तैल और आक का दूध, गुड़ इनको दे। यह पागल जानवरों के विष को ऐसे नष्ट करती है, जैसे कि वायु बादलों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—घृत स्नेह से गहराई में दाह होता है। यथा—अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वाद् त्वगादीननुप्रविश्य आशु दहति। तस्मात् स्नेहदग्धोऽधिकारुजो भवति ॥सु०

वि० मन्तव्य—दष्टस्थान पर तत्काल लाल मरिच अथवा काली मिरच पीसकर लेप करे। इससे दो लाभ होते हैं १—पता चल जाता है कि काटनेवाला कुत्ता आदि उन्मत्त था अथवा नहीं क्योंकि उन्मत्त द्वारा काटने पर दष्ट स्थान से

सुप्तता अर्थात् शून्यता हो जाती है (श्लो० ४५) फलतः मरिच की तीक्ष्णता का अनुभव होता है। इस दशा में तत्काल उचित चिकित्सा में तत्पर हो जाना चाहिये। २—मरिच उच्चकोटि का विषनाशक अतः प्रारम्भिक उपचार हो जाता है॥५०-५२॥

मूलस्य शरपुङ्खायाः कर्षं धत्तूरकार्धिकम् ॥५३॥
तण्डुलोदकमादाय पेषयेत्तण्डुलैः सह।
उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्यापूपकं पचेत् ॥५४॥
खादेदौषधकाले तमलर्कविषदूषितः।
करोति श्वविकारांस्तु तस्मिञ्जीर्यति चौषधे ॥५५॥
विकाराः शिशिरे याप्या गृहे वारिविवर्जिते।
ततः शान्तविकारस्तु स्नात्वा चैवापरेऽहनि ॥५६॥
शालिषष्टिकयोर्भक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत्।
दिनत्रये पञ्चमे वा विधिरेषोऽर्धमात्रया ॥५७॥
कर्तव्यो भिषजाऽवश्यमलर्कविषनाशनः।
कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः ॥५८॥
तस्मात् प्रकोपयेदाशु स्वयं यावत् प्रकुप्यति।

शरपुंखा का मूल एक कर्ष, धत्तूरा आधा कर्ष, इनको चावलों के पानी के साथ चावलों के साथ ही देवे। इसको धत्तूरे के पत्तों में पिट्ठी की तरह भरकर अपूप (कचौरी) बनाये। इनको पागल पशु के बिष से दूषित मनुष्य औषधि के समय में खाये। इस औषधि के पचने पर मनुष्य उन्मत्त कुत्ते की भाँति चेष्टायें करता है। पानी रहित शीतल घर में रोगी को ले जाने से विकार शान्त हो जाते हैं। विकार के शान्त हो जाने पर स्नान कराके दूसरे दिन शाली और साँठी के भात को गरम दूध से खाने को देवे। तीसरे दिन या पाँचवें दिन यही विधि आधी मात्रा में बरते। पागल कुत्ते आदि के विष को नष्ट करने के लिये यह विधि अवश्य वैद्य को करनी चाहिये। जिस मनुष्य में विष स्वयं कुपित हो जाता है, वह नहीं बचता। वह स्वयं कुपित हो, इससे पहिले उस विष को वैद्य कुपित करे। (धतूरा खिलाकर रोगी को धूप में रखते हैं, जिससे जल्दी प्रभाव हो)।

वि० मन्तव्य—धत्तूरे के बीज एवं पत्र के प्रयोग से उन्माद हो जाता है और 'विषस्य विषं औषधं' के अनुसार जंगम विष में स्थावर विष औषध है जो विषम् के प्रभाव को नष्ट कर देता है। विकाराः—विवर्जिते—रोगी के विकारों का यापन (शमन के लिये प्रतीक्षा) ऐसे घर में—स्थान में करनी चाहिये जो शीतल हो परन्तु वहाँ जल न हो अर्थात् वह जल द्वारा शीतल न किया गया हो। हम देखते हैं कि कुत्ते की विष की शान्ति के लिये जो २ अस्पताल बने हैं वे सब ऐसे स्थानों पर बनाए गये हैं, जहाँ जल की अधिकता नहीं है, परन्तु शीतल हैं, यथा—शिमला के पास कसौली पर्वत। यह ऊँचा है, शीतल है, परन्तु वहाँ जल के झरने नहीं हैं। पाठक ध्यान से देखें कि ये स्थान भगवान् धन्वन्तरि के उपदेशानुसार चुने गये हैं॥५३-५८॥

बीजरत्नौषधीगर्भैः कुम्भैः शीताम्बुपूरितैः ॥५९॥
स्नापयेत्तं नदीतीरे समन्त्रैर्वा चतुष्पथे।
बलिं निवेद्य तत्रापि पिण्याकं पललं दधि ॥६०॥
माल्यानि च विचित्राणि मांसं पक्वामकं तथा।
अलकाधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप ॥६१॥
अलर्कजुष्टमेतन्मे निर्विषं कुरु माचिरात्।

बीज (तिलादि), रत्न, औषधि इनको जलपात्रों में डालकर इनको शीतल जल से भरकर पागल पशु से काटे मनुष्य को नदी के किनारे या चौराहे पर नहलाये। वहाँ पर तिलखल, तिलकल्क, दही की बलि देकर, नाना प्रकार की मालायें, कच्चे एवं पके मांस की बलि देवे। हे अलकाधिपति यक्ष, सारमेयगण के राजा! पागल कुत्ते से काटे हुए मुझको शीघ्र निर्विष करो॥५९-६१॥

दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः ॥६२॥
अशुद्धस्य सुरूढेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम्।

इस प्रकार स्नान किये व्यक्ति को तीक्ष्ण संशोधन देवे। क्योंकि अशुद्ध व्यक्ति में व्रण के भर जाने पर भी विष कुपित हो जाता है॥६२॥

श्वादयोऽभिहिता व्याला येऽत्र दंष्ट्राविषा मया ॥६३॥
अतः करोति दृष्टस्तु तेषां चेष्टां रुतं नरः।
बहुशः प्रतिकुर्वाणोऽचिरान्म्रियते च सः ॥६४॥

यहाँ पर कुत्ते आदि दंष्ट्राविषवाले जो हिंसक पशु मैंने कहे हैं, उनसे काटा हुआ मनुष्य उनके समान ही चेष्टा और शब्द को करता है। जो बार-बार इनका अनुकरण करता है, वह शीघ्र ही मर जाता है॥६३,६४॥

नखदन्तक्षतं व्यालैर्यत्कृतं तद्विमर्दयेत्।
सिञ्चेत्तैलेन कोष्णेन ते हि वातप्रकोपकाः ॥६५॥

हिंसक पशुओं के नख या दाँतों से जो क्षत बना हो, उसको मल देवे, और गरम सुहाते तेल से सेक करे। क्योंकि ये नख और दाँत वायु को प्रकुपित करते हैं।

वि० मन्तव्य—प्रकृतिस्थ—स्वस्थ—सिंह, बानर आदि के नख एवं दन्त के क्षत में विसर्प अर्थात् क्षतज विसर्प हो जाता है। सींग का क्षत भी नखक्षत के समान समझना चाहिये॥६५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने मूषिककल्पो
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः कीटकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कीटकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—कीट-छोटे २ कीड़े इनके नाम तथा इनके द्वारा काटने पर होनेवाले विकार एवं उनकी चिकित्सा इस अध्याय में वर्णित है ॥१,२॥

सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसंभवाः।
वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥३॥
सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः।
कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः ॥४॥

साँपों के शुक्र मल-मूत्र-शव के सड़ने से तथा अण्डों से उत्पन्न होनेवाले, वायु-अग्नि (पित्त), अम्बु (कफ) की प्रकृति के कीट नाना प्रकार के कहे हैं। परिणाम से ये कीट सब दोषों की प्रकृति से युक्त होते हैं। कीट होने पर भी (छोटे-तुच्छ होने पर भी) ये अति भयानक होते हैं, ये चार प्रकार के हैं ॥३,४॥

कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी शृंगी शतकुलीरकः।
उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च चिच्चिटिंगो मयूरिका ॥५॥
आवर्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ।
शरावकुर्दोऽभीराजिः परुषश्चित्रशीर्षकः ॥६॥
शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिश्च कीर्तितः।
अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः ॥७॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः।

कुम्भीनस, तुण्डीकेरी, शृङ्गी, शतकुलीरक, उच्चिटिंग, अग्निनामा, चिच्चिटिंग, मयूरिका, आवर्त्तक, उरभ्र, सारिका, मुखवैदली, शरावकुर्द, अभिराजि, परुष, चित्रशीर्षक, शतबाहु, रक्तराजी, ये अठारह, कीट वात स्वभाव के हैं, वायु को कुपित करते हैं। इनके काटने से वातजन्य रोग होते हैं ॥५-७॥

कौण्डिन्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः ॥८॥
विनासिका ब्राह्मणिका बिन्दुलो भ्रमरस्तथा।
बाह्यकी पिच्चिटः कुम्भी वर्चःकीटोऽरिमेदकः ॥९॥
पद्मकीटोदुन्दुभिको मकरः शतपादकः।
पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गर्दभी ॥१०॥
क्लीतः कृमिसरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकस्तथा।
एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरेव च ॥११॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः।

कौण्डिन्य, कणभक, वरटी, पत्रवृश्चिक, विनासिका, ब्राह्मणिका, बिन्दुल, भ्रमर, ब्राह्मणिका, पिच्चट, कुम्भी, वचः-कीट, अरिमेदक, पद्मकीट, दुन्दुभिक, मकर, शतपादक, पञ्चालक, पाकमत्स्य, कृष्णतुण्ड, गर्दभी, क्लीत, कृमिसारी, उत्क्लेशक, ये चौबीस कीट, पित्तप्रकृति के हैं। इनके काटने से पित्तप्रकोपजन्य रोग होते हैं ॥८-११॥

विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः ॥१२॥
सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिभस्तथा।
सूचीमुखः कृष्णगोधा यश्च काषायवासिकः ॥१३॥
कीटो गर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च।
त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटः श्लेष्मप्रकोपणाः ॥१४॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः कफनिमित्तजाः।

विश्वम्भर, पञ्चशुक्ल, पञ्चकृष्ण, कोकिल, सैरेयक, प्रचलक, वलभ, किटिभ, सूचीमुख, कृष्णगोधा, काषायवासिक, गर्दभक, त्रोटक, ये तेरह कीट सौम्य एवं कफ प्रकोपक हैं। इनके काटने से कफजन्य रोग होते हैं ॥१२-१४॥

तुंगीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा ॥१५॥
कोष्ठागारी कृमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः।
तुण्ड (ङ) नाभः सर्षपिको वल्गुलिः शम्बुकस्तथा १६
अग्निकीटश्च विज्ञेया द्वादश प्राणनाशनाः।
तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् ॥१७॥
तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः।
क्षाराग्निदग्धवद्दंशो रक्तपीतसितारुणः ॥१८॥

तुंगीनास, विचिलक, कालक, वाहक, कोष्ठागारी, कृमिकर, मण्डलपुच्छक, तुण्डनाभ, सर्षपिका, वल्गलि, शम्बूक, अग्नि-कीट ये बारह प्राण नाशक हैं। इनके काटने पर साँपों की भाँति वेग होते हैं। उसी प्रकार की वेदनायें होती हैं, और ये सन्निपात के लक्षण उत्पन्न करते हैं। इनका दंश क्षार या अग्नि से जलने की भाँति-लाल, पीला, श्वेत या काला होता है॥

ज्वरांगमर्दरोमाञ्चवेदनाभिः समन्वितः।
छर्द्यतीसारतृष्णाश्च दाहो मूर्च्छा विजृम्भिका ॥१९॥
वेपथुश्वासहिक्काश्च दाहः शीतं च दारुणम्।
पिडकोपचयः शोफो ग्रन्थयो मण्डलानि च ॥२०॥
दद्रवः कर्णिकाश्चैव विसर्पाः किटिभानि च।
तैर्भवन्तीह दष्टानां यथास्वं चाप्युपद्रवाः ॥२१॥
येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूर्णं तेषां समादिशेत्।
दूषीविषप्रकोपाच्च तथैव विषलेपनात् ॥२२॥
लिंगं तीक्ष्णविषेष्वेतत्

इन कीटों के तीक्ष्ण विष में—ज्वर, अङ्गों का टूटना, रोमांच, वेदनाओं के कारण छर्दि, अतिसार, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, जम्भाई आना, कम्पन, श्वास, हिक्का, दाह, अतिशय-शीत, पिड़काओं की वृद्धि, शोफ, गाँठें, मण्डल, दद्रु, कर्णि-कायें, विसर्प, किटिभ, इनके काटने से दोषों के अपने-अपने उपद्रव होते हैं और जो अन्य उपद्रव हैं, उनके भेदों को भी इसी विष के लक्षणों से, विष के आहार से, तीक्ष्ण विषों में लक्षण जाने।

वि० मन्तव्य—ये चान्ये—उक्त उपद्रवों के अतिरिक्त जो अन्य उपद्रव हो जाते हैं अथवा हो जायं उनको चिकित्सक शीघ्र जान लेवें तथा रोगी बतला देवे और उक्त कीटों में कुछ दूषीविषवाले कीट भी हैं। उसके विष से

अमुककाल आदि में प्रकोप होने पर उक्त उपद्रव हो जाते हैं तथा विषैले कीटों का लेप करने पर भी उपद्रव हो जाते हैं जैसे शिश्न पर लेप लगाने आदि से शूकदोष हो जाते हैं। परन्तु उक्त ज्वर, अङ्गमर्द आदि लक्षण तीक्ष्ण विषवाले कीटों से उत्पन्न होते हैं और मन्द विषवाले कीटों के विष से उत्पन्न होनेवाले लक्षण नीचे श्लो० २३ में देखिये ॥१६-२२॥

च्छृणु मन्दविषेष्वतः।

प्रसेकारोचकच्छर्दिशिरोगौरवशीतकाः ॥२३॥

पिडकाकोठकण्डूनां जन्म दोषविभागतः।

मन्द विषों को अब सुनो—मुख से लालास्राव, अरोचक, वमन, शिर में भारीपन, शीत की न्यूनता, पिड़का. कोठ, कण्डु की उत्पत्ति यह लक्षण कीटों के दोषों के अनुसार होते हैं ॥२३॥

योगैर्नानाविधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत् ॥२४॥

दूषीविषप्रकाराणां तथा चाप्यनुलेपनात्।

इन कीटों के नानाप्रकार के योगों से बने हुए चूर्णों को गर कहना चाहिये। इसी प्रकार दूषीविष की भाँति लेप करने से भी इनसे गर विष उत्पन्न होता है।

वि० मन्तव्य—जैसे केंचुआ, वीरबहूटी, रेगमाही (बालू में रहनेवाली मछली एवं साँढा आदि प्राणियों का प्रयोग)—यूनानी चिकित्सानुसार योगों-लेपन एवं खाद्य योगों में किया जाता है वैसे ही यदि उक्त विषैले कृमियों का प्रयोग करने पर विष जनित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं और वह "गर विष" कहलाता है ॥२४॥

एकजातीनतस्तूर्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः ॥२५॥

सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्यासाध्यक्रमेण च।

त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः॥

चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥२६॥

तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति ॥२७॥

इसके आगे एक जातिवाले कीटों को सामान्य भेदों, काटने के लक्षणों से, साध्य असाध्य की दृष्टि से कहूँगा। त्रिकण्ट, करिणी, हस्तिकक्ष, अपराजित, ये चार कणभ हैं, इनसे तीव्र वेदना होती है। इनके काटने पर शोथ, अङ्गों का टूटना, अङ्गों में भारीपन और दंशस्थान काला होता है।२५-२७॥

प्रतिसूर्यकः, पिङ्गाभासो, बहुवर्णो, निरुपमो गोधेरक इति पञ्च गोधेरकाः; तैर्दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः, गोधेरकेणैतदेव ग्रन्थिप्रादुर्भावो ज्वरश्च ॥२८॥

प्रतिसूर्यक, पिङ्गाभास, बहुवर्ण, निरुपम, गोधेरक ये पाँच गोधेरक हैं। इनके काटने से शोफ, दाह और पीड़ा होती है, गोधेरक से इन लक्षणों के साथ ज्वर और ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं ॥२८॥

गलगोली-श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता, सर्षपिकेत्येवं षट्। ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति, सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी ॥२९॥

गलगोलिका—श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला सर्वश्वेता, सर्षपिका ये छै हैं। इनके काटने पर सर्षपिका को छोड़कर दाह, सूजन और क्लेद होता है। सर्षपिका से हृदय में पीड़ा और अतिसार होता है। इनके मध्य में सर्षपिका प्राणनाशक है ॥२९॥

शतपद्यस्तु-परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा इत्यष्टौ, ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव, दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च ॥३०॥

शतपदी (गोजर) परुष, कृष्ण, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा, ये आठ प्रकार की हैं। इनके काटने पर शोफ, वेदना, और हृदय में दाह होता है। श्वेता और अग्निप्रभा से दाह और मूर्च्छा इन लक्षणों के साथ विशेष रूप में होते हैं और श्वेत पिड़कायें उत्पन्न होती हैं ॥३०॥

मण्डूकाः—कृष्णः, सारः, कुहको, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्चेत्यष्टौ, तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात् भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥३१॥

मण्डूक (मेण्डक) कृष्ण, सार, कुहक, हरित, रक्त, यववर्णाभ, भृकुटी, कोटिक ये आठ हैं। इनके काटने पर दंश में कण्डु होती है, पीले रंग की झाग मुख से आती है। भृकुटी और कोटिक से इन लक्षणों के साथ दाह, वमन और मूर्च्छा अधिक मात्रा में होती है ॥३१॥

विश्वम्भराभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते, शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति ॥३२॥

विश्वम्भरा के काटने पर दंश सरसों के आकार की एवं वेदना करनेवाली पिड़काओं से भरा होता है। रोगी को शीत पूर्वक ज्वर आता है ॥३२॥

अहिण्डुकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डुश्वयथवो भवन्ति मोहश्च, कण्डूमकाभिर्दष्टे पीताङ्गश्छर्द्यतीसारज्वरादिभिरभिहन्यते, शूकवृन्ताभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्धन्ते शूकं चात्र लक्ष्यते ॥३३॥

अहिण्डुका के काटने पर तोद, दाह, कण्डु, श्वयथु और मूर्च्छा होती है। कण्डूमका के काटने पर रोगी के अङ्ग पीले पड़ जाते हैं, वमन, अतिसार, ज्वर आदि के कारण रोगी मर जाता है। शूक वृन्त के काटने पर कण्डू और कोठ बढ़ते हैं, और दंश स्थान पर शूक (डंक) दिखाई देता है ॥३३॥

पिपीलिकाः—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका, कपिलिका, चित्रवर्णेति षट्, ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः ॥३४॥

पिपीलिका (चिऊटियाँ)—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका, कपिलिका और चित्रवर्णा ये छै हैं। इनके काटने पर दंश में शोथ एवं अग्नि से जलने की भाँति दाह और शोफ होता है ॥३४॥

मक्षिकाः—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिकेत्येवं षट्, ताभिर्दष्टस्य कण्डुशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थालिकाकाषायीभ्यामेतदेव श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थालिका च प्राणहरे ॥३५॥

मक्खियाँ—कान्तारिका, कृष्णा, पिंगला, मधूलिका, कषायी, स्थालिका ये छै हैं। इनके काटने पर कण्डु, शोफ, दाह, वेदना होती हैं। स्थालिका और काषायी से इन लक्षणों के साथ में श्याम पिड़काओं की उत्पत्ति और ज्वर आदि उपद्रव होते हैं। काषायी और स्थालिका ये दोनों प्राणनाशक हैं ॥३५॥

मशकाः—सामुद्रः, परिमण्डलो, हस्तिमशकः, कृष्णः पार्वतीय इति पञ्च, तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः ॥३६॥

मशक—सामुद्र, परिमण्डल, हस्तिमशक, कृष्ण, पार्वतीय ये पाँच हैं। इनके काटने पर तीव्र कण्डू और दंश में सूजन होती हैं। पार्वतीय मशक (पर्वत के मच्छर) प्राणहर कीटों के समान लक्षणवाले होते हैं ॥३६॥

नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति।
जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं चिकित्सितं च ॥३७॥

नख से घरुंट देने पर अतिशय दाह, पाक, पिड़कायें होती हैं। जोंक के काटने के लक्षण और चिकित्सा सूत्र स्थान में कह दी हैं ॥३७॥

भवन्ति चात्र—
गोघेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसप्रभे।
भृकुटी कोटिकश्चैव न सिध्यन्त्येकजातिषु ॥३८॥

इसमें श्लोक भी हैं—एक जाति कीटों में गोघेरक, स्थालिका, श्वेता, अग्निप्रभा, भृकुटी और कोटिक ये असाध्य हैं ॥

शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्शनात्।
स्युः कण्डूदाहकोठारुः पिडकातोदवेदनाः ॥३९॥
प्रक्लेदवांस्तथा स्रावो भृशं संपाचयेत्त्वचम्।
दिग्धविद्धक्रियास्तत्र यथावदवचारयेत् ॥४०॥

विषैले शव, मूत्र, मल के स्पर्श से कण्डु, दाह, कोठ अरुंषिकायें, पिड़का, तोद, वेदना, क्लेदोन्नता (सड़ना), स्राव त्वचा का पकना ये लक्षण होते हैं। इसमें विषैले शस्त्र आदि के लगने के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥३९,४०॥

नावसन्नं न चोत्सन्नमतिसंरम्भवेदनम्।
दंशादौ विपरीतार्ति कीटदष्टं सुबाधकम् ॥४१॥

जो दंश न बहुत दबा, न बहुत उभरा, बहुत सुर्ख या सूजनवाला अति वेदनावाला, दंश के प्रारम्भ में विपरीत पीड़ावाला (अनुग्र विष दंश में तीव्र पीड़ा का, उग्रविष दंश में पीड़ा का) होता है, वह कीट दष्ट कष्टसाध्य होता है ॥४१॥

दष्टानुग्रविषैः कीटः सर्पवत् समुपाचरेत्।
त्रिविधानां तु पूर्वेषां त्रैविध्येन क्रिया हिताः ॥४२॥

उग्रविषवाले कीटों के काटने पर सर्प विष की भाँति चिकित्सा करे। दर्वीकर, मण्डलि, राजिमान् की शुक्रादि योनि भेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार के कीटों की चिकित्सा वातादि भेद से करे ॥४२॥

स्वेदमालेपनं सेकं चोष्णमत्रावचारयेत्।
अन्यत्र मूर्च्छिताद्दंशात् पाककोथप्रपीडितात् ॥४३॥
विषघ्नं च विधिं सर्वं बहुशः शोधनानि च।

स्वेदन, आलेपन और सेक ये उष्ण ही इनमें बरते। मूर्च्छावस्था में, दंश के पकने सड़ने में केवल शीतल स्वेदन, आलेप, परिषेक करे। सम्पूर्णविषनाशक विधि बरते, और बार-बार शोधन देवे ॥४३॥

शिरीषकटुकाकुष्ठवचारजनिसैन्धवैः ॥४४॥
क्षीरमज्जवसासर्पिः शुण्ठीपिप्पलिदारुषु।
उत्कारिका स्थिरादौ वा सुकृता स्वेदने हिता ॥४५॥

शिरीष, कुटकी, कूठ, हल्दी, सैन्धव, दूध, मज्जा, वसा, घी, सोंठ, पिप्पली, दारुहल्दी इनसे अथवा शालिपर्णी आदि लघुपंचमूल से बनाई उत्कारिका (पुलटिस-लपसी सी) स्वेदन में उत्तम है ॥४४, ४५॥

न स्वेदयेत चादंशं धूमं वक्ष्यामि वृश्चिके।

वृश्चिक के दंश में स्वेदन नहीं करे, अपितु आगे कहा धूम देवे।

अगदानेकजातीषु प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक् ॥४६॥

एक जातिवाले कीटों के लिये पृथक् पृथक् अगदों को कहता हूँ ॥४६॥

कुष्ठं वक्रं वचा पाठा बिल्वमूलं सुवर्चिका।
गृहधूमं हरिद्रे द्वे त्रिकण्टकविषे हिताः ॥४७॥

कूठ, तगर, वच, पाठा, बिल्वमूल, हुल-हुल, घर का धुँवासा, हल्दी, दारुहल्दी, यह त्रिकण्टकविष में उत्तम है। (सुवर्चिका—स्वर्जिका क्षार, डल्हण) ॥४७॥

रजन्यागारधूमश्च वक्रं कुष्ठं पलाशजम्।
गलगोलिकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥४८॥

हल्दी, घर का धुँवासा, तगर, कूठ, ढाक के बीज, यह अगद गलगोलिका के विष को नष्ट करता है ॥४८॥

कुङ्कुमं तगरं शिग्रु पद्मकं रजनीद्वयम्।
अगदो जलपिष्टोऽयं शतपद्विषनाशनः ॥४९॥
मेषशृङ्गी वचा पाठा निचुलो रोहिणी जलम्।
सर्वमण्डूकदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५०॥

केसर, तगर, सहजन, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, इनको जल से पीसकर बनाया यह अगद शतपद (कान खजूरा) के विष

को नष्ट करता है। मेढ़ासिंगी, वच, पाठा, जलवेतस, कुटकी, वालक, यह अगद सब मण्डूकों के विष को नष्ट करता है ॥

धवाश्वगन्धातिबलाबलासातिगुहागुहा।
विश्वम्भराभिदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५१॥

धावड़ी, अश्वगन्धा, अतिबला, बला, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, इनसे बना अगद विश्वम्भरा जाति के कीटों के लिये विष नाशक है ॥५१॥

शिरीषं तगरं कुष्ठं शालिपर्णी सहा निशे।
अहिण्डुकाभिदंष्टानामगदो विषनाशनः ॥५२॥

शिरीष, तगर, कूठ, शालपर्णी, मुद्गपर्णी, हल्दी, दारुहल्दी, इनका अगद अहिण्डुका जाति के कीटों के लिये विषनाशक है ॥५२॥

कण्डूमकाभिदंष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः।
दिवा ते नैव सिध्यन्ति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥५३॥
चक्रं कुष्ठमपामार्गः शूकवृन्तविषेऽगदः।
भृंगस्वरसपिष्टा वा कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५४॥
पिपीलिकाभिदंष्टानां मक्षिकामशकैस्तथा।
गोमूत्रेण युतो लेपः कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५५॥
नखावघृष्टसंजाते शोफे भृङ्गरसो हितः।

कण्डूमका से काटने पर रात्रि में शीतल उपचार करे। क्योंकि दिन में सूर्य की किरणों से बल पाकर ये अच्छे नहीं होते। तगर, कूठ, चिरचिटा, इनका अगद शूकवृन्त के विष में औषधि है। अथवा बम्बी काली मिट्टी को भांगरे के स्वरस में पीसकर लेप करे। चिऊंटी मक्खी और मच्छर के काटने पर बम्बी की काली मिट्टी को गोमूत्र में मिलाकर लेप करे। नख के लगने से उत्पन्न शोथ में भांगरे का रस उत्तम है ॥५३-५५॥

प्रतिसूर्यकदष्टानां सर्पदष्टवदाचरेत्।

प्रतिसूर्यक के दंश में सर्पदंश की चिकित्सा करे।

त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः ॥५६॥

बिच्छू तीन प्रकार के हैं—मन्द विष, मध्य विष और महाविष ॥५६॥

गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः।
सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसंभवाः ॥५७॥

गाय के गोबर के सड़ने से उत्पन्न मन्दविषवाले, लकड़ी, ईंट के सड़ने से उत्पन्न मध्यमविष के, सांप से सड़ने से उत्पन्न बिच्छू तीव्र विषवाले होते हैं, और जो भी बिच्छू दूसरे विषों से उत्पन्न होते हैं, वे भी तीव्र हैं।

वक्तव्य—गोबर आदि के सड़ने से बिच्छू उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। इसका सम्भवतः यह अर्थ है कि जहाँ पर गोबर पाया जाता है, इकट्ठा करके गोहरों को रखते हैं वहाँ पर मिलनेवाले बिच्छू मन्द विष वाले हैं। ईंट-लकड़ी आदिमें भी मिलनेवाले बिच्छू मन्दविष के हैं। सांप आदि विषैली वस्तुओं के स्थान पर मिलनेवाले बिच्छू तीव्र विषवाले हैं ॥५७॥

मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः।
दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः ॥५८॥

बिच्छू तीस हैं, इनमें बारह मन्द विष के, तीन मध्यम विषवाले और पन्द्रह उत्तम विषवाले हैं ॥५८॥

कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो
गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च।
पीतो धूम्रो रोमशः शाड्वलाभो
रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दाः ॥५९॥
युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे
स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः।
एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च
गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च ॥६०॥
शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति
दाहस्वेदो दंशशोफो ज्वरश्च।

मन्दविषबिच्छू—कृष्ण, श्याव, कर्बुर, पाण्डुवर्ण, गोमूत्राभ, कर्कश, मेचक, पीला, धूम्र, रोमश, शाड्वलाभ (नीली हरी दूब के रंग का) और लाल ये बारह पेट पर से श्वेत होते हैं। ये मन्द विष बिच्छू दूसरे बिच्छुओं की अपेक्षा पुच्छ भाग पर बहुत से पर्वों से (जोड़ों से) युक्त होते हैं। इनकी पूँछ पर बहुत से जोड़ होते हैं, दूसरों पर उतने नहीं होते। इनके काटने पर वेदना, कम्पन, गात्रस्तम्भ, काले रक्त का आना होता है। हाथ-पैर में काटने पर वेदना ऊपर को चढ़ती है, दाह, स्वेद, दंश पर सूजन और ज्वर होता है ॥५९,६०॥

रक्तः पीतः कापिलेनोदरेण
सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः ॥६१॥
एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता
मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्।
यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो
दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात् ॥६२॥
जिह्वाशोफोभोजनस्यावरोधो
मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे।

मध्यमविषबिच्छू लाल, पीला और कपिल वर्ण होता है। इनका पेट काला होता है। इनकी पूँछ पर तीन पर्व-जोड़ होते हैं। दर्वीकर, मण्डलि और राजिमान् तीन प्रकार के साँपों के मूत्र-मल सड़ने एवं उनके अण्डों से उत्पन्न होते हैं। जो बिच्छू जिस प्रकार के सांप से उत्पन्न होता है, वह बिच्छू उसी के अनुसार दोषोत्पत्ति को करता है। जिह्वा में शोथ, भोजन का अवरोध और तीव्र मूर्च्छा, मध्यवीर्य वाले बिच्छुओं के काटने पर उत्पन्न होती है ॥६१,६२॥

श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो
रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च ॥६३॥
पीतोऽरक्तो नीलपीतोऽपरस्तु
रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च
रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा
यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य ॥६४॥
नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा
ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः।
जन्मैतेषां सर्पकोथात् प्रदिष्टं
देहेभ्यो वा घातितानां विषेण ॥६५॥
एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः
स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च।
खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं
तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते शीघ्रमेव ॥६६॥

तीक्ष्ण विषवाले बिच्छू—श्वेत, चित्र, श्यामल, लोहिताभ, रक्त, श्वेत, रक्तोदर, नीलोदर, पीला, लाल, नीला, नीला श्वेत, लाल पिंगल, पूंछ पर एक पर्ववाला, पूँछ पर पर्व रहित, दो पर्ववाला, इस प्रकार नाना आकृति एवं वर्णवाले भयानक बिच्छू प्राणहर जानने चाहिये। इनकी उत्पत्ति सर्पों के सड़ने से या विष से मृत प्राणी के शरीर से होती है। इनके काटने पर सर्प वेग के लक्षण, छालों की उत्पत्ति, भ्रांति, दाह, ज्वर होता है। रोम कूपों से या नाक मुख से काला रक्त तेजी से जाता है। इसलिये रोगी शीघ्र मर जाता है ॥६३-६६॥

उग्रमध्यविषैर्दष्टं चिकित्सेत् सर्पदष्टवत्।
आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छितं प्रतिसारयेत् ॥६७॥
रजनीसैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः।

तीव्र और मध्य विषवाले बिच्छूओं के काटने पर सर्प दष्ट की भांति चिकित्सा करे। दंश के चारों ओर स्वेदन करके, वहां पर पाछकर हल्दी, सैन्धव, त्रिकटु, शिरीष के फल और फूलों के चूर्ण से प्रतिसारण करे—रगड़े ॥६७॥

मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम् ॥६८॥
लेपे, स्वेदे सुखोष्णं च गोमयं हितमिष्यते।
पाने क्षौद्रयुतं सर्पिः क्षीरं वा बहुशर्करम् ॥६९॥
दंशं मन्दविषाणां तु चक्रतैलेन सेचयेत्।
विदारीगणसिद्धेन सुखोष्णेनाथवा पुनः ॥७०॥
कुर्याच्चोत्कारिकास्वेदं विषघ्नैरुपनाहयेत्।
गुडोदकं वा सुहिमं चातुर्जातकसंयुतम् ॥७१॥
पानमस्मै प्रदातव्यं क्षीरं वा सगुडं हिमम्।
शिखिकुक्कुटबर्हाणि सैन्धवं तैलसर्पिषी ॥७२॥
धूमो हन्ति प्रयुक्तस्तु शीघ्रं वृश्चिकजं विषम्।
कुसुम्भपुष्पं रजनी निशा वा कोद्रवं तृणम् ॥७३॥
एभिर्घृताक्तैर्धूपस्तु पायुदेशे प्रयोजितः।
नाशयेदाशु कीटोत्थं वृश्चिकस्य च यद्विषम् ॥७४॥

तुलसी के पत्तों को बिजौरा के रस और गोमूत्र में पीसकर लेप करे। स्वेद के लिये सूखे गोबर से सुहाता हुआ गरम सेक देवे। पीने के लिये घी को मधु के साथ प्रचुर शर्करावाला दूध देवे। मन्द विष वृश्चिकों में कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करे। अथवा विदारीगण से सिद्ध तैल से सुहाता हुआ गरम सेक करे। शिरषादि विषहर द्रव्यों से बनाई उत्कारिका से स्वेद करे। विषघ्नद्रव्यों से उपनाह बाँधे। दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर से मिले गुड़ के शर्बत को बहुत ठण्डा करके पिलाये। अथवा गुडवाले दूध को ठण्डा करके पीने के लिये देना चाहिये। मोर, मुर्गों के पंख, सैन्धव, तैल, घी इनका धूम बिच्छू के विष को शीघ्र नष्ट करता है। कुसुम्भ के फूल और हल्दी, या हल्दी और कोदा, घास इनको घी से मिलाकर गुदा पर दिया गया धूम कीटों के और बिच्छू के विष को नष्ट करता है ॥६८-७४॥

लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमं च तत्।
दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः ॥७५॥
सविषं निर्विषं चैतदित्येवं परिशङ्किते।
विषघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौषधम् ॥७६॥

मकड़ीविष अतिभयानक और कठिनाई से जाना जाता है। मन्दबुद्धिवाले वैद्यों से कठिनाई से चिकित्सा की जाती है। यह विषवाला स्थान है या निर्विष यह शंका होने पर इसमें विषनाशक एवं रसादि धातुओं से अविरोधि ही औषध बरतनी चाहिये ॥७५,७६॥

अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य युज्यते।
निर्विषे मानवे युक्तोऽगदः संपद्यतेऽसुखम् ॥७७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः।
अज्ञात्वा विषसद्भावं भिषग्व्यापादयेन्नरम् ॥७८॥

विषवाले व्यक्ति में ही अगदों का प्रयोग उत्तम है। विष रहित मनुष्यों में अगदों के प्रयोग से कष्ट होता है। इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से विष का निश्चय करना चाहिये। विष की उपस्थिति को न समझकर वैद्य मनुष्य को मार देता है।

वि० मन्तव्य—उपरि लिखित श्लोक ७६ में सविष दंश है, अथवा निर्विष ऐसी शंका—सन्देह होने पर विषघ्न एवं अविरोध औषध का प्रयोग करने का उपदेश है, और श्लो० ७७ में अगद के प्रयोग का निषेध है यह दोनों उपदेश परस्पर विरोधी हैं, परन्तु हमारा विचार है, कि शंका होने पर विषमिश्रित अगद का प्रयोग नहीं करना चाहिये यही तात्पर्य है, और अल्पबुद्धि चिकित्सक को ही शंका भी हो सकती है, विमल बुद्धि को नहीं। परन्तु मन्दविष में विमलबुद्धि चिकि-

त्सक को भी शंका हो सकती है क्योंकि मन्दविष कालान्तर में कुपित होता है, तत्काल नहीं अतः सर्व प्रयत्न से विष का निश्चय कर लेना चाहिये। इसे समझने के लिये निम्न श्लोक ७६ देखिये। लूताओं के विष में शंका हो सकती है। देखिये श्लोक ८०-८२ ॥७७,७८॥

प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण
न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः।
तद्वद्दुरालक्ष्यतमं हि तासां
विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥७९॥

फूटते हुए अंकुर से जिस प्रकार वृक्ष की जाति का पता नहीं चलता, इसी प्रकार मकड़ियों का विष शरीर में थोड़ी मात्रा में फैला हुआ कठिनाई से जाना जाता है ॥७९॥

ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठ-
मव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्।
अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं
प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये ॥८०॥
त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं
विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति।
अतोऽधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तो-
र्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान् ॥८१॥
षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान्
मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति।
तत् सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं
व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम् ॥८२॥

मकड़ी का विष प्रथम दिन थोड़ी कण्डूवाला, फैलनेवाला, कोठयुक्त और अस्पष्ट रंग का (त्वचा के समान ही प्रायः रंग रहता है) होता है। दूसरे दिन यह किनारों पर सूजा, बीच में दबा हुआ और स्पष्ट लक्षणोंवाला होता है। तीसरे दिन और भी स्पष्ट हो जाता है। चौथे दिन विष कुपित हो जाता है। इससे आगे के दिन में विष प्रकोपजन्य रोगों को मनुष्य में उत्पन्न करता है। छठे दिन फैलकर सब मर्म प्रदेशों को विशेष रूप में ढांप लेता है। फिर सातवें दिन बहुत बढ़कर, विष से व्याप्त इस रोगी को मार देता है।

वक्तव्य—तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमण्डलः। शराव-रूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सास्रवाः। वृद्धवाग्भट्ट ॥८०-८२॥

यास्तीक्ष्णचण्डोग्रविषा हि लूता-
स्ताः सप्तरात्रेण नरं निहन्युः।
अतोऽधिकेनापि निहन्युरन्या
यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम् ॥८३॥
यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं
ताः पक्षमात्रेण विनाशयन्ति।
तस्मात् प्रयत्नं भिषगत्र कुर्या-
दादंशपाताद्विषघातियोगैः ॥८४॥

जो मकड़ियां तीक्ष्ण, चण्ड और उग्र (असह्य) विष-वाली होती हैं, वे सात दिन में रोगी को मार देती हैं। जो मध्यम वीर्यवाली होती हैं वे इनसे अधिक दिनों में भी मार सकती हैं। और जो मन्द वीर्यवाली होती हैं, वे पन्द्रह दिन में मार देती हैं। इसलिये वैद्य प्रयत्न के साथ दंश के कारण रोगी के मरने से पूर्व ही विष नाशक योगों से चिकित्सा करे ॥

विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रा-
रजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण।
सप्तप्रकारं विसृजन्ति लूता-
स्तदुग्रमध्यावरवीर्ययुक्तम् ॥८५॥
सकण्डुकोठं स्थिरमल्पमूलं
लालाकृतं मन्दरुजं वदन्ति।
शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च
धूमायनं चैव नखाग्रदंशे ॥८६॥
दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं
सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्।
दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं विवर्णं
जानीहि दंशं स्थिरमण्डलं च ॥८७॥
रजःपुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि
स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्।

मकड़ियां सात प्रकार से विष निकालती हैं। यथा—लाला, नख, मूत्र, दंष्ट्रा, रस, मल और शुक्र से। यह विष उग्र-मध्य और मन्दभेद से तीन प्रकार का है। जिस विष में कण्डू, कोठ, स्थिरता (आगे न फैलना), थोड़ा आधार हो वह लाला के कारण उत्पन्न होता है, और वह मन्द पीड़ावाला होता है। शोफ, कण्डू, रोमांच, एवं धूमोद्गार नख के दंश में होते हैं। दंश बीच में काला हो, किनारों पर लाल तथा फटा हुआ हो (किनारे समान न हों), तो विष का कारण मूत्र होता है। जो दंश दाँतों के कारण उत्पन्न हो जाता है, वह कठिन, विवर्ण, स्थिर मण्डलोंवाला होता है, उसे उग्रवीर्य जानना। रज, मल और शुक्र से उत्पन्न दंश में छाले, तथा दंश पके हुए आंवले, या पीलु के समान पाण्डु वर्ण होता है ॥८५-८७॥

एतावदेतत् समुदाहृतं तु
वक्ष्यामि लूताप्रभवं पुराणम् ॥८८॥
सामान्यतो दृष्टमसाध्यसाध्यं
चिकित्सितं चापि यथाविशेषम् ॥८९॥

लूताओं के विषय में इतना तो कहा है, अब इनकी उत्पत्ति का पुराना इतिहास, काटने के सामान्य लक्षण, साध्या-साध्य और भेदों के साथ चिकित्सा को कहूँगा ॥८८,८९॥

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृषिसत्तमम् ।
वशिष्ठं कोपयामास गत्वाऽऽश्रमपदं किल ॥९०॥
कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदबिन्दवः ।
अपतन् दर्शनादेव रवेस्तत्समतेजसः ॥९१॥
तृणे महर्षिणा लूने धेन्वर्थं संभृतेऽपि च ।
ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः ।
अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधनवाहने ॥९२॥
यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः ।
तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते सङ्ख्यया ताश्च षोडश ॥९३॥

कभी पुरातन काल में विश्वामित्र राजा ने ऋषियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ ऋषि को उनके आश्रम में जाकर कुपित किया था। रवि के समान तेजस्वी उन मुनि के क्रुद्ध होने पर उनके दर्शन मात्र से ही स्वेद के कण माथे पर से गिर पड़े। ये स्वेदबिन्दु गाय के लिये काटकर इकट्ठे किये घास पर पड़े, इन बिन्दुओं से ये महाविष नानाप्रकार की लूतायें उत्पन्न हुई हैं। राजा के साधन, वाहन के अपकार के लिये (विश्वामित्र को नुकसान करने के लिये) ये लूतायें बढ़ने लगीं। क्योंकि वशिष्ठ मुनि के स्वेद कण कटे घास पर पड़े, इसलिये इनको लूता कहते हैं। इनकी संख्या सोलह है ॥९०–९३॥

कृच्छ्रसाध्यास्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधाः स्मृताः ।
तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु ॥९४॥
त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतिका तथा ।
आलमूत्रविषा रक्ता कसना चाष्टमी स्मृता ॥९५॥
ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं कण्डूर्दंशे च वेदना ।
भवन्ति च विशेषेण गदा श्लैष्मिकवातिकाः ॥९६॥
सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येणीपदी तथा ।
कृष्णाऽग्निवर्णा काकाण्डा मालागुणाऽष्टमी तथा ॥९७॥
ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥९८॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।
महान्तो मृदवः शोफा रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥९९॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतदादंशलक्षणम् ।

लूता दो प्रकार की हैं, कष्टसाध्य और असाध्य। इनमें आठ कष्टसाध्य और आठ ही असाध्य हैं। इनके नाम– त्रिमंडला, श्वेता, कपिला, पीतिका, आलविषा, मूत्रविषा, रक्ता और कसना ये आठ हैं। इनके काटने पर शिरोवेदना, दंश स्थान पर कण्डु, वेदना तथा विशेष करके कफवातजन्य रोग होते हैं। सौवर्णिका, लाजवर्णी, जालिनी, एणीपदी, कृष्णा, अग्निवर्णा, काकाण्डा, और मालागुणा ये आठ हैं। इनके काटने पर दंश स्थान का सड़ना, रक्त का बहना, ज्वर, दाह, अतिसार और त्रिदोष जन्य रोग होते हैं। नानाप्रकार की पिड़कायें, बड़े-बड़े मण्डल (चकत्ते), बड़ी और कोमल लाल, श्याव, एवं फैलनेवाली सूजन होती है। सब लूताओं के काटने पर ये लक्षण सामान्य रूप में होते हैं ॥

विशेषलक्षणं तासां वक्ष्यामि सचिकित्सितम् ॥१००॥
त्रिमण्डलाया दंशेऽसृक् कृष्णं स्रवति दीर्यते ।
बाधिर्यं कलुषा दृष्टिस्तथा दाहश्च नेत्रयोः ॥१०१॥
तत्रार्कमूलं रजनी नाकुली पृश्निपर्णिका
पानकर्मणि शस्यन्ते नस्यालेपाञ्जनेषु च ॥१०२॥
श्वेतायाः पिडका दंशे श्वेता कण्डूमती भवेत् ।
दाहमूर्च्छाज्वरवती विसर्पक्लेदरुक्करी ॥१०३॥
तत्र चन्दनरास्नैलाहरेणुनलवञ्जुलाः ।
कुष्ठं लामज्जकं वक्रं नलदं चागदो हितः ॥१०४॥
आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत् ।
शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च ॥१०५॥
तत्र पद्मककुष्ठैलाकरञ्जककुभत्वचः ।
स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वाब्राह्म्यो विषापहाः ॥१०६॥
आदंशे पीतिकायास्तु पिडका पीतिका स्थिरा ।
भवेच्छर्दिर्ज्वरः शूलं मूर्ध्नि रक्ते तथाऽक्षिणी ॥१०७॥
तत्रेष्टाः कुटजोशीरतुङ्गपद्मकवञ्जुलाः ।
शिरीषकिणिहीशेलुकदम्बककुभत्वचः ॥१०८॥
रक्तमण्डनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव ।
जायन्ते तालुशोषश्च दाहश्चालविषार्दिते ॥१०९॥
तत्र प्रियङ्गुह्रीबेरकुष्ठलामज्जवञ्जुलाः ।
अगदः शतपुष्पा च सपिप्पलवटाङ्कुराः ॥११०॥
पूतिर्मूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः ।
कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः ॥१११॥
मनःशिलालमधुककुष्ठचन्दनपद्मकैः ।
मधुमिश्रैः सलामज्जैरगदस्तत्र कीर्तितः ॥११२॥
आपाण्डुपिडको दंशो दाहक्लेदसमन्वितः ।
रक्ताया रक्तपर्यन्तो विज्ञेयो रक्तसंयुतः ॥११३॥
कायस्तत्रागदस्तोयचन्दनोशीरपद्मकैः ।
तथैवार्जुनशेलुभ्यां त्वग्भिराम्रातकस्य च ॥११४॥
पिच्छिलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत् ।
कासश्वासौ च तत्रोक्तं रक्तलूताचिकित्सितम् ॥११५॥

इनके विशेष लक्षण और चिकित्सा को कहता हूँ। त्रिमण्डला के काटने पर काला रक्त बहता है, दंश कटा होता है। बहरापन, दृष्टि का मैला होना, नेत्रों में दाह होता है। इसमें आक की जड़, हल्दी, रास्ना, पृश्निपर्णी इनका उपयोग पीने में, नस्य में, आलेप में और अंजन में करे। श्वेता के दंश में श्वेत वर्ण एवं खाजवाली पिड़का होती है। इसमें दाह, मूर्च्छा, ज्वर, विसर्प, क्लेद, पीड़ा होती है। इसमें चन्दन, रास्ना, इलायची, हरेणु, नल, जलवेतस, कूठ, खस, तगर, मासी, इनका अगद हितकारी है। कपिला लूता के दंश में ताम्रवर्ण की एवं स्थिर पिड़का होती है। शिर में भारीपन, दाह, तिमिर और भ्रम होता है। इसमें पद्माख, कुष्ठ, इलायची, करञ्ज, अर्जुन की छाल, शालपर्णी, अर्कपर्णी, चिरचिटा,

दूर्वा ब्राह्मी ये विष नाशक उत्तम हैं। पीत्तिका के काटने पर पीली, स्थिरपिड़का होती है। बमन, ज्वर, शिर में दर्द, आँखों में लाली होती है। इसमें—कुटज, खस, नागकेसर, पद्माख, जलवेतस, शिरीष, चिरचिटा, लसूड़ा, कदम्ब, अर्जुन की छाल, उत्तम है। आलविष लूता के दंश में—पिड़का लाल चकत्ते जैसी, सरसों के आकार की होती है। इसमें तालुशोष और दाह होता है। प्रियंगु, ह्रीवेर, कूठ, खस, जलवेतस, सौंफ, पिप्पली एवं बरगद के कोमल पत्ते यह अगद बरते। मूत्र विषवाली लूता का दंश सड़नेवाला फैलता है, रक्त काला हो जाता है। कास, श्वास, वमन, मूर्च्छा, ज्वर, दाह होता है। इसमें मैनसिल, हरताल, मुलैहठी, कूठ, चन्दन, पद्माख, खस इनको मधु में मिलाकर बरते। रक्ता लूता का दंश चारों ओर पाण्डुवर्ण की पिड़काओं का दाह, क्लेद से युक्त, किनारों पर लाल तथा रक्त युक्त होता है। इसमें बालक, चन्दन, खस, पद्माख का अगद बरते। अर्जुन, लसूड़ा और आम्रातक की छाल का लेप करे। कसना लूता के दंश से पिच्छिल, शीतल रक्त बहता है। इसमें कास, श्वास भी होते हैं। इसके दंश में रक्ता लूता की भांति चिकित्सा करे॥१००-११५॥

पुरीषगन्धिरल्पासृक् कृष्णाया दंश एव तु।
ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः॥११६॥
तत्रैलावक्रसर्पाक्षीगन्धनाकुलिचन्दनैः।
महासुगन्धिसहितैः प्रत्याख्यायागदः स्मृतः॥११७॥
दंशे दाहोऽग्निवक्त्रायाः स्रावोऽत्यर्थं ज्वरस्तथा।
चोषकण्डूरोमहर्षा दाहो विस्फोटसंयुतः॥११८॥
कृष्णाप्रशमनं चात्र प्रत्याख्याय प्रयोजयेत्।
सारिवोशीरयष्ट्याह्वचन्दनोत्पलपद्मकम्॥११९॥

कृष्णा का दंश-मल की गन्धवाला, थोड़े रक्तवाला, ज्वर, मूर्च्छा, वमन, दाह, कास, श्वासयुक्त होता है। इसमें इलायची, तगर, सर्पाक्षी, रास्ना, चन्दन, इनको महासुगन्धि अगद के साथ—असाध्य कह करके बरते। अग्निवक्त्रा लूता के दंश में दाह, अतिशय स्राव, ज्वर चोष (अग्नि के पास बैठने का सा दाह), कण्डू, रोमांच दाह, स्फोट (छाले) होते हैं। इसको असाध्य कहकर कृष्णा लूता की चिकित्सा करे। सारिवा, खस, मुलैहठी, चन्दन, कमल, पद्माख इनको बरते॥११६-११९॥

सर्वासामेव युञ्जीत विषे श्लेष्मातकत्वचम्।
भिषक् सर्वप्रकारेण तथा चाक्षीवपिप्पलम्॥१२०॥

वैद्य सब लूताओं के विष में लसूड़े की छाल, पान, लेप आदि में सब प्रकार से बरते। इसी प्रकार अक्षीव पिप्पली (शोभांजन की पिप्पली, या बड़े भारी नीम पर उत्पन्न पीपल का) उपयोग करे।

वि० मन्तव्य—तथा चाक्षीवपिप्पलम्—सन्दिग्ध सा पाठ है और तथा च क्षीर पिप्पलं-पाठान्तर भी वैसा ही है, श्रीवाग्भट ने—सर्वतोऽपहरेत् रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा। सेका लेपाः ततः शीताः बोधि श्लेष्मातकाऽक्षकैः (अ० हृ० उ० अ० ३७ श्लो० ७०) लिखा है। हमारा विचार है, कि पीपल की छाल को दूध में पीसकर सर्वप्रकारेण सेचन एवं लेप के रूप में प्रयोग ही तात्पर्य है॥१२०॥

कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ता द्वे च यदृच्छया।
अवार्यविपवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे॥१२१॥
श्यामः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगन्धकः।
श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा॥१२२॥
आदंश लाजवर्णाया श्यामं पूति स्रवेदसृक्।
दाहो मूर्च्छाऽतिसारश्च शिरोदुःखं च जायते॥१२३॥
घोरो दंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते।
स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते॥१२४॥
एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत् कृष्णतिलाकृतिः।
तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः॥१२५॥
दंशः काकाण्डिकादष्टे पाण्डुरक्तोऽतिवेदनः।
तृण्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः स्युरुच्छ्रिताः॥१२६॥
रक्तो मालागुणादंशो धूमगन्धोऽतिवेदनः।
बहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः॥१२७॥

आठ लूतायें कष्ट साध्य कह दी गई हैं, उनमें दो कभी अच्छी होती हैं, और कभी नहीं (ये कृष्णा और अग्निवर्णा हैं)। अब अप्रतिहत शक्तिवाली (असाध्य) लूताओं के लक्षणों को मुझसे सुनो। सौवर्णिका का दंश काला, झागदार, मछली की गन्ध का होता है। इसमें रोगी को श्वास, कास, ज्वर, प्यास, भयानक मूर्च्छा होती है। लाजवर्णा के दंश में काला, दुर्गन्धवाला रक्त बहता है। रोगी को दाह, मूर्च्छा, अतिसार और शिरोवेदना होती है। जालिनी का दंश भयानक, रेखादार, किनारों से फटा होता है। इससे जड़ता, श्वास, अन्धकार का बढ़ना और तालुशोष होता है। ऐणीपदी का दंश काले तिल के आकार का होता है। रोगी को तृष्णा, ज्वर, कास, श्वास होता है। काकाण्डिका के दंश में दष्टस्थान रक्त पाण्डुवर्ण, रोगी को अतिवेदना, प्यास, मूर्च्छा, श्वास, हृदय रोग, कास, और हिक्का तीव्र रूप में होती हैं। मालागुणा का दंश लाल, धुंवे की गन्धवाला होता है। इसमें बहुत दर्द होता है। यह कई स्थानों पर फटा, रोगी को दाह, मूर्च्छा, ज्वर रहता है॥१२१-१२७॥

असाध्यास्वप्यभिहितं प्रत्याख्यायाशु योजयेत्।
दोषोच्छ्रायविशेषेण दाहच्छेदविवर्जितम्॥१२८॥

असाध्य लूताओं में भी असाध्य कहकर उक्त उपचार करे। इनमें दोष विशेष की अधिकता से चिकित्सा करे, दाह एवं छेदन (काटना) न बरते॥१२९॥

कुशलवैद्य साध्यलूताओं में भी काटने पर तुरन्त

ही वृद्धि पत्र से इनके दंश को सम्पूर्ण रूप में भली प्रकार निकाल देवे ॥१२८॥

साध्याभिराभिर्लूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः ।
वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यगादंशमुद्धरेत् ॥१२९॥
अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः ।
दंशस्योत्कर्तनं कुर्यादल्पश्वयथुकस्य च ॥१३०॥
मधुसैन्धवसंयुक्तैरगदैर्लेपयेत्ततः ।
प्रियङ्गुरजनीकुष्ठसमङ्गामधुकैस्तथा ॥१३१॥
सारिवां मधुकं द्राक्षां पयस्यां क्षीरमोरटम् ।
विदारीगोक्षुरक्षौद्रमधुकं पाययेत वा ॥१३२॥

विधान को समझनेवाला वैद्य, मर्म रहित स्थान में ज्वरादि से रहित तथा थोड़ी सूजनवाले पुरुष में दंश को काटकर निकाले। फिर मधु और सैन्धव मिले अगदों से लेप करे। इसी प्रकार प्रियंगु, हल्दी, कूठ, मंजीठ और मुलैहठी का लेप करे। सारिवा, मुलैहठी, द्राक्षा, विदारी, क्षीरमोरट इनको या विदारी, गोखरु, मधु और मुलैहठी इनका क्वाथ पिलाये। बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के अतिशीतल क्वाथ से परिषेक करे। दोषों के अनुसार उपद्रवों की विषघ्न औषधियों से चिकित्सा करे ॥१२९-१३२॥

क्षीरिणां त्वक्कषायेण सुशीतेन च सेचयेत् ।
उपद्रवान् यथादोषं विषघ्नैरेव साधयेत् ॥१३३॥
नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमं तथाऽवपीडं कवलग्रहं च ।
संशोधनं चोभयतः प्रगाढं कुर्यात्सिरामोक्षणमेव चात्र१३४
कीटदष्टव्रणान् सर्वानहिदष्टव्रणानपि ।
आदाहपाकात्तान् सर्वांश्चिकित्सेद् दुष्टवद्भिषग् ॥१३५॥

कीटों के काटने से उत्पन्न व्रणों की, सर्पों के सब दूषित व्रणों की दाह, एवं पाक की अवस्था तक वैद्य दूषित व्रणों की भांति सब चिकित्सा करे ॥१३५॥

विनिवृत्ते ततः शोफे कर्णिकापातनं हितम् ।
निम्बपत्रं त्रिवृद्दन्ती कुसुम्भं कुसुमं मधु ॥१३६॥
गुग्गुलुः सैन्धवं किण्व वर्चः पारावतस्य च ।
विषवृद्धिकरं चान्नं हित्वा संभोजनं हितम् ॥१३७॥

शोफ के हट जाने पर कर्णिका को निकालना चाहिये। इसके लिये नीम के पत्ते, निशोथ, जमालगोटा, कुसुम्भ का फूल, मधु, गुग्गुल-सैन्धव, सुराबीज, कबूतर की बीठ उत्तम है। तिल कुलत्थी आदि विष को बढ़ानेवाले भोजनों को छोड़कर शेष सब अन्न-भोजन उत्तमहै।(कर्णिका-मासकन्दी)॥१३६,१३७॥

विषेभ्यः खलु सर्वेभ्यः कर्णिकामरुजां स्थिराम् ।
प्रच्छयित्वा मधून्मिश्रैः शोधनीयैरुपाचरेत् ॥१३८॥

सब प्रकार के विषों में से वेदना रहित, स्थिर कर्णिका को पाछकर-निम्बपत्र, दन्तीमूल आदि शोधनीय द्रव्यों को मधु में मिलाकर लेप करके निकाले ॥१३८॥

सप्तषष्ठस्य कीटानां शतस्यैतद्विभागशः ।
दष्टलक्षणमाख्यातं चिकित्सा चाप्यनन्तरम् ॥१३९॥

एक सौ सरसठ कीटों के दष्ट लक्षण अलग-अलग कह दिये, उनकी चिकित्सा भी पीछे से कह दी है ॥१३ ॥

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः ।
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥१४०॥

सूत्र स्थान, निदान स्थान, शारीर स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्पस्थान के विभाग से एकसौ बीस अध्याय भी कह दिये हैं। इन स्थानों में नाममात्र से कहे हुए, जो कि विस्तार से नहीं कहे, उन विषयों को उत्तरस्थान में कहूँगा ॥१४०॥

सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च ।
तथा इष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम् ॥१४१॥
वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः ॥
चिकित्सितात् पुण्यतमं न किंचिदपि शुश्रुमः ॥१४२॥
ऋषेरिन्द्रप्रभावस्यामृतयोनेर्भिषग्गुरोः ।
धारयित्वा तु विमलं मतं परमसंमतम् ।
उक्ताहारसमाचार इह प्रेत्य य मोदते ॥१४३॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
पञ्चमं कल्पस्थानं समाप्तम् ॥५

वेदों के सनातन (अनादि) होनेसे, तथा आयुर्वेद के अंगों के अक्षर (अविचल) होने से, प्रत्यक्षफल देखने से, मनुष्यों के कल्याणकारी होने के कारण, वाणीसमूह (संक्षेप) में अर्थ का विस्तार रहने के कारण मनुष्यों से पूजा किये जाने के कारण, चिकित्सा से बढ़कर और कोई अधिक पुण्यशाली वस्तु को हम नहीं सुनते। अमृत की योनि, वैद्यों के गुरु, श्रेष्ठप्रभाववाले ऋषि के अतिशय संमत, निर्मल मत (ज्ञान) को धारण करके, कहे हुए अनुसार कार्य करने पर मनुष्य इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद दोनों लोक में कल्याणकारी है, यथा—"तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥" आयुर्वेद अनादि है—"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। नहि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतु-लक्षणमपरापरयोगात् ।' च० सू० अ० ३०।

"अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं
न तेषु किञ्चिद् भुविद्रष्टुमस्ति ।
चिकित्सितज्यौतिषतंत्रवादाः
पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति ॥ कश्चित् ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने कीटकल्पो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥